

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

जलभेद तथा पञ्चपद्यानि ग्रन्थ कब कहा और किसके लिए लिखे गये इसका विवरण कही मिलना नहीं है

जलभेदमे भगवत्कथाके यन्त्राके उत्तम मध्यम तथा कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं, तथा पञ्चपद्यानिमे श्रोतारे उत्तम मध्यम और कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं यद्यपि भागवतके प्रथम स्कन्धका भी बर्ण्य-विषय यही है फिरभी सर्वांशमें दोना ग्रन्थ प्रथम स्कन्धका ही अनुसरण करते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता है

भागवतके प्रथम स्कन्धमे स्वयम् भागवतके यन्त्रा तथा श्रोता के उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारीका निरूपण किया गया है जवनि इन जलभेद और पञ्चपद्यानि मे भागवतीवत धर्म चरणगति तथा निर्गुणा भक्ति के अग्रभूत, भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण-स्मरण-कीर्तनार्थ अपेक्षित, ब्रह्माभा तथा श्रोताओं के उत्तम मध्यम-कनिष्ठ अधिकारका विवेचन किया गया है यहा भागवतपुराणके प्रवचन या श्रवण का प्रश्न नहीं है अतितु भागवतानुसारी भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण-स्मरण-कीर्तनके एक व्यापक सन्दर्भमे ही श्रीमहाप्रभुने जलभेद तथा पञ्चपद्यानि ग्रन्थका उपदेश दिया है अतएव भागवतके लिए श्रीमहाप्रभु आशा करते हैं—

यदोपनिषद ज्ञान श्रीभागवतमेव वा ।

वर्णितामेव तद्धि त्वात्क्रीसूत्राणा ततोऽन्यथा ॥

(भाग नि १।१७८)

अर्थ ओपनिषद तथा श्रीभागवतके ज्ञान का अधिकार उपनयन सकारवाले त्रिजोंका ही होता है—अनुपनीत स्त्री या शूद्रों का नहीं

आजकल चल निकली चन्दा एकनित करनेके लिए होती भागवत सत्पाहकी हास्यास्पद रीतिते विपरीत भागवतके प्रवचन और श्रवण के कुछ सम्भार नियम श्रीमहाप्रभु स्वोकार्थो है अतएव आशा करते हैं कि 'भागवत प्रसंगो न यथाकथञ्चिद् यत्तुञ्चिद् कर्तव्यं किन्तु महान्तश्चेद बहव' शुद्धास्तीर्थनिरता प्रार्थयन्तस्तदैव प्रसंग कर्तव्य एतादृशोपि श्रोतरि न सहसा भागवत वक्तव्य किन्तु तद्गृह्यमनग्राह्यैव रीतिरिष्य सदा' (भाग. नि १।२२-२५) अर्थ जैसे मनमे आये वैसे, जहा मनमे आजाये वही, भागवतका प्रसंग छेद नहीं देना चाहिये किन्तु अनेक महानुष्य तीर्थवागिरत शुद्ध श्रोताभा द्वारा प्राप्तिना किये जानेपर ही भागवतका प्रसंग छेदना चाहिये फिर ऐसीके सम्मुख भी सहसा नहीं—यहले श्रोताकी हादिक उत्कण्ठा एवम् जिज्ञासुता को अच्छी तरह पहचान कर ही प्रसंग छेदना चाहिय आदि—प्रवचनकर्ताआकी यही रीति धी और आज भी तथा सर्वदा यही रीति हमे निभानी चाहिये श्रीधुक्पात्तमजी कहते हैं कि इसके विपरीत जब अनधिकारी लोग यथोलिप्ता, पतनिल्ता

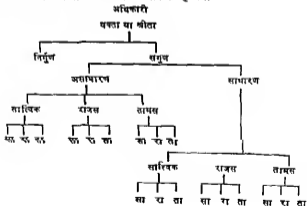
या स्पर्धा के बसोभूत होकर स्वयम्भूकी भागवतप्रवचनने शोभ्य अधिकारी मान बैठते हैं और वन-तन-सर्वत्र प्रवचन करने लग जाते हैं ठी भागवतके प्रवचन पाठन या पठन का अधिकार तो दूर भागवतलोचन धर्म पालनके अधिकारी भी वे रह नहीं जाते हैं— 'ये पुनरेतानि वाक्यान्वा-भित्य स्वस्यापि पाठाधिकारमापादयन्ति तेषा मात्स्यार्थादितोपद्राहेन श्रीभागवतधर्मोपव्यनधि-कार कि पुन पाठे .. तनु धावन्भीष वा विष्वभावात्' (भाष्यप्रका १।३।३८)

यहा जलभेद और पञ्चपदानि में किन्तु जिस वक्ता या श्रोताको आदर्श माना गया है उसका उपनीत या द्विज होना अनिवार्य नहीं है क्योंकि इस वक्ताका वेदादि शास्त्रोका प्रवचनकर्ता होना भी आवश्यक नहीं है वेदादि शास्त्रोंसे अतिरुद्ध भगवत्स्वरूप-गुण-लीलाके निर्व्यजि अह्निद्वि चिन्तनमें सत्रेण तत्पर होना ही यहा पर्याप्त है भागवतमें आता है कि

तद्वाग्विसर्गो जनतापविप्लवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमवदवत्यपि ।
नामाम्यन्तस्य यथाकितानि य—
चक्षुषन्ति श्रावन्ति शृण्वन्ति तापय ॥

अपे भक्तोके मुखसे नि सप्त वाणी, शौकिक भाषामें गाये गये गीति-पद अथवा सस्रुप भाषामें गाये गये गीतयोपिन्द्र जैसे काव्य, प्राधिभावके सभी पापोंको नष्ट कर देते हैं यह सम्भव है कि इनमें छन्द व्याकरणकी दृष्टिसे कुछ भुटिया हो अथवा गानेकी प्रक्रियामें भगव-प्राप्तके अक्षरोंका तानकर गान करनेमें परस्पर सहभाव टूट जाता हो पर अनन्तकीति न्ययवाचने यथोक्ति अन्तत नाम भक्तिमान् वक्ताजीके मुखसे सुने जानेपर या भक्तिमान् श्रोताओंके सम्मुख गाये जानेपर अथवा स्वयम् भी एकाकितया लिये जानेपर सारे कर्मपौकी दूर कर देते हैं (सुवि १।५।११)

अतएव भागवतमें वक्ता और श्रोता के उग्रीत भेद माने गये हैं यथा



इस वर्गीकरणमें निर्गुण अधिकारी उत्तम माना गया है असाधारण अधिकारीके सात्विक-सात्विक राजस-सात्विक आदि नौ भेद होने हैं, ये मध्यम अधिकारी हैं, इसी तरह साधारण अधिकारीके भी पूर्वोक्त रीतिके अनुसार नौ भेद होते हैं और इन्हें कनिष्ठ माना जाता है यह उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ कक्षा भक्ति वंराग्य तथा द्विविध ज्ञान (अनुभवपर्यंबसायी अर्थज्ञान तथा अनुभवविहीन केवल शाब्दिक ज्ञान) की चारों कसोटीपर खरे उतरनेवाले नौ उत्तम, अनुभवपर्यंबसायी अर्थज्ञान तथा भक्ति रहनेपर भी वंराग्यरहित होनेपर मध्यम; तथा वंराग्यरहित केवल शाब्दिक ज्ञान एवम् भक्तिवाले अधिकारीकी कनिष्ठ कक्षा मानी जाती है

तदनुसार ही जलके भेद भी सुबोधनीय उन्नीस ही माने गये हैं, जहां श्रीमहाप्रभु यह विवेचन करते हैं कि "उन्नीस भेद होनेपर भी बहुता हुआ जल और स्थिर जल ये दो मुख्य भेद हैं" (द. सुबो १०।३।३) जबकि यहां जल और वक्नुभाव दोनोंके बीच भेद स्वीकारे गये हैं इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रथम स्कन्धमें निर्धारित अधिकारभेद केवल भागवतके सन्दर्भमें ही विवक्षित है जबकि यहां भगवत्स्वरूप भगवद्गुण या भगवद्दलीला का भागवतानुसारी या भागवत-अविरोधी होना अनिवार्य होनेसे, वक्तृताकी भी भागवतानुसारी या भागवत-अविरोधी होना अनिवार्य है, परन्तु एतावता प्रत्येक वक्तृताका भागवतपुराणपर प्रवचनकारी होना आवश्यक नहीं है यहां तो पुष्टिमागीय श्रोताको भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन कैसे वक्तृताके सत्संग द्वारा सम्पन्न करना चाहिये यही विवक्षित सन्दर्भ है अतएव श्रोताके भी उन्नीस भेद न दिखलाकर केवल तीन या चार भेद ही दिखलाये गये हैं अतएव उन्नीस और बीस के भेदको विवक्षाप्रयुक्त मानना चाहिये

कलत पुराणप्रवचनकी अनिवार्य तत् उपमयन-संस्कार या द्विजत्व अथवा पुरुष होना भी यहां अनिवार्य नहीं लगता है, परन्तु इसके सिवा अन्य गुण जो भागवतके वक्तृताकी उत्तमताके परिचायक हैं यथा उसका स्वसम्प्रदायकी परम्पराके अनुसार सत्पुरुषके मुलते भगवद्दलीला एवम् सिद्धान्त का श्रवण किये हुए होना, स्वयम् धनोपाज्जनके हेतु भगवत्कथामें प्रवृत्त न होना एवम् ज्ञान-भक्ति-वंराग्य-सम्पन्न होना आदि, उन्हें इस सन्दर्भमें भी आवश्यक माना जा सकता है— "वक्ताधिकारी सर्वज्ञ सम्प्रदायेन सन्मुक्तात् श्रुतभागवतो भवती...." (भाग नि १।२३).

जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि, श्रीमहाप्रभुके अनुसार, वित्तका श्रीकृष्णमें लग्न हो जाना है इसके दो साधन दिखलाये गये—

- १) तदाश्रय— प्रपत्ति
- २) लक्ष्मीता— भक्ति

निवेकमेयाश्रय ग्रन्थमें तदाश्रयके उपायरूप विवेक धैर्य एवम् अनन्दाश्रय का निरूपण किया गया है इसी तरह लक्ष्मीताके उपायरूप आत्मनिवेदन सर्वसनपंथ, सर्वभावसे तनुवित्तजा सेवा, भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन आदिका सिद्धान्तरहस्य नवरत्न चतुसलीकी

सिद्धान्तमुस्तावनी तथा भक्तिवर्षिणी में निरूपण किया गया है-

भक्तिवर्षिणीमें भक्तिके बीजभावको वृद्ध करनेका उपाय, यदि व्यक्ति अव्यावृत्त हो तो, स्वगृहमें स्ववर्णाश्रमाधारकी निर्माते हुए भगवत्सेवा-कथा-भय जीवनयापन करना माना गया है- ज्यन्तिके व्यावृत्त होनेके कारण यदि भगवत्सेवाका निर्वाह शक्य न हो तो उसे भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण कीर्तनमें उत्तर रहना चाहिये, बीजभावको वृद्ध करने के लिए- बीजभावके वृद्ध होनेपर गृहत्यागकी प्रेरणा भी दी गयी है- गृहत्यागकी शक्यता न हो तो भगवत्सेवा-कथा-परायण भगवद्दीपो द्वारा की जाती भगवत्सेवामें परिवारक-सहायक बननेका और अपना भगवत्कथा (जब वे करते हों)में श्रवणार्थ सम्मिलित होनेका विधान भी किया गया है- इस तरह अनेकविध उपायोंमें बीजभावसे लेकर प्रेम आसक्ति व्यक्तन सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्य तक के विकासकी रूपरेखा दिखतायी गयी है

इन सभी विरुच्य और अनुकल्प द्वारा भक्तिमार्गमें भगवत्कथाकी असाधारण महत्ता एवम् उपादेयता स्पष्ट होती है भगवत्सेवामें वक्तारी अपेक्षा रहती है श्रवणार्थ, तथा श्रोताकी अपेक्षा रहती है कीर्तनार्थ- स्मरण स्वतः भी सम्भव है परन्तु किरमी किसी समानशील भगवद्दीपकी सहायकतमें भगवत्स्मरणका एक अलग ही रूप निखरता है इसमें सन्देह नहीं-

कुल मिलाकर श्रोता एवम् कथा दोनोंको भगवत्कथाके श्रवणार्थ एवम् कीर्तनार्थ परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा रहती ही है- ऐसी स्थितिमें योग्य वक्ता तथा योग्य श्रोता के समावसे न केवल भगवत्कथामें रसाभास होनेकी अपितु बीजभावके भी वृद्ध होनेके बजाय सफ़िदित होनेकी सम्भावना रहती है अतएव जलमेंदम घंटा वक्ताका स्वरूप श्रोताके श्रवणार्थके रूपमें समझाया गया है तथा पत्रकपद्यामिमें योग्य श्रोताका स्वरूप वक्ताके कीर्तनार्थके रूपमें समझाया गया है

निवाभिर्बदनीय धीर्दृष्टिके सदैवतापहारी एवम् सर्वशुलकारी गुण भी वक्ताओंके हृदयके भावनात्मके भेदे होनेपर कुछ न कुछ भिन्न रूप धारण कर केते हैं जैसे जल स्वतः शीतल एवञ्च अध्वज्जलमधुर सर्वशोभक एवम् तापनामक होनेपर भी जिस आधारभूमिमें (उदाहरण- तथा दूध-तलाव-नदी-समुद्र-जला-नाला-बड़े आदिमें) सरा दूया होता है वहावे गुणधर्मोंमें गुप्त हो जाता है, वैसे ही

तीसरीय संहिताके आठवें काण्डमें जलके नीम रूप श्रुतिमें गिनाये गये हैं यथा (१) नृप (२) नहर (३) घंटाकी माली (४) नदीके जलमें बना गड्ढा (५) गन्दे माले या मोरी के जलमें बना गड्ढा (६) नदीके जलमें बने भेदे तालाव (७) पीने लायक पानीवाले बड़े तालाव (८) सुन्दर मत्स्यार्थि पुष्पवाले बड़े सरोवर (९) छोटे तालाव (१०) एकबहुल तालाव (११) वर्षाका जल (१२) मोदकजलमयी (१३) जलप्रपात-सरना (१४) ओसके जलविन्दु (१५) बरतानी नदी-नाला जैसा जलिवर प्रवाहवाला जल (१६) बाढ़वाली नदियोंका विषर-गर्भदा मनात रूपमें बनेवाला जल (१७) निरुत्तर उद्गमवाली ऐसी नदिगा जिनका जल वर्षा या घीष्ममें वरुण या परदा हो (१८) समुद्रमें मिलनेवाली महानदिगा (१९)

समुद्र (२०) अन्य भी इनमें से भरे गये अथवा गिरे हुए जल

स्वभावात् एकरूप भी जल अपने इन आधारोंके गुण-धर्मोंमें अनुरूप अनेकरूपता प्रकट करता है. इसी तरह भगवान्‌के एकरूप गुण भी भगवत्कथाके वक्तृकी योग्यता एवम् भावोंके अनुरूप अनेकरूपता धारण कर लेते हैं. यथा:

(१) भगवद्-गुणोंका स्वर-ताल-लयान्ध्रित गान करनेवाले विश्रुत गन्धर्वोंके जैसे लोग कुएँकी तरह होते हैं कुछ कुएँ मीठे जलके होते हैं तो कुछ खारे जलके कुछ पवित्र शास्त्रीय माहात्म्यवाले होते हैं यथा न्यग्रोध वृक्षासे उत्तरकी दिशामें स्थित रूप अथवा द्वारकाका दामोदररूप या यज्ञका गोपकूप कुछ कुएँ अपवित्र-मलिन जलवाले होते हैं ऐसे ही सभी भेद गायकोंमें भी होते हैं कुछ गायक स्वर तालके अग्ररूपेण भगवद्-वर्णनात्मक शब्दोंका योजन करते हैं, तो कुछ गायक भगवद्-वर्णनात्मक शब्दोंके अग्ररूपेण स्वर तालका योजन करते हैं. प्रथम प्रकारके गायकोंको खारे जलवाले कुएँकी तरह समझना चाहिये और दूसरे प्रकारके गायकोंको मीठे जलके कुएँकी तरह गहरे कुएँका जल ठडीमें गरम और गरमी ठंडा लगता है. इसी तरह भावगान्धर्षवाले गायकों द्वारा किया गया भगवद् गुणगान सांसारिक तापसे तप्त श्रोताको आध्यात्मिक-आधिदैविक शीतलता प्रदान करता है, और सांसारिक मीठसे जडीभूत-डिठुरते हृदयको भगवद्-भावकी कुछ उष्मा भी इन गायकों द्वारा किये गये भगवद्-गुणगानसे मिल सकती है

(२) पौराणिक - पुराणकथा सुनानेवाले नहरकी तरह होते हैं नहरका जल अपना-स्वयमूका नहीं होता किन्तु किसी नदी या सरोवर से जुड़ा हुआ होता है. इसी तरह पुराणकथा सुनानेवाले वक्तृका भाव स्वयम् उसका न होकर केवल पुराणकथा करते समय कथादेशसे प्रमुक्त होता है अतएव अभुपात वण्ढारोष या उल्लास केवल कथाकालमें ही प्रकट होते हैं सर्वदा नहीं

(३) अपने कुटुम्बपोषण धन या यश की कामनासे जो कथा करते हैं वे श्रोतको जल पहुँचानेवाली नालियोंकी तरह होते हैं श्रोतकी नालीके जलका मुख्य प्रयोजन भाग्योत्पादन है उसी तरह इन वक्तव्योंकी भगवत्कथाका भी मुख्य प्रयोजन यशस्व वदना ही होता है अतः वही फल श्रोताको भी मिलता है

(४) देश या स्वर्णिमी स्निग्धते घिरे, दूत और मद्यपान आदि व्यसनोसे प्रमत्त वक्ता नदीके जलसे बने गन्दे जलके गड्ढेकी तरह होते हैं इन्हें वेदमें 'प्रदर' कहा गया है तथा इनका आभयन भी निविद्य माना गया है

(५) भगवान्‌के गुणगानको आजीविका बनाकर उदर या कुटुम्ब का पोषण करनेवाले गायक या पौराणिकोंके भाव, परकी गन्धी मोरिखीम से निकलनेवाला मलिन जल चारों ओर फैल न जाये इसके लिए जो गड्ढे खोदे जाते हैं उनमें भरे हुए जल जैसा अपवित्र होता है जैसे उस गन्दे जलका स्पर्श मनुष्यिकर होता है वैसे ही भगवद्गुणगानको आजीविका बनानेवालाका प्रवचन भी

(६) नदियोंके जलसे जैसे कहीं जलाशय बनाया जाता है या कभी नैसर्गिक रूपसे स्वयमेव भी बन जाता है इसी तरह पीछा भागवत पाण्डुरात्रादि भगवद् शास्त्रोंके निरन्तर अभ्यासमें ग्वनितके हृदय और बुद्धि में भगवद्-भावका एक विशाल जलाशयसा भर जाता है बड़े जलाशयका जल न तो सूखके कारण सूख सकता है और न उसे भँस जैसे पशु मलिन ही बना सकते हैं ठीक इसी तरह इन शास्त्राभ्यासियोंका भाव न तो साक्षात्क तापोंसे मुक्त होता है और न कुतूहल या अलभ्यायना—विपरीतभावना से भ्रमिन ही.

(७) स्वयम् निरन्तर शास्त्राभ्यास करना एक बात है और श्रीगाने सन्वेहोकी निवारण कर पानेका सामर्थ्य दूसरी बात है अतः सन्देह निवारक वक्ता मानो पीने लायक पानीवाले बड़े जलाशयनी तरह होते हैं ऐसे स्वच्छ निर्मल जलाशय कि जिनमें न तो पत्त और न रंगवाल ही पैदा होते हों

(८) स्वयम् भगवद्-शास्त्रोंका निरन्तर अभ्यास तथा दूसरोंके सन्देहोंको भी निवारण करनेकी क्षमता होनेपर भी कभी-कभी वक्तवमें स्वयम् भ्रमि-भाव नहीं होता, परन्तु वह भी यदि प्रकट हो जाये तो ऐसे वक्तवकी सुन्दर सरोवरवाले रम्य सरोवरकी तरह समझना चाहिये

(९) कुछ वक्तवोंमें भगवत्प्रेम होता है पर वे स्वयम् अल्पश्रुत होते हैं ऐसे वक्तवोंकी छोट साक्षात्की तरह समझना चाहिये, जो स्वयम् स्वच्छ जलवाले होनेपर भी भँस जैसे पशुओं द्वारा मलिन बनाये जा सकते हैं, अल्प जलराशिके कारण ही ऐसे ही अल्पश्रुतताके कारण इनके भाव कुतर्कसे दूषित हो सकते हैं.

(१०) जिन वक्तवोंमें स्वयम् न तो शास्त्रोंय विषयोंका भ्रमण भलीभांति किसी सद्गुरुके मुक्तके किया हो और न भगवद् भक्ति ही जिनमें पर्याप्त हो, फिर भी जिनकी निष्काम धर्माचरण-वर्मादुष्कानन निष्ठा दृढ़ हो, ऐसाकी यदि भगवत्प्रा-प्रवचन करनेकी वृत्ति जने ता इनके भाव भी छोटे तलावकी तरह ही समझना चाहिये छोटे तलावका जल सीघ्र ही सूख भी जाता है और सीघ्र मलिन भी हो सकता है

(११) जिन भक्तिधर्मोंका मन योगस्थान आदिकी प्रक्रियामें लया हुआ हो, उनके भाव स्वतः ता निर्मल हो सकते हैं, परन्तु श्रेष्ठानोंके पिरेले ही इनके भावोंमें परिवर्तन माने लगता है योगिन् साधनाका निवार एकान्तमें भावा है अतः जनताके घिरे रहनेकी वृत्ति-वाल योगिनी मनुष्यों योगसाधना निष्कन चली जाती है अतएव इनका भाव वर्षाजलनी तरह हाता है जो स्वयम् स्वच्छ होनेपर भी जहाँ गिरा वहाँके गुणवर्ग मोघतया स्वीकार लेता है.

(१२) जबल सभी ज्ञान-वेदाभ्यासिकी साधनामें निरन्तर भक्ति जब भगवत्कृपाका प्रवचन करने हुए विमें ही उनके भावोंमें रवेदजलनी तरह समझना चाहिये. स्वेदजल-वर्षाकीना जिन भावा है पर उनके परिवर्तनता ता घातक होता है, परन्तु दूसरेके वक्तवना वह नहीं होता इसी तरह भक्तिधर्मोंके उपरनर्वा या भक्तिहीन गुण ज्ञानवेदाभ्यास-साधना स्वयम् भक्तिधर्मोंके द्वारा लिए हुए भाष्यादिना परिवर्तनकी घातक तो होती है, परन्तु अन्य योगियोंके लिये

तो व्यर्थ हो !

(१३) पर्वतनरसे गिरते जलप्रपात-झरने का जल, निर्मल शीतल मयूर सतत तथा श्रवण दर्शन स्वर्शन स्नान आचमन पान आदिमें मनोहारी तापहारी एवम् सुखकारी लगता है. इसी तरह भगवत्कृपाके कारण अथवा महान् भगवदीयोकी कृपाके कारण, जिन्हें स्वयम् श्रीहरिके दिव्य मयूर गुणोंका अलौकिक ज्ञान प्राप्त हो गया हो तो ऐसे वक्ताओंके मुखसे भगवद्-गुणगान सुनना किती मनोहारी झरनेके सामने पहुँच जानेकी तरह एक सुखद प्रसंग होता है. यह सर्वत्र-सर्वदा सुलभ नहीं होता. जैसे झरनेके सामने पहुँचनेसे पहले, कुछ दूरीपर से ही उस जलप्रपातकी ध्वनिसे उसके अस्तित्वका बोध हो जाता है. इसी तरह इन भगवदीयोके पद-श्रवण आदि रूपसे शब्दोंके श्रवणमात्रसे ही इनकी अलौकिक अनुभूतिका निर्णय हो जाता है.

(१४) सकाम उपासनाके अंगभूत श्रौत या पौराणिक, वरुण इन्द्र दुर्गा गणपति भैरव नवग्रह आदि, देवताओंके उपासक यदि श्रीकृष्णकी कथा करते हैं तो उनके भावोंकी ओसके बिन्दुओंकी तरह समझना चाहिये. ओसके जलबिन्दु जिस स्थानपर गिरते हैं वहाँ उमरें हुए दिखलायी पड़ते हैं. पर वह वास्तविकता नहीं होती. इसी तरह अल्पदेवीपासक वक्ताके मुखसे श्रीकृष्णकथा अल्पदेवोंकी उपासनाभूमिपर श्रीकृष्ण द्वारा गिराये गये ओसके क्षुद्र बिन्दुओंकी तरह होती है. ओसकी जैसे केवल देखने भरकी शोभा होती है, इसी तरह इस कृष्णकथाकी केवल श्रवणमात्रकी ही शोभा होती है. स्नान-पानमें ओसके जलबिन्दु अनुपयोगी होने हैं और थोड़ी सी धूप निकलते ही ओसल हो जाते हैं इसी तरह इनके भाव भी श्रोताके लिए उपयोगी नहीं होते. कथाकालमें ही केवल प्रवृत्त होकर परचाष्ट वे ओसल हो जाते हैं.

(१५) वर्णाश्रमधर्मकी निभाते हुए श्रीकृष्णकी नवधा भक्तिमें तत्पर वक्ताओमें यदा-कदा प्रेमावेशके कारण भगवदीय धर्मोंका स्फुरण होता रहता है, इनके भावकी बरसाती नदीके प्रवाहकी तरह समझना चाहिये.

(१६) कुछ नदिया बारहमासी होती हैं. इनमें न तो पूर आता है और न इनका जल घटता है. इसी तरह भगवत्कथामें न जिन्हें प्रेमावेशका पूर आता हो और न उनकी छवि हो कभी क्षीण होती ही ऐसे सर्वोदानासीय वक्ताओंके भाव स्थिर प्रवाहवाली नदीके तुल्य होते हैं.

(१७) कुछ नदियोंके उद्गमस्थलपर निरन्तर पानी उमरता रहता है. अतः इनका प्रवाह कभी रुकता नहीं, पर वर्षा-भाटाके कारण इनके जलस्तरमें निरन्तर वृद्धि-ह्रास होता रहता है. इसी तरह जिन वक्ताओंका भाव उनके आसपासके व्यक्तिओकी संगतिके कारण कभी वृद्धिगत होता हो और कभी क्षीण होता रहता हो परन्तु भावप्रवाह कभी अवरुद्ध न होता हो, तो ऐसीका भाव अनेक जगहोंसे चली आ रही भावधाधनाके कारण निरन्तर उद्गमवाली नदीके समान होता है.

(१८) कुछ महानदिया समुद्रगामिनी होती हैं जो ऋतुबद्ध अग्रभाविता रहती हैं. इनमें पूर आता है पर जल कभी कम नहीं होता. जिन वक्ताओंके भाव संशयोपसे अग्रभाविता रहते

है उन्हें समुद्रनामिनी महानदियोंके तुल्य समझना चाहिये।

(१९) समुद्रोके अनेक भेद शास्त्रोंमें वर्णित हैं। यथा (क) क्षारोद (ख) इक्षुरोद (ग) सुरोद (घ) घृतोद (ङ) क्षीरोद (च) दक्षिमण्डोद (छ) सुद्रोदया अमृतोद। ये सब अगाध एवम् वृद्धि-धररहित होते हैं इसी तरह, लौकिक गुणोंके मिथुन, वैदिक गुणोंके मिथुन तथा लोकेतमिथित गुणोंके मिथुन से, भगवद्गुणोंके वर्णन करनेवाले समुद्रोपम वस्तुओंके भाव भी अनेकविध होते हैं।

(क) श्रीराम या श्रीकृष्ण को साक्षात् परमेश्वर न मानकर केवल महापुरुष अर्थात् महान् मनुष्य माननेवाले वक्ताओंके भाव क्षारोद समुद्रके जलकी तरह थारे होते हैं। इनके भक्तकी तथा मित्र नहीं सकती। भगवदवतारोंके भक्तिकी मानवोप व्याख्या करनेवाले वक्ताओंका भाव भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे सारा अस्मिन्तर तथा सुषा-अनिवर्तक होता है।

(ख) परमात्माको अप्राकृत गुणधर्मोंसे युक्त माननेपर भी अवतारोंकी प्राकृत गुणधर्म-गुण माननेवाले वक्ताओंका भाव इक्षुरोदके तुल्य होता है गन्ना चूनेपर प्रारम्भमें मयुर लगना है किन्तु अन्तमें निरस हो जाता है।

(ग) स्वयम् मोहवश भगवा मोहवर्तनकी भगवदाज्ञाके बशीभूत होकर जो भगवान्के गुणोंको मायिक मानते हैं तथा ब्रह्मकी निर्गुण निराकार निधनेक मानते हैं, उनकी भगवदज्ञाका भ्रमण सुरोदके आचमनकी तरह होता है। सुरोद जैसे स्वस्व-विश्रुति आदि अनेक प्रमादप्रकट होने हैं, वैसे ही ब्रह्मकी अथवा भगवदवतारोंको निर्गुण भगवा मायिक गुणोंवाला माननेवालोंके उपदेश सुननेसे भी अनेकविध मोह उत्पन्न हो जाते हैं। ब्रह्मा जैसे वक्ता स्वयम् परम भगवदीय होते हैं-महाप समुद्र जैसे, पर उपदेश इनके भक्तिमार्गी-विरोधी होते हैं जैसे परम भागवत श्रीमद्भगवद्गीताके भगवदाज्ञावश मायावादका प्रवर्तन करता पडा।

(घ) भगवान्के दयालुता आदि गुणोंपर जो मार देते हुए भगवत्कथा करते हैं उनसे भगवद् गुणगान सुनना घृतोद समुद्रके आचमनकी तरह भक्तिबल को बढानेवाला होता है।

(ङ) श्रीहरिके सर्वत्र सर्वत्रविषयान् सर्वदुःखहर्ता आदि गुणोंपर मार देते हुए जो भगवत्कथा करते हैं उनसे भगवद्-गुणगान सुनना क्षीरोदके आचमनकी तरह होता है यह स्वादिष्ट-राक्षिषवर्धक और धवित होता है।

(च) केवल वैदिक मर्वादाओंकी स्वावगाके शीतिल प्रयोजनको प्रस्तुत कर जो वक्ता भाग-वदवतारपरिचारी व्याख्या करते हैं उनके भाव दक्षिमण्डोदकी तरह होते हैं। दक्षिमण्ड-महा गुणगुण तथा स्वादिष्ट होनेपर भी भक्तोंके निरुल जानेसे सारहीन होता है वैसे ही भक्तोंकी स्वस्वानुभवने द्वारा परमानन्दका दान, जो अवतारका मुख्य प्रयोजन है, इनकी भगवद्-गुणगानकी रीतिसे वारण कथामें से बाहर निरुल जाता है फलत इन्की कथा सारहीन हो जाती है।

(छ) सुरोद समुद्रको ही श्रीमहाप्रभु 'अमृतोद' भी कहते हैं। अनेकदोषके चतुर्दिग

परिष्ठा-खाइके रूपमें भरे हुए 'अर' और 'प्य' नामक समुद्रोंका वर्णन वाराह पुराणमें भी उपलब्ध होता है— "अरजामामृताम्भोधिः प्यनामामृतमागर" ऐसे ही छान्दोग्योपनिषद्में भी "अरश्च वै प्यश्च अणवो ब्रह्मालोके .. तदंरमदीय सरः" कहा गया है इनसे प्रतीत होता है कि 'सुन्दोद' और 'अमृतोद' पर्यायवाची हैं.

सनत्कुमारोको उपदेश देनेवाले सकपर्ण शेष, अपने आत्मज शुकको भागवत पढ़ानेवाले भगवद्-ज्ञानावतार महर्षि दादरायण व्यास, अग्निपुराणके वक्ता अग्नि, वायुपुराणके वक्ता माघत या हनुमान भी, रत्नगण राजाको ज्ञानोपदेश करनेवाले अवधूत जडमल, अनेकपा मन्विशास्त्रोके उपदेशक नारद, सनत्कुमारके शिष्य तथा विदुरके गुह मीमेय; और भी ऐसे पूर्ण भगवद्वीयोके उपदेशधवणको अमृतोदके पानके तुल्य समझना चाहिये.

जलभेदके इस अंशपर एक स्वतंत्र लेख लिखनेवाले श्रीश भट्टके अनुसार इन उल्लिखित भवतोंकी परम्पराकी परोहरको सम्हालनेके लिए प्रकट हुए घोषावतार श्रीरामानुजाचार्य, व्यासावतार श्रीविष्णुस्वामी, अग्निके अवतार महाप्रभु श्रीवल्कलाचार्य, वायुके अवतार श्रीमध्वाचार्य, जडमलके अवतार श्रीरामानन्द, नारदके अवतार श्रीचैतन्य, सनत्के अवतार श्रीनिम्बार्काचार्य आदि मुख्य चार वेण्वय सम्प्रदाय तथा अवशिष्ट उपसम्प्रदायोके आचार्य या भवर्णिके उपदेश भी अमृतोदके तुल्य मानने चाहिये स्वयम् श्रीमहाप्रभुने भी मुरप चारो भक्तिसम्प्रदायोका भगवत्प्रवर्तित होना तृतीय स्कन्धकी सुबोधिनीमें स्वीकारा है— "एवम् चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादित" यह कर. अत इस श्रीश भट्टकी व्याख्यापैठिमें कोई विप्रतिपत्ति दिखलायी नहीं देती है

प्राकृत या मायिक गुणोत्ते रहित श्रीविष्णुके सभी अमाकृत-दिव्य-शुद्ध सच्चिदानन्दरूप गुणोके वर्णन-स्मरण कीर्तन करनेवाले ये विवक्षण वक्ता अमृतोद शिष्युके समान है इनके वचनानामृत का पान वस्तुतः जीवनकी सुदुर्लभ उपलब्धि है इनके से कुछ पुष्टिभक्तिमार्गीय और कुछ मर्षादामार्गीय है पर सभी अमृतोद शिष्युन समान है

विष्णुश्रुतोंके वचन जैसे अजामिलके कानोमें पड़े तो उसकी कृति मति और भावना सभीमें चमत्कारिक परिवर्तन आगया. इसी तरह अकस्मान् भी इन अमृतोदके तुल्य वक्ता-आके एकाद वचन अमृतके बिन्दुपानके समान होनेसे तृप्तिप्रद न भी हा पर निश्चयेन मुक्त-प्रद तो होते ही हैं और जब इनके वचनानामृतोंके सतत श्रवणसे राग अज्ञान काम क्रोध आदि मनोविकार दूर हो जाते हैं तो वह अमृतके बिन्दुपानकी तरह नहीं किन्तु लेहनकी तरह समझना चाहिये अमृतोदके अमृतका ऐसा लेहन कि जिससे परमानन्दकी अभिव्यक्ति हो जाती है श्रोता वृत्तार्थ हो जाता है !

(२०) इनके अलावा अन्य जो वक्ता या उनके नाव होते है उन्हें इन्ही कृप आदि उन्नीस जलस्थानोंमें से भरे गये अथवा गिर गये जलकी तरह समझना चाहिये तदनुसार उनसे कथा श्रवण करनेके फलका भी यथायथ स्वरूप विचार लेना चाहिये.

इस तरह विष्णुके एकरूप गुण तत्त्व जीवोकी वागिन्द्रिय-बाणोपर कसे अनेकरूप धारण

कर लेते हैं, और कैसे फल उनसे मिलते हैं आदि बातोंका निरूपण सम्पूर्ण हुआ.

पञ्चपद्यानिर्मे वणित भोताका स्वरूप

भक्तके अधिकार और स्वरूप तथा तदनुसार उनके मुक्तसे श्रवण-कीर्तनके फलके निरूपणके बाद अब श्रोताके अधिकार तथा स्वरूप का निरूपण श्रीमहाप्रभु पञ्चपद्यानिर्मे करते हैं.

भगवत्कृपाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन भगवत्स्वरूपसेवाके साध-साध सेवाके अनवसरमें चलता रहे तो वह भगवत्सेवाके पूर्वोत्तर दल (संयोग एवम् विप्रयोग) दोनोंमें मन्त्रिकके पूर्ण आविर्भावता उपाय बनता है. परन्तु किसी स्थितिकी भगवत्स्वरूपसेवाकी भुविषा आजीवन सम्भव नहीं हो पाती. ऐसी स्थितिमें केवल भगवत्कृपाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनकी प्रचालीति भी प्रेम-प्राप्तनित-न्यसन-सर्वरिभमाय या अलौकिकरूपामर्थ्य आदिके क्रमिक सोपानोंपर भक्तिता आरोहण शक्य बन जाता है.

तदनुसार सेवाके साध-साध जो कृपाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनका भी उचित निर्वाह कर पाते हैं वे उत्तम श्रोता होने हैं. अन्यथा सेवाके अनुकूलके रूपमें जो भगवत्कृपाका निरन्तर समाश्रयण करते हैं वे मध्यम प्रकारके श्रोता होते हैं. जो यदा-कदा श्रवण कर पाते हैं वे निम्न प्रकारके श्रोता होते हैं. यह एक दृष्टि श्रोताके उत्तम-मध्यम-निम्न प्रकारोंको निर्धारित करनेकी विषयतायी देती है.

दूसरी दृष्टि यह है कि शुद्धपुष्टि पुष्टिपुष्टि सर्वाङ्गपुष्टि तथा प्रवाहपुष्टिके अधिकारिभेदके अनुसार श्रोताकी त्रिविध कक्षामें निर्धारितकी जायें. शुद्धपुष्टि या पुष्टिपुष्टि आदि अधिकारोकी पदधान पुष्टिप्रवाहमर्वादा मध्यम- "पुष्ट्या विमिथा. सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रिया-रताः . " में दो मयी है.

तीसरी दृष्टि, श्रोताके उत्तम-मध्यम-रुनिष्ठ अधिकारकी, भक्ताके ज्ञान-भक्ति-वैराग्य गुणोंके अनुसर (१) जिज्ञासुता-न्यदणीशुक्ला (२) शक्ति तथा (३) इनपर साधनीके दुराग्रहपूर्ण अनुष्ठान या अभिमान का ममाय, तन्त्रयय शुद्ध फलीमें भवतावित, इस तरह तीनों गुण जित श्रोतामें मिलते हैं वह उत्तम, दो मिलते हैं वह मध्यम, तथा किसी एकद गुणका निरुत्थान होना उसके निम्न अधिकारका श्रोतक होता है.

चतुर्थ दृष्टि - पुष्टिमार्गीय उत्तम, सर्वाङ्गमार्गीय मध्यम, तथा प्रवाहमार्गीय या श्रवणी श्रोताको मध्यम माननेकी - उचित होनेपर भी यहा अत्रालभिक लगती है. क्योंकि पुष्टिमार्गीय श्रोताके लिए ही श्रीमहाप्रभुने योग्यशक्यता प्रणयन किया है अतः जिन श्रोताका अनुष्टि-मार्गीय होना निश्चित ही उन्हें पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त या भगवत्कृपा का उपदेश ही श्रीमहाप्रभुके अनुसार अनुसूचीय नहीं है. जन्मसेवसे भी जो सर्वाङ्गमार्गीय पञ्चपद्या, मध्यम दिशनाया गया है यह उन श्रवणांशिते पुष्टिमार्गीय उपदेशकी ज्ञाना न उपनेके लिए ही है क्योंकि वस्तुचयनमें अधिक सावधानी अपेक्षित है, अतः जलभेद जितना विस्तार पञ्चपद्यानिर्मे अपेक्षित नहीं है.

पांचवी दृष्टिके अनुसार, देते सातशतके प्रकरणके अन्तिम भागमें भगवत्सेवा करनेवालोंके

विधिय अधिकार दिखलाये हैं— उन्हें मगवत्कथाने श्रवणाधिकारका भी उपलक्षण माने तो यह असंगत नहीं होगा यथा :

जिज्ञासुता— श्रवणोत्सुकता दो तरहकी हो सकती है - (१) प्रमाण (शास्त्र) तथा प्रमेय (मगवान्के स्वरूप गुणधर्म एवम् सीला) दोनोंके बारेमें, अथवा (२) इन प्रमाण या प्रमेय में से किसी एकके बारेमें, इसे केवल 'शब्दनिष्ठा' तथा 'अर्थनिष्ठा' भी कहा जा सकता है

इसी तरह कथावृत्तिके भी दो भेद सम्भव हैं (१) सामान्य श्रुति, और (२) उत्कट रति. इनके परस्पर मिश्रणसे अनेक प्रकारके विकल्प बन सकते हैं. यथा .

(१) कथाश्रवणकी उत्कट रति एवम् कथाने उभयपक्ष—शब्द (प्रमाण) पक्ष और अर्थ (प्रमेय) पक्ष—में जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता रखनेवाले उत्तमाधिकारी ज्ञानी-भक्त जैसे माने जाने चाहिये.

(२) कथाश्रवणमें उत्कट रति न होनेपर भी उत्तम सामान्य श्रुति रखनेवाले तथा कथाके उभय पक्षोंमें से शब्द पक्षपर भार देनेवाले शब्दनिष्ठ जिज्ञासु प्रेमाने अभावके कारण मध्यमाधिकारी ज्ञानी जैसे माने जाने चाहिये

(३) कथाश्रवणमें रति रखनेवाले तथा कथाके शाब्दिक प्रमाणपक्षके बारेमें श्रवणोत्सुक न होनेपर भी अर्थ (प्रमेय)पक्षके बारेमें जिन्हें तीव्र जिज्ञासा हो ऐसे अर्थनिष्ठ श्रवणोत्सुकोंको ज्ञानाभावके कारण मध्यमाधिकारी भक्त मानना चाहिये.

(४) जिन्हें न तो उत्कट रति और न अर्थनिष्ठा (कथाके अर्थ-प्रमेय मगवान्के स्वरूप गुण या सीलाके बारेमें श्रवणोत्सुकता) ही तीव्र हो ऐसे सामान्य श्रुतिवाले-ज्ञान-प्रेम-उभय रहित श्रोताको कनिष्ठ निम्न या अधम कोटीका मानना चाहिये

(दृष्टव्यं या नि "एव सर्वं तत् सर्वं स इति जानयोगत यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणा विभिरुत्तम. प्रेमाभावे मध्यमं स्वात् ज्ञानाभावे तवादिम उभयोरप्यभावे" काठि. स १०१-२)

छठी दृष्टि यह भी सम्भव है कि आरम्भके मुख्य-मध्यम-अधम श्रवणाधिकार, क्रमशः 'रसविक्षिप्तमानस', 'रसविकल्पमानस' तथा कथावृत्ति रमावेगसे 'रसावेशविकल्पमानस' विशेषणोंके द्वारा, भक्तिमार्गीय श्रवणाधिकारके रूपमें विवक्षित है पान्तवे अन्तिम इतीकम वणित 'अनन्यमानस' विशेषणद्वारा अन्याश्रय रहित प्रपत्तिमार्गीय श्रवणाधिकार विवक्षित है पुष्टिमकतको इस भूतलपर मिलती परमपक्षको अनुभूति अलौकिक-सामर्थ्य या तनुनवरवका लाभ प्रपत्तिमार्गीय अधिकारीको नहीं मिलता. पर विद्यमान देहके पातके बाद उन्हें सायुज्य-भोज मिल सकता है. अतएव देह-काय द्रव्य कर्ता-मन्त्र-कर्मादिवे अन्याश्रयने त्यागके कारण इन अधिकारियोंके उत्तम होनेपर भी, विद्यमान देहावधि भूतलपर परम फलकी अनुभूतिसे वञ्चित होनेके कारण, इन्हें 'मर्त्य' कहा गया है. क्योंकि श्रीकृष्ण-सायुज्यका लाभ इन्हे मृत्युके पश्चात् ही होता है पश्चम्यानिने प्रथम चार इतीकोमें वणित अधिकारियोंको 'मर्त्य' नहीं कहा इममें उनका भक्तिमार्गीय होता चरनित होता है

सर्वे, निबन्धमें—“सर्वस्वायेज्यन्यभावे कृष्णमार्गकमानतो सामुज्यं कृष्णदेवेन लीघमेयं भुवम् फलम्” कारिकाके प्रकाशमें—“एव देहपातनपर्यन्तं कृष्णकमानसस्य सामुज्यं शीघ्रमेव भवति कायवाग्बिभियोगामावेवि स्वस्नेहामावेवि मनोमानत्रित्यती फलमेतद्” कहकर प्रपत्तिमार्गीय श्रोत्रके ‘अनन्दमानस’ होनेपर उसे उत्तमाधिकारी माना है.

इन विभिन्न दृष्टीकोणोंसे श्रवणाधिकारका विचार करनेपर पञ्चपर्यायिके पाच पद्योंमें भिन्न-भिन्न कलाके पाच अधिकारियोंकी चर्चा है— मुख्याधिकारी एकविध है और अमुख्याधिकारी त्रिविध यो कुल चार प्रकारके अधिकारियोंकी चर्चा है—‘मुख्य’ तथा ‘उत्तम’ को पर्यायवाची शब्द मानकर तथा उपक्रम और उपसंहार में एक ही अधिकारीको अवशिष्ट मानकर कुल त्रिविध अधिकारियोंकी चर्चा है— इनमें से द्वयमित्यवया किसी एक व्याख्या-रीतिका समर्थन जरा कठिन काम है. फिर श्री मुख्य और अमुख्य तथा भविष्य और प्रपत्ति के भेदको लक्ष्यमें रखकर आरम्भके प्रथम श्लोकमें मुख्य भविष्यमार्गीय श्रोताका निरूपण तथा अवशिष्ट चार श्लोकोंमें भक्तिमार्गीय त्रिविध अमुख्य श्रोता तथा एक प्रपत्तिमार्गीय श्रोता का वर्णन है ऐसा सोचनेमें कोई अद्ययति सामने नहीं आती है. क्योंकि जो बात श्री महाप्रभु कह रहे हैं पाच श्लोकोंमें वही इन तरह है.

(क) इसमें स्कन्धके सातवें अध्यायकी “सकृष्णतोषेऽप्येतिवितुष्णा सत्त्वं च शुद्धस्य विरेण पुनः भक्तिर्हृदी तत्पुरुषे च सख्यं तदेष हार बन्ध मन्थसे चित्” कारिकाकी सुवीथिनीमें श्रीमहाप्रभुने भगवत्कथाके पाच परिणाम विभागे है

- (१) भगवत्-चरित्रमें अरतिकी निवृत्ति
- (२) भक्तिका प्रकटप
- (३) सांसारिक तृष्णाकी निवृत्ति
- (४) सत्त्व-अन्त करणकी शुद्धि
- (५) भगवदीयोंके सत्त्वगुण सख्यकी वृद्धि

ये पाच परिणाम जिस श्रोतामें प्रकट होने जा रहे हो उसे भगवत्कथाके श्रवणका मुख्याधि-कारी मानना चाहिये. अतएव श्रीमहाप्रभु आशा करते हैं कि भक्तिरसके आलम्बन-विभावरूप श्रीकृष्णके भामात्मक स्वरूपकी कथाश्रवण-कालमें वाह्यानुभूति तथा भक्तिरसके स्वाधि-भावरूप (माहात्म्यज्ञानपूर्वक मुद्ग सर्वतोधिक स्नेह) रसकी आन्तर अनुभूतिके धक्के तीव्रपणे चल पड़नेके कारण जिनका भानस विशिष्ट साहो जाता है, उनके लिए भगवत्कथा दुस्वप्न हो जाती है अर्थात् वे चाहें या न चाहें उनकी बाणी और कर्णोन्द्रिय विरन्तर भगवत्कथा करते रहने और मुनते रहनेके व्यसनवाली हो जाती है

ऐस कृष्णरसविशिष्टमजस श्रोताओंकी भगवत्चरित्रम स अरति निवृत्त हो जाती है अत उन्हें ‘अरतिवन्निता’ कहा जाता है.

इनका चित्त न तो लौकिक विषयोंकी ओर भाङ्गुष्ट होता है और न वैदिक श्रोतादि फलाणी ओर ही. सामान्य विषयोंमें तृष्णाकथनके टूट जानेसे इन्हें इन विषयोंमें निवृत्ति

अर्थात् सुख-सन्तोषकी अनुभूति नहीं होती।

भगवत्कृपाकी प्रणालीसे इनके सर्व-अन्तःकरणकी शुद्धि हुई होनेसे केवल जानी या विरक्तों की तरह वैदिक काल स्वर्ग-मोक्ष-अपवर्गकी कामना भी इनके मनमें रह नहीं जाती। अतः इन्हे वेदमें भी अनिर्वृत्ति हो जाती है।

ऐसे श्रोता भगवत्कृपाके श्रवणकी उद्युक्तताके कारण निरन्तर भगवदीयोंका सम्प या सरसंग सौजते रहते हैं।

निरोधकी सिद्धिके कारण इन्हे भक्तिमार्गीय मुख्य श्रवणाधिकारी समझना चाहिये।

(ख) कुछ श्रोताओंका मन श्रीकृष्णभक्तिके रससे ज्ञाना आर्द्र-विलस हो पाता है कि कथाश्रवणकी बेलामे ये भगवत्स्मृतिके विह्वल हो जाते हैं। भगवत्कृपाके आन्धिक प्रमाणपदा-में इनकी धृति तीव्र नहीं होती। परन्तु अर्धनिष्ठा-न्याके प्रमेय अर्थात् भगवत्स्वरूप-गुणधर्म-श्रीलाके श्रवणमें इनकी निष्ठा बड़ी प्रबल होती है, इसी अर्धनिष्ठाके कारण इनमें ज्ञानकी लालसा कम होनेपर भी प्रेमकी स्पष्ट विद्यमानताके कारण इन्हे भक्तिमार्गीय मध्यम कक्षाके श्रवणाधिकारी समझना चाहिये।

(ग) कुछ अन्य श्रोताओंमें ऐसी अर्धनिष्ठा नहीं होती पर शब्दनिष्ठा तीव्र होती है। कलतः प्रमाण विवेचनकी प्रक्रिया द्वारा इन्हें निःसंशय ज्ञानके प्राप्तिकी लालसा रहती है। ऐसे श्रोताओंकी मात्सा से स्पष्ट होती है कि केवल श्रीकृष्ण ही सर्वभावसे भजनीय है परन्तु भाव निरन्तर उद्बुद्ध नहीं होगा रहता। कभी-कभी कथारसके आवेशके कारण अपना प्रपञ्च-विस्मृतिपूर्वक भगवत्संस्मृतिसे तात्कालिक अभिभूतिके कारण ये स्नेहविकल हो पाते हैं; अन्यथा ज्ञानिजनीवित स्वास्थ्य (1) इनका बना रहता है।

तात्कालिक पूर्ण भावोदयके कारण यह पूर्ण अर्धनिष्ठा भी इनकी तात्कालिक ही होती है अतएव ये कथाश्रवणकाल की सम्भवताके बाद पुनः अभ्यासगत हो जाते हैं। ये भक्तिमार्गीय भ्रमार्गत कनिष्ठ प्रकारके श्रवणाधिकारी हैं।

(घ) प्रपत्तिमार्गीय जीव अन्यमार्गीय श्रोताओंकी प्रेरणा उत्तमाधिकारी माना जा सकता है, पर शर्त इसमें यह है कि देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्म-आदि अनेकविध पारिदिक साधनों-के अभिमानोंको छोड़कर श्रीकृष्णके स्वरूप-गुणधर्म-श्रीलाओंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें जब उत्तमे मनकी मनन्यरुचि पनप जाये यह प्रपत्तिमार्गीय श्रवणाधिकार अन्य मर्पादानार्गीय कर्मजानोपासनाके अधिकारोंसे तो उत्तम ही होता है।

इस तरह कथा एवम् श्रोता के अधिकारोंका विवेचन यहा सम्पूर्ण होता है।

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९७६ में प्रकाशित संस्करणका अंकितप्रोत्सेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप है। उस संस्करणमें इन दो ग्रन्थों अलम्बेद और पञ्चपद्यानिके मलाना परिशिष्टके रूपमें गेवाकनकी तीन टीकायें भी प्रकाशित हुई थीं। उन्हें यथास्थान रचनेके उद्देश्यसे यहा प्रकाशित नहीं किया गया है। उक्त संस्करणके सम्पादक श्रीमूलबन्द तुलसीदास तैलीवालान तथा

श्रीधीरजलाल ब्रजदास साकलिया और प्रकाशक श्रीस्वामी १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (पौरखदर) से इन सभी महानुभावोंका हृष इस पुनःप्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करते हैं

शोधपत्रम् ।

आ समग्र मुद्रित बड़े गया पण्ठी श्रीमद्गोस्वामीजीजीवनिकद्वयजनी महाराजजीनी कृपायी जलभेदनी भाषाबोधिणी तथा श्रीपुस्तोत्तमजीनी पत्रपत्रटीका ए से इसनिखिल पुस्तको आत्मनगरत्वं श्रीमद्भयो-हनजालमन्दिरस्य भवहर्मांवा प्राप्त भवा, तदुपरि आ द्वितीय शोधपत्र आवश्यक जन्तु छे.

जलभेदशोधः ।

प. सं.	अष्टादशम्	शुद्धम्	प. सं.	अष्टादशम्	शुद्धम्
३८११	क्रिया	कृया	४४१२७	सर्वाभोगदलमिलामिकं	सुधाविशेषणम् ।
३९११०	दोष	दोषव	४४१२७	देव	देह
३९१२९	निवर्तन	निवर्तन	४४१३०	प्रापक	प्राप्यक
४०१११	श्रीतल्लुक्क	श्रीतल्लुक्कजुक्क	४५१९	न कार्य	कार्य
४०१२०	पट्टिच	पट्टिल	४५११५	रहित	सहित
४१११०	दृढक	दृढक	४५१२०	यदा	शर्वैवा यदा
४४११	सोहन	सोहेन	४५१२२	द्विरोहित-	भावया द्विरोहित
४४११५	अथै भवत्यर्थे	सायुज्यार्थे	४५१२७	पूर्वोक्ता समृत	पूर्वोक्तसमृत
४४१२४	शुणान् न्यून	शुणान् न्यून न्यूनविषय	४५१३१	मत्	मात्

अन्तिमशोकविद्वरणेने शक्यीयम्—यदा नीकाना भववर्षात्वासावात्वा वा प्राप्ता एतादृशा भववती विष्णोर्भाषकज्ञ सर्वेभु भाववर्षेभ प्रकटस्य शुभा सरुपत एतादृशं सरुपमिति कवतश्च एतादृशं पत्रमिति निरपिठा तितरा इपिता सार्वेन प्रकटीकृता इत्यर्थे ।

धीनशास्त्रार्थशास्त्रार्थेणो भवि संततम् । रूपवन्तु सदा शीये भवा कृष्णप्रबोधका ॥ १ ॥

श्रीशिवपदात्मोत्रेण्युच्यतेऽपि भवा । विद्वित्तेजयेरस्य कृता भाषाबोधिणी ॥ २ ॥

पत्रपत्रशोधः ।

प. सं.	अष्टादशम्	शुद्धम्	प. सं.	अष्टादशम्	शुद्धम्
५४१७	भक्तिहेतु	भक्तिहेतु	५५११	अथ	तत्र
५४११०	भगवतीर्तन	भगवतीर्तन श्रीर्तन	५५११	संभव	संभवश्च
५४१११	संभव	संभवि	५५१२	ते	तत्
५४११५	भाव संभवकथ	भावसंभवकथ	५५१३	द्विरवते	श्रीदो
५४११८	विदुरसंभवज्ञान	विदुरे विदुरज्ञानसकमस्य	५५१७	उपाहि	तत्र दि
		संनिवे विदुरभक्तिप्रकमस्य	५५१८	पतिप्राप्तनार्दिक	पतिप्राप्तनार्दिकं
५४१२९	कारणनेव	कारणनेव			प्राप्तरोपिल्लवं

પ્રસ્તાવના ।

શ્રીમદ્માહારાજીય શ્રીમદ્ગોસ્વામિ શ્રીજીવનલાલજીના વિ સંકોષ દ્રવ્યસાહ્યામ્પત્રી ચાર ટીકા સહિત સેવાફલ, ૩ ટીકા સહિત નિરોપહસ્રણ, અને ચાર ટીકા સહિત સન્ધ્યામનિર્ણયનુ પ્રાકલ્ય યુગુ છે. ઉક્ત પ્રણ પુસ્તકના મુદ્રણમાં વપરાયેલ દ્રવ્ય પુસ્તકોનો વિક્રય કરી પાણુ લેવાની આપધીની ઇચ્છા ન હતી, પરન્તુ વિક્રયમાંથી પ્રાપ્ત પતાં દ્રવ્યથી અન્ય સામ્પ્રદાયિકગ્રન્થો છપાવવા સ્વીકૃતી તદ્વિષ્ણાનુ સાર ઉક્ત પ્રણ પુસ્તકોના સેવાળમાંથી ઉત્પન્ન થવલા દ્રવ્યસાહ્યામ્પત્રી ચાર ટીકા સહિત જલભેદ, તેના મે સ્વતંત્ર લેણ, મે ટીકા સહિત પંચપદ્ય, તથા નૂતન પ્રાપ્ત થવલી સેવાફલગી પ્રણ ટીકા-ઓ ૫ સર્વેનુ મુદ્રણ થાય છે. અર્થાત્ આ ગ્રન્થનુ પ્રાકલ્ય પળ ઉપર દર્શાવ્યા પ્રમાણે શ્રીજીવનલાલજી મહારાજધીની સ્પૂર્ણ કૃપાથી યુગુ છે, અને વેળ્ણવો વૃત્તદ્ધ સ્મૃત્તીના ક્ષણો છે આપધીની કૃપા હતો અને વેળ્ણવોનુ સીમામ્ય હતો તો ચતુર્દશ ટીકા સહિત મત્તિવર્ધિનીનુ વર્ગન પળ સાર થયો

૧ જલભેદ ઉપર ચાર ટીકાઓ પ્રાપ્ત થઈ છે તેમાં પ્રથમ શ્રીકલ્યાણરાયજીની છે. ઉક્ત ટીકાની પુક પ્રતિ તો ધીહરિરાયજીના નિજ ધીદસાક્ષરમાં છેલેલી છે. આ ટીકાના મુદ્રણમા મુલ્ય આપાર તેનો જ લીધો છે. પરન્તુ અન્ય પ્રતિઓ પળ વારવાર મુદ્રણમાં ઉપયોગી થઈ પડી હતી નીચે જગાવેલી પ્રતિઓને આપારે આ ટીકાનુ મુદ્રણ યુગુ છે : ૧ ધીહરિરાયજીના ધીદસાક્ષરની, ૨ મટપુસ્ત્ર મહાળ વેળ્ણવ તાપીચાટ્ટેની, ૩ પવિત મદ્લાલાજીની ૪ ધીજીવનલાલજી મહારાજની, ૫ ૫ મદ્લાલાજીની નૂતન, ૬ ૫ મદ્લાલાજીની પ્રાનીન, ૭ ૫ મદ્લાલાસમદ્રસ્ય મૂલ ધીપીતાંબરજીની પ્રાચીન આ સમુ પુસ્તકોને આપારે આ ટીકાનુ સોધન કરી મુદ્રણ કર્યું છે. ટીકાકાર શ્રીકલ્યાણરાયજી શ્રીગુસાંદ્ગીના પૌત્ર થાય અને ધીહરિરાયજીના નિદ્ધરણ થાય વિશેષ પરિચય સ્મૃત્તીની સેવાફલમા કરાવ્યો છે.

૨ દ્વિતીય ટીકા શ્રીપુરુષોત્તમજી મહારાજની છે. સ્મૃત્તીનો પરિચય સેવાકલાદિમાં કરાવ્યો છે. સ્મૃત્તીની ટીકાનુ મુદ્રણ નીચે જગાવેલી પ્રાપ્તઓના આપારે યુગુ છે : ૧ સાચી માદ્ મારાયજીની પ્રાચીન મુદ્ર, ૨ ૫ મદ્લાલાજીની નૂતન, ૩ ૫ મદ્લાલાજીની નૂતન મુદ્રિત ૪ ૫ મદ્લાલાજીની પ્રાચીન મુદ્ર, ૫ શ્રીમદ્ગોસ્વામિ શ્રીજીવનલાલજીની નૂતન મુદ્ર, ૬ અખનીયસ ઘાઘી મદ્દસાક્ષરની પ્રાપ્ત આ સર્વ પુસ્તકો મુદ્ર છે.

૩ ત્રીતીય ટીકા અમે ધીવલ્લભ શ્રીમોહુલનાયજીના નામથી મુદ્રિત કરી છે, પરન્તુ ૫ ટીકા શ્રીવ હમ્ભી છે. પુમ કહેવામાં અમારી કલ્પના સિવા અન્ય પ્રમાણ નથી. અમારી કલ્પનાનો આપાર આ છે. આ ટીકા અમને દરીષ્ઠાથી ધીનાપદ્ધારાદિ અમે તથા હતા ત્ય પ્રાપ્ત થઈ. ૫ પ્રતિ ઉપર મામ નથી મામ માટુ ઉપર 'જલ ટી મો' આટલુ પ્રાયેક ૫૫ ઉપર લખ્યું છે. સવ્ત્ ૧૭૫૮ માં મારોલી છે. પરપરા પળ છે. શ્રીમોહુલનાયજી ૫ જલભેદની ટીકા લખી છે. આ ટીકાની માપા તથા આરમ તથા અન્તમા મગલાવરણના સ્ત્રોત્રો શ્રીમોહુલનાયજીની નિરોપહસ્રણ તથા સેવાફલની ટીકાઓના સરસા છે. 'અધિ, શવ્દનો અર્થ શ્રીકલ્યાણરાયજી ૫ શ્રીમદ્ગુણસાધ્યજીપરવે પલામી, તે સવન્ધમા સમ્પ્રદાયમાં મહાન્દ ક્ષાપોહ થયો હતો. પુમ ધીહરિરાયજીના 'પૂર્ણ અમવર્ણિયા' ૫ શ્લોકના સ્વતંત્ર લેણથી માહ્યમ પડે છે. આ ટીકામાં તેજ સાધ્યર્થે રામદેવથી મુગ થઈ સ્ત્રીકાર્યું છે. શ્રીમોહુલનાયજી નિજ શિષ્ય શ્રીકલ્યાણરાયજી ઉપા શ્રીહરિરાયજીનુ મત અતુક નથી ૫ દર્શાવે છે, છતાં 'જમિ' શવ્દનો રુદ્ધ અથ કરનાર ટીકા કાર પ્રતિ સમનાય રાણે છે. 'અધિ નો અથ રુદ્ધ છે. ૫મ કલ્પનાર ટીકાકાર જો શ્રીદ્ધારકેશજી-ત્રીતીય લાલજી શ્રીશાલકુલ્જાજીના વ્યેદુ ઉગ્ર હોય તો ઉપર જગાવેલુ અનુમાન સર્વથા અસમ્પ્રવિત નથી સ્પામતુ.

૪ ચતુર્થ ટીકા કોની કાંટેની ૫ ૫મ સમ્પ્રવક્ત છે. અમારી પાસે મત્તિવર્ધિનીની પુક ટીકા છે, તેનુ અગલાવરણ અને અમ્ર મુદ્રિત ટીકાનુ અગલાવરણ વાચતા ઉપાયનુ ંકકર્ત્વ્ય સ્પષ્ટ સ્ફુરે છે. ઉક્ત

૨ રાજવેલેવેવિન્દુમિતપુષ્પકમલસામપદમ્ય વાત્રી નિશ્ચન્દ આનિવુત્તો મલ્લનપવનાસેવિત પુષ્પવલે ।

શ્રીરાધાનકપમાહુતવમુવિત્ત વાન્નુર્ગાવનાનોદિક સેરાદ્ધટિ પ્રતિફલ્લુ દુઓ સીમલેવ ત્રણે ॥ ૨ ॥

મકિજર્વિનીની ટીકાની જે પ્રતિ ધર્માની વાસે છે, તેમાં એક ડપર સ્ત્રીચાલકુળાતીકૃત ટીકા એમ કહેવું હોવાથી અને 'સ્ત્રીચાલકુળાકૃત' આ ટીકા છે એમ કહ્યું છે. પરંતુ તેજ પુસ્તકની અન્ય પ્રતિ ડપર સ્ત્રીચાલકેશકૃત ટીકા એમ કહેવું છે. એ એમ જ હોય તો આ ટીકા સ્ત્રીચાલકેશકૃત માનવી સ્થિત છે. સ્ત્રીચાલકેશકૃતની ચાલકોપકુળાબ્રવાદિ ડપર કરેલી ટીકાઓનું જ્ઞાન આપણને વાપ છે. સ્ત્રીચુરવોત્તમની પણ આ ટીકાકાર સ્ત્રીચાલકેશકૃતની માત્રનો ડપન્યાસ ચાલકોબાદિમાં કરે છે અને સુધિત કરેલી જલમેદની તૃતીય ટીકાના કર્તા-શીશોતુલનામગીને આ ટીકાકારની ડપર છે. અમિ શબ્દનો અર્થ કહ્ આજ ટીકાકાર કરે છે. આ ટીકા પણ શાષી શુ પ્રાચીન ડરે છે. આ ટીકાની એક જ પ્રતિ પઠિત મદુલાલાના સમ્રાજમાથી જાણ વડું હતી, આ પ્રતિ અનેક સ્થલે સુધિત, સદિગ્ધ અને મદુલુ હતી. શુ પ્રવાસથી આ ટીકા અને શાષી છે, ડર્તા એમ સ્થલનો અને ન જ કર્યાં હોય તો પ્રમુહવા જ સમજવી.

૧ 'એવો મગવડીયા' ૨ શ્લોક ડપર મિજવિચરણ સ્ત્રીચલ્યાણરાષ્ટ્રીની ટીકા અનુક્ર નથી વ્યર્થાનનાનો કાદક રાગનુક પ્રવજ સ્ત્રીચરિરાષ્ટ્રીય અવ કર્યો છે. આની ત્રણ પ્રતિ પ્રાણ વડું છે. એક વ મદુલાલાની, દ્વિતીય વાગ્રામાથી, અને તૃતીય કચરામાંથી આ પરિશિષ્ટ પ્રથમ છે.

૨ 'એવો મગવડીયા' ડપર શોદનો સ્ત્રીચ-મટેવ સ્ત્રીનામમદુનો સ્વત્ર છે. આ છેલ્લ સ્ત્રીચાલકુળાતીની સ્ત્રીચુરવોત્તમની ટીકાના પુસ્તકને અન્નેલસેલો હતો. આ છેલ્લ પુસ્તક વા અનુક્ર છે. વા આશ્ચર્યા શય પ્રકાશ કરે છે. શે નહિ શે વર્ષામાં નહિ સ્વરવા વટલુ તો કહીશુ શે વ વાષવામા વિનોર છે. આ પુસ્તક વ મદુલાલાનું છે. આ પરિશિષ્ટ દ્વિતીય છે.

૩ વમ્બવડીની ટીકા પ્રથમ સ્ત્રીચરિરાષ્ટ્રીકૃત છે. આ ટીકાનું સુદ્રજ ત્રણ પુસ્તકના આધારે કર્યું છે. એક સ્ત્રીચીવનકાલની મદુલાલાનું અને અન્ય દુવ વ મદુલાલાનીમા સમદના.

૪ વમ્બવડીની દ્વિતીય ટીકા સ્ત્રીચુરવોત્તમનીકૃત છે. આ ટીકાનું સુદ્રજ શે પુસ્તકના આધારે મધુ છે. પ્રથમ વ મદુલાલાનીનું, અને દ્વિતીય મગવડીયાવરાણ વ વલમજ્ઞસર્માનું.

૫ સેવાકલની અસુધિત ત્રણ ટીકાઓ છે. આ ટીકાઓ અમને વાગ્રામા પ્રાણ વડું છે. પ્રલોકની એક એક પ્રતિ મળી હતી. આ ટીકાઓના કર્તાઓના વામ અમને અજાત છે. આ સર્વ ટીકાઓ પ્રાચીન છે.

૬ જલમેદ પ્રમ્ય તૈષિતીષસદિતવા મજ ડપરથી સુધિત ધવલો છે. એમા કલરદાસથી મકાના મુખ-માવનું નિકુવણ છે. ડાં રાજેન્દ્રકાલમિત્ર કરવે છે. તેમ રોપીના પ્રલોપચારનું નિકુવણ નથી. વષ વધમાં સીવતાના મુખમાવનું નિકુવણ છે.

૭ જલમેદની સ્ત્રીચલ્યાણરાષ્ટ્રીની ટીકાની પ્રતિ વીરજલાલ કારીનાવ વચ્ચાવ કરી હતી. સ્ત્રીચુરવોત્તમનીની ટીકા તથા 'એવો મગવડીયા' ડપરનો સ્ત્રીચરિરાષ્ટ્રીનો છેલ્લ, તથા વમ્બવડીની વજે ટીકા મદેવરાસ મગવડીયા શાદિ વૈસમવે કલ્પી આપી હતી. સ્ત્રીચુરવોત્તમની ટીકા શાષી કલ્યાણજીવ કલ્પી આપી હતી. અને સ્ત્રીચાલકુળાકૃત ટીકા તથા 'એવો મગવડીયા' નો દ્વિતીય સ્વત્ર છેલ્લ શાષી મદુલાકાર અવધારે કલ્પી આપ્યો હતો. આ સર્વનું નિરેણ સાહાય્ય સુલ્ય છે. વ સર્વનો ડપકાર સ્ત્રીચારીવ ટીવ.

પુસ્તક સમ્રાજમાં પઠિત મદુલાલાનીની અભ્યાનો વપકાર સર્વેયા સ્ત્રીચારણીય છે. સતુપરાલ વ વલમજ્ઞસર્મા, વ મોકુલદાસજી, શાષી મદુલાકાર, વટુલાલ વેળવણાવીશાઈ વ શર્વેનું સાહાય્ય વિમ્બ લ્પેય નથી.

આખિન શુક્ર વાત્તમી }
૧૧૫૫

મૂલવન્દ્ર તેલીવાલા.
વૈષ્ણલાલ સાંકલ્પીયા.

कृष्णयजुः तैत्तिरीयशाखासंहिता का. ७ प्र. ४ अ. १२.

कृष्याभ्यः स्वाहा कृष्याभ्यः स्वाहा विकृष्याभ्यः स्वाहाऽवृष्याभ्यः स्वाहा खन्याभ्यः
स्वाहा इष्याभ्यः स्वाहा सूष्याभ्यः स्वाहा सरुष्याभ्यः स्वाहा वैश्वन्तीभ्यः स्वाहा पल्य-
ल्याभ्यः स्वाहा वष्याभ्यः स्वाहाऽवष्याभ्यः स्वाहा ह्यादुनीभ्यः स्वाहा पृष्याभ्यः
स्वाहा स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा स्यानुराभ्यः स्वाहा नादेयीभ्यः स्वाहा सैन्धवीभ्यः
स्वाहा समुदियाभ्यः स्वाहा सर्वाभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥

जलभेदः ।

नमस्कृत्य हरिं यक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान् विशतिषा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥
शुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कृपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥
कृपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥
क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।
वेद्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥
जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।
हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥
सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥
अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥
योगध्यानसंयुक्ता गुणा वष्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभावेन खेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥
अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥
देवाद्युपासनोद्भूताः शृष्या भूमेरियोद्भूताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेमपूर्वा स्फुरद्दर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।
पादशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥
स्यावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।
अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रश्रुति सर्वदा ॥ १२ ॥

सद्भाविगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
 निरन्तरोग्गमयुता नयस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥
 एतादृशाः स्वतस्त्राख्येत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
 पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥
 जडनारदमैत्रायास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।
 लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥
 वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षारायाः पद् प्रकीर्तिताः ।
 गुणानीततया शुद्धान् सूचिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
 सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणः ।
 तेऽमृतोद्राः समारूपास्तदाकृपानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥
 तादृशानां कथिदाकथं दूतानामिष वर्णितम् ।
 अजामिलाकर्णनचद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
 रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं पदा ।
 तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥
 उद्धृतोदकवत्सर्वं पतितोदकवत्तथा ।
 उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥
 इति जीवेन्द्रियगता नानाभायं गता भुवि ।
 रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥
 इति श्रीमद्ब्रह्मसंहिताप्रकटितो जलभेदः समाप्तः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीकृष्णरसयुक्तिसमानसा रतिवर्जिताः ।
 अनिर्वृता लोकभेदे गुल्यास्ते अवणोत्सुकाः ॥ १ ॥
 विद्विन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
 अर्पकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः अवणोत्सुकाः ॥ २ ॥
 निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
 ते स्वाभेदास्तु विकला निरोधादा न चान्यथा ॥ ३ ॥
 पूर्णभावेन पूर्णार्पाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।
 अन्यासक्तास्तु ये केचिदप्यमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥
 अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः अवणादिषु ।
 देशकालद्रव्यकर्तृमश्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसंहिताप्रकटितानि पञ्चपद्यानि ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीकल्याणरायविरचितविद्युतिसमेतः ।

भावितं विविधैर्भावैः प्रेष्टभावितया मुहुः । भावये राधया कृष्णं भवितुं भावभातुकः ॥ १ ॥
यद्वाक्पीयूषभावानां भावनादभवो भवः । भावये तात्रिजाचार्यपदो भावोपलम्भये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णे केवलभावेनापि 'केवलेन हि भावेने'ति वाक्यात् तत्प्राप्तेः 'नैष्कर्म्यमप्यच्यु-
तभाववर्जित'मित्यादिभिर्भावहीनस्य ज्ञानादेरप्यसमर्थत्वाद्देहभोजनमिव भावहीनं सर्वमिति
श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वीयानां भावपोषार्थं कृपया भावनिरूपणं प्रतिजानते नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।

भायान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहचारकान् ॥ १ ॥

नमसो गतिसंज्ञकत्वात् कुगतिप्रादय इति समासादत्र त्यप् विसर्गस्य सकारो 'नम-
स्युरसोर्गलो'रिति । 'यो भावान् भक्तमाहात्म्यं ज्ञापयित्त्वोद्भवादिषु । अदरत्सर्वदुःखानि
बन्दितामीष्टदोस्तु स' इत्याशयेनाहुः हरिं नमस्कृत्येति । भगवति नमनातिरिक्तस्य
कर्तुमशक्यत्वात् । वक्ष्य इति । निरूपिता भावाः प्रथमत आत्मने फलन्तीत्यारम्भनेपदम् ।
तद्गुणानां विभेदकानिति । ते प्रसिद्धाश्च ते गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषां विभेद-
कान् निवर्तकानित्यर्थः । यद्वा । भगवतो ये गुणा धर्मास्तेषां निवर्तकान् । भगवतो
भक्त्या सर्वसमत्वादेस्त्वागात् । 'ये भजन्ती'ति वाक्यात् । यद्वा । तेषां जीवानां गुणा
धर्मास्तेषां वैलक्षण्यसम्पादकानित्यर्थः । अथवा भगवतो ये धर्मास्तानानीयात्र दायकानि-
त्यर्थः । भायान् विंशतिधा भिन्नानिति । भावशब्दस्यानेकार्थत्वेप्यत्र देहस्तज्ञ-
न्याभावस्याविशेषा भावा उच्यन्ते । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यमिषीयते' इत्यादिभिः
संज्ञाभिधानात् । गुणभेदः कृत्वा विंशतिप्रकारिभिन्नान् । सर्वसन्देहचारकानिति ।
विधेयविशेषणमेतत् । भगवद्भजने सर्वेषां साधनानां स्वरूपतः फलतश्च ये सन्देहास्तत्रिया-
रकान् । यद्वा । भावैर्भगवति स्फुरिते सर्वे सन्देहाः सत एव निवर्त्थन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

भायानां सत एकस्वरूपत्वेपि गुणभेदैरेव भेदाद्भावभेदकान् गुणभेदानेवाहुः गुणेति ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।

गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

जले यावन्तो भेदा वेदेन सम्भता ज्ञाता वा तावन्तो गुणभेदास्तथेत्यर्थः । वेदोक्त-

जलभेदघटान्तरणाद्भावानां शुद्धत्वात्कीकिकत्वतापहारकत्वशोधकत्वाप्यायकत्वानि ध्व-
नितानि । अत्र 'कूप्याभ्यः स्वाहे'त्वारभ्य 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यन्ता तैत्तिरीयश्रुतिरनुसन्धेया ।

तत्र प्रथमं गानप्रियत्वाद्भोविन्दस्य गायकानां भावमाहुः गायका इति । गन्धर्वा
इति प्रसिद्धाः गाननिपुणाः कूपतुल्यास्तेषां भावः तजलतुल्य इत्यर्थः । यथा कूपजलं
जालकाले कोष्णत्वाद्वाष्पनिवर्तकमुष्णकाले शीतलत्वात्तापनिवर्तकं व्यवहियमाणं वर्षते,
समीचीनं च भवति, तथैतेषां माधोतिजाद्ये गुंसि जाष्पनिवर्तकः, संसारतसे तापनिव-
र्तको गीयमानो वर्षते, समीचीनश्च भवति । यथा रज्ज्वादिभिः कूपजलं गृह्यते तथा गान-
द्वावैतेषां भावो आद्यः ॥ २ ॥

ननु गायकाः सर्वे तुल्या एव नेत्याहुः कूपभेदास्त्विति ।

कूपभेदास्तु पाचन्तस्तावन्तस्तेपि सम्प्रताः ।

कुर्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यथा केचित् कृपाः स्वादुपरिणामसुखकारिजलाः, केचिदमिष्टजलाः, केचित् क्षार-
जलाः, तिक्तजलाः, परिणामदुःखजलाश्च, तथा गायका भवि पुरुषोत्तमतद्रिभूतिगुणाव-
तारांशदिलीलाभेदेन भगवन्तं गावन्तः सत्त्वगुणादिरुपलक्षिताश्चाकामा मोक्षकामाः स्व-
र्गकामा लीकिककामाश्चेति बहुधा इति पूर्वोक्तकूपविशेषैस्तुल्या इति तेषां भावसजलतुल्य
इत्यर्थः । अत एवोक्तं कमिठद्वैदवहतिं प्रति 'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भाविनि
भाव्यते । स्वभावगुणमार्गेण गुंसां भावो विभियते । अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भमा-
स्सर्पमेव च । संग्भी भिन्नरग्मावं भवि कुर्यात् स तामसः । विपयानभिसन्धाय यश्च
ऐश्वर्यमेव वा । अर्थादावर्धयेमो मां पृथग्भावः स राजसः । कर्मनिर्होरुदिश्य परस्मिन् वा
तदर्पणम् । यजेद्यष्टम्यमिति वा पृथग्भावः स सारित्रिकः । मह्यभुक्तिमात्रेण भयि सर्व-
गुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा मद्गाम्मसोऽस्तुषी । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणसा-
प्सुदाहृतम् । नद्वैतुक्चप्रतिहता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।' इत्यादि । अत एव स्वभाव-
भूतानां गुणानां मार्गेण वृत्तिभेदेन पुंस्वामभिप्रायो भिद्यते इति फलसङ्क्षेपभेदाद्भक्तिभेद
इति गुणानां मिश्रणेन सामसादिभक्तिषु त्रयस्यैव प्रकारा इति अवगणारिपु प्रलेक नवनव
भेदा इति मरुण्ण भक्तिश्लेषात्प्रोक्ताः, निर्गुण्य श्लेषविधेरेति, दूयशैतियकार, भक्तिः
प्रयतेतराम् । तदेव श्रीमदस्मजसुचरणैर्भक्तिर्दसे निरूपितम् । 'श्रवणादिनवकमप्यधिकार-
रिभेदेन क्रियमाणं सत्कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमागीयत्वेनानेकविधं भवती'ति । द्वितीयं
भावमाहुः कुर्याः पौराणिका इति । कुर्या अत्या कृदिमा सरित् । पुराणमधीयते
निदन्ति वा पौराणिकाः पुराणेतिदावपाठकाः श्रुतिभाष्यनदीतुल्याः, तेषां भावसजल-
तुल्य इत्यर्थः । यथा मूनी कुन्धा चलाशयेन पारम्पर्ययुताः परम्परासम्भदान्या एतेपि
एरि पुराणाधिप्राप्ती पारम्पर्ययुताः सह्यरूपदेसादवगतपुराणाधीः । सह्यरूपदेश विना

श्रीभागवतविष्णुपुराणादी भाषात्रयासुरव्यामोहकलीलाखरूपाज्ञाने सर्वमनर्थकं स्यात् । यथा प्रत्यहं यज्ञे क्रियमाणे कुल्या प्रवहति, नान्यथा, तथा पुराणपाठ एव तेषां भावोदयो, नान्यदेति दृष्टान्तेन सूचितम् ॥ ३ ॥

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

वेद्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंशिताः ॥ ४ ॥

तृतीयं भावमाहुः क्षेत्रप्रविष्टा इति । च पुनस्ते पूर्वोक्ताः । 'क्षेत्रं पत्नी-शरीरयो'रिति कोशादेशकुडुम्भयोः पोषार्थं पुराणेतिहासपाठकाः स्वसंसारसोत्पत्तिहेतवो भवन्तीत्यर्थः । कुल्याजलान्यपि क्षेत्रप्रविष्टानि सम्यक् सारस्यान्नसोत्पत्तिहेतवो भवन्ति । न यहिरन्तःशुद्धिहेतुखानाचमनादौ हेतवस्तथैतेपि न स्वर्गापवर्गहेतवो भवन्ति । अपिशब्दात् क्षेत्रप्रविष्टा गायका अपि संसारहेतवो भवन्तीत्यर्थः । अत एवोक्तं भक्तिहंसे 'वृत्त्यर्थं चेत् कृपिवस्तौकिक एवे'ति । गीतायां च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति । श्रीभागवते चोक्तम् । 'यत्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै षणिक् । आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ॥ स्वत्पादुके ह्यविरतं परि ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति । विन्दन्ति ते कमलनाममवापकर्णमाशासते यदि त आशिष ईश नान्य'इति । चतुर्थं भावमाहुः वेद्यादिसहिता इति । आदिपदात् कुलटातस्संगिष्तादय उच्यन्ते । 'न तथास्य भवेन् मोहो यन्वस्थान्यप्रसङ्गतः । योपित्सङ्गापथा पुंसो यथा तत्सङ्गि-सङ्गत' इति कपिलदेववाक्यात् । एतादृशा गायका गर्ततुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यदि विषयैर्वाष्यमाना अपि दुराचारा अपि समयभेदेनापि भगवन्तमेव भजेयुस्तदापि समीचीना भवेयुस्तदपि नास्तीत्याहुः मत्ता इति । अतः स्वस्थान्यनुसन्धानरहिताः । नद्येते प्रीत्या माहात्म्यपिया वा कुर्वन् गायन्ति, किन्तु तमस्वरगीतवशात् कदाचिदतो गर्ततुल्या एवेत्यर्थः । अतो तेषां भावस्य कूपकुल्याजलवदाप्यायकत्वादिगुणयोग इत्यर्थः । अमचास्तु कूपभेदेषु ज्ञेयाः ॥ ४ ॥

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्परः ॥ ५ ॥

पञ्चमं भावमाहुः जलार्थमेवेति । प्रश्नात्नोच्छिष्टजलप्रक्षेपार्थमेव ये गर्तास्तुल्या नीचा गानोपजीविन इत्यर्थः । नीचत्वेन वायोत्कर्षाभावाद्गानोपजीवनेनान्तरोत्कर्षाभावाद्-च्छिष्टजलगर्ततुल्यत्वमेवेषां, तेनोच्छिष्ट्यर्तजलवत्तेषां मायो न सङ्गिर्मात्र इत्यर्थः । यद्वा । जलनिःसरणार्थं गर्ता इत्यर्थः । पौराणिकनिरूपणानन्तरं पुनर्व्यायकनिरूपणं तदेतादृशानां पौराणिकानामेतद्वायकतुल्यत्वज्ञापनार्थम् । षष्ठं भावमाहुः हृदास्त्विति । तुशब्दः पण्डित-प्रकरणबोधनार्थः । भगवच्छास्त्रं गीताभागवतादिकं तत्र तत्परः । न तु भाषावादादिमते । एतादृशाः पण्डिता इदंतुल्यास्तेषां भावो इदजलतुल्य इत्यर्थः । यथा हृदजलमन्तःशी-

तलत्वाद्ग्राहत्वाच्च नात्रापेन पश्चादिभिश्च तापयितुं कलुपयितुं वा शक्यमेवमेवां नावोपि सांसारिकतापेन कुतर्कादिभिश्च न तापयितुं कलुपयितुं वा शक्य इति भावः ॥ ५ ॥

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

सप्तमं भावमाहुः सन्देहेति । भगवच्छास्त्रे सन्देहवारकाः गंभीरं मानसं येषामित्यन्तर्निष्ठा एतादृशाः पण्डिताः । सुष्ठु उदकं येषां तादृशहृदविशेषतुल्यास्तेषां भावस्तजलतुल्य इत्यर्थः । ययोत्तमोदकानां जलं मनःप्रसादहेतुरप्येवं भगवच्छास्त्रसन्देहवारकानामन्तर्निष्ठानां भावोपि मनःप्रसादहेतुरपीति भावः । बाष्पो वा सूदा उच्यन्ते । अष्टमं भावमाहुः सरःकमलसम्पूर्णा इति । भगवच्छास्त्रे सन्देहवारकाः अन्तर्निष्ठा वा ज्ञातारः प्रेमयुक्ताः सन्तः, सरःसंबन्धिकमलानि सम्पूर्णानि यामु तादृश्य आप एतत्तुल्यमावा इत्यर्थः । जलाशयं विहायात्र जलदृष्टान्तकरणादेतेषामपि भावतुल्यत्वं सूचितम् । यथा एतादृश्य आपः सकलेन्द्रियसुखदेतवः कमलसौरभश्च सारसादिसाहित्यात् तथैतेषां भावा अपीति भावः ॥ ६ ॥

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पत्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥

नवमं भावमाहुः अल्पेति । अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशन्तोऽल्पसरस्तुल्यास्तेषां भावस्तजलतुल्य इत्यर्थः । दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्ममिः शुद्धाः, कर्माणि क्लृप्तेभ्यो ये समर्पयन्ति तेषां कर्म पित्तशोषकं भवतीति कर्मशुद्धाः । 'पत्करोपि यदश्रासि यञ्जुहोसि ददासि यत् । यत्तपससि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्षण'मिति भगवद्वाक्यात् । एते पत्वलमल्पसरोविशेषस्तुल्यास्तेषां भावस्तजलतुल्य इत्यर्थः । अत्याश्रुतिः पुराणादिश्रवणं भक्तिर्येषां, अल्पश्रुत्या वा भक्तिर्येषामिति तेषां तथा, पत्वलजलतुल्या इत्यर्थः । यथा वेशन्तपत्वलयोरन्वतदागल्वात्तजलं पूर्वं निर्मलमपि बराहापवगाहितं कलुषं भवति, तथा 'अभिहोत्रं लुहयात्' 'सर्मकामः अग्निष्टोत्रेण, स्वर्गकामो यजेते'त्यादिवाक्यात् सकामानामेव यागापधिकात् फलाश्रवणेपि विशिष्टियायेव फलकल्पनात्प्रेषारार्पणार्थं कर्म कर्तव्यम्, किन्तु फलार्थमेव, यागानधिकारिणामेव मन्त्राधिकार इत्यादिभिः कर्मजडानामसद्बुद्धिस्तोषामपि भावः कलुषो भवति । तेषां 'मत्कर्मपरमो भव, मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि, मन्मथा भवे'त्यादिप्रमाणान्नापज्ञानादित्यर्थः । वेशन्तपत्वलयोर्लोकैः पर्यापत्तेषु 'वेशन्तीम्यः स्वाहा, पत्वल्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्या तपोर्जलयोर्भेदनिर्देशात् । स्वादुसौरमादितदमावाभ्यां वा भेदो ज्ञेयः ॥ ७ ॥

योगध्यानादिसंयुक्ता शुष्ता चर्प्याः प्रकीर्तिताः ।

तपोशानादिभायेन खेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

एकादशभावमाहुः योगध्यानादीति । योगोपायः, ध्यानं प्रादेशमापादेः,

आदिपदाद् पाद्यपदायांस्मृतिः, एतत्समानाधिकरणा गुणा भावा वप्याः प्रकीर्तिताः ।
 पृष्टिजलतुल्याः कथिता इत्यर्थः । यथा वृष्टिसमये पृष्टिजलं सर्वदेशं व्याप्नोति,
 सर्वत्र सुलभमाधारगुणमादाय कार्यविशेषमन्नादिकं च जनयति, तथैतेषां योगादि-
 समय एव भगवद्भाषो देहेन्द्रियादि सर्वं व्याप्नोति, सुलभः पात्रविशेषे स्वसजा-
 तीयं भावविशेषं च जनयति, अत एव संयुक्ता इत्यनेन सम्पद्योगो निरूपित इति
 भावः । द्वादशं भावमाहुः तपोज्ञानादिभावेनेति । तपः पश्चात्सहनादि, ज्ञानं जी-
 वात्मनः, आदिपदाद्वर्णाश्रमाचारश्च, प्रत्येकमेतान्येव भावस्तपोज्ञानादिभिर्वा यो भावस्ते-
 नोपलक्षिताः खेदजलतुल्याः कथितास्तेषां भावः खेदजलतुल्य इत्यर्थः । केचित् तपसैव
 भगवानाराध्य इति मन्यन्ते । वस्तुतो भक्तिप्राप्य एव । 'मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुती-
 जस्तेजःप्रभाववलपौरुषयुद्धियोगाः । नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोप
 भगवान् गजयूयपापे'त्यादिवाक्यैः । केचिदितरभिन्नत्वेन स्वारमज्ञानान्मोक्ष इति तदेव भजन-
 मिति मन्यन्ते । वस्तुतस्तु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवती'त्यादिर्भगवज्ज्ञानमेव मोक्षसाध-
 नम् । 'श्रेयःसृष्टिं भक्तिमुदस ते विमो क्लिश्यन्ति ये केवलधोपलम्भय' इति वाक्ये केव-
 लात्मज्ञानस्य निन्दितत्वाच्च । केचित्तु 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् । विष्णुरारा-
 ध्यते पन्था नान्यत्ततोपकारण'मिति वाक्याद्वर्णाश्रमाचारमेव भगवद्भजनं मन्यन्ते । तदपि
 न विचारक्षमम् । वर्णाश्रमाचारस्ताधिकारिविशेषणत्वादात्तारणं तु श्रवणादिरूपं भिन्नमेव ।
 'धर्मः सत्यदयोपेतः, धर्मः सनुष्ठितः पुंसाम्, विप्रादिप्रद्वृणुतुतादरविन्दनामपादारविन्द-
 विमुखात् श्वपचं वरिष्ठम् । मन्ये तदर्पितमनोयचने दितार्थः प्राणं पुनाति स कुठं न तु
 मूरिमान्' इत्यादिभिर्भगवद्भजनाभावे भगवद्भक्त्युत्पत्ते च धर्मस्याप्रयोजकत्वनिरूपणात् । 'वर्णा-
 श्रमवतां धर्म एव आचारलक्षणः । स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः पर' इति भगवतो-
 श्रवणप्रत्याहारमन्त्रोर्भेदेन निरूपणात् । द्विजवचनमुग्रहे द्विजैर्भगवद्भक्त्युत्पत्ते त्रिपृष्टिद्या-
 दीनां धिक्कारोक्तेश्च । 'ये त्विहासक्तमनस' इत्यादिवाक्यैः सर्वकर्मणि कुर्वतामपि भग-
 वद्भक्त्युत्पत्तेः । अत एव 'परमापदमापन्नो ह्येवं वा समुपस्थिते । नैकादशीं लजेद्यस्तु यस्य
 दीक्षास्त्रि वैष्णवी ।' 'समात्मा सर्वजीवेषु निजाचारादविच्युतः । विष्वक्पिताखिलाचारः
 स हि वैष्णव उच्यते' इत्येभिः पुराणवाक्यैर्माधवाचार्यैः कालमाधवीये वैष्णवध्वजमभि-
 धाय वैष्णवस्मार्तयोर्भेदो निरूपितः । वर्णाश्रमाचारस्यैव भजनरूपत्वे सम्प्रत्युक्तसकलविरो-
 धात् । यथा खेदजलं न शुद्धिहेतुस्नानाद्यमनाद्युपयोगि तर्पणनिवर्तकं तापहारकं वा भवति,
 तथैतेषां भावोपीति भावः ॥ ८ ॥

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

अथोदशं भावमाहुः अलौकिकेनेति । महदनुग्रहादिना प्राप्तज्ञानेन ये सर्वदुः-

खट्वर्तुणा ऐश्वर्यादयः प्रोक्ताः कदाचिदेव प्रतीयमानाः वेदादिगम्यास्ते गुणाः दूरात् पर्वतादेर्धारास्वरूपेण पततां जलानां ये शब्दास्तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । यथा धाराजलशब्दाः (पर्वतपतित) धाराजलानां ज्ञापकास्तयोन्यमाना भगवद्गुणा अपि वक्त्राणां धाराजलसदृशमावज्ञापका इत्यर्थः । यथा धाराजलं नैर्मैत्र्यशील्यमाधुर्याविच्छेदयो- गार्शेनस्पर्शनेखानाचमनपानादिभिर्मनोहारि तापहारि सौहृदियसुखकारि, तथैतेषां काव्या- दिषु प्रतीयमानो भावोपीति भावः ॥ ९ ॥

देवान्युपासनेद्भृताः पृथ्वा भूमेरिवोद्भृताः ।

साधनादिप्रकारेण नवधामक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

प्रेमपूर्व्या स्फुरद्धर्माः स्पन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

चतुर्दशं भावमाहुः देवा इति । श्रीपुरुषोत्तमव्यतिरिक्तानां देवानामादिपदात् पितृमातृपतिज्येष्ठभ्रात्रादय उच्यन्ते । एतेषामेव उपासनेऽयमेव देवः परमेश्वरो, वर्य परमेश्वरमजनमेव कुर्मः । पितृवासाकमीश्वरः, पितृसेवां विष्णुमजनमेव कुर्म इत्येवमादयो ये उद्भृता भावास्ते, अयं च देवाः शिवादयः आदिपदाद् गक्षरक्षःपिशाचादयः । तेषां देवा- दीनामुपासनमुद्भृतमुद्भृतेषु भगवद्भाषेषु ते भावा देवाः उपासनेन सद् बोद्धृता भगवद्भाषास्ते च भूमेरुद्भृताः पृथ्वा इव । 'अवस्था यजन्त्याः पृथ्वा' इति वेदभाष्ये । पृथ्वा जलविन्द- वस्तुपारकणाः जलबुद्बुदा वा त इत्येत्यर्थः । तेषां ग्रान्त्या भजनात्तुल्यतयैव सर्वमजनाय । महापुरुषाणां भगवद्भक्तानां भजनं तु भगवत्प्रीतिमक्तिशुद्ध्यादिसाधकत्वान्निन्नरूपमेव । अत एव श्रीभागवते 'मद्भक्तपूजास्यधिका । तुल्याम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस मर्त्यानां किमुतासिपः । प्रसङ्गवजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् । सतां प्रसङ्गान्मम धीर्यसंविदः । न तथा क्षपवान् राजन् पृथेत तपआदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवथा । किरातहृणान्भे'त्यादि । पिशादित्से- वायाः स्वर्गादिसाधकत्वान्न भगवत्फलसाधकत्वम् । अत एव भगवता गीतार्थां 'वैष्णव- देवतामक्ता' इत्यत्र, स्वयजने विधिपूर्वकत्वाभावे उक्तो, विष्णुभावे कर्मणि फलामाववद- त्रापि भगवत्फलं न भवतीत्याशयेन । ('यान्ति मयाजिनोपि माध् । देवान् देवपजो यान्ति' तिवान्क्यैः पुरुषोत्तममजनकक्षुरिव पुरुषोत्तमप्राप्तिसाक्षीव भवयान् योगक्षेमं वहतीति सुख्योत्तमप्राप्ति सुख्योत्तममजनमेव विविर्गैः केनपि प्रकारेणान्यमजनमित्यत्र विध्यभावात् फलामात्रो युक्त इति भावः ।) यथा विन्दवस्तुपारकणाः बुद्बुदजलं वा न खानाचमनपाना- दिभिः शुद्धिगृह्यादिसाधकं तथैतेषां भावोपि न शुद्ध्यादिसाधक इत्यर्थः । पञ्चदशं भावमाहुः साधनादिप्रकारेणेति । साधनादिः फलात् यस्मिन् प्रकारे तेन प्रकारेण नवधा भक्तिरेव मार्गो भगवत्प्राप्तिसाधनं तस्मात् क्रमेण प्रेमपूर्व्या स्फुरन्तो धर्मा येषां अवपादयो

नट्येशादयो वा ते सन्दमानाः प्रसवणजलतुल्यमावाः प्रकीर्तिता इत्यर्थः । भक्तिमार्गे मर्यादया भगवद्भक्तीकारादकामोपहृतरखिलवर्णाश्रमधर्मैः सत्वशुद्धौ भगवद्भक्तिरेव पुरुषार्थ इति शास्त्रार्थनिश्चयाच्छ्रवणादिभिस्तेषां भाव इति । यथा पूर्वतोपरि वृष्टितडागादिसद्भावे प्रसवणजलं वर्षते तदभावे हसत इति तत्सापेक्षं शुद्ध्यादिहेतुश्च, तथैतेषां भावोपि साधनानुसारी शुद्ध्यादिहेतुश्चेति भावः । इदमेवोक्तं भक्तिहंसे । 'आद्यस्तु तत्साधने भवति प्रवृत्तस्तथैव तद्वरणात्, परन्तु स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरैव तत्र प्रयोजकस्तदुत्पत्त्यनन्तरं च रागादेव तत्सम्बन्धिपदार्थं यतिभ्यत इति विधेरप्रयोजकत्व'मिति । एकादशस्कन्धे च 'भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेनच । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् । श्रद्धाश्रुतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् । परिनिष्ठा तु पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं गम । आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् । मद्भक्तपूजाभ्युपेक्षा सर्वभूतेषु मन्मतिः । मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा महुणेरणम् । मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् । मदर्थेऽर्पपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्गतं तपः । एवं धर्मैरनुष्णाणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सध्यायते भक्तिः कोन्योर्धोऽस्वावशिष्यते' इत्यादि-मिर्निरूपितम् । नवधा भक्तिस्तु 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसांपिता विष्णोर्भक्तिश्चेन्नववर्णना । क्रियते भगवत्सद्भा तन्मन्येऽधीतगुप्तम'मिति प्रह्लादैर्निरूपिता ॥ १० ॥

यादृशास्त्रादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविचरिताः ॥ ११ ॥

स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

योहंशं भावमाहुः यादृशा इति । यादृशाः पूर्वमन्यवधानेन प्रोक्तास्तादृशा वृद्धि-क्षयविचरिताश्चेत्, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः मर्यादायामेव केवलाः प्रतिष्ठिताः, न तु ततोधिक-विशेषाङ्गीकारयुक्तास्ते स्थावरा भावः स्थिरजलतुल्यमावाः समाख्याता इत्यर्थः । यद्वा । ये केचित् येनकेनचित् प्राप्तशुद्धिक्षयविचरितप्रेमाणस्ते तथाप्रोक्ता इत्यर्थः । अत एव प्रे-मस्वरूपं श्रूयते । 'आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तानीयानपि क्षीयतापि न चापराध-विधिना नत्वा न यद्दर्शते । पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः सांप्रतं प्रेम्यस्तस्य गुरोः किमप्य करवै वादिनष्ठता लपव'मिति । यथैतज्जलं नातपेन शुष्यति खानादिहेतुश्च भवति, तथैतेषां भावोपि न संसारतापकुतर्कादिभिर्मिच्छति शुद्ध्यादिहेतुश्च भवतीति भावः ॥ ११ ॥

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सद्भादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नव्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

सप्तदशं भावमाहुः अनेकजन्मेति । ये भावा अनेकजन्मसु 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोप्यानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्ये भक्तिः प्रजायते' इति वाक्यात् तप्ये-

ध्यानसमाधिभिः सम्यक्सिद्धाः तत्रन्मारभ्य सदा भुवि आधारभूते चात्मनि सन्नः सत्सङ्गः आदिपदादन्नकालविशेषदेशविशेषाः दुष्टसङ्घादयथ तेषां यौ गुणदोषौ ताम्यां क्रमेण वृद्धिक्षययुताः, निरन्तर उद्गम उद्भवो गमनं च तेन युताः । एतादृशास्ते भावा नयः स्वतोऽ-समुद्रगामिनदीजलतुल्याः परकीर्तिता इत्यर्थः । यथा नदीजलं वृष्णातपाम्यां वृद्धिक्षयवद्भवति, भूमिपर्वतादिगुणदोषाम्यां गुणदोषवद्भवति, शुद्धितृप्त्यादिहेतुश्च भवति, तथैते भावा अपि तपोध्यानसमाधिसाम्यपापक्षयद्वारा जनिता इति शुद्ध्यादिहेतवः सत्सङ्घादिभिर्गुणयन्तो भवन्ति, वर्धन्ते च, दुष्टसङ्घादिभिर्दोषयन्तः भवन्ति, हीयन्ते चेति भावः ॥ १३ ॥

एतादृशाः स्वतश्चास्ते सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥

जडनारदमैत्रायास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

अष्टादशं भावमाहुः एतादृशा इति । अव्यवधानेनोक्ता भावाः स्वतश्चाः निरु-
पाधिकार्येण सदा ते सिन्धवः स्वतःसमुद्रपामिन्यो महानपस्तजलतुल्याः परिकीर्तिता
इत्यर्थः । सिन्धुषु नदा अपि गृह्यन्ते । यथा महानदीजलप्रविष्टाः समुद्रं प्रविशन्ति,
तथैतद्भाषानुसारिणोपि दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशन्ति, महानदीजलवदेते भावाः शुद्ध्या-
दिहेतवोपि भवन्तीति भावः । एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा भगवदीया इति ।
ये भगवदीयाः मत्स्या सेवया पूर्णा 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वायाः' येषामात्मा-
दिकं भगवदयमपेक्षितं नत्वात्मापर्यं भगवान् सेव्यस्ते समुद्राः रत्नाकरतुल्याः प्रकी-
र्तितास्तेषां मानस्तजलतुल्य इत्यर्थः । भगवदीयशब्दस्तु नामधेयस्य विकल्पेन वृद्धत्यान्ते-
पार्यं उपासी 'गुह्यं छन्दसी'ति छन्दो विधानात् सिद्धः, पुराणप्रसिद्धोपि, वाचस्पत्या-
दिवल्लोके ज्ञेयः । तान् प्रसिद्धान् गणयन्ति शेषव्यासाग्निमारुता इति । जडनारद-
मैत्राया इति । शेषो भगवद्गुणपरः शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते विभूतिरूपश्च । 'जन-
न्तश्चास्मि नागाना'मिति वान्ध्यात् । श्यासः कलावतारः सदा भगवद्भर्गेनिरूपणपरो यस्य
पूर्वभगवद्भर्गेनिरूपणेनात्मप्रसादः । अग्निर्भगवदात्मरूपाः स्वयमेव येषां सर्वांशे सर्वस्वरूपः
कृष्ण एव । मारुतो हनुमान् श्रीरघुनाथतद्गुणतत्परः । जडो जडमरतो योन्तःपूर्णभावाद्बहिर्जड
इव प्रतीयते । नारदः सदा पुरुषोत्तमगुणमालैकतानः । मैत्रो मैत्रेयः पराशरशिष्यो भगवद्भर्मे-
षक्तः । आषपदादुद्धवादयः । समुद्रऽप्यन्तेन यथा चन्द्रदर्शनादन्धिरुत्तुङ्गतरङ्गिततरङ्गो
भवति, तथा भगवन्मुखचन्द्रदर्शनादेतेषु प्रवर्धमानभावा भवन्तीति भावः । अयमेव
भावः कपिलदेवैरुक्तः 'सालोक्यसार्धिसामीप्यसारूप्यैकत्वमभ्युत । दीपमानं न गृह्णन्ति
विना मत्सेवनं जनाः । स एव भक्तियोगाख्य आत्मन्तिक उदाहृत' इति ॥ १४ ॥

पूर्णभावान् स्वरूपज्ञानगोदेन विलम्ब्याग्निरूपयन्ति लोकचेदगुणैरिति ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्तौ क्षाराद्याः पद् प्रकीर्तिताः ।

एके लोकमिश्रभावेन । एके वेदमिश्रभावेन । एके गुणैर्मिश्रभावेन हरिगुणान् वर्णयन्ति । ते क्रमेणोच्यन्ते । रामकृष्णादयो मनुष्या एव, परं बलादिनाधिका इति ज्ञात्वैके हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तु तजलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षारजलं न तृपादिनिर्वर्तकं न वा तृप्तिमुखकारि तथैतेषां भावोपीति भावः । एके 'तृजृतासि बराहेण कृष्णेन शतबाहुना' इत्यादिना वेदे मृष्युद्धारादेः कृष्णकर्तृकत्वेन निरूपणात् जगत्कर्तृषु विविधशरीरेषु आविश्य कार्यं कृत्वा तानि त्यजतीति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तजलतुल्य इत्यर्थः । यथा दधिमण्डसासारत्वात् पुष्टिहेतुत्वम् । तथैतेषां भावस्वापीति भावः । मायागुणैर्विना भगवतः कर्तृत्वाभावात्तद्गुणैरेव भगवान् सर्वं करोतीति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् ये वर्णयन्ति ते सुरोदतुल्यास्तेषां भावः सुरातुल्य इत्यर्थः । यथा सुराद्याः स्वरूपविस्मारकत्वं दोषजनकत्वं तथैतद्भावस्वापीति भावः । भगवान् सर्वेश्वरः सर्वं कर्तुं समर्थ इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावः क्षीरतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरं स्वाद्मधुरं पुष्टिजनकं तथायं भावोपीति भावः । भगवान् महावीर्यः स्वमत्तानपि वीर्यवतः करोतीति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते घृतोदतुल्यास्तेषां भावो घृततुल्य इत्यर्थः । यथा घृतं वीर्यहेतुस्वार्थं भावोपीति भावः । 'तं यथा यथोपासत' इति श्रुतेः 'भगवान् लक्ष्मीकलत्रः सेवितो मुक्तिं मुक्तिं च यच्छती'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते त्रिशुरसोदतुल्यास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः । यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनिवर्तकस्वार्थं भावोपीति भावः । 'यशःक्षातुद्धरेत् कृष्णे वाटशांखाद्यानपि । सर्वथा शरणं यातानतः सेव्यः स एव ही'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदकतुल्य इत्यर्थः । यथा शुद्धोदकं तापनिवृत्तिर्नैर्मल्यत्वत्प्यादिहेतुस्वार्थं भावोपीति । भगवान् विद्रूपो ज्ञानपूर्णो ज्ञानगम्यः सर्वसमो मोक्षार्थं सेव्य इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावो दधिमण्डतुल्य इत्यर्थः । भगवान् वैराग्यपूर्णो न किञ्चिदपेक्षते गृह्णाति वा सर्वैः पावित्र्यार्थं विहितत्वात्सर्वं समर्प्यते स्तुयते चेति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते क्षारोदतुल्यास्तेषां भावः क्षारबलतुल्यो, भगवद्द्वैराग्यस्य मिश्ररूपत्वादिति भावः । केवलसमुद्रदृष्टान्ते क्षारोदः शुद्धोदो वा ज्ञेयः ॥ १५ ॥

पूरीभागवदीयेष्वत्युत्तमानिरूपयन्ति गुणातीततयेति ।

गुणातीततया शुद्धान् सचिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥

सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।

तेऽधृतोदाः समाख्यातास्तद्राक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

तादृशानां कचिद्राक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।

अजामिलार्कणनवद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।

तदा लेहनमित्युक्तं खानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

ये भगवदीयाः 'तसु स्रोताः' 'यस्मात्क्षरमतीतोद्भव' 'मच्चिष्ठं निर्गुणं स्पृष्टम्' 'लोकवत्सु लीला कैवल्य'मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैर्भगवन्नामरूपधर्माणां गुणातीतत्वं, निबिड्य भगवन्नाम सच्चिदानन्दात्मकं भगवान् क्षराक्षरातीतः पुरुषोत्तमो भगवच्चिष्ठं सर्वं निर्गुणं भगवतो लोकवदपि वा लीला रैव कैवल्यं मोक्षः फलरूपा गुणातीता स्मरणादिगान्धेयां मोक्षसाधिका चेत्येवं निरूपणेन विष्णोः पुरुषोत्तमस्य सर्वानेव गुणात्रवनीतादिचौर्मगोचरण-वेणुवादनगोवर्धनोद्दरणादीनि शुद्धान्गुणातीतत्वेन मायासंन्धरहितात्रिलान्ताच्चिदानन्द-रूपवतो वर्णयन्ति तेऽमृतोदाः सुधासमुद्भूतत्वाः समाख्याताः कथितास्तेषां भावः सुधातुल्य इत्यर्थः । ते भगवचौर्यादिप्रयोजनज्ञातारो, यतो विचक्षणाः, ततस्तद्वाक्यानां तेषां भवना-मृतस्य पानमन्तानिवेशनं तत उपदेशग्रहणं सादरश्रवणं च सुदुर्लभं सुतरां दुःभाषम् । अत एव नामस्वरूपज्ञानार्थमेतादृशानामुपदेष्टव्यामुपसन्तिः कार्येलाशयेनाह धृतिः 'महत्स्ये विष्णो सुमतिं भजामहे' इति । ते स्वत्वंवर्णनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भगवन्तं जानन्तं भ-गवद्भक्तमित्यर्थः । अत एव तत्त्वसायरेषुक्तं 'दुर्लभे सद्गुरूणां तु सात्त्विकं उप-स्थिते । तदनुज्ञा यदा लप्सा स दीक्षालसरो महानि'ति । अत एव निलानन्दमयपुरुषो-त्तमत्वेन भगवत्स्वरूपाज्ञाने ज्ञानकर्मादिकं म्यर्थवित्याह भगवा'नवजानन्ति मां महा' इत्यारण्य 'प्रकृतिं मोहिनीं भिता' इत्यन्तेन । निलानन्दमयपुरुषोत्तमत्वेन भगवज्ज्ञाने सर्वविलं सर्वमात्वेन स्वभजनं शोकं भगवता 'यो मामेवमसंमूढ' इति श्लोकेन । तद्वाचो महिमानमाहुः तादृशानामिति । पूर्वभगवदीयानां वाक्यं कचित् यत्र प्रसन्नतया स्नेच्छया वदन्ति, नत्वनुरोपेन प्रेरणया वा, तत्र दूतानां सन्देहदृशानामिव वर्णितं ज्ञेयं, यथा दत्तमुखेन राजा वदति, तथा वन्द्येन भगवानपि दूतानामिव प्र-सन्नवर्णने तेषां न शङ्का चेति भावः । अतो भगवत्कृपया फले भाविन्येतादृशानां समा-गमो भवति । अत एव श्रीभागवते 'भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जन्तव्य तदाच्युतस-त्सभागमः । सत्सङ्गो यद्द्वि तदैव सद्गतो परावरोशे स्वयि जायते मतिः । महद्विचलनं नृणां'-मित्यादि । अत एवेतद्वचनामृतविन्दुपानमेव उपदेशग्रहणं श्लोकंमात्रश्रवणं शिक्षा वाप्यजामिलार्कणनवत् । अजामिलस्य यदार्कणनं विष्णुदूतेभ्यो भगवद्दर्मेवलश्रवणं शिक्षा वा तद्वत् प्रकीर्तितम् । यथाजामिलस्य तदनन्तरं न पुनर्वैरकसम्बन्धो भगवद्दर्माचरणेनोत्कृष्ट-फलप्राप्तिलक्षितद्विन्दुपानकर्तुरपीति भावः । यद्वा । अजामिलस्यार्कणनं यस्मिन् तदजामि-लोपाख्याने तैव यथा भगवद्भगवादिमाहात्म्यं ज्ञातं भवति, तथैतद्विन्दुपानेनापि भवतीति

भावः । अत एव श्रीभागवते 'किरातहृणान्भे'ति 'यत्पादपङ्कजे'ति । एतद्विन्दोः पानापेक्षया रसास्वादोधिक इति तत्परिचायकमाहुः रागाज्ञानादिभावानामिति । रागः श्रेहो गृहादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिषदात् गृहाद्यासक्तिः, एतान्येव भावाः । यद्वा । अज्ञानमविद्या आदिर्येषां भावानां शोकमोहादीनां तेषां यदा सर्वथा नाशनं, तद्वासनापि न तिष्ठति, तदा टेहनं रसास्वादनं पूर्णमुक्तम् । यद्वा, रागाज्ञानादिभावानां यदा सर्वथा नाशनमस्फूर्तिसंश्लेष्टेति । इदमेव विन्दोः पानं टेहनं रसास्वादनमुक्तम् । श्रवणादौ व्यसने सम्पन्ने तदेवास्वाद्यमानममृतं भवतीत्यर्थः । तत्खानन्दोद्गमकारणं स्वस यो भगवदानन्दसो-
द्गमस्तस्य नित्यत्वात् तत्र कारणम् । 'रसं देवायं लब्ध्वानन्दी भवती'ति श्रुतेः । स्वस तिरोहितानन्दस्य य उद्गमः प्राकट्यं ज्ञानफलं तत्कारणतुल्यं यत्रेति च । प्रथमभावानन्तरं भक्तिप्राप्तेः । भगवति क्रमेण प्रेमासक्तिव्यसनैः प्रापशिकारस्फूर्ती न किमिदवशिष्यते । अत एवोक्तमेकादशे 'भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते । मय्यनन्तगुणे प्रहृष्यानन्दा-
नुभवात्मनि । एवं धर्मैर्मुष्पाणामुद्भवात्मनिवेदिना'मित्यादिना च । तद्योक्तं भक्तिव-
र्धिन्यां श्रीषुभाचार्यचरणैः 'श्रेहाद्रागविनाशः सादासत्तया साद्गृहादधिः । यदा स्थास्यसनं कृष्ये कृतार्थः स्यात् तदैव हि' ॥ १६-१९ ॥

उद्भूतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्स्था ।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

विंश भावमाहुः उद्भूतोदकवदिति । अव्यवधानेनोक्तामृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथा तेषामेव सर्वे भावाश्च भाववतामप्रत्यक्षदशायामादरेण गृहीतानि वाक्यानि भावाशोद्भूतोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । यथा कथञ्चिद्गृहीतानि पतितोदकवज्जलाश-
यात् पृथक् पतितोदकवत् । अथवा, प्रासादादितः पतितोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । अथवा । भाववदप्रत्यक्षदशायां सर्वे भावा अमृतोदतुल्यातिरिक्तानामुद्भूतोदकवत्फलं साधयन्ति । वाक्यानि च पतितोदकवत् फलं साधयन्तीत्यर्थः । तत्सोम्यो भावेभ्यो वाक्येभ्यश्च फ-
लमपि तथा तदतुरुपमेवैत्यर्थः । ययोद्भूतजलानि स्वप्रभवगुणसदृशानेव गुणान् विद-
धते, न तु तानेव, तथा तत्तद्भावा अपि तत्तद्गुणसदृशान् गुणान् विदधते । शुभा तु सदै-
करूपमेव गुणं विधत्त इति भावः ॥ २० ॥

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

उपसंहरन्ति इतीति । इतीति समासो । अनेन प्रकारेण वा । जीव आत्मा इन्द्रियाणि च तेषु गताः प्राणाः । अत एव भुवि आधारे नानाभावं अनेकविधं सा-
त्त्विकादिभावं गताः प्राणाः, नानात्वं वा प्राणाः, एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणास्तेषां भावानां भगवदीयत्वात् तद्रूपत्वात् । रूपतः स्वरूपतः ईदृशमिति यत् स्वरूपमिति । फलत

इतीदृशमेतत्फलमिति निरूपिता विवेचिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

जलानामिव भावानां भेदा यत्र निरूपिताः । जलभेद इति ख्यातो ग्रन्थोयं भावबोधकः ॥१॥

श्रीविट्ठलेशाङ्घ्रिसरोजपीठं कल्याणरामेण मुदा प्रणम्य ।

ताताङ्घ्रिपथे च गुरुन् पितृव्यान् टीका कृतेयं जलभेदानाम् ॥ २ ॥

श्रीगोविन्दसुतश्लोका टीका रागवतां हरी । भावपूर्णा मुदे भूयास्तुन्दरीवाल्मभाषिणी ॥३॥

शृणोयमनवचं वा वाटस्येव कृपालयः । क्षमन्तां विट्ठलाधीशचरणाः प्रभवो मन ॥ ४ ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरचरणैकतानश्रीकल्याणरागविरचिता

जलभेदटीका सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतः ।

नत्वा श्रीब्रह्मभाचार्यान् भगवन्तं च तद्गुणान् ।

गुणसभावबोधार्था या वाचसा उपासहे ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिवर्धिन्यां त्यागिनां एहस्यानां च भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणरूपं कीर्तनरूपं च साधनमुक्त्वा तदर्थंमर्थयलात्कीर्तयितुः श्रोतुश्च प्राप्ते सन्ने स किं यस्य कस्यापि कर्तव्य उत भगवदीयत्वेन परीक्षितस्येत्याकाङ्क्षायां यथेकादशस्कन्धे 'समूर्त्वा लोकलवण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणां, गीर्षिसाः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीहतां क्रियाः, आन्ध्रिय कीर्तिं सुष्ठोकां पितृव्य बाधसातु की, तमोन्ना तरिप्यन्तीत्यगास्त्रं पदमीश्वर' इति शुकवाक्ये भगवत्कीर्तः संसाररूपकतमस्तात्कलेन कथनात्साध गुणजन्यत्वात्साधमपि श्रवणानां कीर्त्यमानानां स्मर्यमाणानां कश्चित् दश्यमाणानां च संसारतरकत्वमेवोचितं, भगवता तदर्थमेतानवतारदशानां कीर्तिद्वारा शक्यतात्, 'साङ्ख्यं पारिहास्यं वा स्तोत्रं देहस्वमेव वा, यैःकुष्ठजालप्रहृणभयोपायहं विदु'रिति षष्ठस्कन्धे शुकवाक्यादजा-मिलसा पुरोपचारितनामकीर्तनमात्रेणैव संसारत उद्धाराय, यस्य कस्यापि सहः कर्तव्य इत्यङ्गीक्रियते, तदा 'मिधाशया ये शृङ्खन्ति मम नामानि चार्द्धन, अमुस्यासो जनः पार्थ दुरतः परिवर्जये'दित्यादिपुराणवाक्येषु निन्दास्मरणस्य, सप्तमस्कन्धे समाप्ते, 'अहं पुरामयं कश्चिद्भ्रमर्ष्व उपगहंण' इत्यादिगिनौरदेन स्वपूर्वजन्मवृत्तान्तकथने गायतो गतस्य मत्तस्वीपरिवृत्तस्वरुत्तम्पटलैः स्वस्य विश्वरुद्रतशापकथनस्य च कथमविरोधः । किञ्च, प्रथमस्कन्धे नारदेन सास्य शृङ्खन्निन योषिसङ्गतदुक्तभगवत्कथाप्रवचान्नां स्वस्य भ-

गवद्रत्नादिकथन, एकादशस्कन्धे च भगवता कथाश्रवणापर्यं सत्सङ्गस्यैव कथन च कथं सङ्गच्छते, तथा गुणकर्मानुरूपभगवन्नामोच्चारयित्वा मिक्षाशामात्रेण कथं निन्द्यत्व, गुणगातुरूपवर्हणस्य च कथं विश्वसृग्म्यं ज्ञाप । किमैव भावभेदेन नामाद्युच्चारयित्वा गुणगातुप्रभृतीनां च स्वरूपभेदे फलभेदे चावगम्यमाने कथं द्विविधवाक्यानामविरोध इति सन्देहे स्वीयानां जाते तद्धारणार्थं 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् स' इति न्यायेन भगवानाकाशादिभूतेष्वुच्चारयेत् तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तत्कार्यं करोति, तथा भगवद्गुणा अपि भगवद्रूपत्वाद्गीतिकेषु तत्तद्भावरूपेष्वुच्चारयेत् तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तद्भावानुसार्यैव कार्यं कुर्वन्तीति भगवद्गुणानामाधारवशेन फलतः स्वरूपतथ नानाप्रकारता वदिष्यन्तस्तदाधारनिरूपण प्रतिजानते नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं यक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।

भाचार्यविंशतिधा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिं 'हराम्यथ यस्मर्दणा'मिति' भारतवाक्यात्स्मरतामपदहर्तारं भगवन्तं नमस्कृत्य, तद्गुणानां तच्छब्दस्य सन्निहितपरामर्षित्वात्सह हरे गुणानामुक्तार्थापायकानाम् धर्माणां विभेदकान् विशुद्धो नानार्थं नानाभेदजनकान् विंशतिप्रकारेण भिन्नान्, सर्वसन्देहवारकान् गुणस्वरूपफलविषयका सर्वे पूर्वोक्तप्रकारका अन्ये च ये तादृशा सन्देहास्त्रोपा निवर्तकान् भावान् जीवानां मनोविकारान् यक्ष्ये कथयिष्यामि । अत्र सर्वसन्देहवारकानितिविशेषणेन सन्देहनिवृत्तिरूपफलसूचनात्तदर्थं गुणाधारयुक्तान् भावान् वक्ष्यामीत्यर्थं । न चात्र गुणेषु तदभिध्यानन्यायाङ्गीकारे किं मानमिति शक्यम्, उपसंहारवाक्ये, 'इति जीवेन्द्रियगता नानाभाव गता भुषी त्यत्र जीवेन्द्रियगतानां नानाभावप्राप्तिकथनेन तदभिध्यानसूत्रोक्तन्यायस्यैव सूचितत्वादिति ॥ १ ॥

नन्वाधाराणां जीवेन्द्रियधर्मत्वेनानन्त्यात्कथं विंशतिधामिन्नत्वमेव प्रतिज्ञाप्यत इत्याकाक्षायां पोषणीकर्यार्थं श्रौतवासनया दृष्टान्तेन तथा मित्रत्व बोधयन्त्यर्थेन गुणभेदा इत्यादि ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मत्ताः ॥ १½ ॥

तु शङ्कानिरासे, उक्तसत्याविषयिणी शङ्का न कार्या, हि यतो हेतो गुणभेदास्तावन्तः यावन्तः यत्सत्याका जले मत्ता श्रुतिसमता । तथा चाधारानन्त्येपि यथा जलस्य विंशतिभेदास्तथा गुणानामपि । जलं हि शैत्यगुणकं स्वच्छं अव्यक्तमधुररसं सर्वशोधकं स्वसम्बन्धेन द्रव्यान्तरस्य गूयस्तापादकमाप्यायकं च स्वभावतः सदपि सादृगाधारे पतति तादृक्स्वभाव लोके भवति, गुणदोषी च जनयति, तथा गुणा अपि स्वभावतः एकविधा आनन्दरूपा म्रक्षणं सकाशात्प्रकाशाश्रयन्यायेन मित्राभिज्ञा अल्पनेकस्यभाववत्ता-मनेकगुणदोषवत्ता चापघ्नता इति तद्दृष्टान्तेन तथोच्यते । श्रौतदृष्टान्तस्यैव बोधार्थमङ्गी-

कारादित्यर्थः । तत्र तैत्तिरीयसंहितायां सप्तमकण्ठे 'कूप्याम्यः स्वाहा, कृत्याम्यः स्वाहा, विकर्ष्याम्यः स्वाहा, अवयाम्यः स्वाहा, खन्याम्यः स्वाहा, हृष्याम्यः स्वाहा, सूष्याम्यः स्वाहा, सरस्याम्यः स्वाहा, वैशन्तीम्यः स्वाहा, पल्वल्याम्यः स्वाहा, वर्ष्याम्यः स्वाहा, अवर्ष्याम्यः स्वाहा, हाडुनीम्यः स्वाहा, वृश्याम्यः स्वाहा, स्पन्दमानाम्यः स्वाहा, स्वावराभ्यः स्वाहा, नादेयीम्यः स्वाहा, सैन्धवीम्यः स्वाहा, समुद्रियाम्यः स्वाहा, सर्वाभ्यः स्वाहेति मध्ये विंशतिविधा अपि अर्वा होमे उक्ताः ॥ १३ ॥

तत्र प्रथमं कूप्या उक्ता इतीहापि कूपसमानं गुणाधारं प्रथमभेदेनाहुः गायका इत्यादि ।

गायकाः कूपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

कूपभेदास्तु पायन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः ।

गायका गानकर्तारः कूपसंकाशाः कूपोपमाः, कूपाश्च केचिदुत्तमाः यथा स्कान्दे पुरुषोत्तममाहात्म्ये, 'न्यग्रोषादुत्तरे कूपः सर्वतीर्थमयोस्ति वै,' यथा च द्वाग्द्वयामवन्त्यां च दानोदरकूपः, केचिच्च कदाचिदुत्तमाः, यथा व्रजे गोपकूपः, 'सोमवत्साममायामेव सर्वतीर्थमयो नान्यदा', एवं साधारणा अप्रयोजकाश्च ज्ञातव्याः, तथा गायका अपि, तेषु न साधारणाः, किन्तु गन्धर्वा इति पुराणे वेदे च श्रुताः विशेषेण प्रसिद्धाः । तु पुनः पायन्तः कूपभेदास्तावन्तस्ते गन्धर्वा अपि संमताः सम्यग्विचारिताः । तथा च कूपे मवाः कूप्याश्च यथा कूपरूपाधारभेदेन रूपतः फलतश्च नानाविधा भवन्ति, एवं गन्धर्वैर्गायमाना गुणा अपि गन्धर्वस्य भगवत्कृत्वै तदमकृत्वै साधारणत्वे लभ्यतत्वादिदोषविशिष्टत्वे च तद्भाषसमानाकारा भवन्तस्तदगुरूपमेव फलं जनयन्ति । एतेनोपसर्हणस्य शापोऽन्येषां गन्धर्वाणां शापमात्रः 'मिक्षाशया ये शुद्धन्ती'तिवाक्यं च समर्थितं ज्ञेयम् । तेन 'गुणगाने सुखावाप्ति'रित्यादिना निरोधलक्षणग्रन्थे गुणगादृणां स्वरूपफलोत्कर्षी वाञ्छुक्तौ तावपि 'निवृत्ततर्पणगीपगाना'दिति श्लेषोक्तरीतिकेन्येव पर्यवस्यत इति बोधितम् । इदं 'पर्णा भगवदीया य' इत्यत्र स्फुटिष्यति ॥ २३ ॥

कृत्याम्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत द्वितीयं गायमाहुः कृत्या इत्यादि ।

कृत्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता मुचि ॥ ३ ॥

श्रुतौ कृत्या इति दीर्घः छान्दसो वर्णविकृतिरूपः । पौराणिकाः कृत्याः प्रोक्ताः 'कृत्या सात् कृषिमा सरि'दिति श्लेषात् महतो जलाशयात् शन्यत्र जलानयनार्थं वा कृषिमा नदी कियते सा कृत्या । पौराणिकाः पुराणवाचयितारस्ताः प्रोक्ताः । अशोपमापाचकपद्मावादापकं ज्ञेयम् । 'उपमेव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते' इति काव्यादर्शे लक्षणान्तर्गापीदमाधिक्यन्यूनत्वयोरुक्तत्वाद्गुणयोक्तृरूपकं ज्ञेयम् । केपाशिवद्वाराणां किमिद्वयोवनार्थं शारंगीकारस्तादुमानिकस्यै तद्विषयश्रुतौ च दर्शनादिति । एवमत्रेपि बोध्यम् । पौराणिकानां कृत्यातीत्ये हेतुगर्भं विशेषणमाहुः पारंपर्ययुता मुच्यन्ति । तथा

च मृगिष्ठत्वात्परं परया मूलसम्बन्धाच्च ते कुत्पातुल्या इत्यर्थः । तेन यादृश्य आपः कु-
त्पायां भवन्ति तादृशस्त्रेपां भावः । ता यथा नद्यादिरहिते देशे कृत्रिमोपायेन नीताः
श्रवहन्त्यः पानस्नानाचमनादिरूपपरोपकाराय भवन्ति, तथा तेषां भावोपि । पाप्मे माघसा-
हात्म्ये वैश्यं प्रति देवदूतवाक्यजाते 'विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये ।
पुराणसंहितां ये च श्रावयन्ति पठन्ति च । व्याकुर्वन्ति स्मृतिं ये च ये धर्मप्रतिषोषकाः ।
वेदान्तेषु निविष्टा ये तैरियंजगती घृता । तेषामभ्यासमाहात्म्यैः सर्वे ते हतकिल्बिपाः ।
गच्छन्ति ब्रह्मणो लोकं यत्र मोहो न विद्यते । ज्ञानमज्ञाय यो दवाद्देदशास्त्रसमुद्भवं । अपि
देवास्त्वमर्चन्ति भवयन्धविदारक'मिति पौराणिकानामुत्कृष्टत्वकथनात् । अत्र सुवी-
तिकथनात् पूर्वश्लोकोक्ताः स्वर्गस्था इति घोषितम् । अन्यथा तद्वैश्वर्ण्यापातादिति ॥ ३ ॥
अतः परं 'विकर्याम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य तृतीयं भावमाहुः क्षेत्रेत्यादि ।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

च पुनः ते पौराणिका अपिशन्दारुन्धर्वाः क्षेत्रप्रविष्टाः, क्षेत्रशन्देन यथा
केदार उच्यते, तथा 'क्षेत्रं पत्नीशरीरवो'रिति कौशात् 'पलेः क्षेत्रे महीमुज' इति
'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्त्वमिधीयत' इत्यादिवाक्याच्च शरीरपत्न्यावप्युच्येते ।
एवं सति कृत्रिमजलमार्गे कृते तद्द्वारा केदारप्रविष्टाः कुत्पाया भापो यथा उत्सृष्ट
पीजस्य बृहस्पतय वा यः संसारः अभिवृद्धिः तदुत्पत्तिहेतवो भवन्ति, तथा पौराणिका
गन्धर्वाश्च स्वदेहे पत्न्यां वामिनिविष्टाः संसारस्याहन्ताममत्तारमकस्रोत्पत्तिहेतवो भवन्ति ।
अतस्त्रेपां भावो विकर्यातुल्यः । कृ विक्षेपे, सदोरप्, विशेषेण विविधं वा कीर्यते विक्षिप्यते
वसी विकरः, केदारे कुत्पाजलानयनार्थं कृतो मार्गस्तत्र भवाः विकर्याः, ता यथा क्षे-
त्रिभिः स्वान्नसिद्धयर्थं यतस्ततो नीयन्ते तथा तद्भवा अपीति । ताप्या गन्धर्वपौराणिकाः
विकरतुल्या इत्यर्थः । एवं च द्वितीयस्कन्धसुपोधिन्यां कामनाकरणमुपक्रम्य 'वसुकामो वसु-
देवा'नित्यस्य द्वितीयव्याख्याने यदुक्तम् । 'एवं धनस्यापि, भगवद्भक्तेष्वानन्तर्यं श्रव-
णादिसिद्धयर्थं उपदेशनार्थं वा देयमपेक्ष्यते, साधनरूपश्रवणादिकं तादृशैरेव भवती'ति ।
तत्रापि धनदातुः सत्कलं प्रतिगृहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः । 'मिक्षाशये'ति वाक्यात् । यदि तु
तत्राविचारार्थमुदरमरणोपयोग्यन्नमात्रं गृह्णाति, तदा तु तीर्थपर्यटित्वन्न दोष इति यो-
ध्यम् । एतदपि तदा यदा पौराणिकानां पारंपर्यसुतत्वं भवति । तदभावे तु वक्तृश्रो-
त्रोरुमयोरपि संसार एव । स्वपुद्गलान्ययाव्याख्यानान्वयावधोषयोः संभवाच्चेति ज्ञेयम् ।
ननु ब्रह्मदेवतं धीकृष्णजन्मस्तण्डे 'कल्याणसूक्तसामानि हरेर्गामीकमङ्गलम् । कुर्वन्ति वि-
श्रयं ये वै तेषां मारेण पीडिते'ति गङ्गाधरं प्रति श्रुतिवाक्यात्, 'मन्नामविक्रयी विप्रो न
दि मुक्तो भवेत् ध्रुवं । मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते' इति श्रीनन्दं प्रति भग-
वद्वाक्याच्च, नामविक्रयस्य दोषत्वे सिध्येम्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वात्पत्तिः । तत्र

शिष्योपदौकितग्रहणेन नामविक्रयसंभवादिति चेत् । सत्यम् । तथापि गुरुत्वस्य साहजिक-
 ब्राह्मणवृत्तित्वेनात्याज्यत्वात्, 'सहस्रं कर्म कौन्तेय सदोपमपि न त्यजेत् । सर्वारम्भा हि
 दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता' इति भगवद्वाक्यात् । श्रुतावपि षडाचार्यब्राह्मणारम्भे जनक-
 समीपे याज्ञवल्क्य आगते जनकेन, 'याज्ञवल्क्य ! किमर्गमचारीः पशुनिच्छन्न'
 'एवं ता'निति गोर्षं सूक्ष्मवस्तुनिर्णायकप्रधान्मत्तः कारवितुं वागतोसी'ति शृष्टे या-
 ज्ञवल्क्येन 'उभयमेव सम्रा'डित्युक्त्वा, राजप्रभे अवयी'न्म उदङ्गः शौल्पायन' इत्यादिना
 प्राणब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन हस्त्ययुष्मसहस्रं ददामीत्युक्ते याज्ञवल्क्येन 'पिता मे-
 गन्वत नाननुशिष्य हरेते'त्युक्त्वा पूर्णा ब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन विदेहाः स्वाभा
 च याज्ञवल्क्याय समर्पितः, तदा याज्ञवल्क्यस्तदङ्गीकृतवानिति यावित्वेन ब्रह्मविद्योप-
 देशोत्तरं शिष्योपदौकितग्रहणस्य प्राप्ततया तत्रपायसाध्यानि वक्तुं शक्यत्वात् । किञ्च,
 गीतायामेव सहजकर्मात्मगमुक्त्वा, 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्य-
 सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छती'त्यत्र असक्तबुद्धित्वादिभिस्तत्कर्मसंन्यासेन नैष्कर्म्यसि-
 द्धिर्मात्रं कथयता भगवता तदोपपरिहारोपायस्योक्तत्वात् तथा करणे दोषामायादिति ।
 एवञ्च यत्प्रभुचरणैरुक्तं 'विचार्यैव सदा देवं कृष्णनाम विशेषतः । अविचारितदानेन स्वयं
 दाता विनश्यती'ति । तथापि स्वस्य शिष्यस्य चोद्धारं विचार्यैव देयम् । लोमादविषा-
 रितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयमपराधमागमवतीत्यर्थो ज्ञेयः । प्रकृतमनुसरामः ।
 तेन गन्धर्वाणां पौराणिकानां च सङ्घस्यस्वरूपं विचार्य कार्यं इति बोधितम् ॥ ३३ ॥

अतः परं 'अवधान्यः साहे'ति श्रुतिमनुष्यस्य चतुर्थे भावमाहुः वेद्यादीत्यादि ।

वेद्यादिसहिता मत्सा गापक्ता गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

आदिपदेन खीरिणीसङ्घः । ईदृशाः गापकाः गर्तसंज्ञिकाः । गर्तलक्षणं तु कात्यायन-
 स्मृतौ 'धनुःसहस्राण्यप्ये तु तोयं यासां न विधते । न ता नदीशब्दबद्धा गर्तास्ते परि-
 कीर्तिताः' इति । आपः नदीसम्बन्धिभ्योपि नदीशब्दबद्धा न, किन्तु ते जलाशया गर्ताः
 शास्त्रेषु सर्वत्र कीर्तिता इत्यर्थः । तथा च 'त्रया यव परित्यक्त'मित्यादिवाक्यान्तरात् तत्रलं
 षट्कलमपि न शिष्टानां खानपानादियोग्यम् । तथा तादृशां भावोपीत्यर्थः । यद्वा, 'प्रह्लादो
 ह वै कायापयः विरोचन'स्त्वपुत्रमुदासत्, स प्रदरोऽभवत्, तस्मात्प्रदरस्य नाचामे'दिति
 श्रुतावापस्त्वपस्मृतौ च न वर्षणारासाचामेत्तया च प्रदरोदक इति तत्रलाचमननिषेधात् ।
 तत्र 'प्रदरो गर्त' इति सापणीयादी व्याख्यानात्तेषामासोऽवघाः, न उदन्त इत्यवघाः पूर्वो-
 क्तश्रुतिसृष्टिभ्यां तदापारनिन्दातः ता अपि निन्द्या इत्यर्थः । तादृशां भावस्य दुष्टत्वात्तद्गोता
 गुणा न समीचीनफलदाः गादृषां श्रोत्राणां चेति तादृशां सङ्घो न कर्तव्य इति भावः ॥ ४ ॥

अतः परं 'अवधान्यः साहे'ति श्रुतिमनुष्यस्य पञ्चमं भागं वक्तुमन्यान्पि ततो
 दीनानाहुः जलार्थमित्यादि ।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

हस्तपादप्रक्षालनगण्डूपादिदुष्टजलस्य सर्वत्र प्रसारामावार्थं ये गर्ताः कृतास्तादृशाः । तथा च तज्जलं न समीचां योग्यम् । जाला नीचाः गानोपजीवनेनैव ये उदरंभारयस्ते यथा तथा तेषां भावोपीति तद्रता गुणा अपि तादृशा इति तत्सङ्गो न कार्य इति भावः । श्रुतौ 'अवधाम्यः स्वाहे'त्यनन्तरं 'खन्याम्यः स्वाहे'त्युक्तम् । अत्र खननेन निष्पन्ना आपः खन्या इति व्याख्यानम् । तथा सति तत्सङ्गहार्थमत्रापि प्रकारान्तरेण पुनर्व्याख्येयम् । तुशब्देन तथा सूचनात् । तथा च नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ताः । तु पुनः नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ता इति । एतस्मिन् पक्षे चायमर्थः । जलार्थं जलनिष्पादनार्थं खननेन निष्पादिता ये गर्तास्ते जलार्थमेव गर्ताश्चोद्ग्राणीति यावत् । नीचा गानोपजीविनस्तादृशाः तेषु नीचत्वं जातिदोषः, गानोपजीवित्वं च कर्मदोष इति । चोद्गजलं पुनः खननात्कलुषं निर्मलमपि संस्कारं विना नानाजातीयजनोच्छिष्टसंसर्गदोषाच्च यथा शिष्टयोग्यं, तथा तद्भावनिविष्टा गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्च दुष्प्यन्तीति तादृशामपि सङ्गो न कार्य इति योषितम् । एवं पञ्चविधा भावा उक्ताः । एवमत्र गातृविषयकाः सन्देहा निवारिताः ॥४६॥

अतः परं कीर्तयितुं विषयकांस्तान् निवारयितुं 'हृद्याम्य स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्योत्तमं पद्यं भावमाहुः हृदास्तिचत्वादि ।

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

सन्देहपारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा शुधाः ॥ ६ ॥

जल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता येषन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पत्यलानि तेषाल्पश्रुतभक्तयः ॥ ७ ॥

अत्र तुशब्दः प्रकरणं भिनत्ति । पण्डा शास्त्रजन्या बुद्धिः स्वामीष्टार्थेणादिका च तदन्तः पण्डिताः प्रकरणेण पुराणादिपूक्ताः । अस्मदर्थित्वेपि विशेषमाहुः भगवच्छास्त्रतत्परा इति । भगवता प्रोक्तं शास्त्रं गीताश्रीभागवतपञ्चरात्रवाराहपुराणादि तन्निष्ठाः ये ते हृदाः । 'जलाशयो जलाशयस्तत्राशयश्चो हृद' इति कोशात् महान् जलाशयो हृदः, परं त्रयेकदेशमूलो नदीसंलग्नः । 'कालिन्यां कालीयस्यासीत् हृद' इति 'शुष्यद्भद्राः कृशतया घत सिन्धुपश्य' इत्यादी तादृशेष्वेव हृदपदप्रयोगात् । तथा च तेषां भावे निविष्टा भगवद्गुणा अपि हृदयजलतुल्याः । तद्यथा सर्वकार्येषु स्वरूपतः प्रशस्तं फलतश्चोत्तमं, तथा तैर्विचार्य-मांणास्तेभ्यः श्रूयमाणाश्च गुणाः स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इत्यर्थः । अत्रापि 'विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदान्यासरताश्च ये' इति पूर्वोपन्यस्तगाथमाहात्म्योक्तं स्वरूपवाक्यं फलवाक्यं चानुसन्धेयम् । येषाम्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य तस्मादुत्कृतं सप्तमं भावमाहुः सन्देहे-त्यादि । तत्र तेषु भगवच्छास्त्रतत्परेषु येऽज्ञानां श्रोत्राणां भगवच्छास्त्रविषयकं सन्देहं वार-

यन्ति, ते सूदाः, सुष्ठु समीचीनं स्वादु सहृणं उदमुदकं येषां ते सूदाः । तत्र हेतु-
माहुः गंभीरमानसा इति । अगार्धं दुरवगाहं हृदयं येषां तादृशाः । तथा च श्रोतुर्हृदयं
बुद्ध्या तदधिकारादुसारेण तद्धितं बोधयन्ति, न तु सर्वं शास्त्रार्थमित्यर्थः । तेन सादृशं ज-
लमुक्तं तादृशलोपां भावः स्वरूपतः फलतश्चोत्तम इति तादृशां सङ्गः कर्तव्य इति भावः ।
अत्रापि 'पूर्वोक्तज्ञानमज्ञाय यो दद्या'दिति वाक्यं 'गच्छन्ति मस्यो लोका'मिति तत्फल-
वाक्यं चातुसन्धेयम् । एवमत्र मर्यादामार्गीयं भावद्वयमुक्तम् । श्रीकल्याणरायास्तु 'सूदा
इत्यनेन बाष्पोदा उच्यन्ते' इति पक्षान्तरमाहुः । तदा तस्मिन् पक्षे गंभीरत्वं निम्नत्वं स-
न्देहवारकत्वं च तत्र सोपानस्थानापन्नं ज्ञेयम् । तत्रैव श्रोतॄणां विशेषतस्तत्सङ्गादिति ।
अतः परं 'सरस्याम्यः स्वादे'ति श्रुत्यनुसारेण तत् उत्कृष्टं पुष्टानुसृतमष्टमं भावमाहुः सर
इत्यादि । भगवति प्रेम्णा युक्ताः निवृत्तलौकिकरागाः, तथा पूर्वोक्तवत् शुधाः भगवन्ना-
स्रतत्पराः श्रोतुः सन्देहवारकाः ये ते सरःकमलसंपूर्णाः, सरसि यानि कमलानि तैः स-
म्पूर्णां सम्यग्भरिता या आपस्तादृशाः । न च श्रुतौ सरस्यापदेन सतोधिकरणकत्वमात्रला-
भादत्र कमलसम्पूर्णत्वस्य कृत उक्तिरिति शंक्यम् । सरस्यापदस्य 'सारसं सरसीरूढ'मिति
कमलनामस्मरणेन तत्संबन्धार्थमेव तद्व्ययोगात् । अन्यथा हृष्याद्युक्त्यां विशेषामायासद-
नुल्लेखापत्तेरिति बोध्यम् । अत्र पूर्वं जलपाराणां दृष्टान्तलमुक्तत्वात् यदाप एव दृष्टान्त-
त्वेन सूचितास्तेन तेषां भावव्याप्तत्वं सूच्यते । तथाच यथा ता आपः सौगन्ध्यप्रवर-
शंकारप्रभृतिभिः सर्वेन्द्रियाह्लादिन्यस्तथा तेषां भावोपि श्रोतॄणु ज्ञानमत्ती संक्रामयन्
तेषां सर्वेन्द्रियाह्लादी भवति, फलतश्चोत्कृष्टपत इति तदत्रा गुणास्तपेत्यर्थः । अत एवैका-
दशस्कन्धे संवादसमाप्ती भगवतोक्तं 'य एतन्मम भक्त्यु संप्रदपास्तुपुष्कलं, तस्वाहं
महदायस दद्याम्यात्मानमात्मने'ति । अतःपरं 'वेशन्तीम्यः स्वादे'ति श्रुतिमनुसृत्य ततो
न्यूनं नयनं भावमाहुः अल्पश्रुता इत्यादि । अल्पं श्रुतमप्ययनं श्रवणं वा सत्पुरुषवा-
च्यसम्यन्धि येषां ते अल्पश्रुताः भगवद्विषयकप्रेमयुक्ताश्च । ते वेशन्ताः अल्पसरस्तुल्याः ।
'वेशन्तः पत्तलं चात्पसरे' इति कोशात् । 'निश प्रवेशने विशन्त्यस्मिन् भेकादय' इति
निरुक्तम् । अत्र चात्पश्रुतप्रेमसुक्ष्मपदयोः समभिव्याहाराकृतापि स्वस्वत्वं सूच्यते । तेन
'वेशन्तीम्यः स्वादे'ति श्रुत्युक्ता या आपस्तुल्यलोपां भाव इति पोषितम् । तथा च
प्रेमवत्येन पूर्वोक्तजातीयत्वेष्वप्यत्यायथा तत्र तं महिषादिभिरवगाहं कतुर्षं भवति, तथा
तद्गानोपि श्रुनेम्योरत्वात्वादिजानीयशास्त्रादिसंसर्गेण कतुपितो भवतीति तत्सहोऽत्रयोजक
इत्येत्यर्थः । अतः परं 'पत्तल्याम्यः स्वादे'ति श्रुत्यनुसृतं वेशन्तसजातीयं दशमं भावमाहुः
कर्मत्यादि । श्रुतं च मत्कियं श्रुतमर्क, तथा पूर्वोक्तदत्ते श्रुतमत्ती येषां ते तथात्त-
श्रुतमत्कयः । पूर्वोक्तदशोपः कर्मश्रुद्धा इति । भगवदपितेन फलासङ्गरदितेन कर्म-
निर्हासोऽशतो वा श्रुतेन कर्मणा श्रुद्धा तदनुसृत्यपिचश्रुदियुक्ताः पत्तलानि । वेशन्तस्व-

लयोः शक्यतावन्छेदकतौल्येपि श्रुतौ 'पल्वत्याम्बः खाहे'ति निर्देशमेदात् पठगती पठति पल्यते वेति निरुक्तिभेदाय तयोः कथित् भेदो वाच्यः । स चात्र कर्मशुद्धिभेदादवगन्तव्यः । तेनैवं पूर्वस्मादाधिक्येपि गन्तृत्वान्महिषादिगम्पतया कालुष्याच्च तत्तुल्यकक्षत्वमेव । तथा च तेषां भावसाजलतुल्य इति तत्सङ्क्षोभ्यप्रयोजक इत्येत्यर्थः । एवमत्र कीर्तयितृविषयकाः सन्देहा निवारिताः । कीर्तयितृषु च श्रोतृणामुपकाराय वाच एव प्राधान्यात्साथ महिन्द्रियत्वात्तदाधारभूतस्फुटदेहे प्राधान्येन गुणाधारा एव जलाधारसाम्येन निरूपिताः ।

अतः परं भावयितृविषयकान् सन्देहान् वारयितुं तेषु लिङ्गशरीरस्य मनस एव प्राधान्याद्गुणा विशेषतो बहिर्निर्गच्छन्तीति दुर्लभत्वाद्गुणानामेव अतुल्यत्वं निरूपयन्तो 'वर्ष्याम्बः खाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पूर्वस्माद्विद्वेषणमेकार्दशं भावमाहुः योगेसादि ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो, यथावष्टाहसहितः । यथा द्वितीयस्कन्धे प्रथमाध्याये 'गृह्य-
धर्मजितो भीर' इत्यादिना स्पृष्टभगवद्विषयकपारणावानुक्तः । 'यतः सन्धार्यमाणामां यो-
गिनो भक्तिलक्षणः । आशु संयते योग भाग्यं मद्रशीलत' इत्यनेन तस्यापि भक्तिसा-
धकत्वोक्तः । ध्यानं सप्रयत्नचित्तव्यापारः । यथा 'केचित्सूक्ष्मेदान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं
पुरयं वसन्तम् । चतुर्भुवं कञ्जरयाद्भयङ्गदापरं धारण्या स्मरन्ती'त्यादिपूर्कं, आदिपदेन
धारणा, एतैस्त्रिभिः समुच्चितैरेकेन वा संयुक्त भगवतो गुणा योगप्रभावादयो रूपली-
लादयश्च । कपिलदेवैः 'सितं प्रजन्तमासीनं शयानं वा गृहाशय'मिति ध्यानविषये लीला-
नामप्युक्तत्वात् । तादृशा गुणा वर्ष्याः वृष्टिर्वैप्लवत्साम्बन्धिन्य जपो वर्ष्याः, ता यथा
दिव्याः भूमौ पतन्त्यो जलाशयान् स्वकाठ एव भरन्ति, तथा योगादियुक्ता भगवद्गुणा
वपि योगिषु वर्तमानाः भूमौ दुर्लभाः अधिकारविशेषान् कृतार्थयन्ति, न सर्वानित्यर्थः ।
यद्यपि वृष्टिर्बलं श्रेयादौ पतितं सत् संसारहेतुर्भवति, तथापि सांशो नात्र दृष्टान्तकल-
तयामिषेतः । तेषां योगित्वादान्तर्निष्ठत्वेन तयालक्ष्यं यत्तुमशक्यत्वात्, कुयोगित्वापा-
तेन विदूरकाष्ठत्वापत्ताच्च, 'वैराग्यं सांख्ययोगी च तपो सक्तिश्च केशवे, प्रथमर्षेति विदेधं
वया विद्वान् हरि विशेदि'ति निबन्धे योगस्य विषयार्पणत्वेनेकतयात्रोत्कर्षार्थं तद्गुणाच्च ।
दार्ष्टान्तिकतयात्र गुणानामेवोक्तत्वाच्च । अन्यथा तु भावकथनस्योपकान्तत्वेन तद्विरोधाप-
त्तेश्च । तस्मात्पूर्वोक्तमेव दृष्टान्तफलं प्राप्यम् । इतः पूर्वं कर्मशुद्धानामुक्तत्वात्तत्र तद्वस-
ङ्गेन योगस्यत्वं, योगस्यापि कर्मविशेषत्वादिति ॥ ७३ ॥

अतस्पर 'मवर्ष्याम्बः खाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य कर्मसम्बन्धिनमेव श्रादशं भावमाहुः तप इत्यादि ।

तपोज्ञानादिभावेन खेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

तुः प्रकरणभेदकः । 'तप सन्तोषे,' शरीरेन्द्रियादिकं तपति यत्कर्म शुष्कृष्यान्प्राय-
पानशनादिरूपं तपः, ज्ञानं मेधरसांख्यादिसिद्धं, आदिपदेन त्यागः, तेषां भावेन वि-

धमानतया संयुक्ता ये गुणास्ते खेदजाः प्रकीर्तिताः । अत्र योगध्यानादिसंयुक्तपदैकदेश-
मूलं संयुक्तं पदमनुपजते । तथा च तादृशा गुणाः खेदजाः प्रकीर्तिताः, 'श्विदा गात्रप्रक्ष-
रणे,' धर्मश्रमादिना सन्तसाद्राशात्प्रसृतं यद्गठं सः खेदस्तस्माज्जाता वर्षजलमिन्नत्वेपि
मिन्दुरूपत्वाद्दर्शितुल्या अवर्ष्याः या आपो वस्त्रादावेकीमृतास्तुत्याः । ता यथा न समी-
चीनव्यवहारयोग्याः, किन्तु तद्गात्रस्यैव तापनिवारिकाः, नान्यस्य, एवं तद्गता गुणा अ-
पीत्यर्थः । तेन तादृशमपि सद्गो न प्रकृतोपयोगी । तपआदिष्वेव विशेषाभिविज्ञेन
गुणानां गौणत्वात्कचिन्मुख्यत्वेपि प्रकृतानुपयोगित्वादिति । अवर्ष्यत्वं च वर्ष्यमिन्नत्वे
सति तत्समानत्वं, तत्र भूयः प्रक्षरणाद्बोध्यम् ।

सायणीये तु वर्ष्यनैरेष्येण भूमाववसिता अवर्ष्या इति व्याख्यातम्, तन्नास्माकं
रोचते । पसुंदासस्य सद्यग्राहित्वेन भूमाववसिते तत्सदृशत्वामावात् । अतस्तदर्थं तत्र
खेदजलमेव ग्राह्यं, भूयः सादस्यादिति ॥ ८ ॥

अतः परं 'हादुनीम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य कीर्तयितुनिष्ठमुक्तं त्रयोदशं भावमाहुः
अलौकिकेनेत्यादि ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु शोक्ता हरेर्गुणाः ।

कादाचित्काः शब्दगन्ध्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

तुः पूर्वोक्तसादृश्यभेदकः । अलौकिकं भगवत्कृपाजन्यं महदनुग्रहजन्यं वा
अलौकिकार्थप्रकाशकत्वात्कचित्क्षणं यत् ज्ञानं, तेन प्रत्यासत्तिमूलेन मनसि तेषां माना-
द्येनैव श्रोतुरधिकारस्यापि मानात् प्रकर्षेण तदधिकाराणुसारिणोक्ताः कादाचित्काः शब्दगन्धां
कश्चिदधिकारविशेष एव बुद्धिगोचराः शब्दगन्ध्या आसत्वात्क्यादेव ज्ञायमाना ईदृशा ये हरेः
सर्वदुःखहर्तृगुणाः रूपलीलाविशेषाः प्रकर्षेण कीर्तिताः । 'पल्ल गती,' पतन् सर्वतो गच्छन्
शब्दो हादो यासामपां ताः पतच्छब्दात्तादृशाः प्रकर्षेण कीर्तिताः । तथा च भगवतो रहस्या
ये गुणास्ते तादृशेभ्य एव कीर्तयितव्यः श्रोतृभिः प्राप्यन्ते, न सर्वैः । अतस्सादृशाधिकारस-
म्यत्वे तादृशां कीर्तयितव्यां सद्गः सर्वथा कार्य एवेति भावः ॥ ९ ॥

गतः परं 'श्रुताम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य चतुर्दशं जपम्यं भावमाहुः देवेत्यादि ।

देवानुपगमनोद्भूताः पृथ्वा भूमेरियोद्भूताः ।

टिप्पणः श्रौताः 'पृथ्विणा' इति श्रुतिमनुसृत्याः पृथ्व्याः आदिशब्देनाप्ये विह-
मात्प्रादयस्तेषामुपासनां मत्स्यगन्तनं सेवनं वा तेनोद्भूता उपासके उद्भूताः स्वयम-
न्यैः श्रुतमनुमाना इति यावत् । ईदृशा ये गुणाः ज्ञानपल्लसामर्थ्यादयस्ते पृथ्वाः अवस्थाप-
जन्ता आपः पृथ्वा इति सायणभाष्ये व्याख्यातं, तनुत्याः । ता यथा पापाणममो पतिताः,
तत्र उद्भूता इव भासन्ते, न तु तासदीयाः, एवं तेजपि गुणा भगवदीया एव, 'यद्यद्विगूनि-
मन्वत्तं श्रीमद्भितमेव वा, तदपरेणवगच्छ स्व मम नेमोऽथसम्भव'मिति गीतावाक्योक्त-

न्यायात् । परन्तु तानुपासकाः खीयत्वेन देवीयत्वादिना वा प्रमान्मन्यन्ते, तेन च उरिसन्त्यन्ते साहंकारा भवन्तीति यावत् । अतस्तेषां स्वरूपं फलं च जपन्यमेव । नीहारेण प्रावृता इति श्रुतौ नीहारस्य ज्ञानतिरोपायकत्वेनोक्तत्वादिति तेषूत्कर्षद्विस्लाह्यां सद्गुण न कार्य इत्यर्थः ।

अतःपरं 'स्यन्दमानाम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य सप्तदशं भावमाहुः साधनेत्यादि ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

प्रेमपूर्वा स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

साधनानि वर्णाश्रमधर्मास्ते आदयो यस्य तादृशो यः प्रकारो मर्यादामार्गीयो निष्कामतत्करणरूपत्वेन प्रकारेण यो नवधा भक्तिमार्गतः । 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति सुसार्पिता विष्णौ मक्तिशेखरवलयणे'ति वाक्योक्तो मार्गो भगवत्प्राप्त्युपायः । ततो या प्रेम्णः भगवद्भक्तिरूपस्य पूर्तिर्हृदये व्याप्तिस्तथा कृत्वा स्फुरन्तो भगवद्धर्मा येषु ते स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः । स्यन्द प्रसवणे, प्रसवणरूपा या आपस्तादृशाः । ता यथा स्नानपानाचमनादी प्रशस्ताः स्वसंयुक्तां भूमिं शीतलां कुर्वन्ति, मर्यादुपकुर्वन्ति च, तथा तादृशगुणाधाराः पुरुषा अपि पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वान् श्रोतृन् द्रष्टृन् स्वात्मनश्च भगवदुपयोगिनः कुर्वन्तीति तादृशां सद्गुणः कार्य इत्यर्थः ॥ १० ॥

अतःपरं 'स्वावराभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य षोडशं भावमाहुः षाडशा इत्यादि ।

षाडशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥

स्वावरास्ते मया ख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

षाडशाः साधनादीत्यारम्य धर्मा इत्यन्तेन यत्रकारकाः सिद्धास्तादृशास्तत्रकारकाः सन्तः प्रोक्ताः प्रकर्षेण शास्त्रे उक्ताः, ये गुणाधारा वृद्धिक्षयविवर्जिताः न वर्धन्ते, न वा क्षीयन्ते, किन्त्वेकरूपास्तिष्ठन्ति । किञ्च, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः । 'एके मुख्यान्पेकवलाः' मर्यादायामेव एके च ते प्रतिष्ठिताश्च एकप्रतिष्ठिताः मुख्याः प्रतिष्ठां च प्राप्ताः ते गुणाधारा मया स्वावरा एकत्र प्रतिष्ठिता या आपस्ताः स्वावराः तत्तुल्याः ख्याताः प्रकथिताः । ता यथा एकत्रैव तिष्ठन्ति स्वाधारमेव च शीतलीकुर्वन्ति, गुणवत्तया ख्यापयन्ति च । नतु स्वत उच्यमान्यानुपकुर्वन्ति, तथा ते गुणाधाराः पुरुषा अपि स्वसम्बद्धान् स्वाधारं च ख्यापयन्ति । तेन तादृशां सद्गुणस्वावन्मात्रगुणकः, न तु विशेषानुग्रहफलक इत्यर्थः । अत्र मयेत्युक्त्या नान्येषां सम्मतिरिति चोभितम् । अन्येषां मर्यादाप्रतिष्ठितत्वेन पुष्टिरूपस्याज्ञानान्मर्यादिकेषूत्कृष्टपुष्टेरिति ॥ ११ ॥

अतःपरं 'नादेयीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य सप्तदशं भावं साधेनाहुः अनेकेत्यादि ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सद्गादिगुणदोषान्पां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

अनेकेषु जन्मसु संसिद्धाः सम्यक्सिद्धाः पूर्वांतरूपतया सिद्धाः । जन्मप्रभृतीति क्रियाविशेषणम् । एतज्जन्मारभ्य, सर्वदा सर्वस्मिन्काले सद्वातगुणदोषाभ्यां, आदिशब्देन कालकर्मदेशस्वभावास्तत्कृतौ यौ गुणदोषौ ताम्यां कृत्वा भुवि भवनं गूः उलसिर्विद्यमानता वा तस्यां वृद्धिश्चयसुताः सत्साधनेन समीचीनदेशकालकर्मस्वभाववैशुद्धिमन्तः दुःसंगादसमीचीनकालकर्मदेशस्वभावैः क्षयं प्राप्नुवन्तः, ईदृशाः सन्तोपि निरन्तरोद्गमयुता निरन्तरो पदुद्गमः प्रवाहस्त्वेन युतास्तादृशा ये गुणास्ते नादेयीनामपामाधारभूता या नद्यस्तत्तुल्याः कीर्तिताः । तथा च नद्यो यथा काश्चित्स्वभावतः शुभाः काश्चिदुष्टाः, यथा गङ्गा-दयः, कर्मनाशादयश्च, काश्चन काठतः, यथा 'कलौ वेप्रवती गङ्गे'ति । गङ्गा च न पूर्ववत्स्नानमात्रेण कुष्ठं हरतीति, तथा देशतः, यथा-भागीरथी महानदी च प्रवाहदेशभेदात् । एवं संगापि ज्ञेयाः, यथा श्रीयमुनासङ्गेन यथा उत्कृष्टा जाता, तासां जलं च तादृशमेव, तथा तद्भावा भर्नाति ततिष्ठा गुणा अपि तत्स्वरूपा इति तादृशां संगो न निश्चयेनोत्तम-फलद इत्यर्थः । अत्र च नदीनामेतावद्विशेषणकथनं दार्ष्टान्तिके एतेषामेव धर्माणां प्राप्त्यर्थम् । तेन भावेषु गुणेषु तदाधारेषु चैत एव धर्मा अतिदृष्टव्याः, नेतर इति सूचितम् । अन्यथैतावत्कथनवैयर्थ्यापत्तेरिति ॥ १२ ॥ १३ ॥

अतःपरं 'सैन्धवीन्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्याष्टादशं भावमाहुः एतादृशा इत्यादि ।

एतादृशाः स्वतश्चाख्येत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

अथैतादृशा इत्यनेनापन्तविशेषणयोः संगतः । स्वतश्चा इत्यनेन मध्यविशेषणनिरासः क्रियते । तथा चैतादृशा अनेकजन्मसंसिद्धा निरन्तरोद्गमयुताः स्वतश्चाः जन्मप्रभृति सर्वदा संगगुणदोषाभ्यां वृद्धिसव्यवहितव्येत्स्युः तदा ते जीवाः सिन्धवः समुद्रयामिन्यो महानद्यो महानदाश्च तत्तुल्याः परिकीर्तिताः । तेषां भावो महानदीजलतुल्यः । तदथा दृष्टं स्पष्टं समीचीनव्यवहारेण शुभफलं रह्यदायानीतमपि शुभम्, तथा तद्वता गुणा जपि स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इति तादृशां संगः कर्तव्य इति भावः ॥ १३ ॥

अतःपरं 'समुद्रियाम्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य तत उत्तममूलविशं भावमाहुः पूर्णा इत्यादि ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषन्यासाग्निमाकृताः ॥ १४ ॥

जलनारदमैत्रायास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

पूर्णाः ज्ञानक्रियामकिसाफल्ययुक्ताः भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनः । भगवदीय-शब्दो अन्युत्पन्नो वैदुर्पादिशब्दवद्भूतो 'भगवदीयत्वेनेव परिसमाप्तसर्वायां' इति श्रीभाग-वतप्रथमस्कन्धे प्रयोगादप्यमन्तव्यः । य इति दुर्लभत्वं तेषां सूच्यते । तान् गणयन्ति शेषेत्यादि । शेषः संकर्मणः सनत्कुमारोपदेष्ट । व्याघ्रो भगवान् वादरायणः, भगवतो ज्ञानावतारः, समीची भगवत्स्वरूपं लीलां चानुमूय श्रीभागवतगुक्तान्, शुकं च पात्रिन-

वान् । अग्निरग्निपुराणवक्त्र, मास्तो वासुपुराणवक्त्र, जडो रहुगणोपदेष्ट, नारदः प्रसिद्ध एव, सनत्कुमारशिष्यः प्राचीनपरिहंसुरुः, मैत्रो मैत्रेयः विदुरोपदेष्ट, आदिपदेन शिवादिसङ्घः । ते समुद्राः प्रकीर्तितास्तेषां भावः समुद्रजलतुल्यः । समुद्रजलं ययातिगम्भीरं अक्षोम्यं रत्नानामाकरमूलं तथा तेषां भावोप्यत्यन्तगम्भीरोऽक्षोम्यो नानाविधभावाकरश्चेति तन्निष्ठा गुणा अपि तथेति तादृशं संगःसेवा च स्वरूपतः फलतश्चोत्तमेति सा कार्यत्वर्थः ॥१४३॥

पूर्वं भावनिरूपणारम्भे श्रुतिपुराणसिद्धाः गन्धर्वाः 'कृपभेदास्त्वि'त्वर्थेन यथा नानाभेदा उक्तास्तथा अन्ते पुराणादिप्रसिद्धान् भगवदीयानपि नानाभेदान् द्रष्टव्यामाहुः लोकेत्यादि ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः पद् प्रकीर्तिताः ।

गुणातीततया शुद्धान्सचिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥

सर्वाण्येव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणः ।

तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्यानं सृष्टुर्लभम् ॥ १७ ॥

लोकस्य वेदश्च गुणाश्च लोकवेदगुणाल्लैर्मिश्रभावेन मिलितत्वेन एकैर्गुणभगवदीयाः हरेः सर्वदुःखहर्तुर्भगवतो गुणान् वर्णयन्ति । यथा वाल्मीकी रामायणे रामगुणान् लोकमिश्रानुक्तवान् । यथा चाध्यात्मरामायणे शिवो रामगुणान् वेदमिथान् । यथा विष्णुपुराणे पराशरः सत्त्वगुणमिश्रान् । यथा च मनुःस्मृत्यारम्भे रजोमिथान् । 'स्वर्णभुवे नमस्कृते'रयुक्त्वा पश्चादग्रे सृष्टिं वर्णयिष्यन् 'मक्षा नारायणाख्यस्तु सुव्याप सजिले तदे'त्युक्तवान् । यथा च वासुदेववर्णये शिवरूपमेव प्रकल्पेनोक्तवान् । न च मनोर्भगवदीयत्वामावः शंस्यः । श्रुतीयस्मृत्ये तस्य तयात्वसाधनात् । न च शयोः । इतुमदवतारे तस्य रामभक्तत्वेनैव सुप्रसिद्धत्वादिति । न च गुणमिश्रवर्णये गुणामिमानिवर्णनमिति शंस्यम् । तत्र तद्गुणेषु मरुषिष्णुमहेश्वरेषु भूमिमानित्वापादकस्य कालमयस्थानुक्तत्वात् । अतो गुणावतारा एव तयोच्यन्ते, न जीवाः । एवमत्र लोकवेदगुणमिश्रभावेन पञ्चैव सिध्यन्ति, न षष्ठः, अतो लोकवेदगुणैश्चलक्षितान् मिश्रभावेनोपलक्षितान् हरेर्गुणान् वर्णयन्तीति व्याख्येयम्, तथा सति संकीर्णपुराणवक्त्राः षष्ठा भविष्यन्तीति तेः संख्यापूर्तिः । एवञ्च तत्तद्भावस्वतंत्रजलतुल्योपगन्तव्यः । तत्रलं यथा क्षाराम्भमादिनाभ्यकमपुरसेहव्यकमपुरगुणकम्, तथा तेषां भावोपीति तन्निष्ठा गुणा अपि लोकादिप्रचान्नास्यरुद्ररूपकत्वा इति तत्संगोपि तथेत्यर्थः । न च गुणाद्युपलक्षिता गुणा न मूलगुणा इति शंस्यम् । 'पदादित्यगतं तेज' इति न्यायेन तेषामपि भागवतत्वे वाचकाम्भवत्वात्पाततः अतीतरप्रयोजकत्वाच्च, अत एव निष्पन्ने 'सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्ता तेषु तयोदित' इति शिवमिति न कचिच्छङ्का । एवं पद् समुद्रतुल्यान् भगवदीयानुक्त्वा सर्वत्र उक्तवान् सद्यमानाहुः गुणातीततथेत्यादि । स्वस्य गुणातीततया शुद्धान् लोकवेदगुणामिश्रान् सचिदानन्दरूपिणः सचिदान-

न्दात्मकान्, विष्णोरित्यस्य वा विशेषणं, तथा च सच्चिदानन्दरूपिणो विष्णोः तादृशान् शुद्धान् सर्वान् गुणान् स्वयं गुणातीततया विचक्षणः सर्वज्ञातारः सन्तो ये वर्णयन्ति, ते अमृतोदाः शुद्धोदसमुद्रतुल्याः सम्यक्प्रकारेण आख्याताः कथिताः । अतस्तादृशां माधो गुणातीत एवेति । तत्र भगवद्गुणा अपि स्वस्य यथावत्स्वरूपतया प्रकाशमाना भवन्तीति तेषां संगो दुर्लभ इति तद्वाक्यानां तेषां या वाचस्तासां स्वान्तःप्रवेशं सुतरां दुर्लभमित्यर्थः । अत्र शुद्धोदा इत्यनुक्त्वा यदमृतोदा इत्युक्तं तेन श्वेतद्वीपादिपरिखाभूतावरण्याख्यौ 'अरथ ह वैष्यश्राण्णौ ब्रह्मलोके' इति श्रुत्युक्तौ 'अरनामाभूतांभोधिर्ष्यनामाभूत-सामार' इति वाराहपुराणोपवृष्टितौ समुद्रावपि संगृहीतौ ज्ञेयौ । किञ्च, 'कूप्याम्य' इत्यादि-श्रुतौ 'सर्वांम्यः स्वाहे'ति समासात्तुक्तम् । तत्र सर्वशन्दस्य पूर्वोक्तसंग्राहकत्वे अपां ऊनविंशति भेदा एव भवन्तीत्यभिप्रेत्या सर्वशन्दस्य समुद्रजल एव निवेशः कृतः । एतदभिप्रायेणैव 'नयः प्रसन्नसलिला' इत्यस्य सुषोधिन्व्या 'मापो बहुविधा एकोनविंशति भेदा' इत्युक्तम् । न च पूर्वं शेषादीन् सतोक्त्वा ततो लोकेत्यादि सार्धद्वयेन समुद्रविभागसोक्तत्वा-च्छेषादय एव सप्तात्र प्राद्याः, नेतर इति शक्यम् । तत्र यथायथं क्रमेण ब्रह्मणे शेषग्न्यासपोः क्षारदधिमण्डोदतुल्यत्वापत्त्या प्रतिलोमग्रहणे च भैरवनारदयोस्तथात्यापत्त्या निकर्षापत्तेः । अतस्तथापशब्दोक्ता इतर एव किञ्चित्दर्मसाम्येन पद् प्राद्याः । तेन पूर्वोक्ताः सप्तामृतोदेत्येव प्रविशन्तीति मम प्रतिभाति ॥ १५-१७ ॥

नन्वेवं सति तेषां तादृशां च दुर्मिलत्वात्तद्वाक्यानामिदानीन्तनानां कालादिदोषदु-
ष्टानामलम्पभेवेति वक्तव्यं, न तु सुदुर्लभमिति शङ्कायामाहुः तादृशानामित्यादि ।

तादृशानां कश्चिद्राक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।

अजामिलाकर्णमवह्निन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तादृशानामपि कश्चिद्भगवतोद्धार्यत्वेन विचारिते केचिदपरापादिना भगवद्वियुक्ते पुराणं भगवत्सद्ब्रह्मोदिधीर्षीयां वाक्यं श्रुतिगोचरं भवतीति शेषः । तत्र प्रमाणमाहुः दूतानामिव वर्णितमिति । यथा षष्ठस्कन्धे भगवद्दूतानां वर्णितं वाक्यमजामिलस्य श्रुतिगोचरमभूतभेदानीमपि भगवद्दुदिधीर्षीविषयस्य भवतीति नालम्पय, किन्तु सु दुर्लभमेवेत्यर्थः । एवं तादृशां सङ्गं तद्वागन्तःप्रवेशं च साधयित्वा श्रोतृणामुदिधीर्षी-विशेषविषयप्रकारज्ञापनाय पाने विशेषमाहुः अजामिलेत्यादि । अजामिलेन यथा यमदूतान् प्रत्युच्यमानं भगवद्दूतवाचयमाकर्णितं, तथा चेदाकर्णयेत्तदाकर्णनं विन्दुपानं प्रकीर्तितम् । जलविन्दोर्यथा पानं न वृषिदं, किन्त्वीपसुरादं, तथा स्वोदशेनान्यान् प्रत्यु-च्यमानं तदुदशेन वा तान् प्रत्युच्यमानं स्वयमाकर्णयेत्तदा तद्विन्दुपानतुल्यं स्वदोषज्ञानेन सामारिकम्लानिजनकं पथाद्रन्मान्ते भगवत्प्राविफलकं चेत्यर्थः । यदा त्वेतदुदशेनेव

भगवद्गुणबोधकं वाक्यममृतोदतुल्यैरुच्यते, तदा त्विहैव भगवत्प्राप्तिफलमिति तत्स्वरूपमाहुः रागेत्यादि ।

रागाज्ञानादिभायानां सर्वथा नाशानं यदा ।

तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्भमकारणम् ॥ १९ ॥

रागश्च अज्ञानं च ते आदिर्येषां तादृशा ये भावाः कामक्रोधादिविकारभाजस्त्रिषां यदा नाशानं निवृत्तिरमृतोदानां वाक्येन भवतीति श्रेयः । तदा तद्वाक्यानां तत्कालमेव स्वगुणं जनय-
लेहनमित्युक्तं, लिह आस्वादाने, आस्वादनमित्युक्तम् । तत्र हेतुः । स्वानन्दोद्भमकारण-
मिति । स्वस्य भगवतो य आनन्दः स्वरूपात्मको लीलात्मको वा तस्य य उद्भम उच्येः प्राकृत्यं
तस्य कारणं, तथा चैवं दोषनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दसाधकत्वात्तत्त्वानं लेहनरूपमित्यर्थः । एव-
मपां ऊनविंशतिभेदपक्षादरणेन सर्वे भावास्तद्गन्तो जीवास्तद्गता गुणाश्च प्रपञ्चेन निरूपिताः ।

अतः परंसायणीये 'सर्वाम्यः स्वादे'त्यस्य तद्व्यतिरिक्ता इत्यर्थं उक्तं इति तमनुसृत्य
पूर्वेष्व्यतिरिक्तं विंशं भावमाहुः उद्धृतैत्यादि ।

उद्धृतोदकवत्सर्वं पतितोदकवत्तथा ।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

सर्वे पूर्वोक्तातिरिक्ता ये गुणा गावासदाधाराश्च ते उद्धृतोदकवत् क्षुप्तढागादिभ्यः
पात्रेपूदतं यदुदकं तद्वत्, उद्धृतं जलं यथा परिमितं सादृशभाण्डस्यं तदनुरोधेन शुद्ध-
शुद्धिमत्र भवति । क्वचित्किञ्चित्स्वाकारानुकार्यपि भवति । तथा ते उक्तातिरिक्ता भावा
अपि परिमिता आधारानुसारेणाकारानुसारेण च शुद्धशुद्ध्यादिभाजः । तथेति वैपथिकर-
ण्यप्यष्टान्तबोधकं, उक्तातिरिक्तानां भावाधिकरणानां वाक्यानि, पतितोदकवत् पात्रेभ्यः
पतितं यदुदकं तद्वत् । पतितोदकं यत्र पतति तदाद्रीकुर्वत् क्वचिद्गुणं क्वचिदोषं च
विधत्ते । तथा तेषां वाक्यानि आधारमाद्रीकुर्वन्ति, तदनुसारेणैव गुणदोषकरणि । घेज-
नादरे, आत्मनः फलमपि तथा, आत्मनो गुणाधारस्य फलमपि तथा भाववदेव । चकार-
पाठे तु च पुनरित्यर्थो वक्तव्यः ॥ २० ॥

एवं भगवद्गुणाधारमृतान् जीवानां भावान् तदधिकरणमृतान् जीवांश्च भगवद्गुण-
स्वरूपफलभेदार्यं निरूप्योपसंहरन्ति इतीत्यादि ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इति उक्तप्रकारेण भुवि मूलके जीवेन्द्रियगताः, जीवाः शरीरविशिष्टाश्चेतनाः,
इन्द्रियाणि मनोवाक्चक्षुःश्रुतीनि, तद्गतास्तेषु स्थिताः नानाभावं गताः, तय स्थितैव

१ रागनिवृत्तिः प्राचीनवर्षिष- जाता । यथा आत्मनिवृत्तिः पुरुषस्य जाता । यथा च आदिराज्येन
द्वेषस्यनिवृत्तिः विदुरस्य जाता । एवमन्वयः ।
५ जलम्

रूपतः फलतश्च अनेकभावं प्राप्ताम्, विष्णोर्व्यापकस्य भगवतो गुणा धर्माः निरूपिताः, नितरां कथिताः । तथा च भगवन्नित्यमेवैकरूपव्येष्ट्यापारभेदेन तद्विज्ञात्तदतुरूपफलाद्य भवन्तीति तदाधारस्वरूपं विचार्य तज्ज्ञानतयं जीवसङ्गो भगवद्भक्तविधेयो, नतु कथमित् गुणसत्ताभावेणेत्यर्थः । अशोषसंहारे गुणा निरूपिता इति कथनेन गुणनिरूपणमेव मुख्यम् । भावतदाधारनिरूपणं तु तदुपोद्घाततया प्रासङ्गिकमिति बोधितं ज्ञेयम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचिता
जलभेदविशुद्धिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीवह्मभक्तविशुद्धिसमेतः ।

श्रीमदाचार्यचरणसरोजे शरणं सदा । तेनैव खलु तदाप्यनाचार्यापगतिर्भन ॥ १ ॥
नानामार्गेषु विविधभावैस्तो देउधिकारिणः । प्रवृत्तास्तस्येशान् मन्यन्ते भजनं हरेः ॥ २ ॥
अतस्तन्मार्गभाषाधिकारिणां तस्वरूपतः । फलतश्च नित्राचार्याः सन्देहविनिवृत्तये ॥ ३ ॥
वेदबोधितकृपादिजलध्यानभेदतः । विवेकं चक्षिरे तत्तज्ज्ञाचार्यो हि प्रकाशयते ॥ ४ ॥

तत्र प्रथमं 'निवृत्तार्थैरुपगीयमाना' इत्यत्र भगवद्गुणानुवादे 'आत्मपाती कर्मबदो निन्दितार्थतः सदा । पशुश्री च' एतन्नतिरिक्तानां सर्वेषां प्रयुक्तिरुक्ता । ते च मुक्तमुमुक्षुविपदिणः । तत्र मुक्तानां 'आत्मारामाय मुनय' इत्युक्तप्रकारेण प्रवृत्तिः । मुमुक्षुणां विदितभक्तिज्ञानयोगतपःकर्मादिसाधनप्रकारेण बहुधा सा भवति । विपदिणां तु तत्र रागादिमाधुर्यतः प्रयुक्तिर्न तु धर्मतः । तथा च, 'वेदे रामायणे चैव भारते' इत्यत्र 'दरिः सर्वत्र गीयते' इत्युक्तत्वात् सर्वत्र सर्वेषु धर्मेषु भगवद्गुणप्रवेशस्तथावश्यं बलवन्त्येव तेषां सर्वेषां साधनफलस्योरेकरूपत्वं या नानात्वमिति सन्देहे तन्निर्णायकं ग्रन्थं निरूपयितुं श्रीमदाचार्यचरणाः प्रतिवागते—

नमस्कृत्य हरिं बह्व्यं तद्गुणानां विभेदकान् ।

आवागम्यशक्तिषा भिन्नान्सर्वसन्देहधारकान् ॥ १ ॥

हरिं नमस्कृत्य भावान् पश्ये । आवास्तु 'इति जीवेन्द्रियगता' इत्यशोषसंहारे जीवगता एषोक्ता इत्युपक्रमेणैव त एष ज्ञेयाः । तैरेव भगवद्गुणानामनेकरूपत्वम्, अन्वयात् भगवद्गुणाः सर्वे तत्तत्स्वरूपतश्च इत्येकरूपत्वमेव, गुणगुणिनोभेदात् । आपारगुणसम्बन्धादेव तेषां भेद इति विशेषणमाहुः तद्गुणानां विभेदकानिति । भगवद्गुणानां

स्वरूपतः पृथक्कारकान् मितत्वेन ज्ञापकानित्यर्थः । अथवा स्वस्वभावानुसारेण फलसाप-
कान्, न तु तदनुसारेणेत्यर्थः । एतदेव भेदकत्वं मावानाम् । ते भेदाः कतीति प्रमाण-
माहुः विंशतिधा भिन्नानिति । तथापि द्विविध्यम् । एके जीवाधिकारानुसारिणः । एके
पुनः कृपया भगवद्दानजन्याः स्वरूपनिष्ठाः स्वतन्त्रास्ते भिन्नाः, ते एवामे असतोददृष्टान्तेन
वाच्याः । एते सर्वेपि भेदा वेदे कथिताः 'कृप्याम्यः स्वाहा' इत्यादिना । एतद्विवेचने
सर्वेषां स्वरूपज्ञानेन सर्वे सन्देहा निवर्तन्त इत्याहुः सर्वसन्देहचारकानिति । एतद-
र्थमेव वेदेषुक्ताः ॥ १ ॥

ननु कृपादिदृष्टान्तेन भेदज्ञानं कथं भविष्यति तत्राहुः—

गुणभेदास्तु यावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।

गायकाः कृपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

नक्षत्र कृपादिदृष्टान्तः, किन्तु तत्तत्स्वितगुणदोषसहितजलदृष्टान्तोभिप्रेतः । तेन
यावन्तो जले भेदास्त्वावन्तो भेदा गुणानामपि भवन्तीति भावः । तत्र प्रथमं प्रथमाधिका-
रित्वाद्विपयिणां भावमाहुः गायका इति । गायका भगवद्गुणगायकाः । ते तु गन्धर्वा वि-
श्रुताः प्रसिद्धाः । तेषामपमेव सहजो धर्मः यत्सद्गीतशास्त्रोक्तं भगवद्वचः प्रथम्यरागताना-
भूतकाध्यापनवन्न गायन्ति, तदृष्टास्ते कृपसंकाशाः कृपतुल्याः प्रोक्ताः । सामान्यतः कृप
उक्ते, न तु गुणदोषयुक्त इति । यथा कृषो महान् रमणीयः, जलमपि समीचीनमेव,
परन्तु दूरे अथस्त्रालं, तेनेतरविषयप्रयत्नत्वागेन रज्ज्वादिसाधनपूर्वकं तदाहरणे तत्रासत्तं भवेत्,
तथा तेषां भगवद्वचशोभानं तूतममेव, परन्तु तस्य परमफलमन्दविषयकप्रयत्नत्वागे तदेक-
निष्ठगुणगानेन प्राप्तं भवेत्, नो वेद् दूर एवेति भावः सूचितः । वस्तुस्वभावात्तथा भवेद-
पीति सामान्यदृष्टान्त उक्तः ॥ २ ॥

एतादृशा गन्धर्वा अपि बहुविधा इति तद्वेदानाहुः—

कृपभेदास्तु यावन्तस्त्वावन्तस्तेपि संमताः ।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यथा कृपभेदा बहवस्तथा गायका अपि बहुविधा ज्ञेयाः । तानेवामे 'वेद्यादिस-
हिता' इत्यनेन वक्ष्यन्ति । मध्ये पौराणिकत्रिरूपयन्ति कुल्या इति । यद्यपि गायक-
प्रकरणमध्ये पौराणिकनिरूपणं न संगवति, तथापि यन्निरूपितं तत्राद्यपौराणिकानां गा-
यकतुल्यत्वमेवेति ज्ञापनायोक्तम् । अत्रार्थं भावः । गानं द्विविधम् । एकं संगीतशास्त्रोक्तं
रागतालमूर्च्छनादिभेदेन । अपरं वयत्तुश्रोत्रसद्भावे पुराणाकथनद्वारा गुणानुकीर्तनम् । उभ-
येपि तत्तदुपजीविनः, परन्तु भूतकाध्यापनवन्न गायन्तीति सामान्यदृष्टान्तेन ज्ञायते ।
वृत्सुपजीविनाममे निन्दितत्वात् । एवं सति सामान्यत उभयेषां समानधर्मत्वात्प्रायकानां

मध्ये सामान्यतः पौराणिकानपि निरूपयन्ति कुल्या इति । तेषां पुराणादिकथनं तु परंपराप्राप्तम्, न तु कश्चनोद्दिश्य ते कथयन्ति, तादृशास्ते कुल्या अल्पा कृत्रिमा सरितः प्रवहणशीलास्तत्तुल्या इत्यर्थः । यद्यपि ता अपि पात्पर्ययुता, यत आनीयन्ते तत्रागाधता, तथापि स्वयं त्वत्वा कृत्रिमा, न तु सहजा । तेनोपरोधे रुद्धा अपि भवन्तीति सूचितम् । तथा तेषु यत पुराणार्थोपगतं स गुरुमहान्, परन्तु स्वयं त्वत्त्वपाररूपा । साहजिकभगवद्भ्रमप्रवृत्तिरहिता । ससारसिता । उपरोधे रुद्धा अपि भवन्ति तादृशा । परन्तु प्रवहणशीलत्वात् कुल्यानां तद्वृष्टान्तेन पुराणकथनद्वारा यथाधिकारं धर्मोपदेशका इति गायकसंकाशादेतावान् विशेषः । अत एव द्वितीयभावत्वेन निरूपणम् ॥ ३ ॥

तादृशा अपि केवलं ब्रह्मवैश्वंशं पुराणपाठका, तदा ततोपि हीनत्वमाहुः —
क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि ससारोत्पत्तिहेतवः ।

ते च पुनः क्षेत्रप्रविष्टा 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रिति स्त्रीपुनादिमरणपोषणार्थं पुराणादिपाठे प्रविष्टास्तदा ससारोत्पत्तिहेतवो भवन्ति । यथा कुल्यासंघन्धि-न आपः क्षेत्रेषु प्रविष्टा यदा तदा ससारोत्पत्तिहेतवो रजोगुणसुक्लत्वेन रते पोषकवस्तुत्पादकत्वाद्विधा-भर्माणामेवोत्पादिका भवन्ति, न तु प्रवहणदशावच्छेदकत्वमुपकारकत्वं वा तेषां, तथा तेषु सात्कारिकस्त्रीपुनादिमरणपोषणमारोपयोगित्वेन पुनः पुनर्जन्ममरणादिसुक्ता एव भवन्ति, न परोपकारका स्वात्मशोषका वा भवन्ति । तादृशश्चरणपाठात् शक्तिहासे पुत्राणां फलदा न भव-तीति भावः । एतेन तेषां तृतीयवर्गप्रवेशो निरूपितः ॥ ३ ॥

एव भेदद्वयमुक्तमतं परं गायकभेदानाहुः —

वेद्यादिसहिता मत्ता गायका भर्तृसंजिताः ॥ ४ ॥

पुत्रोक्ता गायका भूतकथनरहिता । तेषामन्यधर्माधिकारामाषात् गाने भूतकथन-राहित्यमात्रमेवोत्तमत्वम् । तादृशा पुनर्वेद्यादिसहिता, आदिपदेनान्येपि विधर्मा पाता-दयः सृजिता । अत एव मत्ता, सपरधर्मविवेकरहिताश्चेत्तदा गर्ततुल्या । गर्तौ जलर-हितान्धवृष । स यथापहालपर्यन्तगतः दुष्टतीव्रकङ्कालादिस्नानमूलोन्नेया पतनहेतुश्च भवति, तथैतेपि स्वयं त्वधोगता एतान्येषामपि पातहेतवो भवन्तीति भावः ॥ ४ ॥

एव चतुर्थं भावमुक्त्वा पञ्चमं भागमाहुः —

जलार्थमेव गर्तारस्तु नीचा गानोपजीविनः ।

गर्ता अपि पशुविधा इति ये जलार्थं जलसङ्ग्रहार्थमेव क्रियन्ते, गानोपजीविनो भूत-काध्यापनान्तं गन्धर्वास्तत्तुल्या । यथा तज्जलस्य प्रयोजनमुपजीवनमेव, नान्यत्, कर्माशु-पयोगित्वाभावादीर्थरूपत्वाभावात् । तथा तेषामपि तेन गानोपजीवनमेव भवति, न तु कश्चन निश्चितो धर्मो भवति, प्रत्युत पापमपि भवेत्पिपित्वात्तस्तेति भावः । एष गन्धर्वाणां प्रयो भेदा उक्ता ॥ ४ ॥

एवं विपयिणां भावानुक्त्वा गुणक्षणां भावाञ्चिरूपयन्तः पष्ठं भावमाहुः—

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

हृदास्त्विति । पूर्वं तु सन्मतित्वाभावादपण्डिताः, एते तु पण्डिताः धर्माधर्मविवे-
किनः कर्ममार्गीया यद्यपि गृहादिसंभक्तास्तथापि निवृत्तिमुखाः । अत एव मोक्षेच्छया
भगवच्छास्त्रे तत्परा जाताः । तादृशास्त्रे हृदा हृदतुल्या इत्यर्थः । अत्रापि सामान्यतो हृद
उक्तो, न तु कथन विशेषः । तेन हृदो यथा प्रवादधर्मरहितो निर्मलः, तथा तेषु प्रवा-
दधर्माञ्जित्वा निर्मलप्रज्ञा इति सूचितम् । तत्परत्वकथनेन तद्धर्मजिज्ञासेवाक्ति, न तु
निःसन्दिग्धं धर्मा ज्ञाता इति ज्ञाप्यते । एतेन तेषां प्रथमप्रवृत्तिः सूचिता ॥ ५ ॥

ततोऽप्रेतनभावविशिष्टं स्वरूपं निरूपयन्तः सप्तमं भावमाहुः—

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गङ्गीरमानसाः ।

सरःकमलसंपूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

तत्र भगवच्छास्त्रेषु ये सन्देहवारकाः, गहूनां मतानां कथनात्तेषु सन्देहा उत्पद्यन्ते,
तेषां ये निवारकास्ते सूदाः । सुप्तु शोभनमुदकं येषां तादृशा हृदास्तद्रूपाः । शोभनत्वकथ-
नेन गुणविशेष उक्तः । किञ्च, गङ्गीरमानसा इति गङ्गीरं मानसं येषां, भगवद्धर्मज्ञाने-
नान्यथाभावनाविपरीतभावनादिना कलुषितं न भवतीति भावः । पूर्वेषु गङ्गीरत्वसूदत्वा-
दिगुणामावात्सामान्यत्वमुक्तम् । तत्र विशिष्टधर्मत्वात्ततो विशेष उक्तः, तथा दाष्टान्ति-
केषु सन्देहवारकत्वविशेषः । परन्तु ज्ञानस्यैव विशेषो न क्रियाया इति दृष्टान्तेन सूचितं
भवति । अतः परं पूर्वतो विशिष्टमष्टमं भावमाहुः सरःकमलसंपूर्णा इति । पूर्वं तु
शास्त्रज्ञानेन पूर्णा उक्ताः, गङ्गीरमानसत्वकथनेन ज्ञानस्यैवमप्युक्तम् । एते तु बुधाः
ज्ञानिनः पुनः प्रेमयुक्ता भक्तियुक्ता इति सरःसंयन्धिन्यः कमलैश्च संपूर्णाः आच्छादिताः
तादृश्य आपस्तद्रूपाः । सरस्तु विहितं भवति । तत्र कमलं भक्तिरूपं, तेन पूर्णा आपः
रसरूपाः । तत्तुल्यत्वकथनेन निहिनभक्तिरहितप्रेमयुक्ताः ज्ञानेन च वासितास्तादृशास्त
इति सूचितम् । तेनात्र क्रियापि सूचिता । रसस्य विहितसरःसंयन्धित्वेन विहितभक्त्यनु-
सारैव प्रेमापि तेऽप्यिति सूचितम् । एवमेते त्रयोपि क्रमत उत्तरोत्तरविशिष्टधर्मसहिताः
सामान्यतो विहितमक्तिमार्गीया उक्ताः ॥ ६ ॥

अतः परतोऽप्यप्यवान्तरमेदाञ्चिरूपयन्तो नवमं भावमाहुः—

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिशीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पत्यलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥ ७ ॥

पूर्वोक्तेषु सरोष्ठान्तीयेषु केचनात्वं श्रुतमध्ययनं येषामेतादृशाः, परन्तु भगवद्गुणेषु
प्रेमयुक्ताः, ते वेशन्ताः अल्पसरोरूपाः परिशीर्तिताः । प्रेमयुक्तत्वेपि विहितत्वेन प्रश-
त्वात् संपूर्णभगवद्धर्मज्ञानं विना गच्छिष्ये न भवतीत्यल्पसरोष्ठान्त उक्तः । यथात्पसरो

नष्टमपि भवेत्तथैतेषां भावा अपीति भावः । एतेन पूर्वापेक्षया हीनभावत्वमुक्तम् । एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे 'शास्त्रज्ञानभावेपि प्रेम्णा भजते स मध्यम' इति । एवं सर्वमित्यत्र । अतोपि हीनत्वेन दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्मणैव शुद्धाः निष्कामकर्मादिना चित्तशुद्धियुक्ताः, नत्त्वन्नज्ञानभक्त्यादयः, ते तु पल्लवतुल्याः । यद्यपि वेशन्तपल्लवयोरनं भेदस्तथापि वेदे यथेन्द्रमहेन्द्रयोर्भेदः स्वीकृतस्तथा वेशन्तपल्लवयोरपि 'वेशन्तीम्यः स्वाहा पल्लवस्याम्यः स्वाहे'त्यत्र भेदनिर्देशः कृत इति तथात्वेन दृष्टान्तः । परं तत्रैतावान् विशेषः । पल्लवमपि द्विविधम् । एकं कमलादिरहितम्, अपरं तत्सहितम् । पूर्वोक्तेषु भक्तित्वा(सत्त्वा)त् कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः, कर्मशुद्धेषु विहितैकनिष्ठेषु तद्रहितदृष्टान्त इति, यथा पल्लवं स्वत्वं सर्वदा स्थिरजलं न तिष्ठति, वर्षाकाले पुनः पूर्णं भवति, तदपि स्वरूपतः स्वत्वं, तथा कर्मपूर्ता पूर्णता, तस्य क्षये शुष्कतेति जन्ममरणादिसहिता निरूपिताः । पूर्वोक्तेषु कमलादिसहितवेशन्तदृष्टान्तेन भक्तिमत्त्वेन जन्ममरणाद्यभाषोपि संभवति । यथा कमलादिसंपत्तिशोभादर्शनादिना कदाचित्तस्य मदत्वं रक्षां च कथितकारयति तथेत्यर्थः । एतेषु तदभावात् तथेति भावः । कदाचिजन्मान्तरे तादृशो ज्ञानी भवतीति निषण्णे निरूपितम् । किञ्च, यथा एतादृशाः पल्लवरूपाः प्रोक्तास्तथा वेशन्तदृष्टान्तीयानां पूर्वमल्पश्रुतत्वं प्रेमयुक्तत्वं च निरूपितम् । ते पुनरल्पश्रुतभक्तयो भवन्ति, तदा पल्लवतुल्या एवेति भावः । श्रुतं तु पूर्वमल्पत्वमेव केवलं प्रेमयुक्तत्वेन कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः । तदभावात्पल्लवतुल्यत्वं युक्तमेव ॥ ७ ॥

एवं कर्ममार्गीयानां स्वरूपमुक्त्वा योगादिभावानां स्वरूपं निरूपयन्तः एकादशं भावमाहुः ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा यर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।

तपोज्ञानादिभावेन स्वेदज्वास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

योगोऽष्टाहः । तत्र ध्यानादिः कल्पितमूर्तेस्तेन संयुक्ता ये गुणास्तो यर्ष्याः वर्षासम्बन्धिजलतुल्या इत्यर्थः । वर्षा यथा शून्यावलम्बिन्याः, न स्वरूपावलम्बिन्यस्तथापि फलसात्पत्वात् ता अपि प्रथमोद्भूता विरलाः पवनमात्रेण शुष्का भवन्ति, न तु कथिदार्रतां संपादयन्ति, तथा तादृशा अपि न भक्तिफलाधिकारिणः । किन्तु तत्साधनानुसारिफलाधिकारिण इति भावः । अतः परं द्वादशं भावमाहुः तपोज्ञानादीति । केचन तत्र एव परं मत्वा कुर्वन्ति, केचन ज्ञानमेव केवलं परं मन्यन्त इति तेषां स्वरूपमाहुः—तपः पश्चात्तपोज्ञानादीनि, ज्ञानं केवलं, तत्र प्रवृत्तानां भावाः स्वेदजा स्वेदजलतुल्याः कथिता इत्यर्थः । यथा श्रमेण स्वेदजलं भवति । जम्भणा या । अपवित्रमप्रयोजनकं च भवति, तथैवेति भावाः श्रमसाधकाः, न तुल्यफलदाः । अप्येपि तापकारकाः संसारकरणादिति भावः । अत एव 'रहणैतत्तस्या न याति न धेनवया निर्वपणाहहाहा । न छन्दसा नैव जलादिसर्पैर्विना मदत्सादरजोमिपेकमित्युक्तम् ॥ ८ ॥

अन्ये केचन वेदगाहात्म्यज्ञानैकनिष्ठास्तेषां स्वरूपं कथयन्तस्त्रयोदशं भावमाहुः—

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

अलौकिकेन ज्ञानेन वेदोक्तार्पज्ञानेनेत्यर्थः । ब्राह्मणानां वेद एव परब्रह्मदग्यास एव तेषां धर्म इति तत्पाठकरणरूपा ये गुणाः प्रोक्ताः, तेषि कादाचित्काः, न सर्वदा स्थिराः, तेषि शब्देनैव गम्याः, शब्द एव गम्यो येषां, नत्वर्थ इति वा, तादृशास्ते पतन्तः उच्यतः पतन्तो ये जलीपास्तेषां शब्दा इव । अथवा दूरात् कर्णे पतन्तः शब्दा इव प्रकीर्तिताः । यथा ते निरर्थकाः, दूरात् पतनजशब्देनैव ज्ञायन्ते, न तु ते प्राप्तुं शक्यन्ते, तथा वेदपाठका एव, न तु ते वेदार्थं जानन्ति, न मुख्यफलं प्राप्नुवन्तीति भावः । आपाततो ज्ञानेपि कादाचित्कत्वेन न मुख्यफलमिति भावः ॥ ९ ॥

नतु तेषि देवाद्युपासनां कुर्वन्ति, वेदार्थाज्ञाने तु साद्वोपासना न भवेदित्याद्यद्वा-
निरासाय चतुर्दशं भावमाहुः ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्भूताः ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

प्रेमपूर्णा स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

यद्यपि केचन देवादीनामुपासनां कुर्वन्ति । न ह्येतावानेव वेदार्थ इति तावन्मात्र-
ज्ञानेन क्रियमाणा सा न परमफलदायिनीति तादृश गुणा भावाः भूमेरुद्भूताः पृष्वा जल-
विन्दवो सुहुदास्तद्रूपाः । यथा ते यत्रैवोत्पन्नास्तत्रैव लीना भवन्ति, तथा यस्य देवस्यो-
पासना तत्रैव पर्यवसन्ति, न तु प्रसपर्यवसाना इत्यर्थः । अतः परं वैष्णवधर्मनिष्ठस्य भा-
वाक्षिरूपयितुं पञ्चदशं भावमाहुः साधनादीति । देशादिसाधनेषु भूतशुद्धादिप्रका-
रेण नवधा भक्तिमार्गतः श्रवणकीर्तनादिद्वारा प्रेमपूर्णा स्फुरन्तो धर्माः अशुपुलकादिरूपा
येषां तादृशाः स्यन्दमाना भूमितः प्रसवणशीला आपस्तम्भ्याः । पूर्वनिष्ठया प्रसवणशील-
त्वात् किञ्चिदुपकारकत्वं सूच्यते । तेनोपासनायामपि तात्रिकरीत्या विष्णुपासना ज्ञेया ।
परन्तु वृद्धिक्षयसहिताः, श्रवणस्वात्पत्वाद्भूमितपर्यवसानत्वात् ततोप्यागमनगमनादिकं
संभवतीति सूचितम् । एतेन सक्रमतापि सूचिता ॥ १० ॥

एते तु वृद्धिक्षयसहिताः, ते एव गुणवृद्धिपरहिता भवन्ति, तेषां भावमाहुः षोडशम् ।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविचर्जिताः ॥ ११ ॥

स्यावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

यादृशाः पूर्वं प्रोक्तास्तादृशा वृद्धिक्षयविचर्जिताश्चेत्ता स्यावराः स्थिरजलतुल्याः
स्थिरजलाशयाः स्थिरप्रवाहा नदीरूपा वा, तत्सदृशाः । स्थिरत्वस्वरूपमाहुः मर्या-
दैकप्रतिष्ठिता इति । यावत्प्रमाणमर्यादिया विहितास्तावन्मर्यादया सर्वदा स्थिराः ।

अत एव तावति धर्मे वृद्धिक्षयरहितत्वमुक्तम् । तेन निरन्तरपूजाप्रथाहसहिताः स्वमर्यादाधर्मयुक्तास्तादृश भक्ताः जन्ममरणादिरहिता भोक्षपर्यवसायिनः स्वमर्यादयेति ज्ञापितम् । यथा तादृश्यो नयोपि परंपरया नवन्तरसङ्गेन समुद्रगामिन्युत्सायेति भावः । जलाशयपक्षे वृद्धिक्षयराहित्यमेव जन्ममरणाभाव इति तथात्वम् ॥ ११६ ॥

अथ भक्तिमार्गोपभेदान् वक्तुं सप्तदशं भावमाहुः ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नव्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

प्रथमजन्मारभ्यानेकजन्मसाधनेः सम्यक् सिद्धिं प्राप्ताः । सर्वदेति साधननैरन्तर्यमुक्तम् । तेन 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोभ्यानसमाधिभि'रित्युक्तसाधनसिद्धाः प्रावाहिकभक्तिमन्तो भक्ताः सामान्यतः श्रेष्ठाः । ते प्रथमं साधनदशयां सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुक्ता भवन्ति, परन्तु निरन्तरमुद्गम उदयत्वेन युता भगवद्धर्मप्रयत्नवन्तः सङ्गादोषेषु क्षयेषु तद्धर्मनिष्ठां न स्वयन्ति । तादृश नद्यः नदीरूपा नदीजलतुल्या इत्यर्थः । यथा नद्यः वर्षाजलेन वर्धन्ते, ग्रीष्मसङ्गेन क्षीणा भवन्ति, परन्तु मूढतः प्रवाहस्य निरन्तरमुद्गमस्तिष्ठति, तेन परंपरया समुद्रगामिन्यो नवन्ति, तथा तादृशभावा अपि सस्तङ्गेन वर्धन्ते, असस्तङ्गेन क्षीयन्ते, तथापि निरन्तरं भगवद्धर्मनिष्ठात्वाभावात् कदाचिद्गवत्समुद्रगामिनो भविष्यन्तीति भावः । पूर्वोक्तपेक्षया हीनाधिकार उक्तः ॥ १३ ॥

अतः परं च शिष्टान् निरूपयन्तोऽष्टदशं भावमाहुः ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

पूर्णां भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥

जलनारदमैत्रायास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशा पूर्वोक्तधर्मवन्तः प्रसाहमार्गीयाः स्वतन्त्राश्चेत् न केनचिद्विद्धि क्षयं वा प्राप्नुवन्ति, ते समुद्रपर्यन्त समुद्रगणप्रवहणशीलाः सिन्धवः महानद्यो नद्या वा तद्रूपा ज्ञेयाः । यथा तादृश्यो नद्यः स्वयमप्रतिवद्धाः सत्यः समुद्रे प्रविशन्ति, तथा तादृशा भक्ता अपि स्वमार्गातुसारेण भगवन्तं प्राप्स्यन्तीति भावः । अतः परं केनल भगवद्धर्मकपूर्णान् निरूपयन्त एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा इति । एते सर्वे भगवदीयाः भगवद्धर्मकनिष्ठाः ज्ञातारो यत्कारणं सर्वदा तदेकरसपूर्णाः, न तु कदाचिदपि न्यूनमावयुताः शेषादयः । तत्र शेषो गुणगानपरः सर्वदा भगवद्धर्मवक्ता । व्यासः सकलपुराणकर्ता, तद्द्वारा समस्तधर्मवक्ता । अग्निः स्वयमेव । अयं मासः । धीनदाचार्यस्वरूपे अग्रद्रवयन्ति, मर्यादामार्गोपदेष्टुलं पुष्टिमार्गोपदेष्टृत्वं च । नेन स्वरूपमपि द्विविधम् । एतं सति मर्यादामार्गीयान् प्रति तादृशस्तेन प्राकृत्यं भवति, न त्वलीकिकस्य वक्ष्यमाणसर्वोत्तमासुक्तस्तेति तादृशस्य तन्म-

प्यपातित्वेन गणना कृता, अत एव 'व्यासोऽस्माकं गुरु' रित्युक्तम् । अन्यथा पुष्टिमागं गुरु-
वस्तु स्वामिन्य इति तद्भावात्मकभगवन्मुखाविन्दाधिष्ठानलौकिकाभिरूपस्य स्वस्य व्यास-
गुरुत्व न समवतीति न तथोक्तं स्यात् । एव सति शेषादिमध्यपातित्वेन भगवद्गुणनिरूप-
णसाम्याद्युक्तैव गणनेति सर्वगनवच्यम् । केचित्तन्मि रूद्राभिरिति वदन्ति । रुद्रस्य भक्त-
त्वात् । मास्तो हनूमान् परमभक्त । जडो जडभरत । नारद पथरात्रागमप्रवर्तक ।
मैत्रो मैत्रेयो धर्मवक्ता । एते सर्वे मर्यादामार्गाया भक्ता गुणज्ञा, न तु स्वरूपनिष्ठेकभावा
इति समुद्ररूपा प्रकीर्तिता । समुद्रो यथा स्वमर्यादायामेव तिष्ठति, तथेतेपीति भावः ।
अत्र समुद्रोपि शुद्धोदो ज्ञेयः । अन्यानग्रे वक्ष्यन्तीति । किम्, एतेषु सामान्यतः समुद्र-
दृष्टान्त उक्तो, न तु कश्चन गुणदोषनिष्ठो धर्मस्वस्वोक्त इति प्रनाहमार्गाद्विज्ञान पूर्ण-
त्वागाधत्वादयो धर्माश्च सूचिता । यथा समुद्रमध्ये रत्नानि सारभूतानि, तथैतेषा हृद-
येषु भगवद्दर्शा इति भावः ॥ १४३ ॥

अतः परं समुद्रा अप्यनेकविधा इति तद्वेदाग्निरूपयन्तो विंश भावमाहुः ।

लोकचेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥

वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः पदं प्रकीर्तिताः ।

अयं भावः । एके भगवतो गुणा लोकसमाना एव, लोको यथा प्राकृतस्तथा
भगवद्गुणा अपि प्राकृता एव, भगवानपि नास्ति, कर्मणैव सर्वं भवतीति मन्यन्ते, ते
क्षारोदतुल्या, न काचन ते पुरुषार्थसिद्धिरिति भावः । केचन वेदानुसारेण धर्मान् म-
न्यन्ते, ज्ञानेच्छादयो जगत्कर्तृत्वादयो धर्मा भगवति सन्तीति तादृशा दधिगण्डोद-
तुल्या । उभयाशसत्वात्तदुच्यता । तेषु तावन्मानधर्मनेव मन्यन्ते, न तु स्वरूपमव-
तारदिकं चेति तादृशा भावा न पुरुषार्थसाधका इति भावः । अपरे गुणैः प्रकृतिगुणैरपि
घाघर्मा कृत्वा धर्मा भासन्ते, वस्तुतो धर्मा एव न सन्तीति मन्यन्ते, ते सुरोदतुल्या,
स्पर्शमात्रेण धर्मनाशका मिथ्यात्वादिन पुरुषार्थनाशका इति सर्वथा त्याज्या एवेत्यर्थः ।
एते नयोप्यमिथा । अयं मिथ्यानाहुः । केचिच्च ये धर्मा लौकिकभावसहितास्ते लौकिका
एव, ये ब्रह्मधर्मास्तेऽलौकिका सर्वे सन्तीति मन्यन्ते, ते मिथ्या क्षीरोदतुल्या । स यथा
एव, ये ब्रह्मधर्मास्तेऽलौकिका सर्वे सन्तीति मन्यन्ते, ते मिथ्या क्षीरोदतुल्या । स यथा
तेषां तावन्मानधर्मवत्त्वेऽपि परमपुरुषार्थं न मिष्यतीति, न ते ब्राह्मा इति भावः । यतो
भगवतो 'लोकरहीलापि केवल्य मिष्युत्तन्वात्' तत्रालोकिरुद्धिनिष्ठाभारात् न सस्मत्ता
इत्यर्थः । अन्ये वेदोक्तधर्मा जगत्कर्तृत्वादयो यदपि सन्ति, तथापि न तास्त्रया अपिघा
सवल्लिता, ब्रह्म तु निर्विघ्नारभेवेति मन्यन्ते, ते शूतोदतुल्या, घृत त्रिकृतं भवति, क्षीर-
परिणामो दधि तत्परिणामो घृतमतन्त्रेऽपि त्रिकृतत्वाद्भोक्तव्यं ब्राह्मं, पुरुषार्थासाधकत्वात् ।
एके पुनर्भगवति धर्मा सन्ति, परं तत्रात्रादिधर्मास्तु प्राकृता इति मन्यन्ते, ते इक्षु-

रसोदनुत्वाः, यथेधुरसः स्वरूपतो मधुरः, परन्तु परिणामविरसस्तथैते धर्मा अपि परिणामे विरसत्वाङ्गीकारात् पुरुषार्थसाधका इति भावः । पूर्वोपेक्षया पण्णामेतेषां हीनभावत्वमुक्तम् । एवं विंशतिधा जीवाधिकारानुसारिणो भावा निरूपिताः । साधनसाध्या लोकत्रेदप्रसिद्धा इति ॥ १५ ॥

अतः परं लोकत्रेदातीतः साधनासाधयो भगवदानेनैवोत्पद्यते, मान्यथेत्येतादृशोपि कथन भावो वर्तते इति स्वकीयानां ज्ञापनार्थं रूपया तादृशभावस्य यथार्थस्वरूपं वदन् एकविंशमपि भावं लक्षयन्ति ।

गुणातीततया शुद्धान्सधिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥

सर्वानिव गुणान्विष्योर्वर्णयन्ति विचक्षणः ।

तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तदाकृपानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

ये पुनर्विष्णोर्व्यापकस्य रसात्मकस्य च भगवतः सर्वे गुणाः, लोकानुसारिणो पा-
लचरित्रादयो, वेदानुसारिणो माहात्म्यप्रतिपादकाः ब्रह्मधर्माः गुणानुसारिणः श्वित्सुद्भव-
प्रलयरूपाः, रसात्मकलीलास्वाक्ष, गुणातीता एव शुद्धा दोषरहिता निर्विकाराः सच्चि-
दानन्दरूपिणः सन्तीति मन्यन्ते, ते भक्ता अमृतोदनुत्वाः, यथा अमृतस्य पशुसात्मस्वैपि
मधुरत्वमेवैवं भगवद्धर्माणामपि तत्तद्भूतैपि सच्चिदानन्दरूपत्वमेव, न ल्वन्यथा । यथा
स्वरूपमानन्दरूपं रसात्मकम्, तथा गुणा अपीति निरूपितम् । किञ्च, समुद्रस्याप्युत्तरूप-
त्वेनान्येभ्यो विशेषेण जाधिक्यं दूरत्वमगाधत्वं भरणदिदोषनिर्भक्तत्वं देवोत्तमैरेव मो-
ग्यत्वं चोक्तं यथा, तथैते धर्मा अप्येतावद्धर्मबन्ध एतदधिकारिभिरिव भोग्या इति सूचि-
तम् । अत एवाधिकारिविशेषणं विचक्षणः इत्युक्तम् । तथा चोक्तं 'सुदुरहो रसिका
भुवि भाङ्गुकाः' इति । अत एव रसिकजनानुभवैकत्रेयत्वादेते भावाः सर्वोत्तमाः । तादृग्भा-
वन्तो भक्ता अपि सर्वोत्तमा इति सर्वोत्तमास्तुक्स्वरूपामेः कथनमेतेषु सुक्तम्, न तु
पूर्वोक्तेषु शेषादिषु, सर्वसाधारणत्वात् । अतस्तत्रामिश्रणं तथा निरूपणं कृतम् । प-
पमिश्रणस्य कथनान्योप्यर्थो भवेत्तत्र स एवोत्तमः, नास्माकं तत्राप्रदः । यथा विरोधो
न भवेत्तथा ग्रन्थार्थो व्याख्येय इति भावः । एवं स्वतन्त्रभक्तिभावस्वरूपनिर्देशमपि कृत्वा
तस्य दुर्लभत्वमाहुः तदाकृपानं सुदुर्लभमिति । अत एव 'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च
दुर्लभे'त्युक्त्वादनपि ते भावा नोच्यन्ते इति भावः । अत एव 'शुद्धा प्रेम्णातिदु-
र्लभा' इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

एवं दुर्लभत्वं को देतुस्तत्राहुः ।

तादृशानां कश्चिदाकर्णं दृष्टानामिष चर्गितम् ।

अजामिलाकर्णनयद्विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तादृशानां वास्यं कश्चिदेव भवति । उत्तमाधिकारिसंयोगे भवति, यथा, शुरुपरी-

क्षितयोः । यथा वा 'अक्षण्वता'मित्यादि । यथा वा प्रमरणीते उद्धवं प्रति श्रीस्वामिनी-
वान्यानि । पुनस्तत्तत्स्वरूपज्ञानेनोद्भववान्यानि । तादृशं वाक्यं दूतानामिव वर्णितं भ-
वति । दूतास्तु यथार्थवक्तारो यथातुगूतं कथयन्ति, तथा तेषां वाक्यं खानुभूतत्वेन
तथार्थमिति प्रमाणमित्यर्थः । ननु तादृशवाक्यस्यातिदुर्लभत्वेनाशक्योपदेशकथनं व्यर्थमि-
त्याशङ्क्य तत्राहुः अजामिलेति । यथा अजामिले सर्वयानधिकारिण्यपि परमरूपया स्व-
नाममाहात्म्यं प्रकटितवान् प्रभुः, तथा तादृशे निःसाधनेपि रूपया परमानुग्रहेण तादृग्-
वाक्यं कदाचिद्व्यकटीकरोति । अत एव कचिद्वाक्यं भवतीत्युक्तम् । अत एव तद्वाक्यम-
मृतरूपविन्दुपानं प्रकीर्तितम् । यथासुतस्तथा विन्दुपानेप्यमरत्वं सिध्यति, तथा तावन्मात्र-
वाक्यश्रवणेपि तादृग्पत्वं समस्तभगवन्माहात्म्यस्वरूपज्ञानं च भवतीति भावः ॥ १८ ॥
ननु माहात्म्यज्ञाने जातेष्वविद्याधर्माणां विद्यमानत्वात्कथं परमफलं सेत्स्यतीति तत्राहुः ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।

तदालेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥

तद्विन्दुपानमात्रक्षणे स्त्रीपुत्रादिषु यो रागः श्लेहः, अज्ञानं भगवत्स्वरूपधर्मयोः,
आदिपदेनासंभावनाविपरीतभावनादीनां च सर्वथा नाशनं नाशकारकं तद्वाक्यं भवति, एतद्यदा
भवेत्तदालेहनं भगवत्स्वरूपनिष्ठभावैस्तदास्वादनं जायते, तेन प्रतिपन्धनिवृत्तिः सूचिता ।
दृष्टप्राप्तिमाहुः स्वानन्दोद्गमकारणमिति । तदास्वादे पूर्वं तिरोहितानन्दस्य प्राकट्यम्,
पश्चात् प्रेमासक्तिसङ्कल्पसन्नोत्सादनेनान्तर्भगवत्स्वरूपानन्दाधिर्भावो भवतीति भावः ॥ १९ ॥
ननु पूर्वोक्ता शेषादयः पूर्णा उक्ताः, तथाप्येतदपेक्षया न्यूनत्वात्तेषां धर्माणां कथं
पूर्णत्वं फलसाधकत्वं च तत्राहुः—

उद्धृतोदकयत्सर्वं पतितोदकयत्तथा ।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥

उक्तातिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ताः शेषादयः तेषां यान्यानि उद्धृतोदकयत्, यथा
गद्गात उद्धृत्य गृहे समानीतं जलमपि गद्गाजलमेव, तथापि मर्यादाभर्गाविधिना खानपू-
जादिकं प्रवाहस्त्रजल एव भवेन्नान्यन्, तथा तेषां धर्माणामपि भगवद्धर्मरूपत्वं पूर्ण-
त्वादिकं च तिष्ठत्येव, परन्तु पुष्टिफलप्रापकत्वं नेति भावः । पुष्टिफलं तु तादृग् विन्दु-
पानजनितरसास्वादेनैव भवेन्नान्ययेति सूचितम् । एवं सति मर्यादाभर्गाविधिरसपूर्णत्वं
पुरषोत्तमसायुज्यफलकत्वं तेषां सम्बन्धमिति श्रूयते । किम्, एतत्सोपकत्वेन द्वितीयं
दृष्टान्तमाहुः पतितोदकचदिति । यथा वर्षाजलमाकाशात् पतितं यद्यपि शुद्धं निर्मलं,
तथापि मध्ये गृहीतं चेत् कर्मादियोग्यं न भवति, सूक्ष्मं पतितं चेत्कर्मोदियोग्यं भवति,
तथा तानि यान्यानि शुद्धानि निर्मलानि, तथाप्येतादृशमक्तिरसभावाद्यदसंबलितत्वाभावा-
देतरफलरूपस्वरूपसम्बन्धकारकाणि न भवन्तीति भावः । एतदेवोक्तं फलं चापि तथा

तत्र इति । यादृशो मार्गं यादृशं वाक्यं तादृशमेव फलं भवेदिति भावः । अथवा, पूर्वं स्वतन्त्रतया प्रमेयबलमाश्रित्योक्तम्, अथुना ज्ञासकमानुसारेणोच्यते । तथाहि, उक्तमिति रिक्ता अमृतोदत्तत्वातिरिक्ता शेषादयस्तेषां ज्ञान्यानि उन्मृतोदकप्रदुषकारं कुर्वन्ति । यथा जलाशयादुन्मृतं पृथे समानीतं जलं युद्धादिशोधकत्वेन स्नानाचमनादिनारमशोधकत्वेन पाकादिकर्मकारकत्वेन तृपादिनिवर्गकत्वेन चोपकारकं भवति, तथा तेषां वाक्यानि वाक्योक्तभ्रमां चरणादिना अविद्यैवाधिककर्मनाशकत्वेन ज्ञानादिधर्मोत्सादकत्वेन सासारिकत्वापनियर्तकत्वेन मुक्तिफलकत्वेन च प्रतिक्षणमुपकुर्वन्तीति भावः । तादृशस्वित्ती विशेषानुग्रहभेत्तदा पुष्टौ प्रवेशः, नो घेद्युषकारं एवेत्यर्थः । एतदेवोक्तं सिद्धान्तमुक्तावस्थायां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्णत्वेन फलित्यतीति । अतएव पुष्टिमार्गाधिकारो मुक्तानामेवेति 'मुक्तोपयुष्य' इत्यापुक्तम् । किञ्च, एतत्सोपकत्वेन द्वितीयं दृष्टान्तमाहुः पत्तिनोदकवदिति । र्थाज्जलं पतितमुपकरोति, परन्तु मर्यादया पतितं चेत् । नो चेत्सर्वमम्यादिनाशकं भवेत् । एव मर्यादया धर्माचरणे फलं भवेत्, नो चेदीदृशेन सर्वधर्मनाशो भवेदिति तेषां वाक्यानामुपकारकत्वं पूर्णत्वं फलस्यैव कत्वं चोक्तम् । अत एव फलं चापि तथा तत्र इत्युक्तम् । तत्रस्तद्वशात्तथात् फलं च तथा तदनुसारेणैव सायुष्यं भवेदिति भावः ॥२०॥

अतः परमुपसहरन्ति ।

इति जीवेन्द्रियमत्ता भानाभावं गत्वा धुमि ।

रूपतः फलनश्रैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इति प्रकारका जीवेन्द्रियमत्ता, जीवमत्ता आनवागतिः, इन्द्रियमत्ता त्रियवगा-
मिनः । अत एव धुमि स्थापारे नानाभाव गतास्तादृशा विष्णोः भावकम् रसात्मकम् च
गुणा भाना रूपतः सरूपतः फलतय निरूपिता । एतेन सन्देहनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्मा-
र्गप्रवृत्तौ फलं भविष्यतीति ज्ञापितम् ॥ २१ ॥

यथामति मया भाना रूपतः फलतोपि हि ।

निरूपिताभानं क्रियिद् बुद्धिदोषेषु यद्भवेत् ।

अन्यथा तत्संरूपणा क्षमन्ता प्रमत्तो यमः ॥ १ ॥

इति श्रीवह्मवृत्तं श्रीजन्मभेदचिचरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीबालकृष्णकृतविवृतिसमेतः ।

श्रीराधिकावदनपद्ममन्दपानघूर्णायमाननयनः स्फुटलाञ्छनश्रीः ।

मन्दस्मितो रतिविलासजयोदिताङ्गकान्तिः सदा स्फुरतु मद्दृदि गोपिकेशः ॥ १ ॥

भावाब्धिमयनाचार्यचरणान् नौमि संततम् ।

गोपीशभावभावास्तिर्यक्प्राप्तो न दुर्लभा ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्तीयानां भावजग्नेन पूर्णप्रेमभावोत्पत्त्यर्थं भावनिरूपणं प्रति-
जानते । यथा निर्विघ्नतासिद्धयर्थं महलापरणस्य शिष्टाचारत्वं, तथात्र स्तीयेषु निर्विघ्नगा-
वोत्पत्तिस्तिद्धयर्थं भगवत्समस्करणात्मकं महलाचरन्ति नमस्कृत्येति ।

नमस्कृत्य हरिं यक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।

भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

हरिमकारणसर्वदुःखहर्तारं नमस्कृत्य तद्गुणानां तदीयभक्तगुणानां विभेद-
कान् विशेषेण भेदबोधकान् भावान् यक्ष्ये इति सम्बन्धः । विंशतिप्रकारेण भिन्नान्
तान् यक्ष्ये इत्यर्थः । ननु एतत्कथनं किंप्रयोजनकमित्याकाङ्क्षायामाहुः सर्वसन्देहवा-
रकानिति । यच्छ्रवणात् सर्वेषां सन्देहाभावः स्यादित्यर्थः । यद्वा, सर्वे भगवति प्राप्ति-
सन्देहवारका इति भावः ॥ १ ॥

एवं प्रतिज्ञाय भेदानैवाहुः गुणभेदा इति ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।

गायकाः कृपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

यावन्तो जले मेदा वेदोक्तस्त्रावन्तो गुणभेदा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अत्र 'कृष्याभ्यः
स्नाहे'त्यारभ्य 'सर्वाभ्यः स्नादे'त्यन्ता श्रुतिरनुसन्धेया । गुणानां जलसाम्योक्त्या
स्वतः शुद्धत्वं बोध्यते । 'आपः स्वभावतो मेघ्या' इत्यादिवाक्येभ्यो जलानां स्वतःशुद्धत्वं,
तथैव भगवत्सम्बन्धित्वाद्गुणानामिति भावः । यथा जलमन्यमेलने तदात्मकतां भजते, तत्र
च स्वस्वरूपात्मकतां च करोति, तथा भगवानपि भक्तनायमेलने स्वगुणान् तद्भावसा-
म्यान् करोति, तं च स्वीयं स्वसमं करोति ।

ननु भक्तस्य प्रभुसाम्यता कथमिति चेद्बोध्यते । तदसाम्यरूपे भक्तत्वमेव न स्यात् ।
अत एवोक्तं 'देवो गृह्णा देवान् यजेत्' 'यो यच्छूद्रः स एव सः' इत्यादि च । तस्माद्-

कृत्वेषि न हानिर्यतो तद्भजनस्यैव स धर्मो, न त्वन्यधर्म इति त्वदुक्ताशङ्कागन्धेशोपि
 नेत्यलम् । तत्र प्रथम भगवतो रसरूपत्वाद्भ्रमणैकस्वभावत्वात् तत्र च गानमुख्यता श्रुत्यो-
 च्यते 'यदा खलु वै पुरो भियमधुते तदा वीणास्यै वाद्यते' इत्यादि । तस्माद्गानप्रियो
 भगवानिति वाद्यकाना भावमाहु गायका इति । चिह्रुताः प्रसिद्धा गानरसज्ञा ये
 गायकास्ते कूपसद्भासास्तेषा भाव कूपजलतुल्य इत्यर्थ । यथा कूपोदक शीतकाले अन्त
 रुष्णं, धर्मकाले बाह्यत शीत, तथैतेषामपि भावेषु श्रवणानन्दलेनोपरि शीतलसादनन्तर
 रसबोधे भगवत्प्राप्त्यर्थं मनस्तापक । तथा सति अतिप्रसुरबाह्यतापे सति भगवच्छ्रवणमुप-
 दत्तेनान्त शीतल इति भाव । ननु एतेषा भगवद्गुणसम्बन्धत्वेन गानाभावात् कथं भग-
 वद्भाव इति चेत् ? उच्यते । भगवत्स्वरूपस्य नादमहात्मकलायमाश्रितनादस्वरूपज्ञाने
 भगवत्प्राप्तिरिति भाव । अत एव सद्गीतशास्त्रे निरूपित 'वीणावादनतत्त्वज्ञ श्रुतिजाति-
 विशारद । तालक्रियाप्रयासेन मोक्षमार्गं लभेत हि' इति । यथा कौप जल गुणेनैव
 ब्राह्म, तथैतेषा भावो भगवत्त्वगुणत्वेनैव यद्भव इति भाव ॥ २ ॥

ननु गायकानामनेकभेदवत्त्वात् कथं सर्वेषा तुल्यतेत्याशङ्क्याहु कूपभेदारहित्यति ।

कूपभेदास्तु वाद्यन्तस्तावन्तस्तेषु सम्मताः ।

कृत्वा पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

यावन्त कूपभेदा सन्ति तावन्त एव गायकभेदा सम्मता इत्यर्थ । यथा केचित् कृपा
 मिश्रसपरिपाचकस्ये सुरतरुक्षया, केचिद्गुरुत्वादन्नपरिपाककारिण, केचित् क्षारा शुद्धा-
 दिदित्त, एवमनेकभेदास्तथा तेषु भगवद्गुणनिय-पार्थञ्जलसुक्ता, केचिच्च नादमहात्मक-
 स्वरूपज्ञा, केचिद्गानमाधुर्यपरा बहुभेदा सन्ति इति यावन्तस्ते तावन्तस्तेषामपि भेदा
 ज्ञेया इति भाव । प्रथमभावं निरूप्य द्वितीयमाहु कृत्वाः पौराणिका इति । पौरा-
 णिका पुराणज्ञा कृत्वा प्रोक्ता । कृत्रिमसरित्तुल्य उक्ता इत्यर्थ । यतो भुवि पारम्पर्य-
 युता, परंपरा यथा परंपरया पुराणं श्रुत्वा वर्णयन्ति, न तु स्वतो विचारयन्ति, तेषा
 भावस्त्वजलतुल्य इत्यर्थ । यथा कृत्रिमा नदी प्रत्यह् खननादियानिरेव प्रवहति, प्रमादाद-
 प्यप्रयत्नो वातुकादिभि सुगिहता भवति, तथा तेषामपि नित्य पुराणादिदर्शन एव
 भावो भवति, नान्यथा । यथा तस्या पारम्पर्यता भुव्येव तडागादिषु, न तु स्वत प्रवहन्-
 दीनलवत् सादित्य समुद्रमत्त च, तथैतेषामपि पुराणदर्शनकारु एषोत्पत्तिन्तत्रैव च म-
 नात्तिर्न तु दयासमुद्रमग्नमिलन् ॥ ३ ॥

तृतीयमाहु क्षेत्रप्रविष्टा इति ।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि ससारोत्पत्तिरन्तवः ।

चेदयाद्रिसरिता मत्ता गायका गर्तसज्जिकाः ॥ ४ ॥

ते च पौराणिका । गायकनिरूपणानन्तर पौराणिकनिरूपणेन पुनश्च गायकनि-

रूपेण पुराणोक्तभगवद्गीठानिरूपका गायका इवेत्यर्थः । गानस्य यथा चित्तहारकत्वम्, तथा पुराणानामपीति तन्मध्यनिरूपणमिति भावः । क्षेत्रप्रविष्टाः स्वकुटुम्बपोषणाजीविकार्थं पुराणनिरूपकाः ये ते संसारोत्पत्तिकुटुम्बपोषणसाधनोत्पत्तिहेतवो भवन्ति इत्यर्थः । चकारेण भगवद्गुणवर्णकानामनुचितः संसारः, तथापि तदर्थमेव कृतत्वात् तथेति भावो योष्यते । अपिशब्देन संसारोत्पत्तिरपि भगवद्गुणनिकेतुर्न भवेत्, परं भगवन्माहात्म्यवलेभेति धोष्यते । यथात्पसरिदपि क्षेत्रे प्रविष्टा सती संसारोत्पत्तिहेतुरन्नापुत्यादिका भवति, न तु स्नानपानयोग्या । तथैतेषां भावोपि पुराणदर्शनेन स्वान्मशोधको न भवति, किन्तु जीविकाहेतुरेव भवतीत्यर्थः । अत एव पुराणोपजीवका नीचा उक्ताः । 'नीचा पौराणिकाः काहेतुरेव भवतीत्यर्थः । अत एव पुराणोपजीवका नीचा उक्ताः । 'नीचा पौराणिकाः स्मृता' इति । चतुर्थं भावमाहुः वेद्यादिसहिता इति । वेद्यादिसहिता मता ये गायकास्ते गर्ततुल्या इत्यर्थः । यदि गानस्वरूपज्ञानेन दोषरहिताः स्युस्ते नादं ज्ञात्वा सुमत्यधिकारिणो भवेयुः, परं मत्तत्त्वाद्विषयाभिनिविष्टास्तेन तेषां भावो गर्तजलतुल्य इत्यर्थः । यथा गृहमध्यकृतगर्तसञ्चितजलस्य तद्गृह एव व्यवहारयोग्यत्वम्, न तु कूपा-दिवत् सर्वोपयोगित्वं शुद्धिकरत्वं वा; तथैतेषां भावो गानमाधुर्यादिना तद्बुद्धयानन्दकर एव, न तु कूपुपाथैसाधकोपि, तदर्थमपि नादस्य प्रकृष्टात्मकत्वान्नगमतो गानप्रियत्वात् तद्रसज्ञत्वा-त्तेष्वपि भ्रानन्दोद्भवो भगवता दीयत इति भावः । मत्तत्त्वादिदोषरहिताः पूर्वोक्तसहिता गायकाः कूपादितुल्या इति भावः । यथा कूपोदकं गुणैकप्रार्थं भवति, जलप्रदहनपर्यन्त-मेव गुणकार्यं, न तु तदनन्तरमपि, तथा श्रीगानस्य मधुरत्वात् तद्द्वारा नादप्रज्ञानन्दा-नुभवार्थमेतत्साहित्यमिति भावः ॥ ४ ॥

पश्चमं भावमाहुः जलार्थमेव गर्तास्त्विति ।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

तुशब्दः पूर्वगतसाम्यत्वं निराकरोति । प्रज्ञालनोच्छिष्टजलनिःसरणार्थं ये गर्ताः तस्युल्या गानोपजीविन इत्यर्थः । यथा गर्तजलं नीचादित्यर्थयोग्यमेव, न तु शुद्धादिकरं, तथैतेषां भावोपीत्यर्थः । नीचत्वादेतेषां गानश्रवणमपि भगवद्भक्तैर्न कार्यमिति भावः, त-ज्ञानस्नानन्दराहित्यादित्यर्थः । षष्ठं भावमाहुः हृदास्त्विति । भगवच्छास्त्रगीतापत्रात्र-ज्ञानस्नानन्दराहित्यादित्यर्थः । पण्डिताः हृदाः प्रोक्तास्तेषां भावो हृदजलतुल्य इत्यर्थः । तुशब्देन भगवच्छास्त्राभ्यासरतो न स्वन्य इत्यर्थो ज्ञाप्यते । यथा हृदजलं तस्मान्नार्तादिरहितं अन्तःशीतलं जलक्रीटादियोग्यं भवति, तथैतेषां भावोपि पण्डितत्वात् चाभत्यरहितमनोनिर्वर्तनाद्यनुपहतो भगवच्छास्त्रतत्परात् अनिरूपितभगवत्क्रीडानि-रूपणयोग्य इति भावः ॥ ५ ॥

सप्तमं भावमाहुः सन्देहवारका इति ।

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।

सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा गुधाः ॥ ६ ॥

तत्र भगवन्नाससन्देहवारकाः सर्वमतनिराकरणपूर्वकमगवन्मार्गस्वापका गम्भीरं मनो येषां ते सूदाः सुष्ठु उदकं येषामेतादृशा हृदविशेषतुल्याः । तेषां भावस्तद्भेदोदतुल्य इत्यर्थः । जले शुक्तिशैवालापावरणरहिताः गम्भीरमानसोक्त्या अन्तः कालुष्यान्याश्रयादिदोषरहिता इति भावः । यथा हृदजलं गम्भीरत्वे घर्मकालेऽन्तःशीतलं उपरि तप्तम भवति; तथैतेषां भावोप्यन्तर्भवत्सम्बन्धान्शीतलो वहिर्लौकिकनिवृत्त्यर्थं सन्तस्त इति भावः । अष्टमं भावमाहुः सरःकमलसम्पूर्णा इति । यथा पूर्वोक्तप्रकारकसन्देहवारकाः गुधाः प्रेमयुक्ताः सन्तः सरःसम्बन्धिकमलपरिपूर्णाः, परन्तु नादगायकतुल्यालेपां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तत्रलं सुरभिशीतलमुक्तत्वात् लक्ष्मीनिवासयुक्तमगवत्सेवोपयोग्यं, तथैतेषां भावोपि । सौरभवत् प्रसररूपः परतः पानो हृत्कमले प्रजसीमन्तिनीभावस्वितिसहितमगवत्सेवोपयोग्यो भगवचरणान्नमकरन्दपानमत्तमधुपायितपित्रकुन्तलालिभेति भावः ॥ ६ ॥

नवमं भावमाहुः अल्पश्रुता इति ।

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता येऽन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पल्लवानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥ ७ ॥

अल्पं श्रुतमप्ययं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो येऽन्ताः सरस्तद्वत् परिकीर्तिताः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तत्रलं वर्षीशरत्काले निर्मलं घर्मकाले पश्चात्प्रसङ्गात् कलिलं भवति, तथैतेषां भावोपि भगवत्सेवादिषु प्रेमयुक्तत्वात्तिर्मले भवति, परमव्याप्यमत्वात् असङ्कलौकिकतापादिना कालुष्यादिकमाप्नोति इत्यर्थः । दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्मलेन ये भगवत्परिचर्यां कुर्वन्ति ते कर्मशुद्धाः, अत एव भगवतोक्तं 'मत्कर्मपरमो भवे'त्यादि । अन्यथा कर्मणा न शुद्धत्वकारणं स्यात् । अत एव 'यस्य सृष्ट्या'दि स्मर्यते । तस्मात् सर्वोक्तद्वयज्ञकर्मत्वकत्वमेव सेवायज्ञत्वात् सेवन्ते, ते कर्मशुद्धास्त्रेषां भावः पल्लवमल्पसरोविशेषस्तुल्य इत्यर्थः । यथाल्पसरोजलं पानयोग्यं भवति, न तु स्नानवाहाहनयोग्यं, तथैतेषां भावोपि भगवत्पूजाकर्मत्वायत्किञ्चित् फलदो, न तु भगवत्पूजाहनयोग्य इति भावः । तथैवाल्पश्रुतिभक्तयः अल्पं श्रुतिः श्रवणं भाववत्तादिषु मय्यन्याहात्म्यस्य, तथा भक्तिर्वेषां तेषु तनुत्या एवेत्यर्थः । अल्पश्रुत्युत्पन्नमक्तिस्वेनादृष्टत्वात् तथेत्यर्थः ॥ ७ ॥

एकादशं भावमाहुः योगप्यानादिना संयुक्ता इति ।

योगप्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्वाः प्रकीर्तिताः ।

तपोज्ञानादिभावेन स्पेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

योगोऽष्टाङ्गः, ध्यानं प्रादेशाहुष्टमात्रादेः । तत्संयुक्ताः गुणाः भावाः वर्णाः तज्जल-
तुल्याः प्रकीर्तितास्त्रेषां भावस्तुल्य इत्यर्थः । यथा वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभं परम-
विरसायि तथैतेषामपि योगादिसमय एव भगवद्भावो, न सर्वदेति भावः । द्वादशं भाव-
माहुः तपोज्ञानादिभावेनेति । तपः कृच्छ्रादि, ज्ञानं जीवात्मनः । आदिपदेन विद्या-
विद्याबन्धमोक्षज्ञानं षोडशपदार्यज्ञानं लौकिकैः (कर्म)मिवो भावस्तेन संयुक्ताः स्वेदजास्तु
प्रकीर्तिताः स्वेदजतुल्याः कथिताः इत्यर्थः । तेषां भावः स्वेदजतुल्य इत्यर्थः । केचित् तप-
सैव भगवान् प्राप्यत इति ज्ञात्वा तप एव कुर्वन्ति, केचित् ज्ञानेन जीवात्मज्ञानेन मोक्षो
भवति, 'ज्ञानादेव हि कैवल्य'मिति ज्ञात्वा ज्ञानार्थमेव यतन्ते । केचित् षोडशपदार्यज्ञा-
नेनैव मोक्ष इति तज्ज्ञानार्थं न्यायादिकं पठन्ति, ते सर्वे एवाज्ञाः । यतो भगवत्प्राप्तिस्तु
भक्त्यैव, न तैः, अत एव भगवतोक्तं 'नाहं वेदेन तपसे'त्यारभ्य 'भक्त्या खनन्यया
शक्य' इत्यन्तम् । 'रहगणैतत्तपसे'ति च । तस्मात् तेषां भावस्तुल्य इत्यर्थः । यथा
स्वेदजं जलं स्नानाययोग्यं, अस्त्राद्, तापकरम् । तथैतेषां भावोपि नात्मशोधकः, नापि
भगवत्प्राप्तिकरः, तापहेतुशक्तिर एवेत्यर्थः । जलसाम्यत्वेन हेयार्थश्च वर्णित इत्यर्थः ॥ ८ ॥

त्रयोदशं भावमाहुः अलौकिकेन ज्ञानेनेति ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।

कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

अलौकिकेन भगवद्भक्तेन महत्तमचरणरजोमिषेकत्वेन वा ज्ञानेन हरेरकारणसर्वदुः-
खहर्तुः कादाचित्काः कदाचिदेव स्वीयानां दर्शनतापनिवृत्त्यर्थं प्रकटीकृताः प्रतीयमाना गुणाः
शब्दगम्याः वेदादिगम्याः श्रुतिरूपमजवरबधूरूपैकगम्याः ये वर्णयन्ति ते पतच्छब्दाः पर्यत-
शिखराद्वारापतने ये शब्दाः तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः निरूपिताः इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य
इत्यर्थः । यथा धाराजलशब्दाः तत्र जलस्थितिज्ञापकास्तथा तद्वर्णनमपि तद्वदि भगवत्स्थितिं
शोधयतीत्यर्थः । धारा अपि शब्दगम्या भवन्ति, भावा अपि तथैवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

चतुर्दशं भावमाहुः देवाद्युपासनोद्भूता इति ।

देवाद्युपासनोद्भूताः शृण्वा भूमेरियोद्भूताः ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥ १० ॥

प्रेमपूर्व्यां स्फुरद्धर्माः स्पन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥

स्यावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

देवाः शिवादयः, आदिपदाहुमाहुर्गोभैरवादयः, तेषां उपासने प्रोद्भूताः तत्र भग-
वत्त्वेन भक्तेश्वरत्वेन मोक्षसाधकत्वेन ये भावास्ते मूढैः सकाशादुत्पन्नाः तुपारजलकणा इत्ये-
त्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । तेषां तद्भजेन किञ्चित्फलं, किन्तु भगवतो-

ऽन्यथा चिन्तितवान्नरकः । अत एव 'योन्यया सन्त'मित्युक्तम् । यथा तत्रलं न खाना-
दियोग्यं किन्तु खाधारमपि पंकिलं करोति, तथैतेषां भावोपि न शुद्धादिकमुत्पादयति,
मोक्षसाधको वा भवति, परं देवानां भक्तलात् साधिसान्पतया भजन्तमनुकारयति इत्यर्थः ।
पद्मदर्शं भावमाहुः । साधनादिप्रकारेणाधिहोत्रमित्यकर्मदिसहितश्रवणादिनवधाम-
क्तिरूपो मार्गस्तेनैव प्रेमपूर्व्या ये स्फुरद्भर्मास्ते स्पन्दमानास्ते प्रशवणतुल्याः प्रकीर्तिता
इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तत्रलं पर्वतादिवृष्टियादुत्पात्तं वर्षते, आतपादिपु
त्र हीयते, तथैतेषां भावोपि साधनसत्यद्वैर्बधते, दुःसद्गादिभिश्च गौणतां प्राप्नोतीत्यर्थः ।
अत एव कपिलदेवैः साधनत्वेन देवहूतिं प्रति सत्माह उक्तः 'सद्गच्छेप्यथ ते प्रार्थ्य'इति ।
यद्वा, नवधाश्रवणादिरूपभक्तिमार्गोदामार्गीयसाधनादिप्रकारेण स्फुरद्भा धर्माः दानव्रतव-
पोदोमेलादिरूपाः वेपु तेषां भावः खन्दमानजलतुल्य इत्यर्थः । यथा तत्रलं वृष्ट्यादिसापेक्षं
तथैतेषां भावोपि धर्मसापेक्षः इति भावः । षोडशं भावमाहुः षाट्शः पूर्वमुक्ताष्टाट्शः
सद्गादिना वृद्धिक्षपविवर्जिताः सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा
नवधामक्तिमार्गनर्पादायामेव मुख्यतया प्रतिष्ठिताश्चेत् तदा ते स्वाधराः समाख्याताः
सम्पक् प्रकारेण प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा तत्रलं नानपादिभिर्होसं प्राप्नोति, न वा
वृष्ट्यादिभिर्षेधितं, न तरङ्गकेनावर्षादिभिः क्षुब्धं भवति तथैतेषां भावोपि दुःसद्गादिभिर्न
क्षीणतां भजति, न वा भक्तसङ्गेन वर्षते, तद्दर्शनेन न क्षुब्धो भवतीत्यर्थः ॥ ११३ ॥

सप्तदशं भावमाहुः अनेकजन्मसंसिद्धा इति ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥

सद्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षपयुता भुवि ।

निरन्तरोद्गमयुता नचस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥

अनेकजन्मभिः कृत्वा सम्यक्प्रकारेण सप्तसद्गादिभिः भगवत्कृपया वा सिद्धाः
साक्षात् सेवायोग्यं जन्म प्राप्तवन्तः जन्मप्रभृति आजन्मतो भगवद्भजनतराः सर्वदा
सर्वजन्मसु एतादृशाः भगवद्भक्ताः समुद्रगामिनदीतुल्याः परिकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां
भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तेषां जलानां वर्षादिजलवृद्धिसापेक्षत्वं, स्वतश्च समुद्रगा-
मित्वं, तथैतेषां भावोपि सापेक्षो भगवद्भावी चेत्यर्थः ॥ १३ ॥

अष्टादशं भावमाहुः एतादृशा इति ।

एतादृशाः स्वतश्चाश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

पूर्णां भगवद्दीया ये शेषव्यासाग्निभाक्ताः ॥ १४ ॥

जलनारदनैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशाः पूर्णोकाः स्वतश्चाः श्रवणसहायपेक्षारहिता निरुपाधिकाः । स्वतश्च
एव भगवद्भजनतराः सिन्धवः समुद्रगामिनदीतुल्या इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य

तेषां भावः सुरोदतुल्य इत्यर्थः । यथा सुरा स्वरूपविस्मारिका पानकर्तुरिन्द्रियदोषजनिका, तथैतेषां भावोपि भगवद्गुणानां सम्बन्धित्वेषु मायामोहनस्वरूपविस्मरणं कारयति, स्वसम्बन्धेनान्यस्यापि तयात्वं सम्पादयतीति भावः । हरिः सर्वदुःखहर्ता 'स सर्वज्ञः सर्वशक्ति' इत्यादिश्रुतिगोचरात् कारणगतः सर्वं स्वेच्छैव करोतीति ये गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावस्तद्गतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरे स्वादुत्वं वीर्यजनकत्वमक्षित-सत्वे माधुर्योधिक्यं, तथैतेषां भावस्यापि मनोहरत्वमधिकगुणगानार्थं शुद्धाधिक्यं ता-पानन्तरं च रसात्मकलीलाकर्तृत्वज्ञानानन्तरं तत्रिरूपणेन माधुर्यत्वमिति भावः । भगवानलौकिकवीर्यवान् स्त्रीयान् साधनरहितान् अपि खवीर्यैव मोचयतीति ये गुणान् वर्णयन्ति तेषां भावो घृतोदतुल्यः इत्यर्थः । यथा घृतं अन्यसम्बन्धं विनापि स्वपानेन बलवन्तं रोगमुक्तं च करोति, तथैतेषां भावोपि संसारसागरतरणाय योग्यदेहं करोतीति भावः । भगवान् हरिः शिवदुर्गाप्रभृतिभिः प्राप्तस्थानलक्षणस्त्रीसुन्दरमिप्रार्थ्यचरणरेशुरिति चतुर्वर्गार्थं स एव सेव्य इति ये गुणगानपरास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः । यथेक्षुरसो मधुरो-न्तस्तापनोदी, तथैतेषां भावोपि सर्वसम्बन्धज्ञानेन मधुरः सेवनप्रयुक्तो च त्रिविधतापनिवारकश्चेति भावः । 'अन्ये चांसकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् खयम्' इत्यादिवाक्येभ्यः पु-राणपुराणोचनो भगवान् 'एवात्पाश्रपरहितोऽसौ भक्त्यर्थं सेव्य इति ये गुणवर्णनपरास्ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदतुल्य इत्यर्थः । यथा शुद्धोदं तृषादिनिवर्तकं स्नानादिना मलनिवर्तकं तापापहारी च, तथैतेषां भावोपि तुष्णादिनिवारकः पापनिवर्तकस्तापनिव-र्तक इति भावः ॥ १५३ ॥

पूर्णभगवदीयेषु दुष्पात्रिरूपयन्ति गुणातीततयेति ।

गुणातीतया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥

सर्वानेषु गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणः ।

तेऽमृतोदाः समाख्याताः तद्वाक्यानि सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥

ये गुणातीतभावनाशुद्धाः केवलं सच्चिदानन्दरूपिणो भगवद्भावाः गुणा इति ये सर्वा-नेव गुणान् न्यूनाधिक्यभावेन सर्वान् एव, श्रीयशोदायामाविर्भावमारभ्य रासोत्सवप्र-भृत्यानृतपर्यन्तं विष्णोर्व्यापकस्य सर्वत्र तत्तद्रूपस्य ये वर्णयन्ति विचक्षणः । भगवद्दी-लादिकरणरसज्ञातारः ते अमृतोदाः समाख्याताः सम्बद्ध प्रकारेण कथिताः । तेषां भावः सुवासम इति भावः । यथा सुपायाः अमृतसम्पादकत्वं देवभोग्यत्वं तथा एतेषां भावस्यापि भगवत्सेवायोग्यदेहसम्पादकत्वं भगवद्भोग्यत्वं तदितराभोग्यत्वं चेति भावः । एतादृशानां तद्वाक्यानि तेषां वचनामृतस्य पानं अर्चनं सादरं मनसा प्रद्वेषं जन्त-निवेशनं सुदुर्लभं सुतरां दुष्प्रार्थ्यं, सुदुर्लभत्वोक्त्या तत्सङ्गस्य भगवत्प्रापकत्वमुक्तमिति भावः । अत एव भगवतोक्तं 'सत्सङ्गेनैवास्मारम्य 'सिद्धा मामीशुरक्षसे'त्यन्तेन, 'वर्षीते'

इत्यारम्भ 'सत्सङ्गान्मामुपागत' इत्यन्तं च । तद्वाक्यमाहात्म्यमाहुः तादृशानामिति ।

तादृशानां कश्चिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।

अजामिलाकर्णनचद्दिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

पूर्णमगवद्भक्तानां यचनामृतपानं दुर्लभम्, ते कश्चित् कृपया वाक्यं वदन्ति, तद्वाक्यं दूतानामिव सन्देशहाराणामिव वर्णितं कथितमित्यर्थः । यथा दूतवाक्यं तत्रमुवाक्यमेव, तथा तादृशानामपि वाक्यं भगवद्वाक्यमेव । भगवान् उद्दिधीर्षुः स्वीयमुखेन सधर्मान् न ज्ञापयतीति भावः । अत एव कपिलदेवेनोक्तं 'सद्ग्लोष्वथ ते प्रार्थ्य' इति तस्मिन्मगवति प्रार्थनमुक्तं, न तु स्वरणत्वं, तद्भगवानेव फलं दास्यन् करोतीत्याशयेनान्यथा न कार्यं इत्येवोक्तम् । तस्मात्तु तादृशानां वाक्यध्वनं सादरं मनसोपदेशवत् ग्रहणं विन्दुपानममृतविन्दुपानं प्रकर्षेण कीर्तितमित्यर्थः । यथासृतपानेनामरत्वं देवत्वं, तथैतत्पानेन माशाभावपूर्वकभगवत्सेवैपयिकत्वमेवेति भावः । अत एव श्रीभागवते 'परस्परं च्चद्भुणवाद्सीधुपीयूषनिर्यापितदेहपमा' इत्युक्तम् । 'महिमासृतसमुद्भविषुष' इति च । अत्रानुमतिनिदर्शनमाहुः अजामिलाकर्णनचदिति । यथा विष्णुदूतेभ्यो भगवद्भर्मयलभ्रवणेन भगवद्भर्म एव रुचिरमृतं, तदितरेष्वरुचिः, तथैतद्विन्दुपानकर्तुरपि भवति ॥ १८ ॥

लौकिकायासक्तिरहितविन्दुपानेन रसास्वादो न भवति, तदर्थमाहुः रागाज्ञानादि-
भायानामिति ।

रागाज्ञानादिभायानां सर्वथा नाशनं यदा ।

तदा लेहनमित्युक्तं खानन्दोद्भमकारणम् ॥ १९ ॥

रागः खेदः पुत्रादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिपदेन सर्वविषयाव्यासक्तिः, तन्नायानां यदा नाशनं स्यात्, तदा लेहनमित्युक्तं भवति, रागादिभावानां नाशनं नामादर्शनं सवासनं तत्रत्याग इत्यर्थः । तदेव लेहनं रागाद्यभावपूर्वकविन्दुपानं खानन्दस्य भगवदानन्दस्योद्भमार्थं कारणं भवतीति भावः । खल जीवभावेन तिरोहितानन्दस्योद्भमे प्राकट्ये सम्यक् तत्कारणं भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

विंशं भावमाहुः उद्धृतोदकचदिति ।

उद्धृतोदकवत्सर्वं पतितोदकवत्सथा ।

उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं व्यापि तथा ततः ॥ २० ॥

पूर्वोक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथैव तेषां सर्वेषां भावाः भगवद्भाव-
यचनेन गृहीताः । वाक्यानि च तथैवादरेण श्रुतानि उद्धृतोदकवदुपकुर्वन्ति तथा, तथा
गृहीतानि प्रासादात् पतितोदकवत् उपकारं कुर्वन्तीत्यर्थः । उद्धृतोदकं यथा स्वस्य खान-
पानदशासु यन्नगृहीतत्वात् यत्किञ्चित्सङ्कोचेन योग्यं भवति, तथैतेषां भावोपीति भावः ।
तथैतेषां फलमपि भवति । पतितोदकं यथा मलखानादियोग्यं, न तु पानादिषु, तथैतेषां

भावोपीत्यर्थः । उद्धृतोदकं यथा पानादिदशायामेव तृणाशान्तिं करोति, स्रोतपतिस्थानसदृशान् गुणान् विदधति, स्वस्थितिवशाच्च शीतोष्णभावं भजते, सुषा तु सदैकरूपेति सदैकरूपमेव गुणं विदधातीति भावः ॥ २० ॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।

रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

इतीति समाप्ती प्रकारेण वा । जीवे इन्द्रियेषु गताः प्राप्ताः भुवि नानाभावं सान्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणाः स्वरूपतः फलतश्च निरूपिता विवेचिता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

इति श्रीयालकृष्णकृतजलभेदविधृतिः समाप्ता ॥

परिशिष्टम् प्रथमम् ।

पूर्णा भगवदीया इत्यत्र । अत्र हि सामान्यतः पुष्टिमर्षादामार्गीयोः पूर्णा ये भगवदीयास्तु उच्यन्ते । अत एव विवृती भक्त्या सेवया च पूर्णा इत्युक्तम् । तत्र मर्षादामार्गीयास्तु भक्त्या माहात्म्यज्ञानसहितसेवेन पूर्णाः सर्वदा गुणपरा धर्मद्वारैव धर्मिपराः, पुष्टिमार्गीयास्तु धर्मिभाप्रपराः, तेषां परोक्षे गुणपरत्वं धर्मिपरत्तमैव । तद्विरहे स्वरूपं विना स्नातुमशक्या तत्परत्वात् । तत्र पुष्टी गुणा अपि गीयमाना धर्मिरूपा एव । अत एव 'तव कथायुते' गित्यत्र कथाया अपि गुणरूपाया भगवत्समत्वबोधनाय पद्गुणत्वमुक्तम् । तैत् स्वरूपालम्बकत्वं एव सम्भवति । अन्यथा गुणे गुणानङ्गीकारेण तेषु पद्गुणस्योक्तिर्विरुद्धा स्यात् । तत्र शेषः पुष्टिमार्गीय एव, अन्तरङ्गलीलासम्बन्धितत्वात् । ज्यास्तस्तु मर्षादामार्गीयः, समाधिरूपसाधनेन भगवद्दर्शनवत्त्वात् । 'अपश्यत् पुरुषं पूर्ण'मिति वाक्यात् । अग्निस्तु प्रमुदस्ताकं पुष्टिमार्गीय एव, पुष्टिभक्तिरूपमुखारविन्दरूपत्वात् । मास्तुोपि तथा, मर्षादापुखरोत्तरेषु पुष्टिमार्षप्रकारेणान्तरङ्गमकृत्वात् । अत एव श्रीसीताननःसमाहितये कदाप्यो दूतिक्रया इव तस्य प्रेपणम् । जडो मर्षादामार्गीयः, पूजापरत्वाद्दुःसहसमयत्वात् देहावसानप्रतीक्षकत्वात् । नारदोपि तथा, सततं गुणपत्तया तापन्मात्रेण स्वस्थत्वात् । मित्रेणोपि मर्षादामार्गीय एव, भगवत्पारोक्ष्येपि विदुरोपदेष्टृत्वेन स्वस्थत्वात् । अन्यथोक्त्य इव क्रिद्येनुभूतान् निजस्वामिगुणानेव स्नातुमशक्यतायानुददेत् । एवं सति पुष्टिमर्षादामार्गीयित्वाविशेषेण भक्तेषु पूर्णत्वमेवादाय समुद्रस्वमशोच्यते, न

तु विशिष्य । तथा च यया समुद्राः पूर्णाः, तथैतेपि गुणैर्भगवदीयैर्भावैश्च पूर्णाः । यया वा ते चन्द्रदर्शनेन तरलिततरङ्गाः, तथैतेपि गुणगानावसरे भावभावनावसरे च भगवद्भवनविषुदर्शनेन भावतरङ्गितान्तःकरणा इति तात्पर्याज्ञानादेव पुष्टिमार्गीयाचार्याणां मर्यादामार्गीयमक्षयस्फिपाठोक्तुचित इति मत्सरिकणनं नीरमयनसदृशमेव । अत एवाग्रे 'लो-
कवेदगुणैर्मिश्रमावेने'त्यनेन समुद्रसदृशभक्तेष्वेव पट्टिपाः मित्राः कृताः, एकविधाः पुष्टि-
मार्गीया गुणातीततया 'शुद्धा' नित्यनेन मित्राः कृताः । भगवद्गुणानां पट्टिधत्वेन मर्या-
दामार्गीयाणां पट्टिधत्वम्, पुष्टिमार्गीयाणां तु धर्मस्वरूपमात्रपरत्वेनैकविधत्वम् । पूर्वं हि
मिश्रमावाः, तद्भावेषु गुणानां मिश्रणात् । तद्वरिव तेषां प्रमौ भाववत्त्वाच्च । उत्तरे तु
शुद्धमावाः केवलस्वरूपेण तन्मात्रपरत्वात् । अत एव तदीयमानगुणेष्वपि स्वरूपात्मक-
त्वमभिप्रेत्याग्रे 'गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिण' इत्यनेन शुद्धत्वमुक्तम् । अत एव
विपृत्तौ 'पूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान् निरूपयन्तीति गुणातीततये'त्यस्मात्स उक्तः । तदर्थस्तु
पुष्टिमर्यादासाधारण्येनोक्तपूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान् केवलपुष्टिमार्गीयान् निरूपयन्तीति
ज्ञेयः । अत एव पूर्णत्वेन समुद्रसदृशत्वस्य सर्वेषु सत्त्वेषु तेष्वमृतोदतुल्यत्वनिरूपणम् ।
तस्मादेवमभिप्रायमवगत्य नास्मत्पितृचरणविपृतावज्ञमत्सरिभिः संशयदेशोपि विज्ञेयः । ननु
तयापि तादृशपंक्तिपाठस्त्वदीयानां तानेव सर्वोत्तमत्वेन जानतां न मनोरमो भवतीति
चेत् ? सत्यम् । नेदं तदीयजनवाक्यं, येन संभाषितमप्यन्यत्र तस्मान्म्यमुच्यमानं न स-
द्भेद्युः, क पुनर्वदेद्युः, किन्तु निजाचार्यचरणानाम् । ते तु कश्चिद् धर्ममादाय बहुषु स्व-
क्षेपु तथा घट्त्वेन, अन्यया 'अर्थं तस्य विवेचितु'मिति वाक्ये 'मां व्यासव'दिति दृष्टा-
न्तेन व्याससाम्यं कथं वदेद्युः । न हि भगवता निजाचार्यवत् पुष्टिपत्रप्रकटनाय व्यास
आविर्भावितः, किन्तु कीरवत् तन्मुखतः शब्दात्मकं श्रीभागवतमाविर्भावयितुम् । अर्थस्य
भगवद्रूपत्वेन तत्प्रकटनं तु 'स्वयमेवात्मनात्मान'मिति वाक्यरूपेणैव भवतीति तत्प्रकट-
नाय तदात्मकानाचार्यानिव, तत्रापि भागवतार्थो भक्तिरूप इति भक्तिरूपास्वरूपानेवा-
विर्भावितवान् । तथा च शब्दात्मकं श्रीभागवतं व्यासात् प्रकटितम्, अर्थात्मकमेतेभ्यः
प्रकटितमिति तावद्भर्ममादाय यया तत्र स्वस्मिन् तद्दृष्टान्त उक्तः, एवमत्रापि पूर्णभग-
वदीयत्वमात्रमादाय तन्मध्ये स्वस्वामि गणनेति न दोषः । वस्तुतस्तु पूर्णत्वं भगवदी-
यत्वं चाचार्येषु मिश्रमेव । भगवदीयत्वं तदास्वरूपत्वेन, तत्त्वेन भक्तिरूपत्वं, प्रमौ
रसात्मकत्ववत् । अत एव यया प्रमौ रसलीलायां तद्भर्माविर्भावो भ्रष्टत्वं च तादृशत्वं,
तयात्रापि भगवदाज्ञया अवतीर्य जनशिक्षार्थं भजने भक्तिधर्माविर्भावो, भगवत्त्वेपीति
भगवत्त्वभगवदीयत्वे अपि संभवत इति नागुपपत्तिः काचित् । पूर्णत्वमप्यत्र स्वरूपपूर्ण-
त्वमेव । चेतस्तत्प्रवणसेवायां निरोधे पत्यात्मकस्वरूपेणैव पूर्णत्वात् । अत एव 'रसस्त्री-
भावपुरितविग्रह' इति प्रनोर्नाम । इतरत्र तु गुणैरेव तयात्वमिति विभेदः । पूर्णभगवदी-

यत्नं तु सामान्यतः सममिति तमादाय तयोक्तिरुचितैव । अन्यथैकादशे प्रमुष्णा स्वामिनीभावनिरूपणे 'यथा समाधौ मुनयोऽपिभोज्य' इति स्वामिनीषु मुनिघटान्तकथनं न सङ्गच्छेत । स्वामिनीभावयोग्योः मुनेरुत्सर्पपचारतस्यात् । अत एवात्र स्वस्य श्रीभागवतप्रकटकत्वेन तत्समतया व्याससमीप एव निरूपणम् । नैतावताचार्येण्वंशतोपि तस्वरूपसाम्यमायाति । कलावतारपुरुषोत्तमयोः साम्यसम्भावनाया अप्यसम्भवात् । अन्यथा भगवति पुरुषोत्तमे पुरुषरूपत्वसंभावनाऽसंभवेन 'पुरुषः शक्तिभिर्यथे'त्यादिना पुरुषघटान्तकथनं धाप्येत । अतो धर्मैव केनचित् सर्वत्र समतोक्तिरिति नात्र दोषलेशोपि । अत एव, आनन्दरूपतया सहजनीले भगवति नीलनीरघटान्तोपि गृह्यते । किञ्च, 'अङ्गीकृतौ समर्पाद' इति सर्वोत्तमे नामनिरूपणेन प्रादुर्भावदशायां मर्यादापरिग्रहात् तत्पूर्णत्वमपि स्वस्मिन् घोषयितुं तत्पङ्क्तिपाठो निरूपितः । नैतावता न्यूनत्वमायाति । 'अधिकं तत्रानुग्रहिष्टं, न तु तद्दानि'रिति न्यायात् । अपरञ्च, यथा शुकेन सर्वावतारगणनायां श्रीकृष्णमपि निरूप्य 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति तत्र विशेष उक्तः, अर्पेत्तारकार्यकरणात् पुष्टिकार्यकरणात् । तथाचार्येष्वपि यज्ञादिमर्यादाकार्यकरणात् सेनादिपुष्टिकार्यकरणाद्यौभयविधकार्यकर्तृत्वमस्तीति घोषयितुं प्रथमतस्तन्मध्ये निरूपणं विधाय पश्चादाचार्याणां 'गुणातीततये'त्यादिना निरूपणं कृतमित्यस्मत्पितृपदविभूतावन्ययामतयोऽविज्ञातस्यपतय एवेति विद्वद्भिराचार्यवरणाश्रयैरवशेषमिति दिक् ।

अभिज्ञविभूतावज्ञाः पूर्वपक्षं प्रकुर्यते । अशक्ता अपि मुक्षास्तु विश्वसन्ति तदीरिति ॥ १ ॥ शक्तास्तदाश्रयपलादमिप्रायं विदन्ति हि । समादधति ते सर्वमतिमूलजनोदितम् ॥ २ ॥ गुरवः पितृपादा मे कथितेन मुते मयि । दासीमूले प्रसीदन्तु यच्छन्तु विमलां मतिम् ॥ ३ ॥

इति श्रीहरिदासविरचितं 'पूर्णा भगवद्गीया' इत्यस्य संशय-
निराकरणम् ॥

परिशिष्टम् द्वितीयम् ।

अयेदं विधायते । श्रीकृष्णैः 'पूर्णा भगवद्गीया ये शेषव्यासाभिमा-
रुताः । जडनारदमैत्राचास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः' इति जलभेदभावग्रन्थे
चतुर्दिशं सामान्यतः चत्वारः समुद्रा इव जेषाणा उक्ता भगवद्गीयाः (बुष्टिपत्रम् ।)
अत्र समुद्रशब्दो योगिकोऽपि आद्यः । तथा च गुरव्या सहिताः समुद्राः । समुद्राञ्च वै-
दिकताधिकमिश्रमखवैष्णवधर्मप्रवर्तनसम्प्रदायरूपा तत्तरीतलचकादिचिह्नधारणरूपापि

श्राद्धा । तेऽत्र चत्वारो वैष्णवधर्ममार्गसम्प्रदायिन आचार्याः परिगृहीताः । तत्र श्रेयः श्रीमन्नारायणोपासनमुख्यकथैदिकधर्मपरायणतत्त्वमुद्राङ्कितसात्त्विकाचार्यरामानुजरूपः सम्मूत उक्तः । व्यासः श्रीगोपीजनवल्लभोपासनमुख्यकृताधिकधर्मपरायणशीतलमुद्राङ्कितराजसोपचाराचार्यविष्णुस्वामिस्वरूप उक्तः । अग्निः पुन उत्सन्न एव तत्सम्प्रदाये विलक्षणप्रकारतः सर्ववेदेतिहासपुराणादिसारोद्धारसम्मिश्रितश्रीगोपीजनवल्लभसेवनमुख्यकधर्मपरायणशीतलमुद्राङ्कितनिर्गुणभक्तिमार्गाचार्यश्रीवल्लभरूपः तत्स्थान उक्तः । मारुतो वायुजो हनूमान् महाविष्णुपूजनोपचारमुख्यकथैदिकताधिकधर्मपरायणतत्त्वशीतलोभयविधमुद्राङ्कितराजसतामसोपचाराचार्यमध्वास्वरूपः सम्मूत उक्त इति चत्वारो मुख्यसम्प्रदायिन आचार्या उक्ताः ।

अथ तेषां क्रमेणाग्रिमानुपसम्प्रदायिनो निरूपयन्ति जडनारदमैत्राया इति । जडनारदमैत्राणामाद्या मूलभूता इति । जडो रामानन्दस्वरूपः सन् सर्ववर्णसंकलितो वैष्णवधर्मप्रवर्तकत्वात् श्रेयरामानुजस्य उपसम्प्रदायीभूतः । नारदस्तु कृष्णचैतन्यमुनिस्वरूपः । तथैव व्यासविष्णुस्वामिबल्लभा(चार्यो)पसम्प्रदायकप्रवर्तकः सनातनमैत्रो मैत्रेयः श्रीरूपाख्यः सम्मूतः । उत्सन्ननिम्बार्कमार्गसोपसम्प्रदायप्रकाशकश्रीभट्टहरिव्यासमतस्य इति केचित् । वस्तुतस्तु श्रीरूपः सहजीव एव स्वयं मूलभूताचार्यवायुरूपमध्वास्वसोपसम्प्रदायी जात उक्तः । एतदुपष्टम्भकं श्रीमदाचार्याणामेव स्वेषां वचनं, यथा श्रीमागवते तृतीयस्कन्धे 'प्रायोर्च भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विध'मित्यत्र 'भेदः पारमार्थिक' इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्तः । ते च सम्प्रति विष्णुस्वाम्यनुसारिणः तत्त्ववादिनो रामानुजीयाश्चेह तमोरजःसत्त्वैः भिन्नाः (भक्ताः), अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः । एवं चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादितः, 'अभिसन्धाय योऽर्हिसां' इत्यादिभिरिति । पद्मपुराणे तु 'श्रीमन्नारदसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः । चत्वारस्ते कलो भाव्याः सम्प्रदायप्रवर्तकाः । श्रीविष्णुस्वामिनिम्बार्कमध्वरामानुजाख्यया । भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते सुकले पुण्योत्तमा'दित्युक्तम् । तत्र श्रीसम्प्रदायिभ्यः श्रेयरामानुजीयाः, नारायणसम्प्रदायिनो माध्वाः, रुद्रसम्प्रदायिनो व्यासविष्णुस्वामिसम्प्रदायानुवर्तिनः, सनकसम्प्रदायिनो निम्बार्कश्रीभट्टहरिव्यासीयाः साम्प्रतम् । एतदभिप्रेत्यैवमेव सम्प्रदायप्रदीपे ग्रन्थे गदाधरद्विवेदिनावेदितम् । भारतीये वैशम्पायनोक्तसद्वसनामस्येपि 'अष्टःसंवर्तको वह्निरनिलो धरणीधर' इत्यत्र प्रथक् पृथगेतदाचार्यचतुष्टयस्वरूपनामैवोक्तम् । तदेतत्सहस्रनामटीकायां श्रीविष्णुवल्लभास्वयायां द्रष्टव्यम् ।

विषयदर्थवस्तुग्लोभिर्मितेऽब्दे मोदनामनि ।

चेद्रे सिते शुरौ देते श्रीशः काश्यपामदोऽलिखत् ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीहरिरायकृतविवरणसमेतानि ।

एवं जलवेदे पूर्वसोकेविंशतिपा मित्रा मत्काश्रद्गावाथ निरूपिता जलच्छान्तेन, तेषामन्यहृदयसार्दीकर्तृत्वज्ञाननाथ । तेषां च पुनर्भक्तानामष्टादशविधाप्रतिपादितमगवहृणानामष्टादशविधत्वेन तन्माश्रपरतया केवलमर्षादामार्गीयाणामष्टादशविधत्वात्, पुष्टिमार्गीयाणां मित्रशुद्धभेदेन द्विविधत्वात्समुनिर्गुणभेदेन दशविधानां मर्षादापुष्टिभेदेन द्विविधत्वाद्वा विंशतिविधत्वम् । तद्भावानामपि तद्वर्तित्वेन तथा संख्यात्वम् । अतः परं तद्भाष्यद्वारा तद्भावग्राहकान् ध्रोतून् पुष्टिमर्षादामेदेन द्विविधान्, पुष्टिमार्गीया एकविधा उत्तमा एव, मर्षादामार्गीयास्तु मध्यमाधमोत्तमभेदेद्विविधा इति चतुर्विधांश्च निरूपयितुं प्रथमं मुख्यत्वेन पुष्टिमार्गीयाशिरूपयन्ति ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसारतिवर्जिताः ।

अनिर्घृता लोकेवेदे सुख्यास्ते श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णः शिवा परमशैरया ठक्ष्या वा सुतः कृष्णः सदानन्दो निर्दोषनित्यगुणपूर्णो रक्तिकशिरोमणिस्रास यो रसो गजनानन्दरूपः, अथवा स एव रसः स्याद्विभाव्यात्मा विरहरूपः, तेन परोक्षे हृदयागतेन विशिष्टं स्थानात् प्रचलितं यन्मानसमन्तःकरणं तत्र याञ्जतिश्रितश्रवणविपयिणी तथा वर्जिता इत्यर्थः । अयमर्थः । भगवच्चरिताकर्गनविपयिणी अरतिर्दिधा निवर्तते, मर्षादापुष्टिमार्गभेदेन । तत्र मर्षादामार्गे 'शुश्रूषोः श्रध्वागस्त्ये'ति वाक्यान्महर्षेवापुण्यतीर्थनिषेवणादिभिः रुचिरुदेति, ततोऽतिनिवर्तते । पुष्टिमार्गे तु तद्रसस्वामीभ्यादेव 'दुस्त्यनस्तत्कार्ये' इति वाक्याच्चिबर्तते । तथा च पूर्वोक्तपुष्टिमार्गीयत्वावगतय एवयुक्तम् । एवं चरित्रश्रवणे तेषामरत्यमार्शं निरूप्य तन्मात्रविपयकारतिं निरूपयितुं लोकेवेदानिर्घृतिमाहुः अनिर्घृतां लोकवेद इति । लोकेवेदे वेदे प्रवृत्तिमार्गीयवर्मभोषके भगवदितरभजनविधाषके । अथवा लोके वेदे चानिर्घृता निर्घृतिरहित्वा अस्तस्य इत्यर्थः । ठषणोत्सि लोकेवेदोः 'ये त्यक्तलोकवर्माभे'ति वाक्यात्साव्यत्वेन तुल्यताशोधनाय समस्तं पदम् । अत एव लोकेवेदानिर्घृतिबोधनाय 'पतिसुतादिभिरतिदैः कि'मित्यादिवक्त्वान्युक्तानि । वेदानिर्घृतिबोधनाय 'ममशुद्धर गोविन्दे'त्युक्तम् । स्वमेव साक्षादतिदुःखसागरे निमग्नं ब्रजशुद्धर, नतुद्धतेन वेदेन वयसुद्धर्तव्या इत्याशयेन । एवं ये पुष्टिमार्गीयकतेषास्त्वमात्ररतिभावयुक्तान्ते सुख्याः पुष्टिमार्गीयत्वेन श्रेष्ठाः ।

अवया, मुखं पुष्टिमार्गीया भक्तिस्तत्रभवा भक्तिरूपमगव-मुखारविन्दसंलघाठककुल-
त्वेनोप्यमानाः सम्भूय भक्तिमाश्रयणेन पुष्टिमार्गीयुक्ता जीवा मुख्या इत्यर्थः । ननु पूर्व-
निर्भृता लोकवेद इत्यनेन भगवति रतिरुक्ता, न श्रवणादिष्विति तेषु गौण्येव सेति
कथं मुख्यश्रोतृत्वमित्याशङ्क्याहुः श्रवणोत्सुका इति । भगवति स्तावपि वियोगे
श्रवण एवोत्सुकाः । औत्सुक्यं तत्रैव । प्रियप्रीत्यापि परोक्षे तत्सन्देशहारके प्रीती श्रव-
णोत्सुक्यस्य स्पष्टत्वात् । अत एवोक्तं इति सा सर्वाः परिवतुत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदा-
न्मुजाश्रय'मिति । तथा च रसिका रसविश्लेषमनसश्चरितसहजभावाः वियोगार्तियुताः
प्रियवार्ताश्रवणमात्रैकमतयः पुष्टिमार्गीयाः श्रोतार इति सिद्धम् ॥ १ ॥

एवं पुष्टिमार्गीयान्भक्तान् निरूप्य मर्यादामार्गीयांस्तान्निरूपयितुं तत्रोत्तमा गति-
दुर्लभा इति प्रथमं मध्यगान्तिरूपयन्ति ।

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।

अर्थैकनिष्ठास्तो चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥

विशेषेण क्लिप्तं तदेकपरतया कोमलत्वादार्द्रं मनो येषामित्यर्थः । यथार्द्रं वस्तु स्व-
सम्बद्धमप्यार्द्रयति, तथा येषां मनः स्वसम्बन्धिनामपि रूक्षत्वेन शुष्काणां चैतः सार्द्रं
विदधाति, शुष्कादीनामिव त इत्यर्थः । य इत्यनेन सर्वत्र प्रतिष्ठाः मर्यादामार्गीया उक्ताः ।
तुशब्देन पूर्वोक्ताः पुष्टिमार्गीया व्यावर्तिताः । ननु विक्लिन्नमनस्त्वं पुष्टिमार्गीयेष्वपि त-
प्रीत्या भवतीति तद्व्यावर्तकं धर्ममाहुः भगवत्स्मृतिविह्वला इति । श्रवणावसरे
या चरित्रसम्बन्धितया भगवतः पद्मजपुष्पस्य स्मृतिः स्मरणं तेन, न तु स्थायिभावात्मकेन
त्सेन विह्वलास्तल्लीलाविशिष्टप्रभुदर्शनाय व्याकुला इत्यर्थः । ननु पूर्वोक्तधर्मद्वयेनापातत
उत्तमत्वमेव तेषु भासत इति व्यक्ततया मध्यमत्वयोधकं धर्ममाहुः अर्थैकनिष्ठा इति ।
ते पूर्वोक्तधर्मद्वयमेनोत्तमतया भासमाना अपि अर्थः पुरुषार्थो मोक्षादिः, अथवाऽर्थः प्र-
योजनं स्वकृतार्थत्वादिः स एवैको मुख्यस्वनिष्ठाः, न तु मुख्यतया चरित्रनिष्ठाः । फल-
सापेक्षत्वान्मध्यमा इत्यर्थः । ननु तादृशाः श्रोतार एव न भवन्ति, तत्र तालार्थभावा-
दित्याशङ्क्याहुः श्रवणोत्सुका इति । तैसाध्यफलतात्यर्थवच्छेषि श्रवणे भगवच्चरित्र-
श्रवणे उत्सुका जीत्कण्ठमवन्त इति तेषां श्रोतृत्वेन मध्यमत्वमित्यर्थः । यथा परीक्षिदा-
दीनाम् । तेषामितरापेक्षया पूर्ववैराग्यवस्त्वेनोत्तमत्वेपि सोर्षाधिकप्रवृत्तेर्विदुरोद्धवाद्यपेक्षया
मध्यमत्वमेव । अत एव 'प्रायोपविष्टो गङ्गाया'मिति वाक्यात्परीक्षितः स्वकृतार्थताहेतु-
त्वेन गङ्गाद्यपेक्षा । अन्यथान्यत्रैवोपनिष्ठः स्यात् । भगवच्चरित्रं तु भगवानिव न स्वफल-
साधनेन्यदपेक्षत इति स्वार्थनिष्ठत्वमेव तत्र प्रयोजकमिति तत्र तथास्वम् । विदुरस्य तु
'यत्र मित्रासुतो मुनि'रिति वाक्याद्भवत्सन्निहितस्वल्पत्वेनैव तत्र गमनं, न गङ्गोदेशेनेति
स्वार्थनिष्ठत्वाभावाच्चरित्रमात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमेवेत्यर्थः । मर्यादामार्गीयत्वं तु परीक्षिदि-

दुरयोः समानं शुद्धिसापेक्षफलसिद्धेः । अत एव तीर्थाटनसत्सद्भाष्यामेव विदुरे श्रवणा-
धिकारः सिद्धः । परीक्षिति तु स्पष्ट एव । अत एवासदाचार्यरुक्तं 'मर्यादासस्तु गहायां
श्रीभागवततत्पर' इत्यन्येषामपि तथाविधानां चित्तचायत्याभावसाधनत्वमिप्रायेण ॥२॥

एवं मध्यमाश्रिरूप्यापमानामप्रयोजकत्वेन मिश्रतयाऽनिरूपणीयत्वाद्दुत्तमनिरूपण-
मध्य एव केनचिद्धर्मेण ताश्रिरूपयितुमुत्तमानेव प्रथमं निरूपयन्ति ।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।

ते त्वावेशान्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥

कृष्णस्य सदानन्दस्य तत्त्वं वास्तवं रूपं रसात्मकं तादृशकरपादादित्युक्तत्वेन सा-
कारं व्यापकं स्वेच्छया मायापसारणेनाविर्भावयत् निःसन्दिग्धं शास्त्रस्वातुभवाम्यां सन्दे-
हरहितं तथापि सर्वभावेन 'यान्नात् यथास्मी'ति वाक्याद्रसात्मकः साकार एव सर्वरूप
इति भावेन तात्पर्येण विदुर्जानीतुरित्यर्थः । नन्वेवं हृदज्ञाने श्रवणापेक्षाऽभावात् श्रीतृ-
त्वमुपपद्यत इत्याशङ्क्याहुः ते त्विति । ते पूर्वोक्ता एदज्ञाना अपि ज्ञानेन हृदये भगव-
दानेशात् तु विकला ज्ञातृत्वेन स्वस्फूर्तिरहिता इति तदुपपद्यत इत्यर्थः । अत एवोक्तं
'हरेर्गुणाक्षितमतिर्भवान् पादरायणि'रिति । तुशब्देन रसावेशपन्तो व्यापकित्वाः । तेषां
रसावेशस्य सार्पदिकत्वेन कदापि स्वरूपज्ञानानुदयात् । ज्ञानस्य च रसोदयप्रतिपन्धक-
त्वात् । अत एव सर्वव्यापकस्य सान्तःस्थितस्यापि प्रभोरन्वेषणादौ प्रवृत्तिः । (सर्वदा
रसावेशवतामन्वेषणादौ प्रवृत्तिः । रसात्मकस्वरूपव्यापकस्वरूपज्ञानोदये सति अन्वेष-
णादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । गोपिकानां तु सर्वदा रसावेशवत्त्वम् । अतः प्रवृत्तिः ।) तदेवोक्तं
सिद्धज्ञानेन श्रीशुकेन 'पद्मच्छुराकाशवदन्तरं षड्भूतेषु सन्त'मिति प्रभुविशेषणकथनेन ।
अत एवोक्तं प्रभुणापि 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः येनो भवे'दिति । ननु भगवदावेशे
भगवत् इव सर्वज्ञत्वमुचितं, तत्कथमेतेषां वैकल्पं, यतो हेतोर्युगश्रवणे प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य
पक्षान्तरमाहुः निरोधाद्येति । तेषां गुणैरेव निरोधात् । प्रथमविस्मृतिपूर्वकं भगवदा-
सक्तिसम्पादनात् । गुणानामपि स्वात्तन्त्र्येण निरोपकत्वं श्रूयते 'महृणश्रुतिमात्रेण'त्यादौ ।
यतो निरोधेन वा वैकल्पमित्यर्थः । नचान्वयेति स्वरूपनिरोधात् तथेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं श्रीतृत्वमुपपाद्य कदाचिन्नोक्षापर्यनिष्ठतेतेषामपि भविष्यतीत्याशङ्क्यार्थेकनि-
ष्ठत्वप्रयुक्तं मध्यमत्वं वारयन्त आहुः ।

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।

अन्यासक्तास्तु ये केचिद्धर्माः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

सर्वत्र पूर्णो यो भगवद्भावो ज्ञानेन भगवदावेशाद् निरोधाद्वा सर्वत्र भगवत्स्फुर-
णात्तेनैव पूर्णः अर्थः पुरुषार्थो येषामिति, न तेषामन्यः स्वार्थ इति, तत्रिष्ठत्वेन मध्यमत्वं
न, किन्तु भगवन्मात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमित्यर्थः । नन्वेवं पुष्टिमार्थायेभ्यो न मेद आपाति,
तेषामप्येवंविधत्वादित्याशङ्क्याहुः कदाचिन्न तु सर्वदेति । एतेषां भावनावसरे गुण-

गणाकर्षणावसरे वा तात्कालिकनिरोधात् तयात्वम् । पुष्टिमार्गीयाणां तु सदैव तयात्व-
मित्यर्थः । अत एव शुकादीनां न सर्वदा लीलेतराननुसन्धानम् । अन्यथा 'मयुराया व्रजं
गता' इति ताटस्थ्येनोक्तिर्नोपपद्येत । पुष्टिमार्गीयमक्तभावस्य तु सार्वदिकत्वं प्रसुरेवाह
एकादशे 'ता नाविद' इति पद्ये नीरनिधिनीरप्रविष्टनदीदृष्टान्तेन । नहि महाजलभिजल-
प्रविष्टा नद्यः कदापि पूर्वभावं प्राप्नुवन्ति । स्वरूपेण स्थिता अपि न भेदेन व्यपदिश्यन्ते ।
अतः पुष्टिमार्गीयेषु भगवदितरस्फूर्तिरहितभाववद्भगवदीयत्वं भगवत्त्वं च, भगवता सहो-
त्पन्नोत्पन्न्यायेनैक्यात् मर्यादामार्गीयेषु श्रवणादिना भगवदीयत्वमेवेति महानेव भेद इत्य-
उच्यते । एवं वहिःसंवेदनाभावदशायां मर्यादामार्गीयोक्तमात्रिरूप्य वहिःसंवेदनद-
शापन्नांस्त्रात्रिरूपयितुं वहिःसंवेदनप्रसङ्गेन मध्येऽधमात्रिरूपयन्ति अन्यथासक्ता इति ।
ये केचित् भाषणलशुद्रत्वादिभिरुक्तर्पापकर्षयुक्ता अप्यन्यद्ब्रह्मादिकं तत्राश्रयत्वात् घृत्यादि-
सम्पादकत्वेन लोकानामग्रे कथनार्थं भगवद्गुणश्रोतारः 'क्षेत्रप्रविष्टा' इत्यादिनोक्तगुण-
गायकभावग्राहका अधमाः परिकीर्तिता इत्यर्थः । तुभ्यन्देन भगवदर्थकष्टहासका व्याव-
र्तिताः । तस्मात्सु पुष्टिमार्गीयमोक्षरूपत्वेन उत्तमत्वसम्पादकत्वात् ॥ ४ ॥

एवं मध्येऽधमात्रिरूप्य पुनर्वहिःसंवेदनदशापन्नातु तमात्रिरूपयन्ति ।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।

देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

वहिःसंवेदनदशायामपि न विद्यते अन्यः भगवदतिरिक्तो यत्र एतादृशं मनो
वेपामित्यर्थः । ननु को विशेषस्तदान्तःसंवेदन इत्याशङ्क्यानन्यथेतस्त्वे प्रकारभेदमाहुः
देशकालेत्यादि । अन्तःसंवेदने हि देशदयो भगवत्त्वेनैव स्फुरन्ति, न देशत्वादिभिः ।
केवलभगवदाकारान्तःकरणे सर्वत्रावरणनाशात्, वहिःसंवेदने त्वन्तःकरणस्य प्रपञ्चप्रवे-
शेन तदाकारत्वे देशत्वादिप्रकारेण तत्स्फूर्तिं तत्र भावनागात्रेण भगवद्बुद्धिरिति विशेषे
इत्यर्थः । ननु तदानीं कथं भगवत्त्वेन सर्वस्फूर्तिः, वेदानीम्, अन्तःकरणस्य तस्यैव स्वरू-
पतः सत्त्वादित्याशङ्क्याहुः मर्त्या इति । अन्तःसंवेदने हि ते भगवद्गुणा एव, भाव-
नया तदात्मकत्वात्, अतो न तेषामन्यस्फूर्तिस्त्वेदा, वहिःसंवेदने तु मर्त्यत्वादितरस्फूर्ति-
रिति तत्र देशादिषु शाश्वेणाहार्या भगवद्बुद्धिरित्यर्थः । एतादृशा मर्यादामार्गे श्रवणादिषु,
आदिपदेन कीर्तनप्रभृतिषु शोचमा इत्यर्थः ॥ ५ ॥

भाववत्स्वरूपावान् निरूप्य पूर्वं ततो मक्ताः ।

मार्गद्वयेन चोक्ताः श्रोतारः श्रीमदाचार्यैः ॥ १ ॥

आचार्या निजकरुणामानाः कुर्वन्तु सन्तुष्टाः ।

नाम्ना मां हरिदासं रूपेणापि स्वतः प्रभवः ॥ २ ॥

इति श्रीहरिदासीयं श्रोतृबालुर्विद्यकथने निजाचार्यश्लोकपञ्चक-
विवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

पञ्चपद्यानि ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतानि ।

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिर्धिन्या बीजमावदाब्जोत्तरं भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणकीर्तने साधनत्वेनोक्तवन्तः, बीजदाब्जार्थं च पूजां श्रवणादीनि च नवापि साधनत्वेनोक्तवन्तः । तत्र, श्रवणं नाम भगवद्वाचकपदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः । कीर्तनं च तद्विधायकपूर्वकं मुखादुच्चारणम् । एवं तयोः स्वरूपस्य साधारणत्वे त्यागानन्तरं क्रियमाणयोः कुतो भक्ति-हेतुत्वम्, ततः पूर्वं क्रियमाणयोश्च कुतो बीजदाब्जमात्र एवोपकारकत्वमित्याकांक्षायां निरोधलक्षणे 'महतां कृपया यावत्' 'महतां कृपया यद्ददिति' श्लोकान्यां यया कीर्तने विशेष उक्तः, महारूपभित्त्यक्तभगवत्कीर्तनसानन्दसन्दोहजनकत्वमिति प्रथमाधिकारे महतां कृपया यया भगवदीयकृतं कीर्तनं सुखदं, तथा लौकिकसम्पन्नकीर्तनं न सुखदं, किन्त्व-रुषिभिरप्य इति, तत उक्त्याधिकारे विशेषः कीर्तनसाधिकार्यनुभवमेदविचारणोक्तः । तथा श्रवणस्य कृपापि नोक्त इति तदर्थं पञ्चश्लोकान् श्रीकृष्णरसविक्षिप्तोत्पादिकान् हरेर्भक्ता इति निगमनान्तान्त्वदन्ति । प्रथममुत्कृष्टं भक्तिवृद्धिजनकं त्यागिनां भावमाहुः श्रीकृष्णोत्पादि । किञ्च, ननु यया स्वस्मिन्भगवद्वाच्यं सम्भवरूपं श्रवणफलसिद्धयर्थं श्रवणस्योत्कर्षार्थं च यन्तुभावान् परीक्ष्य तत्सङ्गः श्रवणार्थं विधेय इति जल-भेदे प्रतिपादितम्, तथा वक्त्रापि भगवद्वाचसम्भवरूपकीर्तनफलसिद्धयर्थं श्रोतृभावः परीक्षणीयः, तृतीयस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे विदुरमैत्रेयज्ञानसंक्रमस्य च परस्परसंवादेन प्रतिपादितत्वात् । अतः कीर्तनसिद्धयर्थं श्रोतृन् विचारयन्ति श्रीकृष्णोत्पादि ।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः ।

अनिर्भूता लोकचेद् ते सुरूपाः श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥

अत्र अनिर्भूता लोकचेद् इति विशेषणं त्यागवत्त्वोपपन्नम् । तादृशमेव हि लोके वेदे चानिर्भूतेः । रतिवर्जिता इति विशेषणं तु रतो रमणं बहिर्भगवत्पाकट्येव भगवता सह संलापादिकं, तद्रहिता इत्यर्थकम् । एतेन निरोधलक्षणे 'क्षिप्तमानान् जनान् ह्ये'ति श्लोकरथेन यादृशोपकार उक्तलाद्राहितं सूचितम् । तेन ततः पूर्वं यो गुणगानाधिकारः, यथोक्तः कीर्तनाधिकारस्तदुभयं श्लोकीकृतम् । तदत्र आहुः श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसाः श्रवणोत्सुका इति पदद्वयेन । तथाच श्रीकृष्णस्य भगवतो यो रसो लीलासम्बन्धिभजनानन्दात्मकः, तेन विक्षिप्त मानसं येषां ते तथा, एतेन तेषां स्थायीननुसन्धानं सूचितम् । एते पुष्टिमाप्तीया उक्तवर्षेणावगन्तव्याः । किञ्च, श्रवणे

उत्सुका उत्कण्ठायुक्तास्ते भक्ता मुख्याः श्रवणाधिकारिणः । अथ यत्तदोर्नित्यसम्पन्न इत्यध्याहारः । एतेन ये कीर्तने द्वितीयाधिकारिणो ये च गुणगाने प्रथमाधिकारिणस्ते तुल्या इत्युक्तम् । कीर्तनगानयोर्ज्ञानपूर्वकत्वात्तस्य च श्रवणपूर्वकत्वादि इत्यते, श्रवणे तादृशत्वसैव सिद्धेरिति । नन्येकादशस्कन्धे 'अथ भागवतं श्रुत यद्भक्तो यादृशो नृणाम्' यथाचरति यद्भूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रिय' इति जनकप्रश्ने हरिणा योगीश्वरेण 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मन' इत्यादिभिरैकादशभिः श्लोकैः कर्मज्ञानभक्तिमिश्रा भागवता उक्ताः सुषोभिण्यां व्याख्याताश्चेति त एवात्र कुतो नोक्ता इति चेत् ? उच्यते । तथाहि, प्रश्ने नृणामिति पदात्साधारणा एव भागवताः शृणुः, नत्वात्यन्तिका इत्यतस्तदनुक्तिः । किञ्च, तत्र तेषां फललक्षणे 'विद्युजति हृदयं न यस्य साक्षाद्हरियशभिहितोप्यधोपनाशः, प्रणयश्चनया धृतांश्रिपद्यः स भवति भागवतप्रधान उक्त' इत्यनेन भगवतः सर्वदा तद्ब्रह्म-स्थितिर्भागवतप्रधानलक्षणत्वेनोक्ता । सा च स्वमात्रगम्यत्वेन तत्र स्फुटति, नत्वात्यगम्य-त्वेनेत्यन्यगम्यं लक्षणं तत्सद्भाष्यं वक्तव्यम्, तदत्रोच्यत एवेति पुष्टिमार्गे यादृश विवक्षिताः तत्र लक्ष्यन्त इति तदनुक्तिरिति जानीहि । तत्र प्रथमविशेषणद्वयेन यद्दर्भत्वं, तृतीयेन यादृशत्वं, तृतीयेन यथाचरतीत्यर्थोक्तं सिध्यतीत्यपि बोध्यम् । 'तथा न कामकर्मपीजाना'मिति श्लोकोक्तलक्षणवत्त्वमपि सिध्यतीति च बोध्यम् ॥ १ ॥

एवं शुद्धपुष्टिमार्गीयान् मुख्यान् श्रवणाधिकारिणो निरूप्य पुष्टिमर्षादामार्गीयान् मध्यमानाहुः चिद्विद्वैत्यादि ।

विद्विन्नमनसो चे तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।

अर्थकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥

विशेषेण छिन्नं तदेकपरतया कोमलत्वाद्भवद्भसेनार्द्र मनो येषां ते तथा । तु पुनर्ये भगवतः स्मृत्या स्मरणेन विह्वला विवशतां प्राप्ताः, च पुनर्ये श्रवणोत्सुकाः श्रवणोत्कण्ठायुक्तास्ते त्रिविधा जपि अर्थकनिष्ठाः अर्थः प्रयोजनं स्वकृतार्थतारूपं भक्तिधी-जदार्यरूपं वा, तत्र एका मुख्या निष्ठा नितरां स्थितिर्येषां तादृशाः सन्तः मध्यमा भक्ताः । एवं च ये गृहस्थाः आसक्तैर्व्यसनस्य वा साधनपरास्ते पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि साधन-परत्वात्तेषां भगवन्निष्ठायाश्चादृशसाधन एवोपयोगात्पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि मध्यमा एवेत्यर्थः । अत्रापि प्रथमविशेषणेन यद्दर्भत्वं द्वितीयेन च यादृशत्वं बोधितम् । तेनैवाचरणोक्ती अपि सुधितप्राये बोध्ये ॥ २ ॥

एवं पुष्टिमर्षादामार्गीयान्मध्यमानुक्त्वा मर्षादापुष्टिमार्गीयान् जपन्दानाहुः निःसन्दिग्धमिति द्राम्याम् ।

निःसन्दिग्धं कृष्णतरुं सर्वभावेन चे विदुः ।

ते त्वावेशाशु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ ३ ॥

पूर्णभावेन पूर्णार्पाः कदाचिन्न तु सूर्यदा ।

अन्यास्रस्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

शुभ्यतत्त्वं भगवतः सर्वकर्तृत्वं पशुणवत्त्वं परमकृपालुत्वं दीनबन्धुत्वं भक्तिज्ञाना-
दिजनकत्वं पतितपावननादिकल्पनारोपितं निःसन्दिग्धं यथा स्यात्तथा सर्वभावेन भगवतः
सर्वत्वेन ये विदुः जानन्ति, तु पुनरावेशाद्भगवदवेशान्निरोधाद्वा ये विकलाः, च पुनर-
न्यथा न । किञ्च, पूर्णभावेनेति श्लोकोक्तकालपरिच्छिन्नधर्मवन्तस्ते ज्ञानप्रधानत्वाद्-
न्यावेशेन भयत्युत्कर्षादित्याद्य जपन्या इत्यर्थः । तेन तादृशां तादृशां सङ्गे पशुरपि ता-
दृशतादृशभावस्य सिद्धिरिति यथासम्भवगुल्फसद्ग एव प्रयतनीयमिति बोध्यम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

ननु भवत्वेवं तथापीदानीं जपन्यानामपि दुर्मित्वात्कीर्तनमुच्छिन्नप्रायं भवेदिति
तदभावाय सामान्यतः श्रवणादिगतत्वपिकारिण वादुः अनन्यमनस इत्यादि ।

अनन्यमनसो भर्त्या वसन्तः श्रवणादिषु ।

देशकालद्रव्यकर्तृमध्यकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

प्रकारत इति स्वप्लोपे पशमी । तथा च देशादीन् प्रकारान् प्राप्य ये भय-
पदेकमनसस्तो श्रवणादिषु भक्तिषु सद्गार्थं शृण्वन्, यदि पूर्वोक्ता न मिलन्ति । मिलने तु
नैतादृशेषु सन्ननीयमिति न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजश्रीपुरुषोत्तम-
विरचितं श्रीकृष्णरसविक्षिप्तोत्थादिश्लोकपञ्चकस्य विवरणं
संपूर्णम् ॥

श्रीमद्-बल्कभाष्यार्थ-महाप्रभु-विरचित-श्रीकृष्ण-ध्यान-गीता :- चतुर्थः :

संन्यासनिर्णयः

अष्टटीकाभिः समलंकृतः

- | | |
|---------------------------|------------------------|
| १. श्रीगोकुलनाथानाम् | ५. श्रीगोपेश्वरानाम् |
| २. श्रीरघुनाथानाम् | ६. श्रीगुह्योत्तमानाम् |
| ३. श्रीगोकुलीस्तवानाम् | ७. फाका श्रीवल्कलानाम् |
| ४. भावा श्रीगोपेश्वरानाम् | ८. भावा श्रीगोपेशानाम् |

श्रीमद्-बल्कभाष्यार्थ-महाप्रभु-विरचित-गीता-स्वत-
गोस्वामिजी-१००८- श्रीद्वारकेश्वरलाल-महाराजजी-
स्वतैषा-स्मृतौ-उदात्तार्थः- गोस्वामिजी-१००८
श्री किशोदेवद्र-महाराजः
प्रकृतितः

प्रकाशक :

गोस्वामिन्धी १००८ श्रीकिलोदचन्द्रजी महाराज
मोटी हुवेली, भाडवी, कच्छ, ३७०४६५ भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति
राज संस्करण १००० प्रति
बीकलभाष ५०३

ग्रन्थपरिचय लेखक : गोरक्षान्धी श्याम बनोहर

मुद्रक :

रुद्रिमी नहार, २३-ए, सिंगल बीपाटी बिल्डिंग बीपाटी, मम्बर-४०० ००७



गोस्वामिन्त्री १००८ श्रीद्वारकेशखालजी महाराज

ग्रंथ-परिचय

संन्यासनिर्णयकी रचना वि. स. १५५१ में बदरिकाश्रमकी यात्राके अन्तसरपर नरहरि सन्यासीके लिए की गई ऐसी एक किंवदन्ती मिलती है *

श्रीयदुनाथजी—विरचित श्रीवल्लभ—दिग्बिजयके अनुसार श्रीमहाप्रभुने बदरिकाश्रमकी यात्रा तीन बार की थी. द्वितीय यात्रामें कृष्णदास मेपनके आपके साथ होनेका उल्लेख तथा स्यासाश्रम पधारनेका उल्लेख भी मिलता है. इस प्रसंगकी सूचना यद्वाके तीर्थपुरोहितकी दिये गये वृत्तिपत्रमें भी मिलती है. इस वृत्तिपत्रमें यात्राकाल "देवाम्भपतिम् (१४३३) मिते" तदनुसार वि. स. १५६८ उल्लिखित है. अतः यदि वि. स. १५५१ वाली किंवदन्ती प्रामाणिक हो तो उसे प्रथम यात्राका काल मानना पड़ेगा इसकी पुष्टि बीरासी वृष्णवन्शी यात्राके भी होती है *

"सो एक समय नरहर सन्यासी बदरिकाश्रम फिरते-फिरते आये. तहा श्रीआचार्यजी महाप्रभु पधारे सो नरहर सन्यासीको दरसन भये तब नरहर सन्यासी श्रीआचार्यजी महाप्रभुसो विनती किये- 'महापद मे पहिले सन्यास ग्रहण कियो हती. पाछे आपकी कृपाके भक्तिमारगमे आयो सो सन्यासके प्रहार हूँ सो तो मैं जानन हो और भक्तिमारगकी कहा प्रकार है सो मैं जानत नाहि. सो मोझे कृपा करि कहिये' तब श्रीआचार्यजी कहे— 'तोसो भक्तिमारगमे सन्यासको प्रकार कहन हो, तब श्रीआचार्यजी 'सन्यास निर्णय' पत्र करि नरहर सन्यासीको पढाय भाव कहि सुनायो तब नरहर सन्यासीके हृदयमें पुष्टिमार्गकी सिद्धांत दिख भयो, तब श्रीआचार्यजीको छोलाको अनुभव भयो सो मग्न होय गये. पाछे श्रीआचार्यजी आये पधारे नरहर सन्यासी स्वस्वराज्यमे मग्न होय फिरवो करते "

श्रीमहाप्रभुके चरित्रवर्णनमें सर्वाधिक प्राचीन (वि. स. १६१० में) गदाधर त्रिवेदी लिखित सम्प्रदाय-प्रदीपमें भी एक 'सन्यासनिर्णय' का उल्लेख मिलता है. श्रीवल्लभ निर्णय यगातीरे उपविष्टा तत्र त्रिशडविधिना सन्यासनिर्णय उक्त यथा विष्णुस्वामी तथा यतिभूत्वा काश्या गता " (चतुर्थ प्रकरण) विन्तु यद्वा 'सन्यासनिर्णय' ग्रन्थवाचक है अथवा ग्रन्थरूपेण निबद्ध न किये गये किसी मौखिक उपदेशका वाचक है, यह निश्चित नहीं हो पाता है इसके अलावा—'त्रिशडविधिना' पदपर भी ध्यान देना चाहिये क्योंकि पौडग-ग्रन्थान्तर्गत प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थमें कही भी त्रिशडविधिते सन्यास ग्रहण करने या न करने का कोई भी विचार उपलब्ध नहीं होता है

पञ्चात्मक श्रीवदुनायजी-विरचित श्रीबलभद्रिचिन्मयमे, वासीमे आमुख्यामोह-लीला करनेस पूर्व दानोदरदास प्रभृति संज्योद्वारा सन्यासकी अभ्यर्थना करनेपर उनके लिए स-यासकी अनासम्भवाता दिखलानेके लिए एक मौखिक उपदेशका वर्णन मिलता है उस सन्यासनिर्णयके उपदेशसारको भी वहाँ सजलित किया गया है, जिसे ध्यानसे पढ़नेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत पौडशाध-चान्तर्गत स-यासनिर्णय और उक्त सन्यासनिर्णय में उपदिष्ट विषय भिन्न-भिन्न हैं.

कुल मिलाकर दो सम्भावना सामने आती है -

१) बदरिकाश्रमकी प्रथम यात्रा—समयत वि. स. १५५१—में तरहरि सन्यासीके लिए प्रस्तुत पौडशाध-चान्तर्गत सन्यासनिर्णय लिखा गया था

२) शोकगोचर देहदेशत्याग अर्थात् आमुख्यामोह-लीला करनेकी तृतीय भगवदाज्ञाके पश्चात् अन्त करणप्रबोध ग्रन्थकी रचना जैसे श्रीमहाप्रभुने स्वयम्के लिए की, वैसे ही सन्यास लेनेमें पूर्व इस स-यासनिर्णय ग्रन्थकी रचना भी आपने स्वयम्के लिए ही की है. अर्थात् वि. स. १५८७ में ..

इसमें प्रथमका समयमें तो पूर्वोक्त चरित्रग्रन्थकी एकबाबतसे स्पष्ट होता ही है. द्वितीय सम्भावनाका भी समयमें हमें श्रीपुरुषोत्तमजीकी प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थकी व्याख्यामें मिलता है श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार बबोधि प्रस्तुत स-यासनिर्णय ग्रन्थका प्रथम तृतीय भगवदाज्ञाके बाद हुए परचातापको दूर करनेके लिए ही हुआ है अतः वि. स. १५८७ रचनाकाक ही श्रीपुरुषोत्तमजीको मान्यतया सिद्ध होता है

श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार इसका आधार ये स्वयम् इन शब्दोंमें दैते हैं—“गया तु तेषा परस्परविसम्भूतिमवलोक्य अना.परणप्रबोधस्यस्य ‘परचाताप’—‘विरत्याग’ परयो अत्र प्रत्य-निगान्तात् स एव परचातापी अत्र निवर्तयेत्वेनादृत”. परन्तु केवल दो समान पद ‘परचाताप’ तथा ‘विरत्याग’ के पुनरावर्तनको ‘परम्परप्राप्त इतिमूलसे बलवत्तर नहीं माना जा सकता है इसके अलावा सर्वोत्तमस्वीयमे—“विरहानुभवेकायं—सर्वेषामोपदेशक” नामके द्वारा श्रीप्रभुपरण भी प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थके—“विरहानुभवार्थं तु परित्याग प्रसव्यते” उपदेशका ही परामश करीये प्रतीत होते हैं वहाँ—“विरहानुभवैकायं सर्वेषामप्रसव्यते” अथवा “विरहानुभवैकायं सर्वेषामपरामश” न कहकर “उपदेशक” कहना इस बातका चोत्तक लगता है कि प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने अन्त करणप्रबोधकी तरह स्वयम्के लिए नहीं किन्तु अपने अनुयाईओके लिए उपदेशके रूपमें प्रकट किया है

इसके अलावा श्रीपुरुषोत्तमजी भाष्यप्रकाश (११४/४२) में—“बहिल्लूमसयापि स्मृतेराचाराध” के भाष्याशकी मुवा प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थकी एकबाबतसे स्वीकारते

(१) आता पूर्व तु या कदा कवामास्यस्यम् । यदि परचा-मधुन न इत तद् इय मया ॥
 दहेपपरित्यागस्तुतीयो लोकगोचर । परचाताप इव तत् केवकीह न चाप्यथा ॥

(अन्त करण ५-७)

है—“एतस्य प्रपन्थ सन्धासनिर्णयग्रन्थादवगन्तव्यः”. यहा प्रारम्भमे भवितव्यमने मध्यम कक्षाये अधिकारीके लिए आवश्यक साधनत्यागका विचार हम अधिकरणका प्रमुख उद्देश्य है ऐसा दिखलाते है—“अथ भवितव्यमर्णयमध्यमअक्षययो. फलविचारोत्तर मध्यमस्य स्वागर्ण्य साधन चिन्त्यते.” भागवतके एकादश स्कन्धके अठाहरवे अध्यायमे—“यदा तर्मेविधाकेषु लोकेषु निर-
यात्मेषु विरागो जायते सम्पद् न्यस्तामि प्रवर्जेत्ततः” कारिकासे प्रारम्भ कर सोलह कारिकाभोगे पहले भगवान्ने उद्भवको त्रिवण्ड मन्थासका स्वरूप समझाया है, और इसके बाद—“ज्ञाननिष्ठी विरक्तो वा मद्भवतो वल्लोकाकः सल्लिगामाधमास्त्वपरवा चरेदविधि-
गोचर.” कारिकासे चतुर्थ आश्रमरूप सन्धाससे मित्र एक सन्धासकी आज्ञा भी गई है; यह सन्धासकी आज्ञा पूर्वोक्त भाष्य (३।४।४२) तथा सन्धासनिर्णय ग्रन्थ का आधारभूत भाष्य है. उद्भवने भी इस मन्थासकी आज्ञाके बाद सर्व-विरिपाय किवा धा तथा यह परित्याग मध्यमाधिकाररूप था, यह विविधनामात्रलोकै—“उद्भवदिमध्यमभावबोधकाय नम” से स्पष्ट होता है ऐसा श्रीपुरुषोत्तमजी स्वीकारते हैं

ऐसी स्थितिमे सन्धासनिर्णय ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने स्वयम्के लिए लिखा यह कहना कुछ अनमञ्जस सा लगता है क्योंकि सर्वप्रथम तो सन्धासनिर्णय ग्रन्थमे मन्थासधिकारीके स्वागतके प्रकारकी प्रतिपाद्य विषय माना गया है, और स्वयं ही श्रीमहाप्रभु स्वयम्के धारैमे मध्यमाधि-
कारिकाका निर्णय से यह साधन नहीं लगता श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार तृतीय भगवद्वाज्ञा भी “लोकपरित्यागविषयिणी” थी. इन आशंका तात्पर्य मध्यमाधिकारकाये सन्धासप्रहृणार्थ लेनेसे कोई विशेष हेतु दृष्टिगत नहीं होता है “स्वीयव्यन्यनिवृथर्षं वेत्त सोपि न चान्यथा” मे मन्थासविष्णोकी अधिपनता या उपेक्षा का जो बोध होता है, वह भी श्रीमहाप्रभुके सर्वथा अप्रहृणार्थक यथाक्रम कुटिलक बहूदक इस तथा परमहंस के क्रमनिर्वाहमे उतना संगत नहीं होता.

इन बातोंकी दृष्टिगत करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि संन्यासोत्तर देहदेनाश्रायको तृतीय भगवद्वाज्ञाके परिपालनार्थ श्रीमहाप्रभुने सन्धासनिर्णय ग्रन्थमे बणित मध्यमाधिकार-
वाला सन्धास नहीं किन्तु चतुर्थश्रमरूप निरवसन्धास ही आपने लिया था “ . आश्रमचतुष्ट-
यस्ये नित्यसन्धासी भवति तत्र प्राज्ञार्थं, यद्य पूर्वोपशान्तस्यै च प्रयोजक न ज्ञातादि” (सुबो ३।१२।४२). सन्धासनिर्णयमे “कर्ममार्गं न कर्तव्यं मुनरा कलिकालेन” यवत द्वारा जित चतुर्थाश्रमरूप सन्धासकी भवितव्यमर्णय शीघ्रके लिए अनुपादेयता, तथा सर्वनिर्णयमे—
“निदण्ड परित्युत्तमोत्तमं सर्वज्ञानविरोधि तत् . प्रतिस्तिपिय मया देहस्य” यवत द्वारा जित चतुर्थाश्रमरूप भास्वदिहित सन्धासकी प्राज्ञान्देहके लिए आवश्यकता शास्त्रसम्मत मानी गई है, वही सन्धासका प्रकार श्रीमहाप्रभुने स्वीकारा था

पुष्टिमार्गमे फलानुभूति इस भूतलपर ही उत्तम मानो गई है—“भववानेव हि फल म यथा-
विर्षयेद् भूवि” (पु प्र म.). आगे चलकर सेवाकालमे भी बणित उत्तम फल अलौकिक सामर्थ्य सर्वेन्द्रियोंसे महवानुकी रघात्मिका अनुभूति इसी भूतलपर स्वीकारी गई है. पर प्रभु जब आचार्यवरणको लोकगीतर देह-देह-त्यागकी आज्ञा प्रदान कर रहे थे, सर्वदासामर्थ्य

कर देना उचित होता है—“विरहानुभवार्थं तु परिषयाग प्रदास्यते”

बीजभावके दृढ़ होनेपर भक्तकी यह स्वनैव मन्त्रमे आने लगता है कि—गृहस्थिते-
दत्कृष्टत्व न भगवदीयत्वमात्रेण सिन्धु भगवता सह स्थिरया भगवत्परिषया वा अथवा न
स्वात्म्यम्” (गुडो २।१।२)

पुनश्च यदा यह अवधेय हो जाता है कि श्रीमहाप्रभुने समझ न तो भक्तिने बीजभावकी
दृढ़ करनेकी कोई समस्या थी और न स्वगृहमें भगवत्सेवाके अनिवार्यता ही, न तदा गृह-
स्थितिते भक्तिने बीजभावके विनाशकी ही और न विरहानुभवार्थं परिषयागकी भी क्योकी
सन्वासमें युक्तिते अधिक अव्ययता तो सम्भव नहीं, जबकि मुक्तिर्वा द्वारेण भावना स्पष्ट
अभिप्राय है कि—“स्वतन्त्रमनवानां तु योषिवादिदुःखाना सर्वैर्द्रव्यैस्तयास्त वरुणं स्वरूपेण
पान्दानुभव अतो मन्थानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्परिषदाहिनगृहाभग एव विधिष्यते”
(शास्त्रार्थप्रकरण) इसी तरह सर्वोत्तममे आपकी—“सप्तशोलेकतात्पर्यं” कहा गया होनेसे
विरहानुभवार्थं भी सन्वासमें आपका प्रवृत्त होना बहुत सर्वपूर्ण नहीं रह जाता स्वगृहमें
भगवत्सेवा-कथामय जीवनयापन उतर्माधवारणा सोचन” है तथा यह सम्भव न होनेपर भग
वद्विरहानुभवार्थं सन्वासग्रहण करना भक्तिमार्गीय मध्यमार्थिकारणां चोत्तर है

यद्यपि “शस्त्रनाशात् गृहीणीतद्वार” (ब्रह्मगुण ३।४।४७) ने भाष्यके उपसंहारमें,
“कुष्ठ दुर्लभ प्रकार का— राजा आशुकरवदाम जेत— भवन भगवतीका करते हुए भी गृहस्थाग
कर देते हैं” ऐसा उल्लस मिलता है परन्तु उस गृहस्थागके जो कारण यदा दितलामे गये
हैं, वे यो हैं—“केचन भवता भाषणादिलीलादर्थेन विना स्वात्मजायना प्रचुरभाषयित्वासाया
गृहस्थ्यकरता वन गच्छति” स्पष्ट है यह बात श्रीमहाप्रभुपर लागू नहीं होती अतएव भाष्य-
कार नहीं कहते हैं—“तैव भगवत्भजन एव तत्रापि पुष्टिमार्ग एव श्रुतेर्वर इति ज्ञायते”
अतः जिह्व भगवत्सेवाका सोभाव्य नहीं प्राप्त होता उनके लिए विरहानुभवार्थं सन्वासका
कल्प है इसका यह मुद्रुह होता है कि श्रीमहाप्रभुने सन्वासके स्वल्प एवम् प्रबोधन इत
सन्वासनिष्पन्नमे निम्नवित भक्तिमार्गीय मध्यमार्थिकारणां चोत्तर न-वासके स्वरूप एवम् प्रबो-
धन से भिन्न ही य

अतएव दामोदरदास प्रभुति वैष्णवकी स-वासमें भी आपका अनुवर्तनकी प्रार्थनाका
श्रीमहाप्रभुने अवशोकार कर दिया था, श्रीयदुनाथजीके शब्दोंमें, ‘ततो दामोदरादीना सहवा-
नाथ सन्वासग्रहणार्थं धर्मन जाता कथानार्थं मुप्याक भागवत्सन्वासीत्येव मत्कार्थिकम्
उद्धारादिदिष्टेन स्वात्मममित्युक्त्वा सन्वासनिगम आचरत ‘भागवत सन्वास से आपका
नालये ऋद्रमन्वन्धमच्छदारा व्यसनिनेदनके कारणे ही प्रतीत होता है स्वयम् श्रीमहाप्रभुने
निदण्डविधिसे सन्वासग्रहणका प्रबोधन भक्त्यदायाका पालन ही था अतः वैश्व आशाव
अभावमें तन्म प्रनुपाईकीके िए सन्वासमें आपका अनुवर्तन सयवा अनावश्यक था

नरहरि तो पहले ही सन्वास न्त्रुक् ने और एक आश्रमगत भूतान् आश्रममें एक बार
पहुचनेके बाद पुनरावर्तन सवेचा आश्रमविधि है, अतएव न-वासमें पहले नरहरिती निदण्ड-

विधिते अर्थात् शास्त्रसम्मत रीतिमें संन्यास लिपाया गया और बादमें बदरिकाश्रममें उन्हें इस संन्यासनिर्णय ग्रन्थके उपदेश द्वारा भगवद्भिरहानुभवमें दीक्षित किया गया !

संन्यासका विधान पुत्रपत्न्या विर्तीपणा और लौकिकपणा से ऊपर उठनेवालोंके लिए शास्त्रमें मिलता है, परन्तु शिष्यपणामें ये तीनों वास्तवार्थें छत्र रूपसे त्रिगुणित हो जाती हैं, पुत्र तो दोषार पैदा हो जायें तो लालसा छन्दुष्ट हो जाती है, परन्तु शिष्यपणा तो दोषार हजार चेलोंके जुट जानेपर भी सन्तोषका नाम नहीं लेती ! अतएव अपने सहज परिवारके पोषणके लिए विसर्जन अपेक्षा उतनी नहीं होती जितनी कि मठ या आश्रमों में जुटे चेलोंके पोषणके लिए होती है, एक सासारिक व्यक्ति अपने गुणोंकी कीर्तिकी लालसा से उतना प्रसन्न नहीं होता जितना कि एक आपुनिक परमहंस अपने त्यागकी कीर्तिकी लालसासे प्रसन्न होता है !

वस्तुतः विरक्तकी त्यागलक्षणा और त्यागीकी वैराग्यलक्षणा में बड़ा अंतर पड़ जाता है !

शास्त्रविद वैराग्य व्यक्तिको किसी सीमा तक ऊपर उठा सकता है परन्तु वैराग्यहीन त्याग हमें और नीचे धकेल देता है श्रीमहाप्रभुका सिद्धान्त है कि किसी वस्तुके स्वर्थ त्यागकी अपेक्षा उक्त भगवान्को समर्पित कर देना उचित बात है अतएव जब हम समर्पित नहीं कर पाते तब केवल विरक्तिके आधार पर प्राप्त वस्तुके त्यागके नशाय भगवद्भिरहानुरक्तिकी तन्मयतामें उसका त्याग किया जायें तो बात बन सकती है !

त्याग अपने-आपमें एक स्वतन्त्र मार्ग होनेकी महत्ता नहीं रखता है मार्ग तो तीन ही होते हैं, (१) कर्ममार्ग (२) ज्ञानमार्ग (३) भक्तिमार्ग कर्म ज्ञान या भक्तिके अग्ररूपण त्यागकी महत्ता अवश्य मान्य हो सकती है, किन्तु इनमें रहित वैराग्य त्याग तो मनुष्यको केवल परिचाजक ही बना पाता है—कहीं पहुँचाता नहीं !

श्रीमहाप्रभु संन्यासका निर्णय केवल वैराग्यके सम्बन्धमें देना पसन्द नहीं करते हैं कर्म ज्ञान या भक्ति में से किसी एकके साथ वैराग्यके प्रकट होनेपर संन्यास या त्याग का विचार प्रासंगिक बनता है, भागवत (११।२।०।७-८) में आता है कि—“योगारम्भो मया प्रोच्यता नृणा श्रेयो विधितस्तदा ज्ञान कर्म च भक्तिश्च नोपायोव्योक्तं कुतश्चित्, निर्विण्णना ज्ञानयोग... कर्मयोगस्तु कामिना . . . न निर्विण्णो नातिमक्तो भक्तियोगोऽथ सिद्धिदः” अर्थात् विरक्ति-प्रधान साधकके लिए ज्ञानयोग, सक्रम साधकके लिए कर्मयोग; एवम् न विरक्त और न अतिसक्रम ऐसे साधकके लिए भक्तियोग सिद्धिप्रद होता है, इन कर्म ज्ञान या भक्ति के मार्गपर जायें वदनेपर अर्थात् वैराग्यके दृढ़ होनेपर संन्यासका विचार प्रासंगिक बनता है,

इस विषयमें सुमीषिनी (१।१२।४२) में एक बिल्लूत स्वप्नोक्ति श्रीमहाप्रभुने दिया है, उसका अनुवाद देता हों :

“शास्त्रके लिए यह आवश्यक है कि वह चारों आध्यात्मिक कर्मों, प्रविष्ट हो, . . . किसी एक आध्यात्मिक स्थिर होना भी, वे ही कामना हीनेर, शास्त्रानुमत है... जो ऊर्ध्वरेतस भवन

रीतिते, तब तदनुकूल पारमहृत्य सन्ध्याम भी आपने पहूण किया। "सन्ध्यामेव देहृत्यामं करोति स परमहृतो नाम स परमहृतो नाम।" (जाबालोपनिषद्)

अतएव अन्त करणप्रबोधके— "प्रोवापि दुहित्वा यद्वक्तुं स्नेहात् प्रेष्यते वरे तथा देहे न कर्तव्य" तथा सर्वनिर्णयके— "न्यासे सर्वपरित्यागी . तादृशस्य बलाद्वापि देहृत्यागो विमुक्तित्वम्" इन दोनों वचनोकी तुलना करनी चाहिये

फलतः सन्ध्यासन्निर्णय, यह सहज सम्भव है कि, श्रीमहाप्रभुने वर्दारकाश्रमकी प्रथम यात्राके समय तदहुरि सन्ध्यासोके लिए ही बनाया हू

भक्तिवर्धनीमें यह दिखलाया गया था कि जिनका बोजभाव दुष्ट हो वे गृहत्याग करने भगवत्कृपाके श्रवण—कीर्तन द्वारा भी अपनी भक्तिको विकसित कर सकते हैं अन्वया बोज भावके दूध न होनेपर उसे दब करनेके लिए अन्नितना यथावसर भगवत्सेवा और भगवत्कृपा दोनोंकी अपनाता चाहिये, यदि वह अन्वयावृत्त होतो अन्वया व्यावृत्त होनेकी अवस्थामें अर्थात् निजगृहमें भगवत्सेवाकी शयनना न होनेपर बोजभावकी दृढताके लिए केवल भगवत्कृपाके श्रवणादिमें भी प्रेमासक्तिव्यसनकी उत्तरात्तर अवस्थाओंमें भक्ति विकसित हो सकती है

भगवत्कृपाके श्रवणादिमें जब स्नेह उत्पन्न होता है तब सात्त्विक विषयोमें अनुराग मध्य हो जाता है— भगवत्सासक्ति त्पिर होनेपर भगवत्सेवामें अनुभवयोगी गृहमें भक्तकी अरपि हो जाती है— भगवत्सेवामें उपयोग न आनेवाल पर और घरकी सारी वस्तु भक्तकी भक्तिके साथ लक्ष्मी लगती है— घीरे योगे मा जब कृष्णभक्ति स्वयन्दर्शापर पहुँच जाती है तब जीव ह्युत्तम हो जाता है एसी स्वयन्दर्शापर पहुँचनेकाले भक्ति के लिए भी भगवत्सेवामें अनुभवयोगी परम सतत निवास करना, कभी भक्तिम स्वयन्धानना हेतु बन सकता है भक्तिका विनाशक हो सकता है अन् भक्तिकी दृढताके लिए केवल कृष्णदर्शनकी तीव्र व्यासङ्गामें ही गृहत्याग कर पाते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट परा मुद्द भक्तिका लाभ होता है (भक्तिसिद्धि)

इसके बाद भक्तिवर्धनीमें जो इस प्रकारका त्याग नहीं कर पाते उनमें कर्तव्य दिखलाये गये हैं, परन्तु जो त्याग करनेमें समर्थ हो उन्हें यह त्याग कैसे किस अवस्थाम, किस भावनाके साथ और किस सततकी प्राप्तिके लिए करना चाहिये इत्यादि विषयोका निरूपण नहीं हो पाया जिनसे दबगृहमें भगवत्सेवा न निभती हो और जो गृहत्यागके लिए भी अपने-अपनी समर्थ न पाते हो उन्हें यह मुझाया गया था कि ऊहे ऐसे भगवत्सेवामें सयोग बलना चाहिये कि जो सेवा रूपा परमपण जीवनयापन करत हा वे यदि छूट देता उनके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें सहयोगी-परिवारक भी बनना चाहिये अन्वया कयसे कम उनके द्वारा की जाती भगवत्कृपामें आताके रूपमें ती सम्मिलित होना ही चाहिये इसी सम्दर्भमें भगवत्कृपाके लिए आवश्यक योग्य वक्तु एवम् श्रीना का स्वरूप भी नमें जलभद और पञ्चवर्षानि में समझाया गया था अत अवशिष्ट गृहत्यागका विचार आवश्यक था ही, जिते इस सम्भास-निर्णय ग्रन्थ द्वारा पूण किया जा रहा है

सर्वनिर्णय निबंधमें कारिका १९१ में कारिका २१४ तक सन्यास त्याग भक्ति आदि अनेक विषयोका निरूपण किया गया है, पर वह मुख्यतया पुष्टिमार्गीयोंके लिए नहीं, अपितु सभी देवी जीवोंको लक्ष्यमें रखकर किया गया उपदेश है. अतएव कारिका १९६ से— “भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति. न सोच्यते” बचन उपलब्ध होता है. अतएव यहा, संन्यासग्रहणके शास्त्रीय प्रकारपर बहुत भार दिया गया है— “त्रिदण्डं परिपूज्यते सर्व-शास्त्राविरोधि तत्” जबकि यहा सन्यासनिर्णयमें सामान्य रूपसे “वेशः सोपि न चान्यथा” कहनेमें बहु भार दिसलाई नहीं देता. नयोंकि देवी जीवोंके लिये आवश्यक सन्यासके सामान्य प्रकारसे भिन्न एक विशिष्ट प्रकारके संन्यासकी आज्ञा यहा श्रीमहाप्रभु दे रहे है.

सर्वनिर्णयान्तर्गत संन्याससम्बन्धी विचारके आरम्भमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करने हैं कि ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ अथवा सन्यास में से किसी भी एक आश्रममें नैष्ठिक होकर रहा जा सकता है, अथवा क्रमशः उत्तरोत्तर आश्रमोंमें प्रवेश किया जा सकता है, अथवा आयु-धर्मके चार समान भाग करके एक-एक भागका यापन एक-एक आश्रममें किया जा सकता है. सर्वत्र फल तुल्य ही होता है क्योंकि शास्त्रोंमें सभी आश्रमोंकी प्रशंसा मिलती है एही विधितिमें सन्नन्तरत्रम और आयु-क्रम वाले कल्पमें सन्यास एक शास्त्रीय आवश्यकता प्रतीत होती है

जबकि षोडशप्रश्नान्तर्गत संन्यासनिर्णयमें, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग या अदृढ बीजभावकी अवस्थामें भक्तिमार्ग में भी श्रीमहाप्रभु सन्यासकी अनुमोदनीय नहीं मानते

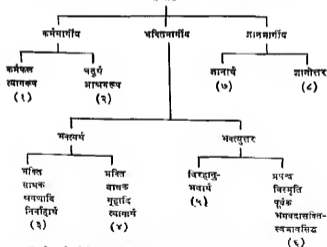
इन दोनों दृष्टिकोणोंको एकवचनयता इस तरह घटित हो जाती है कि पुष्टिमार्गीयितर देवी जीवोंके लिए आश्रमक्रम अथवा आयु क्रम कलामें, अनुशीलनरूप संन्यास षण्मासप्रथमके रूपमें शान्तिविहित होनेके कारण, ज्ञानमार्गीय साधक एवम् मर्षाशान्तिमार्गीय साधक के लिए अनुपेक्ष्य ही हैं, भगवत्साक्षात्कार के न होने पर्यन्त. भगवत्साक्षात्कार होनेके बाद उत्तरी तन्मयतामें आश्रममयमौला त्याग निन्दनीय नहीं रह जाता यह नियम किन्तु पुष्टि-मार्गमें अनिवार्य नहीं है— “अन्तःकरणं सस्कारविशेषापायाकञ्च च प्रतीयते सन्यासस्य. स च सस्कारः फलोपकार्यगमित्यावश्यकः सन्यासो मर्षादिमार्गं. पुष्टिमार्गं स्वयैव व्यवस्था- 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्राय श्रेयो भवेदिह' इति वाच्यम्” (अणु ३।४।१७).”

अन. पुष्टिमार्गीय साधक यदि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें भगवत्सेवाको निमा पाता है तो गृहत्याग या संन्यास अनावश्यक है—“एवामे वाङ् मनतोरेव भगवति विनियोगो न सर्वेन्द्रियाणाम् गृह्णितस्तु सर्वं प्रकारैर्मननं भवति इति परिजनञ्च कृतार्थं भवतीति मज्जे क्लसत्ता” (अणु ३।४।२७). अन्वया स्वगृहमें भगवत्सेवा न निमनेपर अर्थात् किसी पुष्टिभक्तके व्यावृत्त होनेपर सर्वप्रथम उसे स्वबन्धुश्रीमोचित धर्मोक्त पालन करते हुए भगवत्कथाने श्रवण-मनन-नीर्जन द्वारा भक्तिके बीजभावको दृढ बनाना चाहिये. बीजभावके दृढ होनेपर अपने घरमें भगवत्स्वरूपके सेवा-दर्शन-स्पर्शन आदिके संयोगसुलभके न मिलनेके कारण तथा पारिवारिक शस्तोम भगवद्विप्रयोगजन्य दुःखानुभूतिमें भी अकथानोको देखते हुए गृहत्याग

होते हैं वे चाहें तो वैधिक ब्रह्मचर्य आश्रममें स्थिर हो सकते हैं, सर्वथा वैराग्यरहित अर्थात् उत्कट कामनावालेके लिए गार्हस्थ्य ही ठीक रहता है, उन्हे वेदोके यथाशक्ति अध्ययन करने के बाद, शास्त्रीय विधिके अनुसार विवाह करके, यावद्जीवन अग्निहोत्रादि कर्मोंके अनुष्ठानमें तत्पर होना चाहिये . अतएव आश्रमकारने सभी आश्रमोंको तुल्य माना है, किसी भी आश्रमके कर्तव्योंका यथावत् पालन करनेपर सिद्धि मिलती है, कही-कही एक-आश्रमकी प्रशंसा करनेके लिए अन्य आश्रमोंकी निन्दा भी दिसलाई देसी है, पर वास्तविक तात्पर्य उसका किसी आश्रम-विशेषकी प्रशंसाके रूपमें ही लेना चाहिये अन्यथा श्रुतिवचनोंमें परस्पर विरोधाभास होने लगेगा, जबकि ब्राह्मणोंका यह कर्तव्य है कि किसी भी श्रुति-वचनको अप्रामाणिक न माने.”

कर्म ज्ञान और भक्तिके तीन प्रमुख भेद और तदन्तर्गत अन्य भी उपभेदोंकी दृष्टिगत रहनेपर इस प्रस्तुत सन्यासनिर्णय ग्रन्थमें कुल आठ प्रकारके सन्यासोंके बारेमें हमें निर्णय मिलना है जोपदोक्तके लिए उन्हें इस वर्गीकृतिका द्वारा समझा जा सकता है .

सन्यास



आत्मोद्धारके तीनों ही मार्गोंमें सात्त्विक अहंता भगवत्को बाधक माना गया है सात्त्विक अहंता-भगवत्तासे ऊपर उठनेके सन्ने उपाय वैराग्यरहित कर्म गान अथवा भक्ति ही

हो सकते हैं, पर केवल त्याग या संन्यास नहीं। फिरभी ग्राम्यक उत्साहवश बहुधा लोग स्वमार्गमें पूर्ण निष्ठा तथा वैराग्य के अभावमें ही त्याग या संन्यास की उतावल कर बैठते हैं और स्वमार्ग तथा सम्मार्ग से भटक जाते हैं।

पुष्टिमार्गीय जीव भी यदा-कदा ऐसे मिथ्याचारवाले त्याग या संन्यास के फेरमें पड़ सकते हैं। विशेषतः स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभा पायेवाले दृढ़ बीजभाववाले भक्तोंके लिये श्रीमहाप्रभुने भी गृहत्यागका जो उपदेश भक्तिवर्धनीयमें दिया है, उसका तात्पर्य भलीभाँति न समझ पायेके कारण, पुष्टिमार्गीय विवेकके बिना उतावलमें कोई त्याग या संन्यास की गलती कर सकता है। ऐसोंके पल्ले पछलायेके अलवा और कुछ नहीं पड़ता।

अपने पुष्टिमार्गीय जीव ऐसे मिथ्याचारके फेरमें पड़ कर अपने पुष्टिमार्गीय फलमें भी वञ्चित न रह जायें— सारे जीवनको ही एक महापापघटका नाटक न बना लें एतदर्थ श्रीमहाप्रभु त्याग संन्यास सम्बन्धी अपने विचारोंको स्पष्ट करते हैं। शार्ङ्ग त्याग या संन्यास के पत्ररूपमें फलनेवाले सम्भावित परवातापमें बच पायें, और जो गरहुरि संन्यासीकी तरह संन्यास के ही चुके हो उन्हें पुनः भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेकी दिसा सूझ पायें— परनात्तापसे बचकर !

(१) कर्मफल-त्यागरूप कर्ममार्गीय संन्यास

तत्तद् वर्णं वा आश्रम आदिकीं दृष्टिते जो कर्म नियत होते हैं उनका परिवर्तन उचित नहीं होता। (दु. गीता ३/८) सर्वनिर्भयने प्रारम्भमें यह बहू दिया गया है कि केवल नित्य-कर्मका फल आत्ममुक्तरूप होगा है तथा उसके त्याग करनेपर प्रायःप्राय-भयप्राय लगता है। यही नित्यकर्म ब्रह्मविद्याके सहित ही तो ब्रह्मानन्दवा दात भी करता है— “मगवदानन्दरूप फल ब्रह्मज्ञानदुक्तरूप यथात्मकर्मकुरीत” (सर्वग ४) हर गुरतमें यथाशक्तायासदि प्राय-विहित विद्य कर्ममार्गीय त्याग देहागमानके बने रहनेतक प्राप्तनुमोदित नहीं है (मायद् देहाभिमान. तावद् नर्थाश्रममर्म एव स्वधर्म. सुयो ३।२८।२)।

नित्यकर्म कर्मानुष्ठान करनेवाला भी ब्रह्मसत्त्व ही लगता है, ऐसा धोशंकराचार्य नहीं मानते—“यश्चाद् य एव ब्रह्मसत्त्व स्वाश्रमविहितकर्मयोगे सोऽमृतत्वमेति न. कर्मनिमित्तविद्या-प्रत्ययीन्द्रियोपान्” (छा भा २।२३।१)। किन्तु गीता (३।५-८) के अनुसार श्रीमहाप्रभुके मतमें नियत कर्मका त्याग उचित नहीं होता अतः ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य वा वानप्रस्थ में से किसी भी एक आश्रममें नैष्ठिक द्रव्य धारण कर स्वाश्रमोचित वर्तव्योक्त जो निष्काम अनुष्ठान करता है उसे आत्ममुखरूप कर्ममार्गीय मोक्षकी प्राप्ति होती है (दु. गीता २।५०-५१) यदि ब्रह्मविद्याके साथ कोई निष्काम कर्मानुष्ठान करता है तो सावमार्गीयब्रह्मानन्दकी प्राप्ति भी सम्भव है (दु. गीता ४।२४) मगवद्भक्तिने साथ निष्काम कर्मानुष्ठान करनेवालोंको भक्तानन्दकी प्राप्ति भी सम्भव है (गीता ९।३४)।

बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२२) में— “तपेत् वेदानुपपन्नेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यतो दानेन त्प्राप्ताज्जायतेन एतमेव विदित्वा मुनि. भवति” यह कर ब्रह्मचर्य, नैष्ठिक

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ आश्रमके कर्तव्योंके निष्काम अनुष्ठानको भी चित्तकी ब्रह्मज्ञानोपयोगी बुद्धिमें- विविधियामें साफल माना गया है।

वेदानुवचन यज्ञ और दान का आश्रमधर्म होना छान्दोग्य (२।२३।१) में- "यस्यो धर्मस्कन्धा. यज्ञोपवचन दानमिति. प्रथमस्तप एव. द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी. तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसाद्यन्. सर्वे एते पुण्यलोकं भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति." बचनते एकनामयता करकेपर स्पष्ट होता है. 'वेदानुवचन' और 'अध्ययन' समानार्थी हैं. 'यज्ञ' और 'दान' तो बृहदारण्यक एवम् छान्दोग्य दोनोंमें समानरूपमें मिलते ही हैं छान्दोग्यमें इन अध्ययन दान और यज्ञ के ब्रह्मविद्यारहित अनुष्ठानका फल पुण्यलोककी प्राप्ति माना गया है, तथा ब्रह्मविद्यारहित अनुष्ठानका फल "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" कह कर ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति द्वारा मोक्ष भी माना ही है. 'अनात्म्यकूलवासी' यज्ञ द्वारा इन कर्तव्योंकी आश्रमधर्मता भी स्पष्ट की गयी है.

गीता (१२।४।७) में भी भगवान्ने अतएव दान कर्मोंके त्यागकी अनुचित माना है- "निरवयुश्च शून्य मे तत्र त्यागे . यज्ञदानतप कर्म न त्याज्य कार्यमेव तनु, यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनोविद्या, एतान्यपि तु कर्मणि सर्वं स्वकथा कलानि च कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तम, नियतस्य च संन्यास कर्मणो नोपपद्यते मोहात्तस्य परिव्राग" तामस परि-कीर्त्यते". कर्मसंन्यास और कर्मयोग में कर्मयोगकी उत्तमता दिलानेके लिए वर्णमागका भी ब्रह्मसंस्थ होकर अनुष्ठान- "ब्रह्मण्यापाय कर्मणि सद्य स्वकथा करोति य लिप्यते न स पापेन पशुपक्षिचाम्प्रसा". (गीता ५।१०) भगवान्ने सम्भव माना ही है

कर्ममार्गमें अतएव काम्यकर्म अथवा कर्मकलाया का त्याग तो उचित माना है किन्तु नियत कर्मोंके त्यागकी उचित नहीं माना गया है. "अनाश्रित कर्मफल कार्यं कर्म करोति य स नृप्यासी च योगी च न निरर्निर्ग पात्रिय" (गीता १।१) आदि अनेक बचनोंसे काम्य-कर्म तथा कर्मकलाया के त्यागकी अन्वय संन्यास माना गया है, नियत कर्मोंके त्यागकी नहीं

सर्वनिर्णय (कारिका २४६ के प्रकाश) में श्रीपद्मप्रभुने कहा है- "गृहस्थस्वैतन्मुषसम्. एव कुर्वन् सगुह्यम्भी भगवत्सामुज्यमश्नुते. ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि शेषकसाधनसम्पत्ती एत-कर्तव्यम्" इससे सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गमें भी वेहाभिमानको बने रहने तक नियत कर्मोंके त्याग किये बिना शक्तिमार्गीय कर्तव्योंका पालन आवश्यक होता है चतुर्थाश्रममें गृहत्याग विहित होनेसे स्वगृहमें भगवत्सेवाके निवांहुका प्रयत्न ही उपस्थित नहीं होता अत उत्तमं कृष्णदर्शनसाक्षात्कारके साथ निरन्तर तीर्थयात्राका उपदेश दिया गया है, यही सर्व-निर्णयमें.

अत पुष्टिमार्गीय जीवके लिए कर्ममार्गीय दुष्टिकोपते यात्र-वेहाभिमान स्ववर्णाश्रम-धर्मका त्याग उचित नहीं है, तथा साधनरक्षामें भी गृहत्याग उचित फलव्य नहीं रह जाता है- "कर्ममार्गे न कर्तव्य" वास्तवनिश्चय रक्षाधनधर्मोंके अनुष्ठानमें वास्तवकर्म तथा कर्मकलाया

तो स्वायम्भू है ही "वर्णाश्रमवता धर्म एव आचारलक्षण म एव मद्भक्तिपुत्रो नि श्रयसकर पर (भाग. ११।१८।४७)।

(२) चतुर्थाश्रमरूप कर्ममार्गोऽयं स्वायम्भू

जैसे नैष्ठिक प्रवृत्त साथ ब्रह्मचर्य गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रमोंका विधान है, वैसे ही क्रमशः चतुर्थाश्रममें प्रवेश करनेका भी विधान मिलता ही है यथा पूर्वोदाहृत गृहवारण्यकके वचनमें ही यह आता है कि "एतमेव प्रराजिगो लोवमिच्छन्तः प्रयजन्ति.. पुत्रैषणायाश्च विस्तिषणायाश्च लोकेषणायाश्च स्मृत्यायाश्च भिक्षाचर्ये चरन्ति नैनं कृताकृते तपतः ' अर्थात् वेदाध्ययन दान यज्ञ तप रूप कर्मवाले ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमोंके द्वारा ब्राह्मण जिस ब्रह्मके ज्ञानकी प्राप्ति करना चाहते हैं, संन्यास-आश्रम द्वारा भी उसी ब्रह्मकी प्राप्ति चाही जाती है पुत्र धन या लोकके बारेमें मभी तरहकी कामनाओंकी छोड़कर जो भिक्षाचर्या करते हैं.. उन्हें कृताकृत कर्मोंके फल भुगतनेका सताप नहीं होता।

जाबालोपनिषद्में भी— "ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रज्जेद्" यो क्रमशः एव आश्रमके अनन्तर दूसरे आश्रममें प्रवेश करनेका क्रमपक्ष दिखलाया ही गया है

मनुस्मृति (६।८६-८७) के भी— "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो गतिस्त्वया चत्वारः पृथगाश्रमाः सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रनिषिद्धा यथोक्तव्यतिरिक्तं विप्र नयन्ति परमा गतिम्" वचनमें क्रमपक्षका उल्लेख मिलता है

भागवत (११।१८।११-२७) में वानप्रस्थकी रीति समझाकर चतुर्थाश्रमरूप संन्यास-धर्मका निरूपण भी किया गया है इसके अन्तर्गत त्रिदण्ड-संन्यासकी रीति भी समझायी गयी है "यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरवात्मसु विरागो जायते सम्यग् न्यस्ताग्निं प्रज्जेततः ' आदि वचनो द्वारा

इससे निश्च होता है कि चतुर्थाश्रमरूप संन्यासग्रहण भी एक निश्च कर्तव्यता है जो "तृतीयेऽश्वस्तमारुगानमाचार्यं कुलेऽज्जतादयन्" वचनके अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत धारण नहीं कर लेते, अथवा "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" वचनके अनुसार नैष्ठिक-गार्हस्थ्यका व्रत धारण नहीं कर लेते, अथवा 'अरण्यमिमात् ततो न पुनरेयात्' वचन के अनुसार नैष्ठिक वानप्रस्थका व्रत धारण नहीं कर लेते, उन्हें क्रमपक्षके अनुसार तीन आश्रमोंके बाद चतुर्थ संन्यासाश्रममें भी प्रवेश अवश्य करना चाहिये

इसका अपवाद भी यद्यपि जाबालोपनिषद्में दिखलाया जाता है— "यदि वैतरया ब्रह्म-चर्यादिषु प्रज्जेद् गृहाद्वा पनाद्वा अथ पुनरयती वा वती वा, स्नातकी वाग्जनातकी वा, उत्सप्राग्निरनग्निकी वा यदहरेव विरज्जेत् तदहरेव प्रज्जेत् " किन्तु यह प्रकार सर्वसाधारण नहीं है किन्तु अतिविरक्त ब्रह्मज्ञानियोंके लिए ही है— "एष पन्था ब्रह्मणा हानुवितस्तेनैति संन्यासी ब्रह्मविद् इति एवमेव एष" (वही) साथ ही साथ यह नहीं भूलना चाहिये ब्रह्मज्ञानी भी इस प्रकारका संन्यास प्रतिवैरानवक प्रकट होनेपर ही कर सकते हैं, अन्यथा

नहीं। अतः इस बचनमें प्रवचन्यापर विधिभार नहीं है अपितु वैराग्यकी अनिवार्यतापर विधिभार है— “यदहरेत् विरजेत् तदहरेत् प्रव्रजेत्” अन्वया वैराग्यके अभावमें सन्यास नहीं लेना चाहिये इसका वर्णन भागे चलकर ‘ज्ञानोत्तर सन्यास’ के रूपमें किया जायेगा

चतुर्थांशमरूप त्रिदण्डधारणात्मक वैध सन्यास पूर्वोदाहृत अनुमाव्य (३।४।१७) के “सच संस्कारः फलोपकारार्थगित्यावश्यकः संन्यासो मर्यादामार्गैः पुष्टिमार्गैः तु भ्रवैव व्यवस्था” बचनके अनुसार मर्यादामार्गीर साधकोंके लिए आवश्यक है ही।

भागवत (१।१।२१।३१-३४) के—“तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद्विद्, यत्कर्मैर्भिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्, योगेन वानपमोषं श्रेयोभिरित्तरैरपि, तत्रैव मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽऽजसा, स्वर्गोपनिर्गमद्वयम कश्चिद् वरि वाञ्छति न किञ्चित्साधयो धीरा भक्ता ह्येकगन्तिनी मम, वाञ्छत्यपि मया दत्तं कंठ्यमपुनर्भवम्” इत बचनमें मोक्षकी भी स्पृहा न रखनेवाले भक्तोंके लिए ज्ञान-वैराग्य-तप-दान-धर्म आदिकी अपेक्षा रक्त नहीं जाती है अतः ऐसे पुष्टिजीवोंके लिए चतुर्थांशमरूप सन्यास भी अनावश्यक हो जाता है

इसके विपरीत ज्ञान वैराग्यके बिना चतुर्थांशमरूप त्रिदण्ड सन्यास लेकर जीनेवालीकी भागवतमें निन्दा की गयी है— ‘यस्त्वनसपतपद्भ्यो प्रचण्डेन्द्रियसारवि ज्ञानवैराग्यरहित विदग्धनुपश्रीवति, सुरानात्मानमात्मस्य निन्दते मा च धर्महा, अविनयकथायोस्माद्मुष्काच विहीयते’ अतः चतुर्थांशमरूप त्रिदण्डधारणात्मक कर्ममार्गीर सन्यास गर्वदा शास्त्रमिद्ध एवम् शूद्र भी होनेपर कलियुगमें बहोत अनुमोदनीय नहीं है

पद्मपुराणमें आता ही है कि कलियुगमें भक्ति तपकी तथा उसके दोनों पुत्र ज्ञान और वैराग्य जराजर्जरित हो गये है— “अहं भक्तिरिति क्वासा इमी मे तपस्वी मतो ज्ञानवैराग्य-नामानो कालाघातेन जर्जरी” अतः जीर्ण ज्ञान और जीर्ण वैराग्य वाले साधकोंमें त्रिदण्ड सन्यासके नियम निम पाये कठिन है

श्रीमद्भागवत अरण्य निवेध करने है—“सुतरा कलिकावतः” कलियुगके दुष्प्रभावके कारण ज्ञानवैराग्यरहित अधिकारियोंके लिए चतुर्थांशमरूप कर्ममार्गीर सन्यास वैध होनेपर भी असाध्य न नहीं पर दुःसाध्य तो है ही अतः सुतरा पुष्टिजीवोंके लिए भी अनुमोदनीय नहीं है.

(३) भक्तिसाधक श्रवणादिके निर्वाह द्वारा चर्चितकी प्राप्तिके लिए सन्यास

भागवत (१।१।२०।९) के—“तावत्कर्मणि कुर्वीत न निर्विघ्नैत यावता मत्कथाश्रवणादो वा श्रद्धा दातव्यं जायते” बचनके प्रवचनार्थलोकनमें ऐसा लक्ष्यता है कि भगवत्कथा—श्रवणके लिए यहाँ सन्यासका विधान किया गया है वास्तविकता पर यह है कि इस बचनका मुख्य शास्त्रम वैराग्योदय मा कथाश्रद्धोदय के बाद कर्मल्यागके विधानमें नहीं अपितु वैराग्योदय मा श्रद्धोदय पूर्वन्त कर्मल्याग न करनेमें है

प्रत. स्नेहात्मिका भक्तिके साधक श्रवण-कीर्तन-स्मरण-यादतेवन-अर्चन-वन्दन-दास्य-सक्य-आरामनिषेदनरूप नौ अंगोंके निर्विघ्न अनुष्ठानके लिए सन्यास लेनेमें पाप विप्र-तिपत्तिया हैं :

(१) क्योंकि सन्यासधर्मके अनुसार व्यक्तिकी निरपेक्ष और एकाकी विचरण करना चाहिये—“एक चरेन्महीमेता नि संमः संघतेन्द्रिय.” (भा ११।१८।२०). जबकि भक्तिके नवविषय अथवा श्रवणादिके अनुष्ठानके लिए किसी भक्तिमान् सहयोगीके सत्संगकी अपेक्षा रहती है

(२) क्योंकि श्रवणके लिए शक्ता, कीर्तन स्मरणके लिए शम्भु-तुलसीमाला-गोमुती, और यादतेवन-अर्चन आदिके लिए भगवद्बिष्णु, अर्चना सामग्री पुष्प नैवेद्यादि या अर्चनापात्र आदि अनेक साधनोंकी रक्षा करनेमें भक्तिके व्यय होनेकी सम्भावना रहती है. यह संन्यासके अपरिग्रहके नियमके विपरीत है—“विभूयाश्चेन्मुनिर्वाय कौपीनाच्छादनं पर त्यक्त न दण्ड-यात्राभ्यामन्यास्किञ्चिदनापवि (भा ११।१८।१५)

(३) क्योंकि सन्यासके कारण स्वयम्के उच्छेद आश्रममें अवस्थित होनेका अभिमान जगदा है— सभी सन्यासी 'स्वामिजी' बन जाते हैं ! जबकि भक्तिमें दैव्य अपेक्षित होता है 'दास' बनने का. श्रवणमें तत्त्वनिर्धारणके लिए कभी वादचर्चा उपयोगी हो सकती है परन्तु गन्यासमें यह वर्जित है—“वेदवादरतो न स्यात्” (भाष ११।१२।३०) सन्यासमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच अनेकवृद्धिका अभिमान—‘सोहम्’ जगाना पड़ता है जबकि भक्ति 'दासोहम्' की भेदबुद्धिमें पड़ित होती है भक्तिके प्रारम्भमें भगवान्के स्वामी होनेका और स्वयम्के सेवक होनेका अभिमान अधिक उपयोगी होता है

(४) क्योंकि भक्तिके श्रवणादि अंगोंकी पुन पुन आवृत्ति विहित है—“तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वर श्रोतव्य कीर्तितव्यश्च स्मरन्त्यश्चेच्छातामयम्” (भाष. २।१।५) इसकी सुबोधिनीमें कहा गया है कि “विहिते श्रवणकीर्तने सदा भवत त्रयाणा देहपालपर्यन्तमावृत्तानामेवाभयसाधकत्वम्. उत्तरावधिषेड्घात एव. पूर्वार्धधि संतारभयज्ञानम्”. यह किसी भक्तके समीप रुके बिना सम्भव नहीं है. सन्यासके लिए जबकि निरन्तर एकाकी परिभ्रमण श्रेष्ठ माना गया है—“बाते लहना कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि एकएव चरेद् भिक्षुः (भा ११।१।१०)

(५) क्योंकि अक्षय्यमृत श्रवणादि नवविषय धर्मोंका अन्तिम प्रयोजन भगवत्सेवायें योग्यता सम्पादन करना है और गन्यासधर्म साधकको सिद्धांतात्मित सेवाके स्वरूपके अयोग्य बना देते हैं.

अन. चतुर्धाश्रयस्व सन्यास या स्वतन्त्र सन्यास, वैध या अवैध, किसी भी प्रकारका सन्यास भक्तिसाधक श्रवणादिके निर्वाहमें अनुमीदनीय नहीं रह जाता है

(४) भक्तिवाचक गृहाधिके त्यागद्वारा भक्तिकी प्राप्तिके लिए सत्यास

भक्तिवधिनीमे कहा गया था कि "गृहास्त्वाना वागवदवदनामत्य च भासते" अतः जब गृहस्थित सकल सम्बन्धजन और पदार्थ भक्तिके वाचक होते हैं तो उनका परित्याग करना ही चाहिये। कलत भक्तिकी निर्विघ्न अभिवृद्धि ही चाहेगी। परन्तु भक्तिके बीज भावके दृढ़ न होनेकी स्थितिमे दृग तरहके गार्हस्थ्यभीतोका त्याग अन्तमे निरे पापघ्नमे ही कभी न कभी पर्यवसित होता है। भक्तिवधिनीमे भी अत्रएव कहा गया है कि त्यागमे दुःख और अप्रदोष के कारण अधिक अध-पातके भयम्पान है। वही बात यज्ञ भी तीन तरहकी विप्रतिपत्तियो द्वारा समझायी जा रही है

(१) क्योंकि त्याग करने के बाद भी भिष्ठाटन के लिए पुन गृहस्थोंके द्वारपर जाना पड़ता है ये गृहस्थ-दाता सत्यास लेनेवालेने परिवारमे कोई अल्प र्गके नहीं होते। इनके घरका अध भगवान्की निवेदित क्रिया दृभा ही यह जल्दी नहीं। अतः ऐसे अप्रमे मणि भूष्ट हो सकती है

(२) क्योंकि ऋत्विगके प्रभावके कारण मन कुछ माहुरमे छोड़ देनेपर भी वह गृहज सम्मत् है कि आन्तरिक वाग्विन या वातना न दूटे और व्यक्ति स्वागीके वजाय पापघ्नी बन जाये

(३) क्योंकि इन तरह त्यागका पापघ्न करनेवाले विषयागत स्वयिके देहमे कभी हरिका भावेश सम्भव ही नहीं

अतः पुष्टिमार्गीयोको इस तरहकी अद्भुत बीजमाववाली भक्तिकी साधनासम्प्राप्ते आश्रम-रूप या स्वतन्त्र, वैध या अर्ध, निही भी प्रकारका त्याग या म-पास नहीं करना चाहिये, यदि भक्तिसुख लेनेकी कामना ही हो

(५) भगवद्-विरहानुभाषार्थे भक्त्युत्तर सत्यास

भक्तिवधिनीमे भक्तिकी व्यसंगपक्षा पर्यन्त विकास दिललाया गया है उसके सिद्ध होने-पर, स्वगृहमे निरवधेन भगवदनेपाके न निमनेपर, और तीव्र विप्रयोगकी अनुभूतिमे घरद्वारकी झगडोके कारण विघ्नकी सम्भावना दिखलायी देती हो, तब गृहत्यागकी छूट दी जा सकती है यह सत्यास बीजभावकी दृढताके बाद किया गया होनेसे कभी भी भक्तिको पथभूट नहीं करता

भागवत (११।१८।२८-३६) मे—“ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वाग्वेदकः तस्मिन्नाश्रमास्त्यक्त्वा चरेद्विधियोचर ...श्रीपमाचयन स्नान न तु चोदयवा चरेत् अन्माश्रम निवमान् ज्ञानी यथाह कोलकेश्वरः” यज्ञ चतुर्थाधमस्य सत्यासने निम्न एक परित्यागकी भासा स्पष्ट दिखलायी देती है.

इसी मन्त्रके बादही अध्यायमे भगवान्ने समझाया है—“केवलेन हि भावेन गोप्यो मायो जगता मृगा देवैः मूढधियो माया सिद्धा मायीपुरञ्जसा, ये न योगेन सास्त्रेण दानप्रत-तपोध्वरैः श्वासमाहवापसत्यासैः प्राप्नुवाद् यत्नश्चानपि रायेण सार्धं मधुरा प्रणीते ववाक-

लिकना मय्यनुरक्तचित्ता विद्यादभावेन न मे विद्योगतीप्राधमेन्य ददृशु मुषाय . ताना-
 विदन्मय्यनुपहृदधियस्वमात्मानमदस्तवेद, मया समाप्तो मुनयोऽधितोये नच प्रविष्टा इव
 नामरूपे तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदना प्रतिचोदना प्रवृत्त च निवृत्त च श्रोतव्य श्रुतमेव च,
 मामेकमेव शरणमात्मान सर्वदेहिना याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयम्' यहा प्रवृत्ति-
 धर्मकी तरह निवृत्तिधर्मके भी त्यागका विधान किया गया है भक्तिकी व्यसनदशामें प्रवृत्त
 होने विद्यादभाव या सर्वात्मभाव के द्वारा चित्तकी निरन्तर भगवदेकतान बनाये रखने और
 उसमें तीव्र विद्योगजन्य तापको सहायक माननेकी इस भगवदनुरक्तिप्रधान वैराग्यमूलक
 सन्यासकी रीतिका ही—'मद्भक्तो . सत्सिगानाश्रमान्स्वत्वा अरेद' में विधान किया
 गया है.

गीता (१२।६-८)में इसी सन्यासका निरूपण है—'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य
 मत्परा अन्यनैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते तेषामह समुद्धर्ता मृत्युतसारसागरात् भवानि न
 चिरात्पार्यं मत्पावेदितचेतसा, मय्येव मन आपत्स्व मयि बृद्धि निवेनाय, निवर्तिष्यसि मय्येव
 अत अर्घ्यं न त्प्राप्य "

वैश
 इस प्रकारके परित्याग करते समय यदि परिवारके लोकोका मोह अपने बारेमें दृढ़ता न
 हो तो सन्यासीका वैश धारण कर लेना चाहिये अर्थात् वह अनिवार्य नहीं है

गुरु
 परित्यागके इस प्रकारमें प्रबोध्यार आदिके लिए किसी गुरुकी अपेक्षा नहीं है पूर्वो-
 दाहृत उद्धवोपदेशमें भगवान्ने गोपिकाओंके भगवदनुरागमूलक वैराग्यके वर्णनद्वारा जैसे
 उद्धवकी भक्तिमार्गीय सन्यासकी प्रेरणा दी, तदनुसार इस प्रकारके सन्यासमें गुरु प्रकृती
 गोपिकाओंकी ही मानना चाहिये कौण्डिन्य ऋषिके चरित (मधिव्योत्तर) में भी इस
 प्रकारके परित्यागका उदाहरण मिलता है अतः वे भी गुरुतुल्य है

साधन
 पूर्वोदाहृत उद्धवोपदेशमें जैसे भगवान्ने गोपिकाओंके सर्वपरित्यागके कारणभूत केवल
 भावकी प्रशंसा की है, तदनुसार इस विरहानुभावय सन्यासमें केवलभाव ही साधन है

भावोद्बोधनका उपाय
 भगवान्के मधुरा पचारनेपर जैसे गोपिकाओंको तीव्र विरहानुभूतिके कारण चित्तकी
 निरन्तर भगवदेकतानता सिद्ध हो गयी थी, उसी तरह अपने घरके वज्रम जब हमें भग-
 वत्सेवाका सुख न मिल पाता हो, तब भगवान्के मधुरावचनकी भावना करना चाहिये इस
 भावनाके कारण मनके हृदयमें गोपिकाओंकी तरह तीव्र विरहवेदना प्रकट होने लगेगी
 और एकदिन अकस्मात् मन इतना विकल हो जायेगा कि मन घरके बाहर निकल पड़ेगा
 अपने भगवान्को खोजने ।

यह त्याग प्रपञ्चके दोषदोषनमूलक केवल युक्त वेदावधे प्रेरित न होकर प्रभुके दिव्य मधुर गुणोने प्रति पनपे सरस अनुसंगते प्रेरित होता है. अतः परित्यागका यह प्रकार भक्तिमार्गमें प्रशस्तनीय है.

त्यागके इस प्रकारको कोई अनुचित न मान बैठे इसीलिए भगवान्ने—“बरेदु अवधि-वोचर” कहकर उक्तमाधिकाश्रितियोंके लिए इस प्रकारके त्यागकी अनुज्ञा तथा मध्यमाधिकाश्रितियोंके लिए आज्ञा दे दी है. अतएव यथाधिकार ‘बरेद’ के ‘अनुज्ञा’ और ‘आज्ञा’ दोनों ही अर्थ स्वीकारनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है. “सूर्य मस्त हो रहा है” जंगे एक ही वाक्यके दो तात्पर्य : द्राह्मणके सायसङ्घ्यायं उद्यत होनेके रूपमें; और गृहिणीके सार्वकालके खाना पकानेको उद्यत होनेके रूपमें, अधिकाश्रित्येदोसे ले सकते हैं.

गोपालतापिनी उपनिषद्में—“भक्तिरस्य भजनं तद्विहानुभोपाधिनेरावधेनीय ममुष्मिन् मन कल्पनम् एतदेव य नैष्कर्म्यम्” कह कर इसी भक्तिमार्गीय सत्यासका हृद्य ‘नैष्कर्म्य’ पदसे द्योतित किया गया है

परिणाम

इस विरहानुभवार्थ परिश्रमका परिणाम किन्तु अष्टा नहीं होता ! वार्ताप्रसंगमें इसके बरदेमें एक मजेदार प्रश्न और उत्तर मिलते हैं .

प्रश्न “तुम्हारे सेवक ऐसे दुबले क्यों ?”

उत्तर “बरेजे होते पर भारतमें जायें ताको फल पाय रहे हैं !”

विरहानुभवार्थ जो परिश्रम किया जाता है उसमें तदनुकूप भावनाओंको करनेपर एक दिन विरहदेवताको ठोस मनमें उठी, अपना भावनाया प्रवाह बहते हुए कड़ी-किसी भावके मार्गमें पर्ववर्तिन हुआ कि हृदयमें प्रेमका सागर सहराने लगेगा ! उसकी अनेक लहरें—(नक्षुराग मन सग सकल्प निद्राच्छेद तनुता विषयनिवृत्ति त्रपानाश उन्माद मूर्छा और मरण) उठ कर आत्मा और देह के बीनी सटवन्धोंको तोड़ देंगी ! देह इन्द्रिय अन्तःकरण प्राण आत्मा सभी कुछ प्रभुके पुरसे प्लावित हो जावेंगे !

यह प्रमज्ज्य विकलता और अस्वास्थ्य भक्तियों चरमप्रकृति या स्वभाव ही है. इसे लौकिक या प्राकृत अस्वास्थ्यकी तरह नहीं समझना चाहिये यह तो परमानन्दरूप परत्वात्मका जोपात्मने साध धनिष्ठ सस्पर्श है ! एक प्रेमाद्वैतसे सारे द्वैतोंके प्लावित होनेपर भी तथा हुआ प्रियतम और प्रयो का—भगवान् और भक्त ना—एक मधुर द्वैत है ! इने ब्रह्मादी शुद्धाद्वैतज्ञानकी, अपना बहुरके ज्ञानमार्गीय युत्ती (यथा—ब्रह्मके सर्वव्यापी होने, सर्वत्र विद्यमान होने, सर्वत्रत्येव आत्माराम होने, निराकार—व्यापक होने) की चर्चानि ग्बदम् या अन्य कोई मिटान दे इनकी सावधानी चरननी चाहिये. क्योंकि यह ज्ञान तथा परमात्मके ज्ञानमार्गीय गुण अविद्यमार्गीय भावके बाधक होते हैं

ज्ञान-वेदात्म-सन्धान आदि विषयताओंके कारण जैन ज्ञानमार्गीय साधन सत्यलोकमें

अवस्थित होता है, वैसे ही भक्तिमार्गीय जीव नावनाके बलपर व्यापितकृष्णमें फलती भगवान्की निरप्य वजलीलाओंमें अवस्थित हो सकता है. अतः "परमात्मा व्यापक होनेसे मधुरा नहीं जा सकता—यह तो सर्वत्र विद्यमान है" ऐसी ज्ञानमार्गीय वादोसे भावलेपन नहीं होने देना चाहिये.

स्नेहकी जो दस अवस्थाएँ चक्षुरावसे चरण पर्यन्त गिनायीं, उनमें दसवी अवस्था मरण तक सम्भव नहीं, जब तक विरहदशा सर्वथा असह्य नहीं हो जाती. गाढ़ अनुराग और विभोग के कारण आसक्तिअवस्थायसे भक्तके अन्तरमें भगवान्की सारी लीलायें अनुभूत होनी रहती हैं. कभी ये लीलायें बाहर भी प्रकट हो जाती हैं. एक बार बाहर प्रकट हुई कि फिर इनका अप्रकट होना भक्तके लिए असह्य हो जाता है. वैसे यदि कभी हो जाये तो फिर भक्तके लिए प्राणधारण अक्षम हो जाता है. कृष्णमें अग्नि तिरोहित रहती है परन्तु एकबार यदि पूर्णतया प्रकट हुई तो वह कुम्भते-कुम्भते काष्ठको भी पूरी तरहसे जलाकर राख बना देती है. इसी तरह स्वाधिभावके रूपमें हृगारे अन्तरमें छिपे हुए परमानन्दात्मक श्रीकृष्ण यदि आलम्बन विभावके रूपमें एक बार बाहर प्रकट हो कर तिरोहित हो जायें तो सारे देहादिके अणुन टूट जाते हैं।

इस स्थितिपर पहुँचनेसे पहले विप्रयोगमें भक्तके प्राणोको भगवान्के गुण ही टिकाने एरसे है भगवान्के भक्तिमार्गीय मुक्तोकी स्मृति अथवा कीर्तन में भक्तकी जो पुनपुन-मन्तोष मिळता रहता है, उसीसे उसके प्राण अपने प्राणविष मनुके सगरहित होनेकी स्थितिमें भी टिके रहते हैं.

विप्रयोगानुभूतिकी इस प्रक्रियामें भगवान्के रसात्मक स्वरूपकी अनुभूति पूर्णतापर पहुँच जाती है क्योंकि रसशास्त्रकारोंने रतिकी द्विदलात्मक अर्थात् सयोग और विभोग रूप माना है. तदनुसार यह विरहानुभूति भी भगवान्के रसात्मक अनुभवका एक अंग ही है. फलतः इस अनुभूतिकी अपूर्णतामें भगवान् प्रकट होकर स्वयम् भक्तकी फलप्राप्तिमें बाधा नहीं पहुँचाते हैं.

एक शंका यह उठ सकती है कि फिर उद्वेगके द्वारा स्वयम् भगवान्के ज्ञानमार्गीय मन्देश गोपिकाओंको विरहवेदनासे स्वस्थ करनेके लिए क्यों भेजा ? इसका उत्तर यही है कि भगवान्की यह पता था कि उद्वेगके ज्ञानका रस गोपिकाओंपर नहीं पड़ेगा प्रत्युत उद्वेगपर ही गोपिकाओंके प्रेमका रस बढ़ जावेगा. अतएव भगवान्के सदेश—स्वास्थ्यवान्को गोपिकाओंमें स्वीकारा नहीं.

इसी तरह उनके अनुकरणपर विरहानुभवार्थ परिवर्तन करनेवालो ही यदि किसी ज्ञानी भक्तका मार्गोदामार्गीय भक्त द्वारा आवरणरूपकी धारें सुनायी जा रही हो तो उन्हें अनभुती कर देनी चाहिये. चाहे वे वाले वेदान्तादि शास्त्रोसे प्रामाणिक ही क्यों न हो.

इन शास्त्रीय सिद्धान्तोकी उपेक्षासे भगवान् नाराज हो जायेंगे ऐसे नहीं मान लेना चाहिये.

बयोकि वे दयालु है. अत जैसे जानावेदम शास्त्रीय मर्यादाएं उल्लंघनका घुरा नही मानते वेमे ही भावावेदमे गोपिकाओं द्वारा की बपी भगवदुपदेवकी उगेदावा भी घुरा नही माना था.

(६) प्रपञ्चविष्णुतित्पूर्वक भगवदात्मवित्तके स्वभावमे प्रपुनत भवतुत्तर सन्यास

भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकाररूप सन्यास, जिन गोपिकाओंकी स्त्रोत्र-वेदत्यागपूर्वक मनस्विभावेवाली भक्तिबने भावना करणे हुणु किया जस्ता है, यह गोपिकाओंवा परित्याग न ना आद्यमरूप है और न बेध ही अनुर्थाध्यमरूप सन्यास केवल शास्त्रण पुरुषक लिए हो विहित है, अथाज्ञान वा म्त्रिघोर्न लिए नहीं. तापिकाओंवा त्याग मतएल किती शास्त्रविधिमे प्रेरित न था विन्तु उनक निस्वर्ग भगवदकतानतामे प्रपुनत वा उनकी भगवदात्मवित्तके स्वभावका सहज अथ था

म्वयम् भगवान्ते उनवे इत अनुरागमूलक परित्यागका वर्जन इन शब्दोंमे किया है—
 "ता सम्मनन्वा मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तार्देहिवा मे त्यक्तालोचनमार्ज्य मदर्थे" वस्तुत गोपिकाओंका त्याग केवल प्रेमभावमे विवध होकर विवा मया त्याग था. त्यागका यह प्रकार बहुत दुर्लभ है ।

(७) ज्ञानार्थ सन्यास

पुष्टिमार्गीय जीवके लिए ज्ञानार्थ सन्यास बहुत लाभकारी नही होता. ज्ञानार्थ सन्यास लेनेमे पहले पूर्वधर्मके वेदाध्ययन दान याग आदि कर्तव्यों द्वारा चित्तको शुद्ध करना आवश्यक होता है अन्यथा केवल त्याग वा वेदाध्ययन चित्तशुद्धि कल्पियुगमें शक्य नही है. जा जीग इस तरहका विविधियासंग्यात कल्पियुगमें लेते है, वा तो उ-हूँ बादमें पछताना पड़ता है और/अन्यथा वे सन्यासका पापण्ड करनेमें यक्ष ही जाते है. अतएव बहुस्मृति (६।३४-३७) में कहा गया है कि "माधवादाधम गत्वा हृतहीमो जितेन्द्रिय भिला-वलिपरिभ्रात प्रत्रजप्रैत्य वर्धते ऋषानि नीक्ष्यपारुह्य मनो मोक्षे निवेशयेत्, अनपारुह्य मोक्ष तु शैवगानो व्रजत्यथ, अनधीत्य दिवो वेदान् अनुस्थाद्य तथा सुतान् अनिष्ट्वा चैव वर्जय च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यथ "

कुछ लोग कहते है कि यह आचरक विविधियुकी निन्दा है, निरस्त विविधियुकी नही यहा चिन्तनीय वही है कि मोक्षच्छामे सन्यास लेनेका निषेध किया जा रहा है और मोक्षच्छाम वेदाध्ययके अलावा और क्या हा सकती है ? ऋषयके अपाकरणके बिना चित्तशुद्धि सम्भव नही-अशुद्ध चित्तम ज्ञान वेदाध्यय स्थिर नही हो सकते-अत ऐसोके द्वारा लिया गया सन्यास पञ्चासाय अथवा पापण्ड मे ही पर्यवसित होता है

यह बात सभी तरहक जीवोपर लागू होती है. अत पुष्टिमार्गीय जीवापर भी श्रीमहाप्रभु अनएव स्पष्ट निषेध कर्ते है- 'सन्माद् जान न सन्यसेन्' ज्ञानप्राप्तिके निमित्त सन्यास

नही लेना चाहिये।^१

(८) ज्ञानोत्तर संन्यास

ज्ञानोत्तर संन्यास स्वभावप्राप्त होता है वैराग्य प्रकट होनेपर. अतएव एतदर्थं आत्मा नहीं किन्तु अनुज्ञा उपनिषद स्मृति पुराण आदिमें मिलती ही है जावालोपनिषद्में—“यदि वैतरण्या... यदहरेव विरजेत् सदहरेव प्रथयेत्” वचनमें यही ज्ञानोत्तर संन्यास विवक्षित है.

फिर भी पुष्टिमार्गीय जीवोंके लिए इस प्रकारके ज्ञानोत्तर संन्यासकी, उसके फलकी तथा ज्ञानकी भी विशेष महत्ता नहीं है. अतएव भगवत् (१५।१२) में आता है कि— “नंप्र-
स्यंमप्यभ्युत्भाववर्जितं न धीमते ज्ञानमल निरंजनम्” शीता (१२।२-५) में भी ज्ञानमार्गीय अभ्यक्तोपासना तथा कृष्णभक्ति के तुलनात्मक महत्त्वका विचार करते हुए भगवान्ने ज्ञानमार्गीय अभ्यक्तोपासनासे कृष्णभक्तिको उपायुक्त माना है—“मय्यावेश्य मनी ये मा निस्त्वयुक्ता उपामते श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततया मता., ये त्वधरमनिर्देयमभ्यक्ता पर्युपासते सर्वेषामपिन्यत्र च कूटस्थमचल भ्रुवम्, त्वनिदम्येन्द्रियपाम सर्वेष तमबुद्धवः, ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वेनूतहिते रता. न तेषोभिकतरस्तेषामभ्यक्तासक्तचेतसाम्, अभ्यक्ता हि मनिर्दुःख देहवद्भिरनापते”

हजारों वर्षोंतक ज्ञानमार्गपर यात्रा करनेके बाद कभी-कभीक जीव श्रीकृष्णकी अनम्य-
भक्तिकी दिशाकी ओर मुड़ पता है—“बहुना जन्मनामन्ते ज्ञानवाग्मा प्रपद्यते, वासुदेव. सर्व-
मिति स महात्मा सुदुर्लभ” (गीता ७।१९) अतः कृष्णभिर्मुख सुदुर्लभ महात्माओंकी पुनः
अधिक श्लेश देनेवाली अभ्यक्तोपासनाके ज्ञानमार्गकी ओर ताकना ही नहीं चाहिये. अतएव
कहा जाता है कि—“अग्नान्तरसहस्रंयु तपोज्ञानसमार्थिभि नराणा शीपापापाना कृष्णे भक्ति.
प्रदायते” (पाण्डवगीता ४१). अतएव ज्ञानोत्तर संन्यास लेनेवालेको सहस्रजन्मका मन्तराय
कृष्णभक्तिके हेतु हो जाता है !

भक्तिमार्गमें भी दोषसम्भावना और उसका निराकरण

जैसे दोष कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग में दिखलाये, यथा पापण्ड वा विषयासक्ति आदि,
वे भक्तिमार्ग में भी सम्भव हैं !

यह आशंका अनुचित है क्योंकि दोषोत्पत्ति तीन तरहसे सम्भव है (१) कालके प्रभावसे
(२) जीवात्माके स्वभावसे (३) परमात्माके इच्छासे

(१) कलिमुक्तका प्रभाव भक्तिमार्गपर नहीं पड़ता है—“पुषा कलिहृतान् दोगान्
द्व्यदेशात्मसम्भवान् सर्वान् हरति चित्तस्यो भयवान्पुष्पीतमः, विदातप प्राणनिरोपमेत्री-

१) अतएव पुष्टकोपनिषद्में—“अःशेनेव शीतवाग्वा यथाग्ना” आदिमें पुष्टप्राप्त्य आदिके कर्मोंकी
निन्दा करने की विवक्षितके लिए एतदर्थं वेदान्तशास्त्रके अभ्यसन तथा अभ्यसन का अधिकार पुनः इच्छीया
ही मान्य किया है— “श्रियापन्तः शीतिवतः बहुविधा एव कृतत एष्वि भवन्ताः तेषामेवैतं
इच्छान्वा नदेन चित्तोत्तम विधिवन् बिसु नीर्न, नैतन्वीर्ण्योःश्रीते.”

तीर्थान्निपेक्षप्रतदानजप्यं नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्पदभङ्गे" (भाग. १२।३।४५-४८)

स्वयम् भगवान् भी गीता (९।३०-३१) में कहते हैं—“अपि चैरमुदुरानारो भजते मामग्यभाक् साधुरेव स मन्मथ सम्भम् ध्यवसितो हि स, शिष्यं भवति धर्मात्मा शरवन्छान्तिं निगच्छति, कीर्त्तयेय प्रतिजानोहि न मे भक्त प्रणम्यपि” अतएव उद्धवोपदेशमें भी भगवान् ने कहा है—“धाप्यमानोपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रिय, प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते” (भाग- ११।१४।१२).

अतः न भक्तिके प्रारम्भमें और न उसकी प्रगल्भतामें क्लिष्टाल अथवा विषयात्कित भक्तिमार्गमें दोष उत्पन्न कर सकते हैं. पुराणोंमें भी तपस्वी आदिकी तरह भक्तके भटक जानेके कोई दृष्टान्त दिये नहीं गये हैं.

(२) जीवात्मके स्वभावसे योपोलतिभी जहा तक सम्भावना थी तो उस अवस्था तक तो भक्तिमार्गमें भी त्याग न करनेकी बात समझायी ही गयी है. भक्तिकी व्यसनदशाके एकवार विकसित होनेपर यदि गृहत्याग किया जाता है तो भटक जानेका कोई भी भय नहीं रहता क्योंकि जैसे-जैसे भक्तिका बीजभाव दृढ़ होने लगेगा वैसे-वैसे लौकिक तथा वैदिक दृष्टिसे भक्त अस्वस्थ होने लगेगा—“लोके स्वास्थ्य तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति पुष्टिभार्गस्फितो यस्मात्” (नवरत्न ६) यह पहले कहा जा चुका है. ऐसे अस्वस्थ भक्तोंमें, लौकिक अथवा वैदिक दृष्टिसे पुनः स्वस्थ बनानेवाले लौकिक कर्म या वैदिक कर्मों का त्याग एकवार कर देनेपर, जीवके स्वभाववश भी भगवद्भावमें जाया उपरिष्ठत होनेकी सम्भावना नहीं रह जाती है.

(३) गीतिकारोंकी शान्तिपदेशद्वारा स्वयम् भगवान् ने विरहव्यापिते उदारता आहाया. उद्धवकी इसी हेतुसे व्रज भेजा गया था. अतः इस अवस्थामें स्वयम् भगवान् वाया पहुंचा सकते हैं पर ऐसी आशंकाका निराकरण पहले ही कर दिया गया है कि भगवान् की पता या कि उद्धवके शान्तिपदेशसे व्रजमन्त्रोंके भावतन्त्रण होनेके वजाय स्वयम् उद्धवका शान्तिमान सण्डित हो आयेगा अतः इस विरहव्याकुलताकी भावतन्त्रणतामें परमात्मा वाया पहुंचाया है ऐसा नहीं मानना चाहिये.

भक्तिके बीजभावकी आत्मामें रोपित कर—सत्सर्गादिके अवसर द्वारा उसे सिञ्चित कर—प्रेमात्मना अङ्कित कर—आत्मिकके रूपमें पल्लवित कर—व्यसनके रूपमें जब फल परिपक्व होने जा रहा हो तब इस भक्त-मनोरथपूरक भक्तिके कल्पद्रुमको काट देना—स्वयम् हरिके भी वसकी बात नहीं है ! फिर काल-कर्म-स्वभावकी तो क्या विज्ञात ?

अपने स्तनका दूध पिला-पिलाकर जिस बच्चेको पाल-पोसकर बड़ा किया हो उसे कौन भा खतम होने देगी !

अतः ज्ञानियोंके वाक्यसे भगवान् भक्तोंमें मोह उत्पन्न करते हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि भागवत् (४।३।१।१२-१३) में—“किंवा योषेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि, किंवा श्रेयोभिरन्येष्वन यथात्मप्रदो हरि, श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरयंत, सर्वेषामपि भूताना हरिरात्मात्मद. प्रिय” अर्थात् योग साख्य संन्यास स्वाध्याय या अन्य भी सारे श्रेय साधनोको करनेसे कोई लाभ नहीं, जिनसे करनेपर भी हरि आत्मप्रद नहीं होने हैं क्योंकि सारे श्रेयकी अवधि आत्मा होती है और प्राणियोंके लिए हरि आत्मरूप आत्मप्रद तथा प्रिय हैं ऐसी स्थितिमें सर्वदा भजनपराधीन रहनेवाले प्रभु—“अहं भक्तपराधीन. तस्मैव तन्म इव द्विज .. नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना” (भाग ९।४।६३-६४), अपने भक्तीको न तो स्वयम् मोहित करेंगे और न ज्ञानियोंके वचनसे मोहित होंगे दोगे

अतः बीजभावके दृढ़ होनेपर—भक्तिकी व्यसनदशामें—स्वगृहमें भगवत्सेवा जो न निभ पाती हो—तो ऐसी स्थितिमें गृहका परित्याग कर देना चाहिये. अन्यथा ऐसे घरमें रहनेसे कभी भावका उपशमन भी हो सकता है. भक्त अपने स्वार्थ—अपने प्रभुके रक्षार्थक अनुभवके लाभ—से वञ्चित हो सकता है. यह श्रीमहाप्रभुका दृढतर अभिप्राय है

उपसंहार

इस तरह श्रीकृष्णके प्रसादसे महाप्रभु श्रीवत्कभाचार्य द्वारा किया गया सन्यासनिर्णय कि वह भक्तिके दृढ़ होनेपर ही लिया जा सकता है—अन्यथा ज्ञानमार्गीय या कर्ममार्गीय रीतिसे गुण्डिमायमें सन्यास लेना, पुष्टिसोपानीपर आरोहण करते हुए अथ पतित होनेका कारण बनेगा, पूर्ण हुआ

प्रस्तुत सस्करण वि. सं. १९७४ में प्रकाशित सस्करणका ऑकटेड प्रसित द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उस सस्करणके सम्पादक थे श्रीमूलचन्द गुलतीदास तेलीबाला तथा श्रीपीरजलाल प्रजदास शाकलिया. पीरबन्दरके गोस्वामी १००८ श्रीजीवनलालजी महाराजके आधिक सहयोगसे यह सस्करण प्रकाशित हुआ था इन सभी महानुभाव का हस इस पुन प्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

Editors' Note.

Of the Sixteen Sacred Books of Kṛṣṇa-Vallabhacharya, Sannyāsa Nirmaya stands fourteenth. The circumstances under which Sannyāsa may be taken by the aspirant are discussed in this book. Śree Vallabhacharya says that in Karma-marga, it should not be taken, specially in Kali Yuga. In Bhakti-marga, it should not be taken up in the Śāikhana stage, for the convenience of Śrayana &c., it can only be taken up for experiencing—for the realisation of the Separation of thousands of years from the Lord, viz., सदासतिसममितिकारजायन्मविद्योदरविद्वेषप्रधानव्याधिनिर्वाहम्. This Sannyāsa is very difficult to obtain, it can only be had by Love, the love of the Gopikas, who were the best among devotees, the dust of whose feet was revered by Śrīmad Udhava, and the obligation of whose selfless love even the Lord of Love, Krishna Himself, could not recompense. In this अस्वभाव्य Bhakti-Marga, even in the beginning one can take Sannyāsa, if ordered by God, as taught by Śree Krishna to Udhava because we never hear of any devotee being ruined by Sannyāsa of this type. In Jñāna-Marga, Sannyāsa is not desirable either in the beginning or in the final stage. To men of the present generation, the discussion is more or less of academic interest only, but it does give some consolation to those devotees, who find themselves in a world engrossed in trifling pursuits, and who are in search of a way to reach the Anantamaya Brahman. As in Nirodha Lakṣhana, we have added a Gujarati translation of Śrī Puruṣottamajee's tika, for the benefit of those who do not know Sanskrit.

We have been able to publish eight Commentaries, viz., those of (1) Śree Gokulnathajee, (2) Śree Raghunnathajee, (3) Śree Gokulotsavajee, (4) Śree Gopeshvarajee, (5) Śree Gopeshvarajee, (6) Śree Puruṣottamajee, (7) Śree Vallabhajee and (8) Chacha Śree Gopeshajee, son of Chansayamajee. The last is the same Chacha Śree Gopeshajee whose commentaries on Sevāphala and Nirodha Lakṣhana have been published by us. We have tried to collect all the commentaries, but we are not sure whether we are successful in our attempt. If anyone is left out, and if it is sent to us we shall consider it a great favour, and at all publish it at once.

We have been able to collect more copies of all the commentaries except two—those of Chacha Śree Gopeshvarajee and Vallabhajee, of each of which we got only one copy from Pandita Gattulalajee's library Śree Vallabhaharajee respectively. Fortunately that latter copy turned out to be very old and very very correct. The Deccan College Ms. of Śree Puruṣottamajee's tika is very old, and corrected and revised by Śree Puruṣottamajee himself. It is very unfortunate that attempts have been made at the interpolation of the word नारायणोद्गीर्ण, in the copy of this tika, obtained from Śree Vallabhaharajee, with a view, as it seems, to take the origin of the hampradīya far beyond Śree Vallabhacharyajee. Of the four copies obtained by us, three, including the old one from the Deccan College collection, which seems to have been corrected by Śree Puruṣottamajee himself, have not got the interpolated word 'नारायणोद्गीर्ण'.

We have spared no pains in comparisons, noting important readings, and making necessary corrections and the reader will find the printed texts much better than the Mss. It gives us great satisfaction to note that we have been getting Mss. from all available sources. As before, we got a large number from Pandit Gattulalajee.

Library, through Sheth Tribhuvandas and Mr Kastidas Dr S K. Belvalkar gave us all the Ms of these tikās from the Government collection of the Deccan College Mr Tansukhram Manasukhram gave us the Ms from Shastri Dhulal's collection in the Dahalakshmi Library of Nadiad, Sree Jeevanlalajee, Sree Govardhanlalajee, Sree Vallabhhalajee, Sree Vrajratnalajee, Goswaminnee Sree Krishnupriyaje Sāstri Kalyanjee, Sāstri Bhadrashankar, Sāstri Vasantaram, Keertankare Baladevrao, Mr. Natvarlal Itchbaram Desai of the Gujarati Press, Mr Vadilal, Secretary to the Yashwanth Parshad, all were kind enough to give the Ms in their possession. We take this opportunity to thank them all, and request them to continue their support in this very important and useful work.

In making and comparing copies of these tikās, we were greatly helped by Messrs Chandulal Chuntal Shah, Yrapsacharadas Maganlal Shah, Utsavilal Ram Krishna Pandya, Dhairyalal Kashinath Pandya, Fulechand Vitthaladas Shah and Mohanlal Nerottamdas Shah, B. A. It was chiefly due to their hard and disinterested work and particularly to the goodness of Utsavilal Pandya who gladly gave us all facilities for work at his place at Anand, that the Sannyās Nirṇaya was ready for the press before the Nirodha Lakshana was finished. We sincerely thank them, and hope they will continue to give their valuable help. Laka Sovāphala and Nirodha Lakshana this work also is printed from the funds supplied by Goswami Sree Jeevanlalajee of Porebunder and our sincere thanks are due to His Holiness.

With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus-feet of Lord Sree Krishna.

Dombay,
March, 1915

Mātschandra T Telivela.
Dhuryal V Sankha

सात्त्विककृतसंन्यासनिर्णयशङ्कानिरासः ।

हरिरम न शक्नोति कर्तुं भार्या इतोऽपरे ।

अन्वया मातरो बाहान् न स्नाने पुपु पुनिरि ॥

हरि अत्र विरहाजुमने भार्या प्रतिपन्नं कर्तुं न शक्नोति न समर्थो भवति । अपरे कात्यायन कुल करिष्यन्तीत्यर्थः । ननु कर्तुंमकर्तुंमन्वयास्तु समर्थस्य भगवतोऽप्यसंभवेकथन सर्वत्राजयिदमित्याहवा परिहरेन्नो न भगवतः शक्तिमन्ताप्रयुक्तसहानर्भवेति तु भक्त्यासत्त्वज्ञानमिति दृष्टान्तोवाहुः - अन्वयेत्यादिना । मातरः बाहान् स्नानेरेव पुपु । अन्वया अन्वयकारेण न पुपुत्तिलेखः । यथा पुनश्चासत्त्व बोधीभूता सर्वो मातरो बाहानां स्नानानेतिव बोधन शिष्येण चहुः, अन्वया प्रकाशत्तरेण न चहुः, एवं अज्ञातमिदमारम्य व्यवस्थित, तथा भगवानपि भक्त्यासत्त्वपरदशो भक्तस्य परदेरूप विरहाजुमन साधयति, नास्तिविरहाजुमने प्रतिपन्नं कर्तुंमिति मातः । केचित्तत्र बाहान् न स्नाने पुन्येयुति ननुमुपिद, न तु सिद्धययोग उचिता ह्याहुः । तत्र । पूर्वोचरीत्या अन्वयापने छिद्रमयोगस्य विरहापात् ।

ग्रन्थसङ्ग्रहपरिचयः ।

- १ सर्वविधरणाधारतः सन्यासनिर्णयो मुद्रितोऽस्ति, तत्र विद्यमाना पाठभेदा अपि दृशिता ।
- २ श्रीमद्गोपबलनाथप्रकटितविवरणस्य दशपुनःकान्मुपलब्धानि । तत्र एक शिवलभलालाना मुद्रितः प्राचीन सं० १०३५ आश्विनशुक्लपञ्चम्या लिखितम् । द्वितीय श्रीमजरदानाम्, नूतनम् । तृतीय श्रीजीवनलालाना नूतन प्रायः मुद्रितम् । चतुर्थं श्रीनृसिंहलालतनयश्रीगोपबलनाथाना प्राचीन, प्रायः मुद्रितम् । पञ्चम गोस्वामिनीश्रीकृष्णशिवामिर्द्वयम् । षष्ठं प० गङ्गालालसङ्ग्रहतः प्राप्तः, प्राचीन प्रायः मुद्रितम् । सप्तम 'गुणरातप्रेत'सङ्ग्रहतः प्राप्तम् । इयं सम्भतीश्वरशास्त्रिभद्रशास्त्ररत्न । दशम श्रीमद्द्वैषण्यपरिपत्सङ्ग्रहतः प्राप्तम् ।
- ३ श्रीमद्गुणनाथप्रकटितविवरणस्य पुनःकान्मुपलब्धम् । एक प० गङ्गालालसङ्ग्रहतः प्राप्तम्, प्राचीन मुद्रितं च । द्वितीय श्रीजीवनलालानाम्, नूतन प्रायः मुद्रितम् ।
- ४ श्रीगोकुलोत्तमप्रकटितविवरणस्य पुनःकान् प्राप्तम् । इयं प० गङ्गालालसङ्ग्रहस्य, एक प्राचीन, मुद्रितं च । द्वितीय नूतनमुद्रितं च । तृतीय 'गुणराती प्रेत' सङ्ग्रहतः प्राप्तम्, प्रायः मुद्रितम् ।
- ५ चाचाश्रीगोपेश्वरकृतटीकायाः पुनःकमेकमेवोपलब्धम् । प्रायः मुद्रितं, परन्तु क्वचित् सन्दिग्धम् । इदं पुनःक श्रीद्वारकेभरणा, सन् १८१० वर्षे लिखितं, प० गङ्गालालसङ्ग्रहतः प्राप्तम् । निवेद्य टीका श्रीपनड्यामत्तनयचाचाश्रीगोपेशानाम् ।
- ६ श्रीगोपेश्वरकृतविक्षेपे पुनःकान् प्राप्तम् । एक दशविंशत्यवतारमतः प्राप्तम्, सन् १०९३ आश्विनामासासाया लिखितम्, मुद्रितम् । द्वितीय प० गङ्गालालसङ्ग्रहतः प्राप्तम्, प्राचीन प्रायः मुद्रितम् । तृतीय श्रीमद्द्वैषण्यपरिपत्सङ्ग्रहतः प्राप्तम्, नूतनम् ।
- ७ श्रीमत्पुरोत्तमप्रकटितविवरणस्य पुनःकान् प्राप्तम् । एक 'बकन कॉलेज' हन्डलिखितं तस्यङ्ग्रहस्य, प्राचीनमद्यमुद्रितम् । इदं पुनःक श्रीमत्पुरोत्तमजीजहाशर्मा शोभितमित्यस्माकं प्रतिभानि, कश्चित् कश्चित् विवरणे मुद्रितलिखितं फकिवा हरितालेन मुद्रितं, नूतना भविका मुद्रिता फकिवा निवेशिता । अत्र पत्रद्वयं मुद्रितम् । द्वितीय पुनःक श्रीजीवनलालानाम्, नूतन, प्रायः मुद्रितम् । तृतीय श्रीमद्द्वैषण्यपरिपत्सङ्ग्रहतः प्राप्तम्, नूतन, न वेनापि पाचितं शोभितं च । चतुर्थं श्रीवल्लभलालानाम्, नूतन, अमुद्रितं च । अस्मिन् पुनःके कश्चित् कश्चित् पाठा निवेशिता दृष्टा । श्रीपुरोत्तमकृतैतद्विवरणे अत्रैतं यथाविधि सन्यास गृहीतं वा भवितुं मायं काश्यामागतं' इति विद्यमानेषु अस्मदृष्टेषु पुनःकेषु षड्भेदे । अत्र 'नारायणेन्द्रनाथत' इत्यधिकं केन कृतं, कृतं कथमागतम्, तत्र निश्चीयतेऽस्ति । एतद्वीत्या विष्णुस्वामिपरम्परासम्बन्धेन तु तस्या याथातथ्यं सिद्धिशीकरोतीत्यविवादम् । श्रीमत्पुरोत्तमकृतार्थचरित्रोपन्यास श्रीद्वारकेश्वरकृतशिक्षाश्लोकविवरणेष्वपि, तत्रापि 'नारायणेन्द्रनाथत' इति न विद्यते । एतेन वेन वेनचिद्वयमुद्रितं पाठं श्रीपुरोत्तमकृतविवरणे निश्चितं, तेन साहसमेव कृतमिति सन्यासहे ।
- ८ श्रीवल्लभकृतटीकायाः एकमेव पुनःकान्मुपलब्धम् । प्राचीनमनायमुद्रितम् श्रीवल्लभलालानाम् ।
- ९ श्रीपनड्यामत्तनयचाचाश्रीगोपेशकृतटीकायाः पुनःकान्मुपलब्धम् । एक भाईलालशास्त्रिण, तनमुद्रितम् प्रदत्तम्, प्राचीनम्, मुद्रितम् । द्वितीय प० गङ्गालालसङ्ग्रहतः प्राप्तम्, प्रायोऽमुद्रितम् । पुनःकान् श्रीमजरदानाम्, रमयमपि नूतनम्, एक शोभितं चामुद्रितम्, द्वितीयमुद्रितम् ।
- अस्य विवरणस्य यद्यपि पुनःकान्मुपलब्धमस्मान्मिन्नयापि सर्वोपवि नामरहितानि, अतः कैः महापुत्राचरितं विवरणं प्रकटितमिति उच्यते तत्र प्रथमं पयमशक्तता । भाषासाधनेन टीका चाचाश्रीगोपेशानामेवेत्यस्माकं हृदि प्रतिक्षणं स्फुरितम्; एतद्विवरणभाषायाः साम्यं धन्यमुद्रितं चाचा

धीमोषेऽसकृतसेवाफलनिरोधकक्षणवियरणाभ्यां महात्मन्य वनते । धीवुरपोषामहृतेतद्विवरणोपन्यासेन नि सन्दिग्धतयेद् चाचाधीमोषेऽज्ञानामेवेति निश्चीयते । विशेषेण तु मय्यादाप्रदत्त इति ।

अभिरुद् पुनरुत्सवये ५० गङ्गालालसंस्थाया 'कार्याध्यक्ष काशीदास नारायणदास दलाल, बी ए, एल् एल् बी, मुत्पयष्टीप्रेदीत्रिभुवनदास,' इत्येतेषां महत्पुण्ड्रि । गोस्वामिधीत्रीवनलालानां, गोस्वामिधीनृसिंहलालतनयधीमोषेर्षनलालानां कल्याणशास्त्रिणश्च, गोस्वामिधीवल्लभलालानां, गोस्वामिधीयज्ञरत्नानां, गोस्वामिनीधीकृष्णप्रियाणां, बलदेवदासस्यापि महत्पुण्ड्रि । प्राशिवसन्तराम हरिदृष्ण, शास्त्रिभद्रशास्त्रर जयशंकर, तनमुगरराम मन मुगरराम त्रिपाठी बी ए, नट परलाल हृष्टाराम देसाई बी ए, डॉ एम् के बेलवलकर एम् ए, पी एच् बी, इत्येते सहर्षं प्राचीनहलालितपुलकप्रदानेन वयमत्यन्तमनुगृहीताः । धीमद्वैष्णवपरिपन्मप्रियाहीलाडस्यापि तर्षवोपकृति । 'चन्द्रलाल सुनीलाल शाह, मन्मथरीदास मंगललाल शाह, जगन्वलाल रामकृष्ण कण्ठ्या, वैर्यलाल काशीनाथ पट्ट्या, कुलधन्व विठ्ठलदास शाह, मोहनलाल नरोत्तमदास शाह बी ए' इत्येतेषां पुनरुत्सवने महत्पुण्ड्रि । अथ यावत्प्राप्यनिवरणसमेतस्य सन्यासनिर्णयस्य शुद्धान्त्येषो गोस्वामिधर्मधीत्रीवनलाल सहर्षं इति तेषामुपकृति वय सखिनश्च स्मराम । प्रायंपामहे आन्वेति गोस्वामिन धीमन्तो वैष्णवाधीनजन्तुर्गुरुरिति । एतेषां गोस्वामिवर्षाणां कृपयैव सन्यासनिर्णयोद्-विवरणसमेत शुद्धित साग्मदायिकानां मुणभो भविष्यतीति ।

चिवरणकृतां परिचयः ।

१ तत्रार्थं धीमद्वैष्णवाचार्यप्रकटित सन्यासनिर्णयोद्दिवरणसमेत सम्मुच्यते । स्त्रीपानुमदां पेंमाषाये स प्रकटीकृत इति । आचार्यणां प्रादुर्भावरतु १५३५ वर्षे चित्रकृष्ण पूषादश्यां रविवासरे । तेषां परिश्रादिक तु साग्मदायिकानांरित्तु प्रसिद्धमिति नेह विभ्रत । षोडशप्रत्येवप सन्यासनिर्णयश्च पुर्दशासकृपा भजते ।

२ प्रथम शुद्धित चिवरण धीमद्वैष्णवानाम्, धीमद्वैष्णवनाथानाम् । धीमद्वैष्णवकुलनाथास्तु धीमद्वैष्णवेश्वरप्रभुपरगाणां षतुर्थसूतव मार्गशीर्षशुद्धसप्तम्या १९०८ वर्षे काशीसमीपस्थारिकप्रान्ते प्रादुर्भूता । पौषकृष्णवद्यम्या १९१७ वर्षे धीमद्वैष्णवे सिद्धिं वता । धीमद्वैष्णवचरणलालेऽपि इमे भति प्रसिद्धा । चिद्रपादानां सन्यासपाषण्डिनां पुनरुत्सव इत्येषां भोगलराजवहागिरि च वशीकृत्य स्वमार्गं रक्षामेत एव कृतवन्त । निजमहायनेन सता कण्ठे सार्व च तैरेव सुरक्षिता । ताताशैकपरायणत्व तु तेषामतीव प्रसिद्धम् । धीमदाचार्यप्रकटितधीमद्वैष्णवतनुवोधिण्यां विद्वेषप्रचारस्तु तैरेव कृत, सत-स्तेषां 'धीमुवोधिनीसवलेका' इति नामापि प्रसिद्धम् । निजधीहन्ताश्वरतुतधीमद्वैष्णवोधिनी कपडवणने श्रीवहेनजीताश्वरतुतधीमद्वैष्णवोधिनी । साग्मदायिकानांरित्तुना प्रकटीकर्तारोपि ते एव । स्वमन्त्रदायस्य प्रचारार्थं प्रकृत्यर्थं च पुनरुत्सवनेकवार स्वचरणलालिनरजोभिर्ने पवित्रीकृता । दक्षिणे पुष्पपत्तनपर्यन्तमेकवार तदपभेव गता, परन्तु सप्रत्याज् कृष्णमेरसतनयिकारिण्य दृष्ट्वा ततो न्यवर्तन्त । दक्षिणायां 'भेता इनुपहासर्गरेव कृत । तत्रार्थं सप्रत्याज् कृष्णमेरसतनयिकारिण्य दृष्ट्वा ततो न्यवर्तन्त । दक्षिणायां तनुवोधिनीलिपुष्टिमवाहमर्षादाम्निदात्वरहसान्त करणप्रसोपच्यु स्त्रीकीथियेकथैर्षाध्यभक्तिवर्तिनीत्यादीनां प्र पाना विदुतय तेषां नवनगोनीभनन्ति । अस्तान्शुद्धितसेवाफले जडितम नामरहित चिवरणमपि तेषामेवेति सस्कृतधीसर्वोत्तमनोवद्वैष्णवोपन्यासात् ज्ञायते । 'विदुषेधर' इत्यस्य चिवरणे पृतस्तेषां चणविचरणलोपन्यासो वनते । धीकल्याणमहकृतकलोने व्यासश्चधीमोपाकृतासकृतमाकाशरहं च तेषां परिश्रादिक सुविस्तृतम्, विशेषिशामुभिसन्निपायकलोकनीयम् ।

३ द्वितीय शुद्धित चिवरण धीमद्वैष्णवनाथानाम् । एते धीमद्वैष्णवनाथास्तु धीमद्वैष्णवेश्वरप्रभुपरगाणां षतनसूतव कारिकशुद्धादश्यां १९११ वर्षे प्रादुर्भूता । तेषां विवादान धीमद्वैष्णवकुलनाथै कृतमिति परम्परतो ज्ञायते । तद्वैषे च रसाधिवायकतोर धीदेवकीनन्दना धीमुवोधिनीलेखकृतश्च

धीवहताः प्रादुर्भूताः । चतुर्ध्रुवालक्ष्मीमद्भोजनानामवत तेषां पितृभक्तिरपि निरपमा । षोडशप्रश्नोपरि तेषां व्याख्यानानि दगोचरीमपन्ति । धीवहभाष्टकधीमपुराष्टोपरि तेषां व्याख्यानमुपलभ्यते । भक्ति-हंसमकिरेदृ च तैः स्वहृतन्याययथा समलंभृषी । धीपुरोत्तमनामसहस्रमपि तैः नामचन्द्रिकया सर-लीकृतम् । तेषां भाषासाररत्नं त्रस्तन्तं वनेते । रमणीयानि तत्पत्रविग्नोप्राण्यपि दृश्यन्ते ।

३. तृतीयं व्याख्यानं श्रीगोकुलोत्तवानाम् । इमे श्रीगोकुलोत्तवाः श्रीमध्यमुचरणद्वितीयवृत्तार-धीगोविन्द्रायाणां द्वितीयसूतवः, श्रीमत्सव्यापरायाणामनुजाः, श्रीमद्विरायाणां पितृचरणाः, संवत् १६३४ वर्षे ज्येष्ठकृष्णचतुर्थ्यां प्रादुर्भूताः । षोडशप्रश्नोपरि तेषां व्याख्यानानि मिलन्ति ।

४. चतुर्थं व्याख्यानं चाचाधीगोपेश्वरानाम् । के इमे श्रीगोपेश्वरालक्षिभेतुं नैव दारवतेऽस्माभिः । यद्यपि ग्रन्थान्ते अस्माभिः धीपनश्चामतनयचाचाधीगोपेश्वरकृतमिति लिखितम्, तथापि नैतद्युक्तमेवेति प्रतिमानि । एतद्विवरणस्यैकमेव सुमनकं मिलितम्, तदुपरि एवं लिखितम्—“चाचाजीधीगोपेश्वरीकृता टीका, संवत् १८१०, श्रीद्वारकेश्वरानामिदम्” । यद्यपि एतद्विवरणं प्राचीनं, तथापि चाचाधीगोपेश्वरानां धीपनश्चामतनयानां तु नैव । अत्रान्ते मुद्रितं विवरणमेव तेषामिति धीपुरोत्तमकृततदुपन्यासाद् भाषासाम्याच्च निश्चीयते ।

५. पञ्चमं विवरणं श्रीगोपेश्वरानाम् । इमे श्रीगोपेश्वराः श्रीकल्याणरायाणां सूतवः, श्रीमद्विरायाणामनुजाः, संवत् १६४९ ज्येष्ठशुद्धद्वादश्यां प्रादुर्भूताः । शिक्षापत्राणि एतेषु धीहरिण्यैः प्रेषि-तानि । शिक्षापत्राणां भाषाव्याख्यानं साकृतमेव सत्प्रदाये प्रचलति । पादकथानामन्यो ग्रन्थोपि तेषां वर्तते, पुष्टिमक्तिमुधायां प्राहमुद्रितम् । एतेषां भाषा किञ्चिद्विद्वलक्षणा वर्तते । तदुपन्यासैः श्लोकोपः—गीर्भिर्गीशाखदासस्य श्रीगोकुलनिवासिनः । गोपेश्वरेण विपुलितः कृता संन्यासनिर्णये ।

६. षष्ठं विवरणं द्वादशमन्तविरत्रिधीमपुरोत्तमचरणानाम् । श्रीमद्भाष्यतः पुरुषगणनया सप्तमी संख्यां विभूयन्तो भाद्रपदशुद्धदशम्यां १७१४ वर्षे प्रोज्जताः । तेषां विवरणं शास्त्रार्थरसा-स्तुमुद्युक्तोपेक्षमिति प्रतिभाति । विदोषतन्त्रेण चरिप्रतिज्ञानुनि. पुष्टिमक्तिमुपेति मासिकपत्रिकायाः पञ्चमवर्षस्य तृतीयाहो दृष्टव्यः । यावत्वाप्यं वाहमाभ्तरं वा तेषां चरिप्रादिकमज्ञानिभिरैव निवेदित-मिति न पुनरुपपत्ते ।

७. सप्तमं विवरणं काकाधीवहताणाम् । इमे धीवहताः श्रीमध्यमुचरणपञ्चमपुरधीरघुनाथत-त्तुमी संख्यां विभूयन्तः सः १६२९ वर्षे कार्तिककृष्णद्वादश्यां प्रादुर्भूताः । धीविह्वलरायाणां कर्त्त-यांसः सूतवः । षोडशप्रश्नोपरि तेषां विवरणानि मुबोधिन्पुस्तकरीणि दृश्यन्ते । धीयुबोधिनीलेखसापि प्रणेतारणे एव । अयुभाष्योपरि व्याख्यानं तैः प्रकटीकृतमिति लाष्टभहृत्तोपन्यासादप्यवश्यते । एतः वर्षस्य विभागत्रयं कृतम् । प्रथमे विभागे श्रीमद्भोजनचन्द्रं लेपमानाः श्रीगोकुले विरानितवन्तः । द्वितीये विभागे कदम्बसाणह्यां निवसन्तः ग्रन्थान् विवरणानि च बोधितवन्तः । तृतीये विभागे सदुपदेक्षः जीधानुद्गर्तुं भारतवर्षं पर्यटन्तः तेषां स्वीकृतवन्तः । विदोष तु पुष्टिमक्तिमुधायाः सप्तमवर्षस्य नवमाह्ने प्रपद्यितं, जिज्ञासुमिस्त्वैवान्त्योक्तीयम् ।

८. अष्टमं विवरणं धीपनश्चामतनयनानाधीगोपेश्वरानामेव । इमे धीगोपेश्वराः श्रीमत्प्रमुचरणानां सप्तमपुरधीपनश्चामतनयानां सूतवः । षोडशप्रश्नोपरि सहस्रेणां टीका दृश्यन्ते । तत्कृतनिरोपलक्षणविवरणं त्वधुनैवास्माभिः प्रकृतम् । भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६५२ वर्षे प्रादुर्भूताः ।

अत्रास्मानिदपलक्ष्यानि अष्टविवरणानि प्रकटीकृत्यन्ते, एतान्येव प्रवेदयानि, तथापि एतावन्त्येव विवरणानि, नैवाधिकानितीति नैव दारवते वरनुमन्त्याभिः । अतो यदि अत्राद्युजितं संन्यासनिर्णयन्याख्यानं केपाक्षिन्महातुभाषानां पुस्तकरङ्गहे विद्येत चेत्, तदा ते हृषया यदि तद्व्याख्यानं प्रेषयिष्यन्ति, तदा तदपि सोपकारं स्वीकृत्य मुद्रयिष्यामः । प्राथम्यमाहो च विद्वांसः अस्मादेनां प्राथम्यां हृषया स्वीकृत्य सम्प्रदायसेवां कर्तुं स्वतीचनं च सकलचित्तमुद्यता भवन्त्येति ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥
कर्ममार्गं न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वादिधारणा ॥ २ ॥
अध्यासप्रसिद्धयर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानाश्रियोगाच्च तद्दमैश्च विरोधतः ।
गृहादर्थाद्यकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं न विषयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेहानां नायेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥
विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयचन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यद्विष्यते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथाऽस्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य साधकाः ॥ ९ ॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्वलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
 वहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वहिचत् प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
 तदैव सकलो पन्थो नाशमेति न पान्यथा ।
 गुणास्तु सङ्गराहिव्याज्जीयनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥
 भगवान् फलरूपत्वाद्वात्र बाधक इष्यते ।
 स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥
 दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।
 ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥
 ज्ञानार्थमुत्तराहं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
 ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणात्मतम् ॥ १५ ॥
 अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
 पापण्डित्वं भवेद्यापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
 सुतरां कलिदोषाणां प्रयत्नत्वादिति स्थितम् ।
 भक्तिमार्गंपि चेदोपस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥
 अन्नारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभाषतः ।
 स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥
 हरिरघ्न न शक्नोति कर्तुं याथां कुतोपरे ।
 अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुत्रपुः क्वचित् ॥ १९ ॥
 ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
 आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥
 तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
 अन्यथा अद्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥
 इति कृष्णप्रसादेन बह्लभेन विनिश्चितम् ।
 संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसामर्थ्यचरणप्रकटितः संन्यासनिर्णयः समाप्तः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सन्यासनिर्णयः ।

श्रीमद्गोकुलनाथविरचितविवरणसमेतः ।

नमामि तातचरणान् स्त्रीयानां सर्वकामदान् ।

यैः कृत. स्वाभिधानार्थं. प्रकटः कृपया मयि ॥ १ ॥

स्वमार्गीयपरित्याग वक्तु परित्यागविचार प्रतिजानते, तद्धेतुमाहुः पश्चात्ताप-
निवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गीयपरित्यागेतरसर्वपदार्थान् विचार्य त्यागविचाराभावजनितस्वपश्चात्ताप-
निवृत्त्यर्थं भक्तिमार्गीयपरित्यागविचारमारभन्ते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति । उक्तपश्चात्ताप-
निवृत्त्यर्थं यः परित्याग. स विचार्यते, न तु विधीयते, विधाने विधिशेषत्वमापद्येतेति
सर्वकर्तृत्वमापद्येत, अत उक्त विचार्यते । स्वरूपतः साधनतः फलतश्च तस्य विचारे
परित्यागसामान्यादन्यमार्गीयस्य स्वविचार्यमाणस्य च तारतम्यज्ञापनार्थमन्यमार्गीयमप्याहुः.
स मार्गद्वितये इति । मार्गद्वयमेवाहुः भक्तौ मर्यादापुष्टिभेदमित्तभक्तिमार्गे ।
मर्यादाभक्तौ श्रीमद्गुरुद्वेषेण भगवता 'मदर्थेपरित्यागो मोगस्य च सुखस्य च । इष्ट
दत्तं हृतं जप्तं मदर्थे यद्भूतं तप.' इति त्यागो विशेषतः प्रोक्तः । पुष्टिभक्तिमार्गे रास-
मण्डलमण्डनाभिरपि 'सन्त्यज्य सर्वविषया' निति । तल्लीलायामेव चतुर्थाध्याये ता
प्रत्येव 'एव मदर्थोऽग्निज्ञते'त्यत्र विशेषतस्त्याग प्रोक्तः । (नन्मयत्राप्यविशेषेण त्याग-
कथनाद्गुणयोस्त्यागयोः साम्यमस्तीति चेत्, अत्र वदाम. । यद्यपि मर्यादाभक्तिपरित्याग-
कथनेपि 'मदर्थेपरित्याग' इति वाक्ये स्वप्राप्त्यर्थं परित्याग उक्तः, तद्भवेत् फल-
प्रकरणचतुर्थाध्याये शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तस्वरूपनिरूपणे 'एव मदर्थोऽग्निज्ञतेकवेदस्ताना-

१ पश्चात्तापस्वरूपमाहुः गच्छति । भक्तिमार्गे च पदार्थपरित्यागादितरसर्वपदार्थानां परित्याग
इत्यर्थः । तथा च लौकिकपदार्थपरित्यागो विचार्यत इति निष्कथः । २ नन्वित्यारभ्य वेदितव्येत्यन्त
विवरणं नोपलभ्यते कुत्रचित् ।

मित्युक्तं, तथापि मर्यादाभक्तिमार्गं त्यागस्य मदर्थित्वं यदुक्तं, तत्स्वप्राप्त्यभिप्रायेण, न तु स्वाभिलषितसिद्ध्यभिप्रायेण, तन्मार्गं तस्यासम्भावितत्वात्, पुष्टिमार्गीयमक्तस्वरूपनिरूपणे 'एवं मदर्थोच्छ्रितलोकवेदस्नाना'मिति लोकवेदस्वरूपरित्याग उक्तः । तत्र यद्यपि स्वपदेन ज्ञात्यर्थात्मान उच्यन्ते, तत्रैतासां ज्ञात्यर्थपरित्यागस्य ब्रज एव स्थित्याऽसम्भावितत्वात् स्वपदस्यात्मपर्यवसायित्वमेव सम्भवति । यद्यपि विद्यमाननित्यदेहानामात्मत्यागोऽसम्भावितः, तथाप्यात्मत्यागोक्तैरयमाशयः । यथा श्रुतौ 'आत्मने वै कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति । यत्र प्रियत्वं तत्रात्मौपाधिकमेव, न तु प्रकारान्तरेण । एतासां यदात्मनि प्रियत्वं तन्न स्वात्मत्वेन, किन्तु स्वात्मनो भगवतः प्रीतिजनकहेतुत्वेन । अत एव भगवदभिलिनदशायामात्मनोऽनुपयोगं ज्ञात्वा न मण्डनादिपुरस्कारस्नाताम्, उपयोगसमय एवात्मपुरस्कार इति नात्मनः स्वभावतः प्रियत्वम्, किन्तु भगवदुपयोगित्वेनेत्ययमेवात्मनस्त्याग इति शुद्धपुष्टिमार्गीय-त्यागस्य मर्यादामार्गीयत्यागस्य च महदेव वैलक्षण्यमित्युभयत्रापि त्यागपदोपादानादुभयोः साम्यमस्त्वित्याशङ्कानिरस्ता वेदितव्या ।) ज्ञाने ज्ञानमार्गेषु विशेषतः प्रोक्तः । स च विशेषो 'यद्दहरेष वित्तेत्तदहरेष प्रज्जे'दिति श्रुत्या विविदिपाविद्वेदेदाम्यां च तच्छाले निरूपित इति विशेषत इत्युक्तम् ॥ १ ॥

कर्ममार्गस्यापि मार्गान्तःपातात् तत्रापि परित्यागप्राप्तिमाशङ्क्य निषेधन्ति कर्ममार्गं न कर्तव्य इति ।

कर्ममार्गं न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वादिचिचारणा ॥ २ ॥

तत्र 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती'ति विधिना संन्यासग्रहणस्यानवसरपरारह्यत्वात् । यस्यायुपश्वतुर्यो भागश्चतुर्थांशमेण नेय इति कुत्रचिदुक्तं तत्रापि निषेधमाहुः सुतरामिति । अस्यायमर्थः । कलिकालेण मनुष्याणामल्पसामर्थ्यवत्त्वादायुपश्वतुर्यभागस्यातिजर-व्याप्तत्वादाश्रमधर्मस्य चातिकष्टसाध्यत्वेनानिर्वाहाद्विपरीतफलसाधकत्वं भवेदिति सुतरां कलिकालत इत्युक्तम् । एवं ज्ञानमार्गं परित्यागस्य कर्तव्यत्वं निरूप्य तस्यैव कर्ममार्गं सोपपत्तिकमकर्तव्यत्वं च निरूप्य भक्तिमार्गं तस्य कर्तव्यप्रकारविचार्यारभन्ते अत इति । यतः प्रकारभेदेन पूर्वं मार्गद्वयेपि कर्तव्याकर्तव्यभेदेन परित्यागो यद्यपि निर्दिष्टस्तथापि विचारारम्भे पूर्वं भक्तिमार्गस्योद्दिष्टत्वादतः कारणादादौ प्रथमतः भक्तिमार्गीयपरित्यागस्य प्राप्तत्वात्तस्य विचारणा विचारः क्लियत इत्यर्थः । विचारणा च कदा कर्तव्यः, कथं कर्तव्यः, किमर्थं कर्तव्य इति ॥ २ ॥

भक्तिमार्गं श्रवणादिसाधनसिद्धयर्थं कर्तव्यपक्षं निराकुर्वन्ति श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थमिति ।

श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यत्वेन नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

श्रवणादीत्याभ्य नेष्यत इत्यन्तेन । स परित्यागो नेष्यते, इच्छाविषयत्वेनापि नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः । अनङ्गीकारे हेतुमाहुः सहायेति । 'एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिग्म्बर' इत्यादिवाक्यैस्सागिन एकाकित्वेनैव स्थितेरुचितत्वान्श्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात् सहायाः प्रेरकास्तेषां स्वस्वमतानुसारिश्रवणप्रेरकत्वात्तत्तन्मार्गीयश्रवणानां पुष्टिमक्तिमार्गविरोधित्वात्तन्न भक्तिमार्गसाधकत्वम् । तथा । मायावादिनां श्रुतीनामपि कल्पितत्वात्तत्प्रतिपाद्यमब्रह्मधर्माणामपि व्यवहारोपयोगित्वेनापारमार्थिकत्वाद्ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम् । नैयायिकमते तु 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो गन्तव्यश्चोपपत्तिमि' रिति जगत्कर्तृकत्वेनेश्वरसिद्धावपि ज्ञानेच्छाप्रयत्नातिरिक्तधर्माभावाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम् । मीमांसकानां निरीश्वरवादित्वादेव श्रोतव्याभावाच्च श्रवणाधिप्रेरणम्, तत्तन्मार्गीयप्रेरकप्रवृत्तौ तत्तन्मार्गीयैरेव सद्वात्तन्मार्गीयश्रवणस्यैव सिद्धेस्तच्छ्रवणस्य भक्तिमार्गविरोधित्वात्तन्न भक्तिमार्गसाधकत्वम् । पापकान्तराप्यप्याहुः साधनानां च रक्षणादिति । साधनानामाश्रमसाधकधर्माणां ज्ञानशौचप्रणवजपादीनां रक्षणं यथोक्तप्रकारानुष्ठानम् । तेनैव सर्वकालव्याप्त्या न भक्तिमार्गीयश्रवणादिप्रवृत्त्यवसर इत्यनङ्गीकारः ॥ ३ ॥

अभिमानान्त्रियोगाच्च तद्धर्मश्च विरोधतः ।

गृहादेश्यकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति मान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तपापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

किञ्च, अभिमानात् सर्वादरणीयत्वेन स्वस्मिन्नाश्रमन्येष्टत्वाभिमानात्तस्य च भक्तिसाधनविरोधित्वात्तया । किञ्च, नियोगाद्भक्तपरित्यागस्य शास्त्राज्ञापीनत्वाद्दृश्यमाणस्य च तदनधीनत्वात्तया । किञ्च, तद्धर्मश्च विरोधतः । तद्धर्मैवेद्व्यमाणभक्तिमार्गीयपरित्यागधर्मः, चकारात्स्वरूपेण च विरोधात्तया । ननु श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं त्यागकर्तुर्भक्तिमार्गीयश्रवणाद्यज्ञानात्तत्तच्छान्हेतुकत्वात्तस्य तदङ्गत्वेन गौणत्वात्साधकत्वव्यत्वमस्तु । भक्तिमार्गीयश्रवणादिस्वरूपज्ञानवतः गृहस्थितौ व्यासज्ञेन तदनिर्वाहं ज्ञात्वा तत्परित्यागस्य मुख्यत्वमस्त्वित्यपि पक्षस्य दृश्यमाणत्यागवैजात्यात् सहेतुकमकर्तव्यत्वमाहुः गृहादेरिति । उक्तपरित्यागानन्तरमपि साधनदशायां भक्तिमार्गीयपूर्णभगवद्भावाभावाग्निरन्तरनिर्वाहसाधक्यत्वेन चित्तवाच्यत्वादेतन्मार्गविजातीयैरेव सङ्गो भवति, मान्यथा । अतादृशैः सङ्गो न भवतीत्यत उक्तमग्रेपीति । विजातीयानां च विषयाक्रान्तचित्तत्वात्तत्तन्नस्याल्पस्यापि पूर्वभावनिर्वाहनाशकत्वेन स्वस्यापि विषयाक्रान्तिसम्भवात् कालक्रमेण पूर्वभावनिर्वाहनावात्

कृतस्यापि त्यागस्य मुख्यफलासाधकत्वाद्भक्तिमार्गविचारे पापण्डित्वमेवेत्यत उक्तं स्वयं चेति । विषयाक्रान्तपापण्डीत्यत्र कर्मधारयः । तुश्चन्देनापापण्डित्वपक्षनिरासः ॥ ४ ॥ ५ ॥

यद्यपि दुःसंगो भावस्थितौ धाधकस्तथापि भावस्थित्यर्थमेवोपक्रमाद् दुःसंगेपि कदाचिद्भावस्थित्येदिति पक्षनिराकरणमाहुः विषयाक्रान्तदेहानामिति ।

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

विषयाशुभुरादिसर्वेन्द्रियविषयाः रूपरसादयस्तेराक्रान्तः व्याप्तः देहो येषां तेषां सर्वदा हरेरावेशो न भवति । यत एते प्रकारा धाधका अतः अत्र साधने भक्तौ साधनरूपभक्तिमार्गे भक्तिसाधनार्थं त्यागः सुखावहो न, पुरुषार्थसाधको न भवतीत्यर्थः । एवकारेण सर्वात्मना पुरुषार्थासाधकत्वमुक्तम् ॥ ६ ॥

तर्हि भक्तिमार्गे त्यागकथनस्य प्रयोजनाभावाद्वैयर्थ्यमायातीति चेत्तत्र प्रयोजनमाहुः विरहानुभवार्थमिति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

ननु विरहस्य संयोगपूर्वकत्वात् साम्प्रतं तस्याभावात् कथं विरह इति चेत्, सत्यम्, वक्ष्यमाणपरित्यागस्य पूर्णपुष्टिमार्गीयभगवद्भावानन्तरभावित्वेन तत्पूर्वदशायां भगवत्स्वरूपसेवनस्यावश्यकत्वात्तत्र भावपूर्वकश्रीमुखदर्शनतत्तद्भक्त्यर्थजनितसद्गामिलापाया अतिप्रशुरत्वेन तच्छान्त्यभावजन्यत्वात् सद्गमपूर्वकत्वं विरहस्य भगवद्विरहस्यानुभवः निरन्तरं तद्भावपत्तिस्तदर्थं तस्मिद्धर्थमित्यर्थः । तेन शुद्धपुष्टिमार्गीयपूर्णभाववानधिकारीति ज्ञापितम् । तादृशस्य सर्वात्मभाववद्भक्तसम्बन्धिरासादिस्रीलाविचारसाधकत्वेन तस्याश्च परमफलत्वेन स्वस्यापि तन्मार्गीयत्वेन तत्फलेत्कटाभिलाषया साम्प्रतं तत्पूर्वभावात्तत्पूरकस्याधुना दर्शनाद्यभावाद्विरहसावश्यकत्वम् । गृहस्थितौ गृहस्थितानां तद्भाववैजात्यात् तत्सद्गस्यैतद्भावनाशकत्वेन तदनुभवभावाद्गृहत्यागसावश्यकत्वम्, तस्य परित्यागज्ञापनार्थं वेपकल्पनमाहुः स्वीयेति । स्वीयाः भार्यापुत्रादयस्तत्कृतो बन्धः, त्यागे प्रतिबन्धः, तन्निवृत्त्यर्थं वेपकल्पनम् । स वेपः अत्र अस्मिन्मार्गे प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थमेव । न चान्यथा, अन्यप्रयोजनार्थं न भवतीत्यर्थः । यथा मर्षादामार्गीयचतुर्थाश्रमपरिग्रहेहेतुत्वेनावश्यकत्वाय वेपकल्पनं तथास्मिन्मार्गे न भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

मार्गद्वये परित्यागाविशेषेपि मार्गभेदेनिरूपणार्थं परित्यागनिमित्तं वेपकल्पननिमित्तं धोक्त्वा गुरुन् साधनं च निरूपयन्ति कौण्डिन्यो गोपिका इति ।

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता शुरवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

कौण्डिन्य ऋषिः अनन्तव्रतप्रस्तावे निरूपितः । गोपिकाः प्रसिद्धा इति न प्रकारविशेषोक्तिः । यद्यपि कौण्डिन्यस्य मर्यादामार्गीयत्वेनैतन्मार्गाज्ञानादेतन्मार्गोपदेष्टृत्वा-सम्भवाद्गुरुत्वं न सम्भवति, तथापि दत्तात्रेयवत्सर्वैराग्योपयोगितत्तद्धर्मशिक्षणेनोपदेष्टृत्वा-भावेऽपि ष्टुष्यादिषु यथा गुरुत्वाङ्गीकारस्तथा कौण्डिन्यस्याप्यनन्तगुणश्रवणेन तन्मिलना-तिर्जनितविप्रयोगभावजनितवैकल्येन च प्रश्रायोग्येष्वपि प्रश्नकरणात्सहसा तत्यागस्यैत-न्मार्गीयत्वागस्य चैतावद्धर्मसाम्यात्कौण्डिन्येऽपि गुरुत्वकथनम् । गोपिकानामप्युपदेष्टृत्वा-भावेऽपि तन्मार्गप्रकटनेन तद्भावात्तु रूपारूपेण च 'दुहन्त्य' इत्यनेन विरहेण गृहत्यागेनापि गुरुत्वम् । गुरूत्वात् साधनमाहुः साधनमिति । यदत्रे वक्ष्यमाणं तत्साधनमित्यर्थः । तदेवाहुः भाव इति । स्वस्मिन् गोपिकाभावानुरूपभावनाया सिद्धभावस्य साधनत्व-मिष्टम्, अन्यद् दानप्रतादिकमपि साधनत्वेन नेष्टमित्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्वेतद्भावात्पत्यनन्तरभाव्यवस्थाया बुद्धिविपर्यासहेतुत्वेन दुःसहेतुत्वेन च प्राकृत-त्वमित्याशङ्कां तद्भावस्वरूपनिरूपणेन परिहरन्ति विकलत्वमित्यादिना ।

विकलत्वं तथास्यास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाच्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

विकलत्वं वैकल्यं तथा तद्देव अस्वास्थ्यं कुत्रापि स्वास्थ्याभावः प्रकृतिविप्रयो-गभावस्य प्रकृतिः साभाविको धर्मः प्राकृतं लौकिकं न भवतीत्यर्थः । हि युक्तश्चायमर्थः । यत्रैकादशे श्रीमद्रुद्रवृष्टेन भगवता श्रद्धानिरूपणप्रस्तावे आध्यात्मिकश्रद्धादीनां सगुणत्वं निरूप्य 'सात्विकयाध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी । तागस्यपर्यं वा श्रद्धा मत्तेपायां तु निर्गुणे'ति स्वपूजाश्रद्धाया निर्गुणत्वं निरूपितं, ज्ञाननिरूपणप्रस्तावेऽपि कैवल्यादिज्ञानानां सगुणत्वं निरूप्य 'कैवल्यं सात्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् । प्राकृतं तामसं ज्ञानं मसिष्ठं निर्गुणं सृष्ट'मिति स्वविषयकज्ञानस्य निर्गुणत्वं निरूपितम् । यत्र मर्यादामार्गीयं स्वसम्ब-न्धित्वेन वस्तुनो निर्गुणत्वं, तत्र साक्षात्सर्वाधिकमक्तिमार्गीयमगवद्भावजधर्माणां निर्गुणत्वे किं चान्यमिति हिशन्देनोक्तम् । ननु भगवत्सम्बन्धित्वेनालौकिकत्वाग्निर्गुणत्वमस्तु, तथापि दुःखात्मकत्वात् कथं सर्वोत्कृष्टत्वमिति चेत्, सत्यं, दुःखत्वाभावादेयोत्कृष्टत्वं यदामः । तथा पुरुषोत्तमस्वरूपस्य 'रसो वै स'इति श्रुत्या रसात्मकत्वेन प्रतिपादित-त्वाद्गस्य च संयोगविप्रयोगात्मकत्वेन द्विरूपत्वाद्यथा विरोधिभूतस्यतन्निष्पीडनताडनको-पादीनां दुःखात्मकत्वं, तथा क्षतत्वादिधर्मसाज्जालेऽपि संयोगरसान्तःपातित्वेन परमानन्दरू-पत्वं, तथा विप्रयोगरसजनितवैकल्यादीनामपि विप्रयोगरसात्मकत्वेन कर्मादिजन्यवैक-ल्यवत्प्रतीयमानत्वेऽपि रसरूपत्वाच्च तेषां दुःखत्वम् । यथा आनन्दादप्यधूषि, शोकाद-प्यधूषि । न हि तत्राश्रुत्वसाज्जालाद्युभयोरेकफलत्वं चेत्सति, तथात्रापि तत्तद्धर्मसाम्येऽपि

न तत्तद्रूपत्वमिति सर्वमनवद्यम् । एतादृशवस्थापत्त्यनन्तरमपि व्यावहारिकज्ञानलौकिक-
विवेकादिगुणसत्त्वेऽपि को विरोध इति चेत्त्राहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं मर्यादोमार्गीयं
गुणास्तन्मार्गीया एव मनःस्वास्थ्यहेतुरूपाः । तस्य पूर्वोक्तमक्तिमार्गीयभाववतः एवं
वर्तमानस्य पूर्वोक्तवैकल्यादिभावपूर्वैव स्थितस्य, बाधकाः रसानुभवे फले वा पूर्वोक्त-
भावनाशकत्वात्प्रतिबन्धकाः ॥ ९ ॥

ननु मार्गद्वयेऽपि त्यागसाविशेषात्कथं ज्ञानमनःस्वास्थादीनां ज्ञानमार्गं साधकत्वं
भक्तिमार्गं बाधकत्वमिति शङ्कानिरासाय फलभेदेन समाधानमाहुः सत्यलोक इति ।

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

सत्यलोके ब्रह्मलोके 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थी' इति श्रुती ज्ञानयुक्तसंन्यासिन
एव ब्रह्मलोकस्थित्यनन्तरमेव ब्रह्मणा सह मोक्षनिरूपणाद्ब्रह्मलोकगतौ ज्ञानस्यैव मुख्यत्वा-
न्मनःस्वास्थ्यव्यतिरेकेण ज्ञानस्यैर्वाभावाज्ज्ञानमनःस्वास्थादीनामेव फलसाधकत्वम् ।
भक्तिमार्गं साक्षात्पुरुषोत्तमसम्पत्त्यस्यैव फलत्वात्तस्य 'रसो वै स' इति श्रुत्या रसात्मक-
त्वात् रसस्य च भावात्मकत्वात्तत्सम्पत्तेः पूर्वोक्तविप्रयोगरसात्मकभावस्यैव साधनत्वात्
ज्ञानमनःस्वास्थादीनां तद्भावरूपसाधननाशकत्वाद्बाधकत्वमित्यत आहुः भावनेति ।
यत्र भक्तिमार्गं ॥ १० ॥

एवं मार्गद्वयेऽपि प्रकारभेदेन साधनफले निरूप्य ज्ञानमार्गं फलप्राप्तौ विलम्बहेतुं
भक्तिमार्गं विलम्बाभावहेतुं च ज्ञानमार्गं प्रकारकथनेन भक्तिमार्गं दृष्टान्ताकथनेन चाहुः
तादृशा इति ।

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिःश्वेतप्रकटः स्यात्प्रा बह्विबत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

तादृशाः संन्यासयुक्तज्ञानिनस्ते सकामनिष्कामभेदेन सत्यलोकादौ ब्रह्मलोकादौ ति-
ष्ठन्त्येव । संन्यासाश्रमग्रहणमात्रेणैव सत्यलोकस्थितिपक्षनिराकरणार्थं न संशय इत्युक्तम् ।
सत्यलोकादावित्यत्र बह्वृणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन निष्कामानामेव सत्यलोकस्थितिः, स-
कामानां लोकान्तरेऽपि स्थितिरिति ज्ञापितम् । एवकारेण सत्यलोकस्थितौ मुक्तिविलम्बे च हेतु-
रुक्तः । तयोपपत्तिः । 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते' इति चाक्याद्ब्रह्मणः द्विपराधीवसायित्वात्तानन्तर्यन्तं
मुक्तेरसम्भवारिस्थितेरावश्यकत्वज्ञापनार्थमेवकारः । ज्ञानमार्गं विलम्बहेतुं निरूप्य भक्तिमार्गं
दृष्टान्तेन विलम्बाभावहेतुं निरूपयन्ति । तत्र दृष्टान्तमेवाहुः बहिरिति । बह्विबदिति कथना-
दारुस्थितवह्निरदृष्टान्तोभिप्रेतः । तत्र प्रकारः । यथा दारुस्थि विद्यमानस्य बह्वेदरससंयोगे सत्यपि

न दासदहनयोग्यत्वं, यदा मयनेन तत एव बहिः प्रकट्रीमूय पुनस्तेन सह सम्यध्यते, तदा सम्यन्धमात्रेणैव दारुत्वनिवृत्त्या दारुणोद्यित्वसिद्धिस्तथा भक्तद्वये विद्यमानत्वेपि मयने-
नाग्निप्राकट्यावद्दिगाढभावेन भावात्मकतया बहिःप्राकट्ये सति पुनरन्तःसम्यन्धः, तदा
सम्यन्ध एव फलसम्यन्धहेतुः प्रतिबन्धं दूरीकरोतीति फलस्य रसात्मकत्वेन तदनुभवहेतु-
रसात्मकतां सम्पादयतीति एतत्प्रकारातिरिक्तसैतलकलसाधकत्वाभावाद्युक्तं न चान्यथे-
ति । एवमस्मिन्मार्गे विलम्बाभावोपि सिद्धः ॥ ११३ ॥

ननु पूर्वोक्तविगाढभावस्य साक्षात्सद्भावहेतुत्वेन सन्नार्थं स्वरूपानुसन्धानसाव-
श्यकत्ववद्गुणानुसन्धानसाध्यावश्यकत्वेन साक्षात्स्वरूपेण स्वास्थ्यहेतोरसम्भावितत्वाद्गुणै-
रेव कथं स्वास्थ्यमिति चेत्तत्राहुः गुणास्त्विति ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याञ्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

गुणानां धर्मरूपत्वादिप्रयोगस्य संयोगाभावहेतुत्वेन तदतिरिक्तस्य स्वास्थ्यहेतोरमा-
वात्कदाचिदतितापेनाश्रयाभावाञ्जीवनानुपपत्त्या गुणैरेव जीवनसम्पत्तिरित्यत उक्तं जीव-
नार्थं भवन्तीति । यथा 'तव कथामृत'मित्यत्र । हि युक्तश्रायमर्थः । परमानन्दविरहे जीव-
नानुपपत्तौ परमानन्दगुणानामेव जीवनसम्पादकत्वमुचितमित्यर्थो हि शब्देन धोत्यते । तेन
गुणानां यथाकथञ्चिज्जीवनमात्रसम्पादकत्वं, न तु स्वास्थ्यहेतुत्वमपि । तुशब्देन संज्ञाति-
रिक्तधर्मः स्वास्थ्यपक्षो व्याप्यतिः । अथवा, ननु भगवद्विप्रयोगस्यातिप्रचुरतापात्मकत्वेना-
सद्भावत्वाक्षणात्त्रयमपि प्राणसित्तसम्भावस्वभाववत्त्वात् कुञ्चित्तत्कालमेव प्राणसित्तदर्शनम्
यथा द्विजपत्न्याम् । क्वचित्तथात्वेपि प्राणसित्तिदर्शनमिति कथमेकसैव स्वभावविपर्ययेन
कार्यद्वयकर्तृत्वमिति चेत्, सत्यम्, तस्य स्वभावविपर्ययाभावावत्त्वेपि यत्र शीघ्रं मनसो
भगवद्गुणग्रहेणेन व्यासज्ञाभावस्तत्र शीघ्रं पूर्वोक्तस्य कार्यकर्तृत्वम् । यत्र भगवदिच्छया
शीघ्रं तद्गुणव्यासज्ञात्त्रयं गुणानां तादृग्भावेपि जीवनेकस्वभावत्वेन तत्स्वभावत्वादेव प्राण-
सित्तिरित्यभिप्रेत्योक्तं गुणास्त्विति । ननु लोके गुण्यपेक्षया गुणानामल्पसामर्थ्यवत्त्वदर्शनात्
कथं पूर्णानन्दरसात्मकपुरुषोत्तमविरहस्य क्षणमात्रमपि प्राणसित्तिविलम्बासहिष्णोस्त-
स्मिन्समये तद्गुणानां कथं प्राणसित्तिहेतुत्वमिति चेत्, सत्यम् । यद्यप्यन्यत्र गुण्यपेक्षया
गुणानामल्पसामर्थ्यमस्तुवेव, तथाप्यत्र साक्षात्पुरुषोत्तमसाच्चिन्त्यानन्दपूर्णस्य पक्षेऽर्थसम्प-
न्नस्य गुणा अपि तादृशा एवेति मन्तव्यम्, गुणगुणिनोरेकरूपत्वात्, अन्यथा तद्विप्रयोग-
दर्शयां गुणानां जीवनसम्पादकत्वं न भवेत् । अत एव ब्रजसीमन्तिनीमि 'स्तव कथामृत'
मित्यस्मिन् लोके पद्मिभिर्विशेषणैः कथायाः भगवद्गुण्यत्वं निरूप्यैव स्वप्राणसित्तिहेतुत्वं
निरूपितम् । यदि स्वरूपगुण्यत्वं गुणानां न भवेत्तर्हि स्वसमाजस्य जीवनमेव न भवेत् । तस्मा-
त्पुरुषोत्तमगुणानां गुणितुन्यत्वमेव, न तु न्यूनत्वमपि । तथापि गुणगुणिनोरेतावान् विशेषः ।

यथा गुणिसाम्यन्धेन विप्रयोजतापनिवृत्तिपूर्वकं सर्वेन्द्रियाप्यायनपूर्वकं च परमानन्दानुभव
स्वास्थ्यं, तथा गुणैर्न सम्पद्यत इति तेषु गुणत्वकथनम् । एतदेव मनसि कृत्वा श्रीमदाचार्य-
रुक्तं गुणास्तु सद्गुरादित्यादिति । सद्गुरादित्यं वियोगस्फूर्तिः । ननु कथं कुप्रचिच्छीघ्रं
मनसो जीवनहेतुगुणग्रहणव्यासने भगवदिच्छा कुप्रचिन्नेति को हेतुरिति चेत्, सत्यम्, यत्र
पूर्णविप्रयोगानुभवहेतुः पुनः पुनर्मूर्च्छाबाधरणतादात्म्यादिसर्वभावाऽनुभावेच्छा तत्र गुणेषु
शीघ्रं चित्तव्यासर्तं कारयित्वा पश्चादविलम्बेन स्वप्राप्तिसिद्धयर्थं तद्भावस्वभावकार्यकरणम् ।
ये पूर्वमेवानुभूतसर्वविप्रयोगमावास्तेषां स्थितौ प्रयोजनाभावात्तत्कालमेव स्थित्यभाव इति
नानुपपत्तिः काचित् ॥ १२ ॥

ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य भगवदिच्छामात्रेणापि स्वास्थ्यसम्पादकत्वात्कथं
न सम्पादयतीति चेत्, तथाहुः भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वाद्वाच्यं बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

भगवत्सदेन महणैश्वर्यसम्पन्नः पुरुषोत्तम उक्तः । अस्मिन्मार्गे स्वस्यैव फलत्वा-
स्वप्राप्तावेतद्भावस्यैव फलसाधकत्वाद्भावस्य च तापैकस्वभावत्वात्तदभावे फलप्राप्त्यभावाच्च
स्वस्यैव तदभावसम्पादकत्वकथनेन स्वस्यैव फलप्राप्ती प्रतिबन्धकत्वेन च स्वस्य फलत्वमेव
न सिध्येदित्यत उक्तं फलरूपत्वाद्वाच्यं बाधक इष्यत इति । ननु स्वस्य फलात्मकत्वा-
त्फलदित्सायाश्च सिद्धत्वात्स्वरूपेण तापापगमं मा करोतु, तथापि यत्किञ्चिदस्वास्थ्यं स्वप्ने
वचनेन कथं न निवर्त्यतीति चेत्, तथाहुः स्वास्थ्यवाक्यमिति । भगवता तादृशं
प्रति यत्किञ्चित् स्वास्थ्यहेतुकमपि वाक्यं वचनं न कर्तव्यं न वक्तव्यमित्यर्थः । तत्र
हेतुः । वचनेन वाचांक्षापो निवर्तिष्यते तावानेव फलप्राप्ती विलम्बो भविष्यतीति ज्ञात्वा
वचनेनापि स्वास्थ्यं न करोति, यदि कुर्वात्तर्हि फलविलम्बे स्वप्नेव हेतुः सादिति
स्वस्यैव विरोधित्वं सादिति यत्किञ्चित्स्वास्थ्यहेतुभूतस्यापि वाक्यस्याकरणम् । ननु यत्कि-
ञ्चिद्विलम्बहेतुत्वे को दोष इति चेत्तत्राहुः दयालुरिति । दयालुरत्यसाधारणदयासमुद्रः ।
यदि यत्किञ्चिद्विलम्बसहिष्णुत्वमपि चेद्भवेत्, तदा तावदयांशस्य न्यूनत्वात्परमदयालुत्वं
नोपपद्येतेति न तादृशवाक्यकरणम् ॥ १३ ॥

एवं भक्तिमार्गीयसंन्यासस्वरूपं साधनफलप्रकारविचारेणोपपायोपसंहरन्ति दुर्ल-
भोपमिति ।

दुर्लभोगं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।

अयमुक्तप्रकारकः परित्यागः दुर्लभः, तपोदानव्रतादिसाधनैरप्यसाध्यः । ननु
वस्तुमात्रस्य दानादिसाधनसाध्यत्वात्कथमस्य दानादिसाधनासाध्यत्वमिति चेत्, सत्यम् ।
यथा तत्तन्नाशे तत्तत्फलसाधकत्वेन तानि तानि साधनानि गणितानि, स्वर्गकामस्य ज्योतिष्टो-

भवत् । नहि तथा भक्तिमार्गीयपरित्यागसिद्धौ साधनशास्त्रोक्तं कियत्साधनमस्तीत्यस्य दुर्लभ-
त्वम् । ननु वस्तुमात्रस्य साधनसाध्यत्वाद्भक्तिमार्गीयपरित्यागस्यापि वस्तुत्वेन निरूपणात्तस्य
च शास्त्रोक्तदानादिसाधनासाध्यत्वकथनात् केन साधनेनास्य सिद्धिरिति चेत्, तत्र साधन-
माहुः प्रेम्णेति । प्रेम्णा भगवत्परमासक्त्या सिध्यति । अथवा, प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा । ननु
कथं जीवे भगवत्प्रेमेति चेत्, सत्यम् । एतन्मार्गप्रवर्तकाचार्यैस्तन्निष्कपटप्रपत्तिसन्तुष्टैः
कृपया अस्यैतन्मार्गीयफलसिद्धिरस्तितीच्छया भगवत्त्रिवेदनानन्तरं तस्मिन्नाचार्यकृपा-
खेदं ज्ञात्वा स्वयमपि सन्तुष्टस्तस्मिन्साफल्यदत्तया प्रेमयुक्तो भवतीति तेन प्रेम्णास्यापि
तादृशत्वं सिध्यतीत्यत उक्तं प्रेम्णा सिध्यतीति । नान्यथा, अन्यथा एतदति-
रिक्तसाधनैर्न सिध्यतीति सुदृक्तं दुर्लभोयमित्यादि ॥ १३३ ॥

एवं भक्तिमार्गीयत्यागविचारं उपसंहृत्य ज्ञानमार्गीयपरित्यागोपसंहारमारभन्ते
ज्ञानमार्गे त्विति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्सापाय नान्यथा ।

पापण्डित्यं भयेषापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रयत्नत्वादिति स्थितम् ।

त्विति पूर्वसमुच्चयः । संन्यासः ज्ञानमार्गीयः द्विविधोपि, विविदिपाविद्वेदे-
युक्तः । सोपि साधनफलभेदेन विचारितः । द्वैविध्यमेव प्रकटयन्ति ज्ञानार्थमिति ।
ज्ञानार्थं ज्ञानरूपफलसिद्धार्थमेकः । प्रकारसमुचितं द्वितीयमाहुः उत्तराङ्गं चेति ।
'ज्ञानादेव हि केवल्य'मिति वाक्यान्मुक्तेर्ज्ञानसिद्धयुत्तरफलत्वाद्द्वैत्वं संन्यासस्योत्तराङ्गत्वं
मुक्त्यङ्गत्वमित्यर्थः । यद्यपि ज्ञानमार्गीयद्वितीयसंन्यासस्य मुक्त्यङ्गत्वं तथापि 'बहूनां जन्म-
नामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति भगवद्वाक्यात्
प्रपत्तेश्च भक्तिस्त्वाद्भक्तिव्यतिरेकेण केवलज्ञानस्य मुक्त्यसाधकत्वात् । 'जन्मान्तरसदृशेषु
तपोज्ञानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इति वाक्याप्य ज्ञानस्य
भक्तिप्रतिबन्धनिवर्तकत्वोक्त्या 'विना महत्साधनजोषिषेक' मिति वचनेन भक्तेश्च महदनुग्र-
हकैलभ्यत्वोक्त्या च यावत्पर्यन्तं न भक्तिसिद्धिस्तावत्पर्यन्तं पूर्णज्ञानस्यापि न मुक्तिरिति
ज्ञापनायोक्तं सिद्धिर्जन्मशतैः परमिति । यथा बहुशब्दस्य सङ्घातानियमवाचित्वं तथा
शतशब्दस्यापीति ज्ञापनाय जन्मशतैरित्युक्तं । परं निर्धारितमित्यर्थः । एवं ज्ञानिनां
मुक्तिप्रकारमुक्त्वा ज्ञानस्य साधनसाध्यत्वज्ञापनाय साधनानि निरूपयन्ति ज्ञानमिति ।
यज्ञ आदिर्यस्य श्रवणस्य, ज्ञानस्य चित्तशुद्धिहेतुकत्वापन्नस्य च चित्तशोधकत्वोक्त्या

निष्कामकर्तृत्वमुक्तम् । यतस्तादृश्यज्ञसौष चित्तशोधकत्वम् । तदनन्तरश्रवणस्य ज्ञानसाधकत्वं मतं निश्चितमित्यर्थः । अतः कलाविति । यतः स ज्ञानमार्गीयः संन्यासः एतावत्प्रयत्नसाध्यः अतः कलौ तावत्प्रयत्नसिद्धेरसम्भावितत्वात्तद्यतिरेकेण संन्यासस्य फलसाधकत्वाभावात् पश्चात्तापहेतुत्वमेवेति ज्ञाननायोक्तं पश्चात्तापापेति । नान्यथा उक्तफलाय नेत्यर्थः । ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्यैतावत्प्रयत्नसाध्यत्वमपि ज्ञात्वा प्रतिप्रार्थमपि चेत्कुर्यात्तदा ययोक्ताश्रमधर्मानिर्वाहात् संन्यासव्यवहारस्य वेपमाश्रमपवसापित्वेन पाप-
ण्डित्यमेव भवतीत्यत उक्तं पापण्डित्यं भवेदिति । चकारः संन्यासाश्रमधर्मानाचरण-
पापसमुच्चयार्थः । यतः ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्यैतावदोपपन्नं तस्मात् कारणात् कलौ ज्ञाने
ज्ञानमार्गे न संन्यसेत् संन्यासग्रहणं न कुर्यात् । यद्यन्याश्रमधर्मानिर्वाहात् कलौ ज्ञान-
मार्गीयसंन्यासनिषेधः कृतस्तथापि कश्चिदाश्रमोत्कर्षं श्रुत्वा पलात्कारेणाद्याश्रमधर्मनिर्वाहं
करिष्यामीति बुद्ध्या कुर्यादिति तस्यापि निषेधमाहुः सुतरामिति । सुतरामतिशयेन
कलिवोषायां प्रपलत्वात् प्रापत्वात् पूर्वकृतव्यवसायनाशकत्वात्, इति हेतौस्तसा-
कर्तव्यत्वमेव स्थितं निश्चितमित्यर्थः ॥ १४, १५, १६३ ॥

एवं ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्य पलवद्वाधकप्रतिषेधकत्वेन सोपपत्तिकमकर्तव्यत्वमुपपाद्य
त्यागविशेषाद्भक्तिमार्गीयानेपि तेषां धाधकत्वाद्वाधकविरासाय स्वत एव धाधकत्वं सम्भाव्य
विराहुर्वन्ति । तत्र सम्भावनाभाद भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेदोपस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अपिशब्दः पूर्वोक्तत्यागसमुच्चयार्थः । भक्तिमार्गेपि चेददि तद्दृश्ये दोषसम्भा-
वना तदा तदोपनिवृत्त्यर्थं किं कार्यमिति पूर्वपक्षसम्भावनामुक्त्वा तद्विरासं प्रतिजा-
नते उच्यते इति । अथवा यदि भक्तिमार्गेपि दोषसम्भावना तदा तदोपनिवृत्त्यर्थं भक्ति-
मार्गीयिणं किं कार्यं किं कर्तव्यं भवता उच्यते इत्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रतिज्ञातं दोषाभावमुपपादयन्ति अत्रेति ।

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावात् ।

व्यास्यपहेतोः परित्यागाद्वाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

अत्रास्मिन्मार्गे आरम्भे त्यागोपक्रमे इत्यर्थः । आरम्भपदे उद्देश्यस्यातुक्तत्वेपि
त्यागस्योपक्रमान्तात्स्योद्देश्यत्वेन तदारम्भ एवेत्यर्थः । अत्रेतिपदात् ज्ञानमार्गीयत्या-
गारम्भकर्तुरपकत्वात्पूर्वोक्तदुःसङ्गसहायादिना नाशः सम्भवति, भक्तिमार्गे तु त्यागारम्भ-
कर्तुर्लौकिकप्रयत्नपूर्वत्वेनातिपकत्वाद् दुःसङ्गसम्भावनाया-अप्यसम्भावितत्वात्तदन्वयस्य
नाशकत्वाभावात् नाश इत्युक्तम् । ननु दुःसङ्गाभावाद्वाशक्त्वात्सम्भावितत्वेपि कालकर्म-
स्यभावनिर्गोष्ठित्वेति चेत्, न । यथा मर्त्यादानार्गीयत्यागिनामाश्रीधरतादीनां कालादि-
भिरत्यागनाशो दृष्टस्या शुद्धमुष्टिमार्गीयत्यागकर्तुः कुनाति नाशो न दृष्ट इत्यत उक्तं

दृष्टान्तस्याप्यभाषत इति । ननु पूर्वोक्तैः कालादिभिर्नाशसम्भवेऽपि स्वचन्दनादीनां शीतलत्वेन तापहारकत्वात्तद्येपादिना तापनिवृत्त्या स्वास्थ्येन तदितरानुसन्धानात्तद्भाव-
शैथिल्यात्तापनिवर्तकमस्त्विति चेत्त्राहुः स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादिति । स्वास्थ्यहे-
तोश्चन्दनादेर्दृष्टत्वात्तेन सहैव परित्यागात् तैर्न सम्बन्धसम्भावनेति न तैर्नाशसम्भवः ।
अथवा, ज्ञानादीनां धर्मपितृकोपादिजनिततापनिवृत्तिहेतुत्वात्त्रिवर्त्यतापस्यात्रासम्भवाच्च
तेषामस्मिन् स्वास्थ्यहेतुत्वमित्यनुसन्धानेनाप्युक्तं स्वास्थ्यहेतोर्विद्यादि । तस्यायमर्थः ।
एतत्तापस्य भगवद्भावात्मकत्वाददृष्टस्य च तदजनकत्वेन तन्नाशकत्वस्याभाव इत्युक्तं बाधः
केनास्य सम्भवयेदिति । अस्य तापस्य केनापि बाधो नाश इत्यर्थः ॥ १८ ॥
एवं दृष्टाद्येपायानां नाशकत्वाभावमुक्त्वा भगवतोऽपि नाशहेतुत्वनाशश्च निराकु-
र्वन्ति हरिरिति ।

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

यद्यपि हरिः सर्वदुःखहर्ता तथाप्यत्रास्मिन्मार्गे ईश्वरत्वाद्बाधां कर्तुं न
शक्नोति । अत्रोपपत्तिः । यस्य यथा स्वरूपं तस्य तथात्वेन ज्ञानमीश्वरस्यैव भवति, अतः
अस्य नावस्य नाशे हेत्वभावमपि जानाति, स्वस्य भक्तभावाधीनत्वमपि जानातीति
स्वसाशक्यत्वं ज्ञात्वा न प्रवर्तत इत्यत उक्तं हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधामिति ।
एवं भगवद्हेतुकबाधाभावं निरूप्य कैमुतिकन्यायेन तदितरहेतुकबाधाभावमाहुः
कुतोऽपर इति । अत्र व्यतिरेके दृष्टान्तमाहुः अन्यथेति । अन्यथा यद्येवं न, तथा
मातरोऽपि बालान् स्तन्यैः न पुपुषुः, पोषणं न कुर्युः । मातर इति बहुवचनं
सर्वजाल्युपलक्षकम् । क्वचित्पदेन सर्वदेशकालनियमो ज्ञापितः । (अथवा हरिरत्रेति ।
अत्र पूर्वं हरिपदमुक्त्वा अत्रे बाधां कर्तुं न शक्नोतीति यदुक्तं तस्यायमाशयः । यद्यपि
हरिपदेन सर्वदुःखहरणसामर्थ्यमायाति तथापि दुःखहर्तृत्वमुक्त्वा यद्बाधाभावात्कर्तृत्व-
मुक्तं, तेनास्य विगाढभावस्य स्वरूपात्मकत्वात् स्वरूपस्य च द्विदलरसात्मकत्वात्तस्य
भावस्य रसात्मकत्वमेव, न तु दुःखरूपत्वम् । यस्य दुःखरूपत्वं स्यात् तदा हरित्वेन
तन्निवृत्तिं कुर्यादेव, अन्यथा नाशार्थस्य बाधार्थं न स्यात् । अत एव हरित्वमुक्त्वा
फलबाधाभावकथनमेवोक्तं, न तु दुःखहर्तृत्वमुक्तम् । स्वयमेव चेत्स्वास्थ्यं कुर्यात्तदा
स्वस्यैव फलप्रतिबन्धकत्वं भवेदित्येतदभिप्रायज्ञापनार्थमप्युक्तं हरिरत्र न शक्नोति
कर्तुं बाधां कुतोऽपरे इति ।) यथा मातृणां बालपोषकत्वाभावात्तस्यैवमेवमत्रेश्वरस्य
बाधाकरणमिति भावः ॥ १९ ॥

यद्यप्येतन्मार्गावतापस्य सर्वानाशक्यत्वं, तथापि ज्ञानमार्गज्ञापनाशमात्रे प्रसिद्ध इति
तन्मार्गबोधकवचनैस्तापनाशमात्रज्ञैः तेषामपि तापनाशकत्वाभावमाहुः ज्ञानिनामपीति ।

ज्ञानिनामपि बाध्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तत्र हेतुः । ज्ञानमार्गस्य भक्तिमार्गपेक्षया दुर्बलत्वेन भक्तिमार्गस्य च प्रबलत्वेन तद्वाक्यानां नैतद्वावाभिभावकत्वम् । ज्ञानभक्तिमार्गयोर्दुर्बलत्वप्रबलत्वविचारः श्रीम-
दाचार्यैर्दशमस्कन्धविवरणे 'मत्तो मृत्युव्यालभीत' इत्यत्र कालनियामकत्वमुक्त्वापि
यत्सुद्रेकानन्तरं समुद्रिजे भवद्भेदोतिरिति वचनेन ज्ञानमार्गीयमाहात्म्योपमर्दनपूर्वकं भक्ति-
मार्गीयमाहात्म्यमेव निरूपितमिति विस्तरमिषा नात्र विचारः । तथापि ज्ञानमार्गीयस्यापि प्रामा-
णिकत्वात् फदाचित् ज्ञानिवाचनैश्चित्तप्यासज्ञमात्रत्वमपि भवेदिति तस्याप्यभावाद्यर्थ
भगवत्कृतां रक्षास्माहुः न भक्तं मोहयिष्यतीति । (जन्मप्रकरणीयतृतीयाध्याये
भगवत्प्रादुर्भावानन्तरं यमुदेवस्तुलानन्तरं देवकीमातृचरणैर्मर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञान-
पूर्वकं 'रूपं यत्' इति स्तुतावन्ते 'मत्तो मृत्युव्यालभीत' इति पद्ये कालनियामकत्वेन
पूर्वं स्तुत्वापि पश्चाद्दुपसंहार विश्वात्म'न्निति प्रार्थनानन्तरं ब्यूह्ररहितशुद्धपुरुषोत्तमप्रा-
कट्यानन्तरं शुद्धभक्तिमार्गीयभावप्राकट्ये सति पूर्वस्तुतिहेतुभूतमर्यादामार्गीयभावत्वेन
पूर्वस्तुत्युक्तमर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञानजनितकालनियन्तृत्वादिज्ञाननिराकरणसामर्थ्यं शुद्ध-
भक्तिमार्गीयभावस्यैव पश्य । न तु पूर्वभावस्यैतद्वाचनिराकरणसामर्थ्यम् । यद्येवं न स्या-
त्तद्विपरीत्यं स्यात् । तस्माद्भक्तिमार्गीयैव सर्वमार्गीयिकप्राप्त्यर्थं विचार्यैषाचार्यैरुक्तं न भक्तं
मोहयिष्यतीति ।) रक्षाकरणे हेतुमाहुः आत्मप्रद इति । आत्मानं स्वरूपानन्दं
प्रकर्षेण ददातीत्यात्मप्रदः । यप्यनुना तत्रकारकदानस्याप्रतीतिस्तथापि वर्तमान-
सामीप्ये वर्तमानधेद्वेति शास्त्रान्धीर्न दास्यतीति सिद्धयदेवोक्तमात्मप्रद इति । हेत्वन्त-
रमप्याहुः प्रियञ्चेति । यो यस्य प्रियः सा तत्कार्यसिद्धौ यदि विलम्बं सहेत तदा प्रियत्व-
मेव न स्यादिति शीघ्रं तत्कार्यसिद्धयर्थं चित्तप्यासंगमसहभागोऽविलम्बेन रक्षामेव कृतवान्,
न तु विलम्बम्, अतः सम्यगेयोक्तं प्रियञ्चापीति । एवं रक्षायामप्यभिचारिहेतुद्वय-
मुक्तम् । ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यतीत्यत्र मोहभावाद्यर्थं रक्षाकरणं
निरूप्य रक्षाकरणस्वावश्यकत्वाय तद्रूपधर्मद्वयपूर्वकं रक्षामुक्त्वापि पुनर्यदुक्तं किमर्थं
मोहयिष्यतीति तत्रायमाशयः । भक्तत्वेपि यत्रात्मप्रदानेच्छा तत्रैव ज्ञानिवाचनयगमोह-
निवृत्त्यर्थं रक्षा, यत्र नात्मप्रदानेच्छा तत्र ज्ञानिवाचनयगमोहनिवृत्तिरक्षापि नैत्यर्थः । तत्र
निर्दर्शनम् । द्विजपत्नीनां व्रजसीमन्तिनीवद्रसातुषणोपयोगिदेहवत्त्वमत्यातिभरेण गत्वा
सेवां करिष्याम इति उक्त्वा सर्वसामग्रीसम्पादनपूर्वकं पत्यादिसर्वेष्वनुनिराकरणपूर्वकं
यागमनम् । यागतासु तास्विव भगवद्भजनं तद्भवेत्तददानेन सर्वप्रकारसाम्येप्यात्मप्रदाने-
च्छाऽभावात् श्रीतयेनुरागयेत्वादिज्ञानमार्गीयवाच्यैर्जनितमोहस्य निवृत्त्यर्थं न रक्षाक-
रणम् । व्रजसीमन्तिनीप्यात्मप्रदानेच्छाप्राप्तुयोक्तया रक्षा कृता । यथा 'रजन्त्ये'त्यादि-
मर्यादाधर्मवाच्यैः 'श्रवणादर्शना'दित्यादिज्ञानमार्गीयवाच्यैश्च मोहसम्भावनापि नाभूत् ।
प्रत्युत स्वविचारितप्रयोजनविरोधित्वेन तन्निराकरणमभूत् । अत्रेपि चतुर्ध्वारिशाध्याये

भगवत्प्रेषितः श्रीमद्बुद्धयः 'श्रूयतां प्रियसन्देश' इति भगवत्सन्देशव्याजेन तापवैकल्याघ-
मावार्यमुपदिष्टस्वापि ज्ञानस्य भगवता स्वात्मप्रदानेन रक्षितत्वेन सर्वात्मना स्योपदिष्टमार्गमो-
हाभावदर्शनपूर्वकं 'दृष्ट्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्मविक्रव'मिति पूर्वोक्ततापवैकल्यादिदर्शनेन
सर्वात्मना स्वप्रयासनिष्फलत्वं तापादिभावसातिप्रयत्नत्वं दृष्ट्वा तासु सर्वाधिकानिर्वचनी-
योत्कर्षदर्शनेन स्वस्मिन् भगवत्कृपापात्रत्वेऽप्यलपकर्षस्फूर्त्या स्वस्य साक्षात्तत्परणारविन्देषु
शिरःस्पर्शनेन नमनायोग्यत्वं ज्ञात्वा 'वन्दे नन्दप्रजक्षीणां पादरेणु'मित्यनेनैकशेषमेव यत्र
नमस्कृतवान् । तस्माद्यत्रैवात्मप्रदानं तत्रैव ज्ञानमार्गीयवाङ्मोहाभावः, नान्यत्रेत्येताव-
त्प्रमेयं मनसि कृत्वोक्तं किमर्थं मोहयिष्यतीति ॥ २० ॥
एवं संन्यासनिर्णयगुणपात्रोपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

यस्माद्भक्तिमार्गीयः संन्यासप्रकार एतादृशोऽतो यदि तादृक्प्रकारत्वं तदैतदुक्त-
प्रकारेण परित्यागः विहातुमवैकार्यः परित्यागो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः ।
अन्यथा एतदुक्तप्रकारकरणे स्वार्थात् स्वसात्मनोर्यात् पुरुषार्थसिद्धेः सकाशाद्भ्रश्यते
च्युतो भवतीत्यर्थः । इति एवंप्रकारिका मे मदीया मतिः । मदीयत्वकथनेन
मतेरनुभवरूपत्वं निरूपितम् । निश्चिता निःसन्दिग्धेत्यर्थः ॥ २१ ॥

एवं पूर्वश्लोके मतेर्निश्चितत्वकथनान्निश्चितत्वे हेतुमाहुः इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन बह्वभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतीति समाप्तौ, कृष्णप्रसादेन कृष्णः सदानन्दः पुरुषोत्तमः, तस्य प्रसादः
प्रसन्नता पूर्णरूपेत्यर्थः, तेन साधनेन कृत्वा बह्वभेन श्रीकृष्णबह्वभेनेत्यर्थः । विनिश्चितं
विशेषेण इदमित्यतया निर्णयितम् । निश्चये कृष्णप्रसादस्य साधनत्वोक्त्या तदितरसाधना-
साध्यत्वमुक्तम् । निर्णयित्वेमाहुः संन्यासवरणं भक्ताविति । भक्तौ भक्तिमार्गे
संन्यासवरणं संन्यासाद्भीकारप्रकारः । अथवा भक्तौ भक्तौ सत्यां अथवा भक्तौ
भक्त्यर्थं मजनार्थं इदं संन्यासरूपं भगवतो वरणं वरणमेवेत्यर्थः । विपरीते साधकमाहुः
अन्यथेति । अन्यथा भक्तिव्यतिरेकेण करणे उक्तप्रकारमावात् पतितो भवेत्,
तस्मान्मार्गात् च्युतो भवेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

पितृपादाब्जकृपया विच्युतोऽस्ति यथामति । संन्यासनिर्णयत्वेन प्रसीदन्तु मयीश्वराः ॥१॥
भक्तिमार्गे पुमर्था ये सिद्धास्ते सर्वथा मधि । तैरेव च कृतार्थोऽहमिति मे सुदृढा मतिः ॥२॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणैककथनेन श्रीबह्वभेन विरचितं
संन्यासनिर्णयविवरणं सम्पूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीमद्रघुनाथविरचितविवरणसमेतः ।

विद्वलेशपदाम्भोजं भक्त्या नत्वा विचार्यते ।

आचार्यश्रोक्तसंन्यासनिर्णये तत्प्रसादतः ॥ १ ॥

अथ कर्ममार्गकनिष्ठानां भगवत्प्राप्तिक्षणमुख्यफलासम्पन्नाच्छेदनैरन्तर्यदर्शनेन
जारुटेपि तच्छेषजनितग्लान्यभावाच्च कदाचित्सङ्गबशाद्भगवदीया अप्येवंविधा मा मूलशिले-
तदर्पमादावेव सुखोपायं संन्यासं निरूपयन्ति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये श्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

शरीरादिवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा मया तदानीमेव भगवदर्थं किमिति न यत्-
मितीच्छो यस्यापः स पश्चात्तापः । भगवत्तत्कृतातिरिक्तविषयाणां परितः सर्षतो वाद्याभ्य-
न्तररादित्येन यस्यागः स परित्याग इत्युच्यते । स पूर्वोक्तपरित्यागो मार्गद्वये कर्तव्यत्वे-
नोपदिष्ट इत्यर्थः ॥ १ ॥

सृतीयमार्गस्यापि सत्त्वात्त्रापि कथं नेत्यत आह कर्ममार्ग इति ।

कर्ममार्गं न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत्र आरदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यमिति चिन्त्यतः ॥ २ ॥

अत्र कर्ममार्गपदेन सक्रमान्तःकरणस्य संन्यासनिषेधो बोध्यते । अन्यथा प्रवृत्ति-
मार्गं संन्यासविधायकवाक्याश्रवणप्रदेवाकरणे सिद्धे तत्रिषेधो नोपपद्येत । प्रातिपूर्वकत्वाधि-
षेधस्य । सुमान्तरे तु शरीरशोषणप्रवादिनाप्यन्तःकरणस्य विषयपरास्तुलतोपपद्यते । कलौ तु
तत्साधनप्रतादिकर्मणां साहृष्याभावाद्यमोक्तफलानर्हत्वेन संन्यासानुपसुक्तत्वात्सुतरां न
कार्यं इत्यर्थः । तदेवं मार्गद्वय एव कर्तव्यत्वेन प्राप्ती ज्ञानाधिष्ठया भक्तैरभ्यर्हितत्वात्प्रथमं
भक्तिमार्गं कथं कर्तव्यं इत्येताच्छ्री विचारणा क्रियत इत्यर्थः ॥ २ ॥

श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यञ्चेत्स नेप्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

श्रवणादीति । वैयर्थ्याभावपूर्वकं भक्तिसाधनश्रवणादिषु प्रवृत्त्यर्थं सन्यासश्लोके-
र्तव्यस्तदा स एवंविधः इह भक्तिमार्गं न स्वीक्रियत इत्यर्थः । ननु श्रवणादिसाधनानां
भक्त्यनुकूलत्वाद्भक्तिसाधनश्रवणादिसम्पत्त्यर्थं संन्यासः कुतो नेत्यत आह सहा-
यसङ्गसाध्यत्वादिति । भगवत्त्व जिज्ञासोरेकाकिनः श्रवणादेः सहायस्य सङ्गः
सम्पत्तिसाध्यत्वात् । नहि श्रावयितारं विना श्रवणं सम्भवति । नच श्रुतस्यापि
ग्रन्थपर्यालोचनगुरूपसत्यादिना विना स्वैर्यम्, अतस्तदंशस्य त्यक्तस्यापि पुनः स्वीकारे
धान्ताशित्वमेव । इदमेकं पापकम् । अपरमाह साधनानामिति । अल्पकालपर्यन्तं
श्रवणादिसाधनमादरणीयमित्यपि नास्ति, यतो यावज्जीवमपक्रकपायैर्योगिभिः साधनानि
रक्ष्यन्त एव । इदं द्वितीयम् ॥ ३ ॥

अभिमानादिति ।

अभिमानाश्रियोगाच्च तद्धर्मश्च विरोधतः ।

गृहादेर्पापकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

विनिदिपादशायां सर्वथा कामक्रोधाद्यनपगमाद्ग्रन्थादिपक्षपातेन प्रतिवादिनिरा-
करणाय यक्षोपि सम्भाव्यते, तादृशभाभिमानकृतः सन्यासे कृतेऽल्पोपि नोचित इत्यर्थः ।
इदं तृतीयम् । नियोगादिति । गुर्वाज्ञा नियोगः । तदकरणे प्रत्ययामः, तत्करणे व्यसङ्गः,
तथा सति नेष्टसिद्धिरिति भावः । इदं चतुर्थम् । तद्धर्मैरिति । सन्यासे सर्वत्यागस्य मुख्य-
त्वात् श्रवणादीनां ग्रन्थादिस्वीकारसाध्यत्वात् परस्पर धर्मविरोधात्क्रतिकमार्गेऽन्यशेषत्वेन
सन्यासो न प्रशस्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

भगवद्दर्शीचरणे अनर्थोक्तिरगृहादीनां पापकत्वात् प्रतिपन्थापगमाय सन्यासो यदि
कर्तव्यस्तदापि पापकत्वमाह अत्रेपीति ।

अत्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्स कामतः ॥ ५ ॥

गृहादिसङ्गमावाय सन्यासे कृतेपि तदनन्तरं तादृशीः पूर्वोक्तसहायादिभिरेव
सङ्गो भवति । अन्तःकरणस्य सर्वशेष भगवत्परत्वाभावात् । नान्यथा । (न) भगवदेकपर-
तेत्यर्थः । ननु भगवदर्थत्वेनैवमपि क्रियमाणे फलं अनिष्यत्येवेति चेत्तत्राह स्वयं चेति ।
भक्तिमार्गविरुद्धमिदमिति ज्ञात्वापि यः संन्यसेत्, स विषयवासनावहितान्तःकरणत्वेन
भगवद्रसाननुभवात्पक्षविषयेष्वेवामिनिविशेत् । स कामतः कामित्वाद्द्विषयाक्रान्तः

१ वैराग्यभावश्च रतिरिति पाठ । २ कर्तव्यत्वेन प्रतीतिमानपेक्षया भक्तिमार्गं न स्वीक्रियत इति पाठ ।

३ जलधोरूपमिति पाठ । ४ असाध्यवृत्त्यमिति पाठ ।

पापण्डी च भवेत् । धर्मध्वजित्वात् । रटतरवैसम्प्राभागे तादृशधर्माचरणं निष्कलमेव । तदुक्तं भगवता 'दुःखमित्येव यत्कर्म कायद्वैशमयाख्यजेत् । स कृत्वा राजसं त्याग नैव त्यागफलं लभेत्' । अन्यदपि, 'कर्मैन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रिया-
र्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' इति ॥ ५ ॥

नन्वेतादृशानामपि कदाचिन्महता कालेन फलं भविष्यत्येवेति चेत्तत्राह विषया-
क्रान्तेति ।

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुग्रावहः ॥ ६ ॥

विषयागिनिविद्यन्त.करणानां हरेरावेशः चित्ते ह्रस्वरूपस्थितिर्न भवतीति शेषः । तत्र सर्वदा, न कालनैयतेन । अत इति । यतः पूर्वोक्तानां दोषाणां सम्भवः अतः कारणादत्र अस्मिन्विचारे, भक्तौ भक्तिमार्गे, साधन इति निमित्तसप्तमी । तेन साधन-
सम्पत्पर्यं यः परित्यागः स सुख नावहति, न करोतीत्यर्थः । न केवल सुखामायः, किन्तु
दुःखमपि इति भावः ॥ ६ ॥

तर्हि किं लिप्सुः प्रवर्ततेत्यपेक्षायामाह विरहेति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयवन्धनिवृत्त्यर्थं चैवः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

'तन्मनस्कास्तदात्मा' इत्यादिषु प्रसिद्धो यो वनसुन्दरीणां श्रीकृष्णाङ्गसङ्घनियो-
गकालीनो भावविशेषः कथनानिर्वचनीयः अनुभवेकथेदो यः सोऽत्र विरहपदेनोच्यते,
तस्मानुभवः साक्षात्कारः, तदर्थं तु संन्यासो भक्तिमार्गीयः प्रशस्त इत्यर्थः । उक्तमपि पुनः
शिक्षार्थमाहुः स्वीयेति । स्वस वन्धो वन्धनहेतुर्गृहादिः, तन्मानैकनिवृत्त्यर्थं चेत्संन्यासः,
तदा सोऽत्र भक्तिमार्गे वन्ध एव ज्ञेयः, तस्य स्वमार्गीययोक्तफलासम्पादकत्वात् ।
नान्यथा । वन्धातिरिक्तफलासम्पादक इत्यर्थः । अत्र चेदिति पदमध्याहार्यम् ॥ ७ ॥

न'न्वाचार्यवान् पुरुषो वेदे'त्यादिवाक्यैर्गुरुभद्रलम्पत्वं संन्यासादेः श्रूयते, तदुक्त-
साधनाचरणं च । तत्र सर्वं प्रकृते कथं सेत्स्यत इत्यत आह कौण्डिन्यगोपिका इति ।

कौण्डिन्यगोपिकाः प्रोक्ता सुरचः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदित्यते ॥ ८ ॥

कौण्डिन्यनामा यो महर्षिः । याश्च राममण्डलान्तर्वातिन्यो गोपिकाः । कौण्डिन्यश्च
गोपिकाश्चेति इन्द्रः । विरहानुभवार्थिसंन्यासे सुरच उपदेशात् एताः प्रोक्ताः सम्यगुक्ताः ।
नहि भक्तिमार्गे एतदतिरिक्तस्वान्वस्यैवविधत्वं सम्भवति । यदपि तासां साक्षादुपदेष्टृत्वं
न दृश्यते, तथापि तदाचरणं श्रुत्वा तद्वा वा यः प्रवर्तते, तं प्रति तादृशालीकिक्रमार्ग-
प्र

दर्शकत्वात्तासामेव गुरुत्वं युक्तम् । श्रूयते च भविष्योत्तरे अनन्तव्रतकथायां कौण्डिन्यस्य सर्वस्वागपूर्वकं भगवदेकपरतया स्थितस्य श्रीप्रभेव तत्प्राप्तिः । तद्यथा 'ततो जगाम कौण्डिन्यो निर्वेदाह्ननगह्वरम् । अनन्तं मनसा ध्यायन् कदा द्रक्ष्यामि केशवम् । व्रतं निरशनं कृत्वा ब्रह्मचर्यं जपन् हरिम् । विह्वलः प्रयथौ सोप्यरण्यं जननिवर्जित' मित्यादि । व्रजसुन्दरीणां तु 'गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै' रित्यादिषु स्फुटमेवालीकृतधाविधत्वम् । यद्यप्येतासां साम्यं कर्तुं मनसाप्यशक्यम्, तथापि स्वागस्येतोधिकस्य सर्वथा अभाव एवान्यत्रेति ज्ञापनार्थम् । एतादृशसर्वात्मभावपूर्वकान्यविषयपरित्यागे श्रुतिरिति भगवत्प्राप्तिरिति भावः । साधनं च प्रोक्तमित्यर्थः । किं तत्साधनमित्यपेक्षायामाह । तन्नोति स्वरूपानन्दानुभवं विस्तारयतीति तत् । तादृशो यो यस्य भक्तस्य यादृशी भावना तथा सिद्धः सम्ब्रोजो भावविशेषः स एव साधनस्थानीयः । एतदतिरिक्तस्यान्यस्य यागादेः साधनत्वं नेष्यत इत्यर्थः । यद्वा तद्गुरुत्वेनोक्तं यत्तत्साधनम् ॥ ८ ॥

एवंविधसंन्यासवतः प्रवृत्तिवैलक्षण्यमन्यापेक्षया ज्ञानादिभिरप्रतीकार्यत्वं चाहुः विकलत्वमिति ।

विकलत्वं तथास्यास्थयं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

उद्देश्यवस्त्वप्राप्तिदशायां चिन्ताबाहुल्याद्विकलत्वं विक्षिप्तचित्तत्वम् । तथैषा-
स्यास्थयं शरीरे तदलाभे वैयर्थ्यपाण्डुरत्वादि । एतद्रथमपि प्रकृतिः स्वभावान्तःपालेय,
नैपाधिकम् । तादृशावस्थस्य उपायान्तराप्रतीकार्यदुःखत्वमाह प्राकृतमिति । भगवद्गी-
तापेक्षितस्वरूपज्ञानापेक्ष्यान्ययन्थासज्जन्यमल्पसारं ज्ञानं तदत्र प्राकृतमुच्यते । गुणा-
त्प्राप्तिमायैश्वर्यादियोगसिद्धयः । तदिदं सर्वमप्येवं वर्तमानस्यैतादृशावस्थस्य न हि वा-
च्यता, न समीहितान्तराथहेतवो भवन्तीत्यर्थः । एवंदशापन्नस्य शास्त्रीयं माहात्म्यादि-
बोधकं ज्ञानं न तच्छोकनिवर्तकम् । यत्र सर्वसम्मतस्यास्प्यहेतुज्ञानस्याप्यप्रयोजकत्वम्,
तत्र किं वाच्यमैश्वर्यादीनामिति भावः । प्रकृतेरिति पाठे वैकल्यं विपर्यासः । अन्यत्
समानम् ॥ ९ ॥

ज्ञानमार्गाविसंन्यासापेक्षया यथा भक्तिमार्गीयस्य संन्यासस्योत्तमसाधनत्वं तथैव
तत्कलस्यापीत्याहुः सत्यलोक इति ।

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषतः ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

सत्यलोको ब्रह्मलोकः । तत्र ज्ञानात् संन्यासाश्रमरहितकेवलज्ञानादपि स्थितिर्भ-
वति । संन्यासेन सहिता तु विशेषतः पुनरावृत्तिरहितेत्यर्थः । तथा च नारायणे श्रूयते
'वेदान्तविज्ञानमुनिभितायोः संन्यासयोगायतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले

परामृतात् परिसुच्यन्ति सर्वे' इति । भक्तिमार्गीयगाद् भावनेति । यत्र यस्मिन् फले भावनेव साधनं भवति तत्र फलमपि तथा भावनानुरूपमेव भवेत् । यथा मद्यलोकप्राप्तिसाधनानां पत्तुत्यादत्यफलसम्पादकत्वम्, न पूर्णस्य, एव भावनानामनन्तरमात् फलसाधनानन्वयमिति भावः । अत एवाचार्यैरुक्तम् 'प्राकृता सकला देवा गणितानन्दकमुहृत् । पूर्णानन्दो हरिस्त्रिस्मात्पुष्प एव गतिर्मे'ति । भगवद्यन्तनपरस्य मद्यलोको नानुरूप फलमिति तु श्रीविष्णुपुराणे श्रूयते । तथा, 'यस्मिन् न्यस्तमतिर्न याति नरकस्वर्गोपि यचिन्तने निभो यत्र निवेशितात्ममनसो ब्रह्मोपि लोकोऽत्यक्तः । मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधिया पुसा ददात्यप्ययं किं चित्रं यदप्यप्रयाति निष्ठय तन्नामुते कीर्तितं' इति ॥ १० ॥

तादृशः इति ।

तादृशः सत्यलोकादीं तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

यत्किञ्च प्रकटः स्यात्मा यद्विच्यत् प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो यन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

किं प्रत्ययान्तस्य पदुवचनम् तादृश इति ज्ञेयम् । ये केवलज्ञानमार्गीयास्ते सत्यलोकादावेव तिष्ठन्ति, नतु पुरुषोत्तमे, भक्तिमार्गीयान्तं पातित्वात् । आदिपदेन सकर्मणोऽद्विष्यन् ज्ञेयम् । यद्यपि 'प्रथमा सह सुच्यन्ते' इति वाक्याद्ब्रह्मलोकादप्यत्रै गतिस्त्रयस्थाना श्रूयते, तथापि भगवानानन्दाननुभवादेतदपेक्षया तुच्छत्वमेवेति भावः । तर्हि ब्रह्मलोकस्थानामपि बुद्धो न भगवानानन्दानुभवं ? भगवतीयस्वरूपस्यात् प्रवेशाभावात् दित्वाद् यद्विश्च प्रकट इति । आकाशपदन्तर्वद्विष्य प्रकटं सिद्धोपि स्यात्मा भगवानन्तं स्थितोपि यद्वि प्रकटीभूय स्त्रीलाभिनिषिष्टचित्तेषु यदैव प्रविशेत्तत्रैवान्तर्हितो भवेत्, तदैव सकलो यन्धो यद्वादिर्नाशमेति, तिरस्कृतं भवति, न त्वन्येनापि प्रकारे पेत्यर्थः । अत एवोक्तम् 'प्रथमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते'ति । यथा शुष्ककाष्ठस्थितो वद्वि शीतशतनासमर्थः, स एव मन्थनादिना पहिर्भूतो ज्वालादिरूपेण तत्रैव काष्ठप्रविष्टं काष्ठं स्वात्मसात्कृत्वा शीतं निवर्तयति, एव यद्वि स्थितमानन्दपनस्वरूपमपि भक्तभावनाभावितं यावत् पुनः प्रविशति, तावत् तस्वरूपप्राप्तिरिति भावः । ज्ञानमार्गीयाणां तद्रूपलेशाभावात् तस्मात्प्रियाद्यापि ॥ ११ ॥

नतु विरहावस्थायां किमवलम्बनं जीवनमित्यत आह गुणास्त्विति ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याजीवनाय भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवत्सङ्गस्य राहित्यात् । अत्र व्यन्तीष पञ्चमी । तेन सङ्गराहित्यं प्राप्य स्थिते सति गुणान्तस्वेवानुक्रियमाणं लीलास्वदीयगुणानुवादे वा । तदुक्तम् 'तव ह्यस्य तस्यजीवन'मिति । त एव जीवनाय भवति । हिशब्दः प्रसिद्धौ ॥ १२ ॥

भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

अत्रास्मिन् जीवने अन्तर्हितो भगवानेव बाधकश्चेत्तोपि फलरूपत्वान्नैवंविधो भवतीत्यर्थः । ननु गुणानां जीवनहेतुत्वोक्तावपि यावन्न दृग्गोचरत्वं स्वरूपस्य भवेत्, तावत्तापापायोपि नेति तदर्थं स्वास्थ्यजनकं प्रकारान्तरेण बाधकवाक्यं कर्तव्यं चेत्तत्राह स्वास्थ्यवाक्यमिति । न कर्तव्यं न स्वयमन्यस्याश्चेत्यम् । न चान्यस्मै श्राव्यमित्यर्थः । तथाच स्वास्थ्यं भगवानेव करिष्यतीत्याह दयालुरिति । यतो निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छुः, अतो भक्तानामेतादृगवस्थां ज्ञात्वा विलम्बं न करिष्यति, अतो न विरुध्यते, न प्रतिकूलमाचरिष्यति । प्रत्युत परोक्षभजनानन्ददानेपि भक्तकृत्यं प्रति स्वस ऋणित्वमेवाङ्गीकरोति । तच्च भगवतैवोक्तम् 'न पारयेहं निरवयसंयुजा'मित्यादि । एवविधानां स्वास्थ्यवाक्यसहसैरपि नैष्टसिद्धिरिति परमार्थः ॥ १३ ॥

दुर्लभोपमिति ।

दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।

अयं भक्तिमार्गीयो यः परित्यागः स प्रेम्णा निरुपधिश्लेहादेव सिध्यति, अतो दुर्लभः, अन्यैः साधारणैः कर्तुमशक्य इत्यर्थः ॥ १३३ ॥

भक्तिमार्गीयं निरूप्य ज्ञानमार्गीयमाह ज्ञानमार्ग इति ।

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो छिविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रचलत्वादिति स्थितिः ।

विचारोत्रोपपत्तिस्मादित्यर्थः । स द्विप्रकारकोऽपि ज्ञेयः । अपिशब्दोऽत्र गर्हायाम् । द्वैविध्यमाह ज्ञानार्थमिति । ज्ञानोत्पत्त्यर्थमेकः । उत्तरस्य मोक्षस्याङ्गं तदर्थमिति यावत् । यद्यपि ज्ञानार्थस्यापि मोक्षाङ्गत्वमेव, तथापि प्रयोजनयश्चद्वैविध्यम् । अन्यथा कर्मणोपि द्वैविध्यं न स्यात् । परन्तुभाम्यामपि जन्मशतैर्बहुजन्मभिरभ्यासेन सिद्धिर्मोक्षो भवति । न भक्तिमार्गीयवद्भट्टिति । अत एव भगवताप्युक्तम् 'बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । यासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति । व्यवहारेपि विद्वत्संन्यासो विविदिपासंन्यास इति श्रूयते द्वैविध्यम् । भक्तिं विहाय केवलज्ञानार्थमेव यः संन्यासः स दोषप्रसक्तवान्न कर्तव्य इत्याहुः ज्ञानं चेति । चकारान्मोक्षोपि साधनसापेक्ष एव । तत्र हेतुः ।

यज्ञादिश्रवणात् । यज्ञादिकं साधनत्वेन धृत इत्यर्थः । इदं तु गीतायाम् 'द्रव्य-
यज्ञान्नपोयज्ञा' इत्यादिषु स्पष्टम् । यज्ञादीनां सादानामेव फलमम्पादनक्षमत्वात्, तथ
कली सर्वधीय न सम्भवतीत्यतस्तत्करणं पश्चात्फलदशायां तापायैव, न सुराया । पूर्वोक्त-
धर्मेष्वित्वेन पापण्डित्यमेव म्यात् । अपिशुन्द्रादपि फलाभावः । अत एव श्रीभाग-
वते 'श्रेयःशुक्तिं भक्तिमुदसे' त्यादिनोक्तम् । यत एवंप्रकरणे पश्चात्तापः फलसम्पन्धम् ।
तस्मात् ज्ञाने न, ज्ञानमार्गे न संन्यमेत्, कली साधनपक्षमाल्पत्वात्कारुण्यकृतदोषाणां
प्रापत्यास्तुतरामेव न कार्ये इति वस्तुस्थितिरित्यर्थः ॥ १४, १५, १६३ ॥

एवं भक्तिमार्गेण दोषमाशङ्क्य समाधत्ते भक्तिमार्गंपीति ।

भक्तिमार्गं चिन्तयित्वा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अध्वारमन्त्रे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावात् ।

स्वारूप्यहेतोः परित्यागाद्वापः केनास्य सम्भवत् ॥ १८ ॥

हरिरन्न न शक्नोति कर्तुं पापां कुतोऽपरं ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

अध्वारमन्त्र इति । अस्मिन्भक्तिमार्गीयसंन्याससोपक्रममापेति कृते न नाशः, न
कृतोपक्रमधैर्यम्, नापि विज्ञो भवेत्, नापि प्रत्यवायः । तदुक्तं मगधता 'नेहामिक्रम-
नाशोक्ति प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य प्रायते महतो भयादि'ति, श्रीभागवतेपि
'तथा न ते माधय तावकाः क्वचि'दित्यादिना । क्रिय, पूर्वमेवं चिकीर्षोः कस्त्वचिदन्यथाभाव
इत्यर्थे सर्वसम्मतदृष्टान्तस्याप्यभावात्, अतो ज्ञानमार्गीयस्य प्रत्यास न पातादिसहेत्यर्थः ।
भक्तिरहितज्ञानमार्गीयस्य तु पातः धृत्ये श्रीभागवते 'येऽन्येऽरिन्दिनाश्च विमुक्तमानिनस्त्व-
प्यस्वभावादविशुद्धबुद्धयः । आरुह्य कुन्त्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोनाहृतमुन्मदञ्जय'इति ।
किञ्च, अस्तिद्वयं स्वारूप्यहेतोस्तुच्छविपपादेः परितः सर्वतत्त्वागादेव न पापः सम्भवति ।
अन्तर्बद्धिः सिद्धविपयस्य तु श्लोष्टफलत्वादेव न तत्सम्भव इत्यर्थः । यदि तदेकाग्रिताना-
मपि तस्मादेव वापः स्वात्तदा भानुमानैकजीवनान् बालान्मातरोपि न क्वचित्पुपुषुर्न
स्तन्यैः पुष्पीयुः, पुष्पः न कुर्वुः, प्रस्तुतानिष्ठं च कुर्वुः, न त्वेवं कुत्रचिदस्तीत्यतो न पाप-
शङ्कालेशोपीति भावः ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

अल्पज्ञं प्रत्याहृः ज्ञानिनामिति ।

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियञ्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

ज्ञानमार्गप्रशंसावाक्यैरपि तद्द्वारा स्वमज्जे प्रवृत्तं न मोहं प्रापयिष्यति । इदमुत्कृष्ट-
मिदं वेलेनविभम् । ननु कर्तुंमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य स्वतत्रस्य कदाचिदेवमपि करणं

स्मादिति चेतत्राह आत्मप्रद इति । स्वस्वरूपं भक्त्यो दत्तवान्, तदधीनत्वेन स्थापित-
वान्, यश्च स्वात्मत्वेन प्रियश्च । अत एवोक्तम् 'श्रेष्ठो भवांसानुभूतां किल घन्धुराले'ति ।
अपिशब्दादेवमजानतामभक्तानामप्रियश्च । चकारात् स्वस भक्तस कृत्यनुबुभूयुत्वमपि ।
एतादृशसापि मोहकत्वे न किमित्कारणमस्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

उपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिन्ता मतिः ॥ २१ ॥

उक्तप्रकारेण भक्तिमार्गे स्थित्वा विरहानुभवार्थमेव क्रियताम्, अन्यथा इमं
प्रकारान्तरं लक्ष्वा प्रकारान्तरेण तदाचरणे स्वार्थात् स्वस्मिन्नेवाध्यते अन्विष्यत इति
स्वार्थो भगवान् तस्मान्भ्रश्यते दूरे पततीत्यर्थः । इति एवंप्रकारिका मे निश्चिन्ता
शुद्धिरित्यर्थः । यद्वा, स्वार्थात् समीहितफलादित्यर्थः ॥ २१ ॥

इति कृष्णप्रसादेन बद्धमेन विनिश्चितम् ।

संन्यासचरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतीति । कृष्णः प्रसाद्यते येन, कृष्णस्य प्रसादोन्नेपां यस्मादिति वा । तत्प्रसाद-
रूप एवेति वा । ईदृशेन बद्धमेन भक्तौ भक्तिमार्गे संन्यासस्य चरणं चरतीति स्वीक-
रणम् । इति उक्तप्रकारेण विशेषतो निश्चितं निर्धारितम् । भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्यैदं विद्याया-
न्यथा अन्येन ज्ञानमार्गाद्युक्तप्रकारेण स्वीकरणे पातित्यमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

आचार्यचरणाम्मोजरजोरञ्जितवागहम् ॥

कृतवान् भक्तिसंन्यासविचारे सुविचारणाम् ॥ १ ॥

कर्मणा मनसा वाचा प्राणैर्दरिर्धनैरपि ॥

विद्वलेश त्वदीयोसि नान्यथा ज्ञातुमर्हसि ॥ २ ॥

इतिश्रीबद्धभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ
संन्यासनिर्णयविचरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनबल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोकुलोत्सवविरचितविवरणसमेतः ।

यत्सदाञ्चरसास्तादविस्तृतान्वयसुखा मुहु ।

रमन्ते तद्गुणालापेस्त वन्दे गोकुलेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ सकलश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायादिप्रमाणसम्मला भगवदानन्दानुभव एव सर्वेषां परमफलम् । तथापि भद्रानन्दानुभव श्रीगोपीजनबल्लभाय । तथाहि । 'रसो वै स' इत्यादिभ्यो भगवान् रसरूप । रसश्च शृणार । स च सयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः । तेन तद्गुणभवात्प्रकभगवदानन्दानुभव एव परमफलम् । स च लीलादृष्टौ प्रवेशे सति सम्भवति । तत् पूर्वदशायाम् तु सयोगभावात् सर्वपरित्यागपूर्वक विप्रयोगभावानुभव एव परमफलम् । सर्वपरित्याग विना लौकिकाशस्य सत्त्वादव्यग्रतया विप्रयोगानुभवासम्भवात् । स च परित्यागः कस्मिन् मार्गे कर्तव्य , कदा वा कर्तव्य , कथं वा कर्तव्य , किमर्थं वा कर्तव्य , करणानन्तरं च तस्य कीदृशी दशेत्येतत्सर्वनिर्धारार्थं विचात्रयोजनमनुवदन्त एवाचार्याः परित्यागविचारं प्रतिजानन्ते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गहितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने चिदोपतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च परित्यागः कर्तव्य , तथापि मिद्धदशायामेव , न तु साधनदशायाम् । साधनदशायामवलन्तवैराग्याभावेन परित्यागनिर्वाहात् पापण्डित्वप्रसङ्गेन ज्ञतोपि परित्यागः पश्चात्तापय भवति । एतन्नित्यतम्यज्ञानाभावे भगवदीया अपि पूर्वमेव परित्यक्तसर्वोपाः सन्त पश्चात्ताप भवेयुः , तथा तान् दृष्ट्वा स्वयमपि पश्चात्ताप भवेयुः , तथा चान्येषां स्वस्य च पश्चात्तापस्ताननिर्भावार्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । यद्वा । सकलदेवजीवानां भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदाज्ञया द्वाचार्याणां मूलोक्तेऽन्तर । सा भगवत्प्राप्तिश्चाचार्यैर्भक्तिमार्गे प्राकट्येन नियते । तत्र यथा सर्वमिद्वान्तमुक्तवन्तस्तथा अन्यप्रतया निरन्तरं विप्रयोगभावात्तुमवार्थं परित्यागोपि पूर्वमेव कथनीयः । तथा चैतावत्कालं युथा विलम्बं युक्त इति यः पश्चात्तापः तस्य निवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । अथवा । परित्यागेन पूर्वमहर्निश

विप्रयोगभावानुभवः, तदनन्तरमलौकिकदेहेन संयोगभावानुभवः । तथा च पश्चात् परित्यागा-
नन्तरं तापश्च निवृत्तिश्च तापनिवृत्ती, तयोनिमित्तं परित्यागो निवार्यत इत्यर्थः । तेनोभय-
प्रकारकभगवद्भावानुभवे आचार्योद्यम एव हेतुरिति सूचितम् । यत्र 'विरहानुभवैकार्यसर्व-
त्यागोपदेशक' इति सर्वोत्तमे उक्तम् । तदव्यवधाननिवृत्त्या सवासन इति परिशब्दार्थः ।
ननु परित्यागः कस्मिन्मार्गे कर्तव्य इति चेत् ? तत्राहुः स मार्गद्वितये प्रोक्त इति ।
विशेष आधिभ्यम्, तेन सिद्धदशा विशेषः । विशेषतः इति ल्यब्लोपे पशमी । तथा च
भक्तौ ज्ञाने च विशेषं सिद्धदशां प्राप्य मार्गद्वितये भक्तिमार्गं ज्ञानमार्गं च स परि-
त्यागः प्रकर्षेण उक्तः, कर्तव्यत्वेन कथित इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्ममार्गं न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वादिधारणा ॥ २ ॥

अथ कर्ममार्गं साधनदशायां ज्ञानमार्गं उपासनामार्गं साधनदशायां भक्तिमार्गं
च परित्यागः पश्चात्तापायेति तत्रिवृत्त्यर्थं परित्यागस्य विचारः कियते । विशेषतः विशेषं
प्राप्य । स च सिद्धदशा उभयोः । यद्वा, बहुजन्मतु परित्यागः कर्तव्य इति आधृति-
षाहुत्पमेव विशेष इति ज्ञानमार्गं एव विशेषतः इत्यन्वेति । निष्कामतया कर्मकरणं चित्त-
शुद्धयर्थम्, कर्ममार्गं पत्नी विना च यज्ञादिकरणसम्भवीति न परित्यागः सम्भवति । पत्नी-
साहित्येपि निष्कामतया कर्माचरणं सत्यास एवेति चेत् सोपि कलौ देशादिशुद्धभावाद्वा
सम्भवतीत्याहुः सुतरां कलिकालत इति । यद्वा । आयुषश्चतुर्थभागे संन्यास इति यन्मतं
तस्मिन्नपि मते भक्तिं ज्ञानं च विना केवलं कर्ममार्गं विरक्तिं विना न कर्तव्यः परित्यागः
किन्तु विरक्तावेवेति भक्तेर्ज्ञानस्य वा सिद्धदशां विना न सम्भवतीति कर्ममार्गं न परि-
त्यागः, सुतरां कलिकाले ॥ २ ॥

श्रवणादिप्रसिद्धार्थं कर्तव्यत्वेत्स नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्दर्मेच्च विरोधतः ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेपि तादृशैरेव सद्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेशानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥
विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रदास्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

श्रवणादीनां निरन्तरत्वग्रतया सिद्धार्थं यदि स नेष्यते भावोद्बोधकत्वान्नगव-

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोकुलोत्सवविरचितविवरणसमेतः ।

यत्पदाञ्जरसास्वादविस्मृतान्यसुखा मुहु ।

रन्ते तद्गुणादापेस वन्दे गोकुलेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ सकलश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायादिप्रमाणसम्मत्या भगवदानन्दानुभव एव सर्वेषां परमफलम् । तत्रापि भजनानन्दानुभव श्रीगोपीजनवल्लभस्य । तथाहि । 'रसो वै स' इत्यादिभ्यो भगवान् रसरूप । रसश्च शृंगार । स च सयोगविप्रयोगभेदेन द्विविध । तेन तदुभयभावात्मकभगवदानन्दानुभव एव परमफलम् । स च लीलाष्टौ प्रवेशे सति सम्भवति । तत्र पूर्वदशायां तु सयोगाभावात् सर्वपरित्यागपूर्वक विप्रयोगभावानुभव एव परमफलम् । सर्वपरित्यागं विना लौकिकाश्रयं सत्त्वादित्यप्रतया विप्रयोगानुभवासम्भवात् । स च परित्यागं कस्मिन् मार्गे कर्तव्यं, कदा या कर्तव्यं, क्व वा कर्तव्यं, किमर्थं वा कर्तव्यं, करणानन्तरं च तस्य कीदृशी दशेत्येतत्सर्वनिर्धारार्थं विचारप्रयोजनमतुषदन्त एवाचार्यां परित्यागविचारं प्रतिजानते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च परित्यागः कर्तव्यं, तत्रापि विद्वदशायामेव, न तु साधनदशायाम् । साधनदशायामत्यन्तवैराग्याभावेन परित्यागानिर्वाहात् पापण्डित्वप्रसङ्गेन कृतोपि परित्यागं पश्चात्तापय भवति । एतान्तात्तम्यज्ञानाभावे भयवदीया अपि पूर्वमेव परित्यक्तसर्वार्थो सन्त पश्चात्तापं भवेयुः, तथा तान् दृष्ट्वा स्वयमपि पश्चात्तापं भवेयुः, तथा चान्येषां स्वस्य च पश्चात्तापस्यान्निर्माणार्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । यद्वा । सकलद्वैवजीवानां भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदाज्ञया द्वाचार्याणां भूयोऽन्तारः । सा भगवत्प्राप्तिसिद्धाचार्यैर्भक्तिमार्गं प्राकट्येन नियते । तत्र यथा सर्वसिद्धान्तसुकुञ्जलताया अत्यग्रतया निरन्तरं विप्रयोगभावात्तुभवार्थं परित्यागोपि पूर्वमेव कर्तव्यः । तथा चैतादृक्कालं ब्रूयादित्यन्तः कृत इति यः पश्चात्तापं तस्य निवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । अथवा । परित्यागेन पूर्वमहर्निश

विप्रयोगभावानुभवः, तदनन्तरमलौकिकदेहेन संयोगभावानुभवः । तथा च पश्चात् परित्याग-
नन्तरं तापश्च निवृत्तिश्च तापनिवृत्ती, तयोर्निमित्तं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । तेनोभय-
प्रकारकमगवद्भावानुभवे आचार्योद्यम एव हेतुरिति सूचितम् । यश्च 'विरहानुभवैकार्यसर्व-
त्यागोपदेशक' इति सर्वोत्तमे उक्तम् । तदव्यवधानविवक्षया सधासन इति परिशब्दार्थः ।
ननु परित्यागः कस्मिन्मार्गे कर्तव्य इति चेत् ? तत्राहुः स मार्गद्वितये प्रोक्त इति ।
विशेष आधिक्यम्, तेन सिद्धदशा विशेषः । विशेषतः इति त्यक्त्ये पञ्चमी । तथा च
'भक्तौ ज्ञाने च विशेषं सिद्धदशां प्राप्य मार्गद्वितये भक्तिमार्गं ज्ञानमार्गं च स परि-
त्यागः प्रकर्षेण उक्तः, कर्तव्यत्वेन कथित इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्ममार्गं न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

अथ कर्ममार्गं साधनदशायां ज्ञानमार्गं उपासनामार्गं साधनदशायां भक्तिमार्गं
च परित्यागः पश्चात्तापायेति तस्मिन्निवृत्त्यर्थं परित्यागस्य विचारः क्रियते । विशेषतः विशेषं
प्राप्य । स च सिद्धदशा उभयोः । यद्वा, बहुजन्मसु परित्यागः कर्तव्य इति आवृत्ति-
पादुल्यमेव विशेष इति ज्ञानमार्गं एव विशेषतः इत्यन्वेति । निष्कामतया कर्मकरणं पित्त-
शुद्ध्यर्थम्, कर्ममार्गं पत्नी विना च यज्ञादिकरणमसम्भवीति न परित्यागः सम्भवति । पत्नी-
साहित्येपि निष्कामतया कर्माचरणं संन्यास एवेति चेत् सोपि कलौ देशविशुद्ध्यभावात्
सम्भवतीत्याहुः सुतरां कलिकालत इति । यद्वा । आयुषधनुर्धभागे संन्यास इति यन्मतं
तस्मिन्नपि मते भक्तिं ज्ञानं च विना केवलं कर्ममार्गं विरक्तिं विना न कर्तव्यः परित्यागः
किन्तु विरक्तावेवेति भक्तेर्ज्ञानस्य वा सिद्धदशां विना न सम्भवतीति कर्ममार्गं न परि-
त्यागः, सुतरां कलिकाले ॥ २ ॥

श्रवणादिप्रसिद्धयर्थं कर्तव्यश्चेत्स नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणार्थम् ॥ ३ ॥

अभिमानाश्रियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेश्चाधिकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विपयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

विपयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

श्रवणादीनां निरन्तरव्यग्रतया सिद्धयर्थं यदि स नेष्यते भावोद्बोधकलाग्नव-

दीयाः सहायास्तेषां सगेन श्रवणादयः साधनीयाः । पूजादीना साधनं च रक्ष्यम्, साधन-
दशायां अभिमानश्च विद्यते । 'ताम्रकर्मिणी'ति वाच्यात् साधनदशायां पूर्णविरक्त्यभावा-
द्भेदादिरूपमगवन्नियोगाद्गुणोद्यमभर्मा कर्तव्या एव । संन्यासधर्मः सह श्रवणादीनां त्रिो-
योऽपि । गृहे भगवदीयैः सगामानात्भागः कार्य इति चेतनादुर्गृहादेरिति । गृहत्यागे
कदाचित्कुर्यात्सत्सगः सादित्याशया कार्य इति चेतनादुः स्वयं चेति । निर्ययन्त करण
आक्रान्ते सत्सगार्यं तस्योपम एव न भवतीति भावः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यगोपिकाः प्रोक्ता गुरुवः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं यत्मानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्सलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशः सत्सलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

यद्विद्येत्प्रकटः स्वात्मा यद्विद्येत्प्रविशेत्तदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो यन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सद्गुरारित्वाज्जीवनाय भवन्ति हि ॥ १२ ॥

कौण्डिन्यादावपि भावनयैव भार मित्र इत्याहुर्भावो भावनयेति । ज्ञानं
ब्रह्मज्ञानम्, गुणा सत्त्वादयश्च, भगवन्निष्ठया यदि भवन्ति तदा ते बाधका । यत्र भावनया
साधनं तत्र भावनानुरूपं फलम् । ननु तादृशसु ज्ञानं गुणाश्च कथं बाधका भवेयुस्तानाहु-
र्भावना साधनं यत्रेति । तथा च यादृशी भावनया तदनु रूपं फलम् । तेन यावत्पर्यन्तं
तहीलाभावना तावत्तदनु रूपं फलं, यावद् ब्रह्मज्ञानेन सर्वत्र ब्रह्मभावना तावत्तदनु-
रूपं फलं, यावच्च सत्त्वादिगुणैः कृत्वा विषयेषु भावनया तावत्तदनु रूपं फलम् । तथा च
भावभावनानां साधारण्यात् फलेषु तथात्वम् । बाधकत्वं विवृण्वन्ति तादृश इति ।
ब्रह्मभावनादियुक्ता सत्सलोकादावेव तिष्ठन्तीत्यर्थः । ननु ब्रह्मभावनया किं सादित्यत
आहुर्मैहिरिति । यदि यद्वि प्रकाश एव न स्वावदि च पश्चाद्ब्रह्मवदन्तर्गं प्रविशेत्तदापि
न ससारलयः । यदि गुणेष्वसक्तिके सात्तदा ते बाधका भवेयुः, परन्तु तादृशानां पूर्वमेव
गुणेष्वसक्तेर्निवृत्तत्वाद्गुणा केवलं जीवनाय भवन्ति, न तु यन्धका । यद्वा । तादृशानां
सर्वत्यागादन्यैः कैश्चिदपि न सद्गं, प्रशुरविप्रयोगे च जीवनमशक्यम् । यदि च भगवदीयैः
सद्गं सात्तदा तद्द्वार्त्वापि जीवनं सात्, भगवत्तश्च तादृशानामपि जीवनमन्येषामुद्धारार्थं
सम्पादनीयं भवति । तदा भगवास्तेषां जीवनार्थं प्राकृतेष्वपि गुणेषु तेषां मनो यत्किञ्चित्स-

योजयति । नन्वेवं गुणेष्वसत्त्वभावादत्यन्तवियोगे जीवनं न स्यात्, तथा च जीवनविधा-
तकत्वेन भगवान् बाधकत्वेनाभिमतः स्यादित्याशङ्क्याहुर्भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वाद्वात्र बाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३१ ॥

जीवनविधातकत्वेपि प्रतिक्षणं फलरूपभगवद्भावात्तुभावकत्वाद्वा बाधकः । न हि तदव-
स्थातो जीवनमधिकमस्ति । यद्वा । ननु यदि भगवांस्तेषां मनो गुणेषु किञ्चित्संयोजितवांस्त-
दोत्तरोत्तरं गुणेष्वधिकसत्त्वात् भगवद्भावस्य निषातः स्यात्, तथा च भावविधातकत्वेन भगवान्
बाधकः स्यादित्याशङ्क्याहुः भगवानिति । न हि भगवान् भावं विहन्तुं गुणेषु तेषां मनः
संयोजयति, किन्तु तेषां जीवनार्थम् । तथा च यावत् तेषां जीवनं भवति तावदेव तेषां मनो
गुणेषु योजयति, न तु गुणेष्वधिकामात्रं जनयति । कुतः । फलरूपत्वात् । न हि फलं बाधकं
भवति । ननु भगवान् सतोन्यद्वा तेषां स्वास्थ्यवाक्यान्वेव कथं न सम्पादयति, येन
स्वस्तया जीवनं भवेत्, तत्राहुः । स्वास्थ्यवाक्यमिति । विप्रयोगभावे पाधित्वा
जीवनसम्पादनमनुचितं यतः । न हीतोपि जीवनमधिकमस्ति, अहं तव्यः । तथा कर्णं
चाशक्यम् । न ह्येतद्भावस्य बाधनं भगवताम्येन वा कर्तुं शक्यम् । वक्ष्यन्ति च 'हरिश्च
न शक्नोती'ति । शक्यार्थं तव्यस्तदा । ननु परमदयालुः कथं तेषां जीवने उपेक्षां करोति,
तत्राहुः दयालुरिति । न ह्येतादृशभावसम्पादकस्य दयालुता विरुध्यते ॥ १३, १३३ ॥

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्तम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापण्डित्वं भवेदापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रपलत्वादिति स्थितम् ॥ १६३ ॥

ज्ञानमार्गं विविदिपाविद्वत्ताभेदेन द्विविधोपि संन्यासो विचारितः । तद्व्यमाहुर्जा-
नार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञाननिमित्तं यः संन्यासः स एकः, विविदिपासंन्यास इति यावत् ।
उत्तराङ्गं ज्ञानापेक्षया उत्तरं जगिम् सुक्तेरङ्गं यः संन्यासः स द्वितीयः, विद्वत्संन्यास इति
यावत् । परन्तु ज्ञानमार्गसंन्यासे बहुजन्मभिर्मुक्तिः, न स्वैकजन्मना । 'बहूनां जन्मनामन्त'
इति भगवद्भाष्यात् । तयोर्मध्ये विविदिपासंन्यासस्तु युगान्तरे कर्तव्यः, न तु कलावित्याहुः
ज्ञानमिति श्लोकेन । तयो रजस्य विहाय केवलसत्त्वान्तःकरणः सन् निष्कामतया यदि

यज्ञादिकं करोति तदा ज्ञानमुत्पद्यते । संन्यासे च सामर्थ्यभावाद्यज्ञादिकं न सम्भवति । ज्ञाने च यज्ञादिकं सामर्थ्यत्वेन श्रूयते । सर्वं विहाय वनं गत्वा योगादिना ज्ञानसाधनं च कलौ न सम्भवति । विद्वानां पादुह्येनान्तःकरणे लौकिकवासनानामनिवृत्तत्वान्मनः-
 शैर्याभावाद्योगादिकमेव न सिध्यति यतः । अतो विविदिपादशायां संन्यासः कलौ पश्चा-
 त्तापार्थैव भवति, न तु सन्तोषार्थैत्यर्थः । क्रिय । चित्तशैर्याभावे सति ततोधिकं पापण्डित्वमपि
 भवेदित्यपिशब्दः । चकारात्कार्यरूपो नरकश्च । तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं विविदि-
 पादशायां न संन्यसेत् । अथवा ज्ञानेन हेतुना संन्यसेत्, नतु ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वम् । युगा-
 न्तरे सम्भवेदपि, कलौ तु दोषाणामतिप्रचलत्वात् कथमपि न निर्वहतीत्याहुः सुतरामिति ।
 स्थितं पर्यवसन्नम् ॥ १४, १५, १६, १६३ ॥

नतु यदि कलौ दोषाः प्रचला एव, तदा भक्तिमार्गेऽपि कथं फलसिद्धिरित्याशङ्क्य
 भक्तिमार्गे दोषलेशोऽपि नास्तीत्याहुः भक्तिमार्गेऽपीति ।

भक्तिमार्गेऽपि चेदोपस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

खास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वाचः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान् स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्माद्भक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा ब्रह्मणे स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

यदि भक्तिमार्गेऽपि दोषसम्भावना तदा कर्तव्यत्वेन किमुच्यते । एकोऽपि दोषो
 नास्तीति ज्ञापनार्थमेकवचनम् । तमेव दोषाभावब्रह्मरमाहुः अत्रारम्भ इति । अत्र
 भक्तिमार्गे आरम्भे प्रवेशमात्र एव नाशो न भवति । यदि भक्तिमार्गेऽपि दोषाः स्युः, तदा
 कदाचिन्नाशोऽपि स्यात्, न त्वेवम्, तेन दोषसम्भावनेव नास्ति । नतु भक्तिमार्गायाणामपि
 कचित्कामक्रोधादयो दृश्यन्ते, तत्कथं सर्वात्मना दोषाभाव इति चेत् । सत्यम् । (तत्सम्ब-
 न्धहीकारो) भगवदङ्गीकारो हि नित्यः । नहि भगवानङ्गीकृतं कदाचिदप्यनङ्गीकरोति । तेन
 यत्र क्वचिदोषोऽपि दृश्यन्ते, तत्रापि क्रमेण दोषानपसार्य भगवान् फलं सम्पादयत्येव ।
 अतो यथा यथा भगवान् तेषां हृदि भक्तिमार्गमानयति, तथा तथा दोषापगमः । अतो यदशे
 भक्तिमार्गप्रवेशस्तदा एव दोषसत्त्वम्, तेन भक्तिमार्गे दोषाणामसम्बन्ध एव । किञ्च । न वा
 क्वचिदिदं दृष्टचरं श्रुतं वा यद्भक्तिमार्गे प्रविष्टस्यापि नाशो जात इति । तेन दृष्टान्त-

स्याप्यभावात् भक्तिमार्गं दोषलेशोऽपि । अत एव भरतस्य जन्मान्तरायेपि फलसिद्धिः ।
 अत एव मथुरास्वसत्रिणां मध्ये बहिर्युखत्वेपि पश्चात् पश्चात्ताप एव । ननु भक्तिमार्गं नाशो
 न भवतीति सत्यं, परन्तु यदि भक्तिमार्गं न सज्जेत् । तथा च साधनदशायामत्यागेपि सिद्ध-
 दशायामत्यन्तविप्रयोगहेतुमसहमानः सन् मनःस्वास्थ्यनिमित्तं तन्मार्गं परित्यज्य लौकिकपदा-
 र्थमेव यदि किञ्चित्प्रवृत्तत्वात् न नाशो भवत्येवेति चेत्तत्राहुः स्वास्थ्यहेतोरिति । यदैव
 भगवन्मार्गं प्रवेशस्तदैव लौकिकस्य परित्यागः, तदनन्तरं च यथा यथा भगवद्भाव-
 स्तथा तथा लौकिकेष्वधिकार्थिकैवाऽरुचिर्जायते । तथा च लौकिकस्य स्वास्थ्यहेतोः
 सर्वस्यैव परित्यागात् केन पदार्थेनास्य भगवद्भावस्य बाधः अन्तरायः सम्भवेत्, न केना-
 पीत्यर्थः । यदि कदाचित्त्यन्तं विप्रयोगभावेनातिक्लेशादिदमपि मनस्वावाति यत्कथमपि
 यदयं भावो निवृत्तो भवेत्तदा सम्यगिति तथाप्यशक्यो भावस्य परित्यागः । न ह्येतादृशः क्षण-
 मपि भगवन्तं विस्मृतुं शक्नोति । न चान्येन पदार्थेनेतादृशस्य मनःस्वास्थ्यं सम्भवति । यद्य,
 स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यनिमित्तम् । लौकिकं हि सर्वं तस्योद्देशकारिती स्वास्थ्यनिमित्तं सर्वस्य
 लौकिकस्य परित्यागात् केन पदार्थेन अस्य भावस्वान्तरायो भवेत्, न केनापीत्यर्थः । अथवा ।
 स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यनिमित्तं परित्यागात् भगवद्भावस्य परित्यागात् । अयं भावः ।
 भगवद्भावत्यागो हि स्वास्थ्यनिमित्तं कर्तव्यः, तच्चान्येन न सम्भवति । न ह्येतादृशस्वा-
 न्येन स्वास्थ्यं सम्भवति । तथा च केनान्तरायः सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । वस्तुतस्तु
 भावत्याग एव न सम्भवतीति पूर्वमुक्तमिति निर्गर्वः । नन्वेतादृशस्य स्वयं भावत्यागो न सम्भव-
 तीति सत्यम् । परन्तु यदि कालादयः प्रतिबन्धं कुरुः, तदा नाशो भवेदेवेति चेत्, तत्राहु-
 र्हरिरिति । अत्र विप्रयोगभावे भगवानपि प्रतिबन्धं कर्तुं न शक्नोति, तत्र के पराकाः
 कालादय इत्यर्थः । न चैवमसामर्थ्यं भगवतः । वस्तुन एव तथात्वात् । ननु भक्तिमार्गं प्रवेशे
 सति सर्वथा न सम्भवति नाशः, परन्तु भक्तिमार्गप्रवेशे तु केवलं भगवदङ्गीकार एव मूलम् ।
 नहि भगवदङ्गीकारं विना भक्तिमार्गरुचिर्भवति । भगवत्तत्र किं प्रयोजनं येन प्रवेशयेत्,
 तथा च कथं फलसिद्धिरित्याशङ्क्य भगवान् केवलं कृपयैव प्रवर्तयतीति दृष्टान्तेन बोधयन्ति
 अन्यथेति । यदि प्रयोजनं विना कोपि न प्रवर्तयेत्, तदैवावत्कालं विश्वस्मिन् पालान्
 अन्यथेति । यदि प्रयोजनं विना कोपि न प्रवर्तयेत्, तदैवावत्कालं विश्वस्मिन् पालान्
 यिनैव केवलं कृपयैव सर्वं सम्पादयतीत्यर्थः । अग्रे पालानां प्रयोजनसहस्रसाधकत्वेपि
 मादृशां तद्दृष्टेन न प्रवृत्तिः, किन्तु केवलं चास्तत्पादेव सर्वं सम्पादयतीत्याशयः ।
 ननु भगवदङ्गीकारात् प्रवृत्तस्यापि यदि ज्ञानमार्गीयैः संसर्गः स्यात्, तदा तद्ज्ञानयैर्बुद्धि-
 विपर्यये कथं फलसिद्धिरिति चेत्, तत्राहुर्ज्ञानिनामपीति । न हि भगवदङ्गीकारमभिभूय
 तद्ज्ञान्यानि बुद्धि विपर्ययसयितुं शक्नुवन्ति । भगवांश्च यं भक्तिमार्गेऽङ्गीकृतवांस्तं कदापि
 ज्ञानिवाच्यैर्नान्वया करोति । सिद्धदशायां तु न सम्भवत्येव, कदाचित्साधनदशायां

सम्भवेदित्याशङ्क्येदमुक्तम् । यद्वा । ज्ञानिनो विविधबुद्धिप्रकारकुशलाः । तेनात्यन्त-
चतुरेणाप्यन्यथा बोधयितुमशक्यो भक्तः । अग्रेषु कदापि मोहं न जनयतीति भविष्य-
त्ययोगः । ननु कथं ज्ञायते भगवान्जैव मोहयिष्यतीति, न ह्युत्तमपदार्थं कोपि कस्मैचिदातुं
समीहत इति चेत्, तत्राहुरात्मप्रद इति । यः स्वात्मानमपि प्रयच्छति तस्य सर्व-
फलदाने कः सद्बोधः । ते न महोदारत्वात् सर्वस्वमपि ददाति, न तु मोहयति ।
प्रियश्च अतः प्रीतिकर्तृभ्यः सर्वस्वदानमुचितमेव । परमकृतज्ञत्वात् निर्णयमाहुस्तस्मा-
दिति । उक्तप्रकारेण सिद्धदर्शां प्राप्य स्वार्थात् स्वप्रयोजनात् ॥ १७-२१ ॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन बह्दभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासचरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

कृष्णः श्रीगोकुले प्रकटः । नदि तत्प्रसादं विनैतद्भावतत्त्वं ज्ञातुं शक्यम् ।
अत एव तद्बद्धमत्वं स्वस्मिन् नाश्रैवाहुः । संन्यासचरणं सन्यासाङ्गीकारः । भक्तो
भक्तिमार्गे । यपि ज्ञानमार्गेपि संन्यासनिर्णय उक्तः, तथाप्येतद्विचारं मनसागते तस्य
पुरुषार्थेष्वेव गणना जायते । अन्यथा सिद्धदर्शां विना पातः पूर्वसितभावात्
शक्यतिः ॥ २२ ॥

प्रणम्य च प्रभुं टीका गोकुलोत्सवसुरिणा ।

श्रीगोविन्दसुतेनेयं कृता संन्यासनिर्णये ॥ १ ॥

इति श्रीगोवर्धनधारिचरणकमलैकतानश्रीगोकुलोत्सव-
विरचितं संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवरणसमेतः ।

पदारविन्दद्वन्द्वं तद्वन्देऽहं दिव्यमहूतम् ।

इदि यद्धारणात् कोपि तापः प्रादुर्भवत्यलम् ॥ १ ॥

मुदा तत् श्रीमदाचार्यपदान्जं दैन्यदा न्म् ।

मुहुः प्रणम्य संन्यासनिर्णयो विनरिष्यते ॥ २ ॥

तयाहि । यावत्प्रेम यत् सकलं पुष्टिमार्गीयमस्ति तत् ।

तावद्विचारितं तत्र संन्यासो न विचारितः ॥ ३ ॥

इति तत्स्वरूपविज्ञानाभावेनैव कृते सति ।

तस्मिन् स्त्रीयो भवेन्मार्गीयुतो हीति सुनिश्चितम् ॥ ४ ॥

तदानिष्टं स्वकीयस्य मार्गं स्यादिति चेत्सि ।

पश्चात्तापो महान् श्रीमदाचार्याणामनूततः ॥ ५ ॥

तन्निवृत्त्यर्थमेतस्य विचारोपेक्षितस्ततः ।

हेतुसाधनतथैव फलतश्च स्वरूपतः ॥

अधिकारादपि परस्तादृशः स विरूप्यते ॥ ६ ॥

तत्र प्रथमं स्वमार्गीक्रीकृतस्य स्वमार्गीयमजने प्रयुक्तस्य भक्तिभावदार्ढ्येनान्तरासक्ति-
सिद्धयर्थं श्रीमदाचार्याः परित्यागविचारोपक्रमं कुर्वन्ति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्विगतये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशोपतः ॥ १ ॥

पूर्वपीडिकोक्तपश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः । अन्यत्स्पष्टम् । विचारमेवाहुः स इति ।
परित्यागः, मार्गद्विगतये, भक्तौ पुष्टिमार्गीयायां ज्ञाने च विशोपतः कर्तव्यत्वेन
प्रोक्तो, नान्यमार्गं ॥ १ ॥

ननु यथा भक्तिः ज्ञानं च मार्गौ तथा कर्माणि मार्गं इति तत्रापि स कर्तव्य इति
चेत्, तत्र निषेधमाहुः ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वादिप्रारणा ॥ २ ॥

कर्ममार्गे तु न कर्तव्यः । सुतरां कलिकालतः । 'यावज्जीवमग्रिहोत्रं ब्रह्मयादि'ति श्रुतेः अहर्निशं कर्मविधिकृतेरेवावश्यकत्वात् परित्यागानवसर एव । यद्यप्यायुषधतुष्यो भागस्तुरीयाश्रमेण नेय इति तथापि विपर्ययते, तथापि सुतरां कलिकालदोषेण रोगादिजराजनितपीडया संन्यासाश्रमधर्मनिर्वाहः कर्तुमशक्य इति विपरीतफलकत्वात् कर्तव्य इति भावः । अतः कारणात् मार्गयोः एव कर्तव्यत्वस्य प्राप्तत्वात् तत्र च स्वोपयोगित्वात् आदौ भक्तिमार्गे तस्य विचारणा विचारकरणम्, तत्र कदा, किमर्थं, कर्तव्यमिलादिरूपमित्यर्थः ॥ २ ॥

तदेव निरूपयन्ति । यथा ज्ञानमार्गे विविदिषादिद्वेदेन परित्यागस्य द्वैविध्यम्, तथा भक्तिमार्गेऽपि साधनसिद्धयर्थे फलसिद्धयर्थं च कर्तव्यत्वे प्राप्ते तत् द्वैविध्यं संभवतीति, तत्र श्रवणादिनवधामकिसाधनार्थं तत्करणे स्वकीयस्य वक्ष्यमाणानिष्टं भविष्यतीति तन्निषेधमाहुः ।

श्रवणादिप्रसिद्धयर्थं कर्तव्यः स च नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अभिमानाश्रियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेषु तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पापघ्नी स्यात्सु कालतः ॥ ५ ॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

परित्यागं कृत्वा श्रवणादीन्साधयामीति यदि कर्तव्यस्तदा स परित्यागो नेष्यते नाज्ञीक्रियते, इहसाधकभावात् । तत्र हेतूनाहुः । श्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात्, श्रवणकीर्तनादिकर्तारः गगनद्वर्गपरं अपि मार्गस्वरूपज्ञानात् गृहस्थिता एव । तेषां सङ्गेन साध्यत्वम्, नान्यथा । अस्य तु त्यागानन्तरं 'मैकाकी निस्पृहः शान्त' इत्यादिवाक्यादे-काकित्वेनेव स्थितेरावश्यकत्वात् सत्सङ्गामावेवैव कुतः श्रवणादिसिद्धिरिति तदर्थं न कर्तव्यमेवेति भावः । किञ्च, कदाचित्तत्सङ्गेषु तेषां गृहस्थत्वेन सांसारिकत्वज्ञानात् त्यागिनः तेषु प्रवृत्तिरेव न । प्रवृत्तावपि ते दास्याग्रे किमपि न कथयन्ति, यतस्ते मार्गस्वरूपज्ञातारः, अयं तु मार्गाभ्युत इत्यतस्तदर्थं सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । यतः समागमिसङ्गामावे साधारणसङ्गेन वक्ष्यमाणवसैव भवेत्, न तु स्वमार्गज्ञानमपि । किञ्च, साधनानां च रक्ष-

पादिति । अहोरात्रिप्रणवप्राणायामादिसाधनविप्रेरेव रक्षणस्यावश्यकत्वात् श्रवणादिप्रणव-
नवसर एवेति । किञ्च, प्रपन्नत्वसम्भवेपि तस्य साधकत्वाभावमाहुः अभिमानादिति ।
संन्यासग्रहणानन्तरं तत्त्वमस्यादिवाक्यादात्मनि सोहमित्यभिमानो भवति, भक्तिमार्गं तु
समर्पणानन्तरं देहप्राणैन्द्रियादीनां भगवदधीनत्वं भवति, तदा दासत्वात् ममेत्यभिमान इति ।
स्वधर्म विहाय स्वकीयस्य श्रवणार्थं परधर्मरूपत्यागकरणे दृष्टप्राप्त्यभावः, प्रत्युत विपरीत-
फलमपि भवेदिति स न कर्तव्य इति भावः । किञ्च, नियोगादिति । स्वमार्गाङ्गीकृत-
स्यान्यत्र विनियोगः सर्वथा ह्यनुचितः । त्यागानन्तरं विहितत्यागसाधनकरणे देहादीना-
मन्यत्रैव विनियोगो भवेत्, नतु साक्षात्सुरूपोत्तम इति । स्वमार्गफलासाधकत्वात्तथेति भावः ।
किञ्च, तद्धर्मैरिति । पुष्टिमार्गधर्मश्च विरोधतः । अयं परित्यागो विधिप्रयुक्तत्वान्मर्यादा-
मार्गीयो भवितुमर्हति, न पुष्टिमार्गीयः । पुष्टिमागो हि समस्तविधिमिरस्पृष्टः, तदा तत्प-
रित्यागः सुतरां तथेति प्रमाणातीत इत्युभयोर्धर्माणामपि भेदाद्विरोधः स्यादिति तथा ।
चकारात् स्वरूपफलयोरपि भेदः । एवं स्वमार्गाङ्गीकृतस्य श्रवणादिभक्तिस्वरूपं संन्यास-
निषेधकपनेन 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः । अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभि'रित्युक्त-
प्रकारेण स्वधर्मनिष्ठया सेवैव कर्तव्या, नान्यदिति सूचितम् । नतु गृहमेव यापकं भवेत्
तदा तु कर्तव्य इत्याद्यंक्त्वा तस्यापि निषेधमाहुः । गृहमादिपदेन तत्सम्बन्धिनश्च सर्वे
यद्यपि धर्मप्रतिकूलता एव, तथापि श्रवणादिसाधनार्थं संन्यासग्रहणं न कार्यम् । किन्तु
तत्परित्यागेन भगवदीयैः सह सेवा कर्तव्येति ज्ञाप्यते । अत एव 'भार्यादिरतुकूलक्षे'
दित्सादिषु साधनार्थमनुकूलतद्ग्रहणाभिप्रायेण प्रतिकूलगृहत्याग एवोपदिश्यते, न तु
संन्यासग्रहणम् । तयोक्ते 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः' इति भक्तिवर्धिनीवचनविरोधः
स्यात् । किञ्च, श्रीभागवतेपि भक्तिसाधनार्थं 'मदर्थेऽर्धपरित्याग' इत्यारभ्य 'एवं
धर्मैर्ननुध्याणा'मित्यादिभिस्सर्वसमर्पणरूपः त्याग उक्ते, न तु संन्यासः, अन्यथा
'त्वयोपमुक्तस्यगन्ध'इत्यनेन विरोधः स्यात् । यतः सेवाकरण एवोच्छिष्टभोजनम्,
न तु संन्यासे, सेवाऽभावात् । एवं सति साधनार्थमपि त्याग उक्त इति तत्स-
रूपज्ञानेन स्वमार्गीयः कश्चित् संन्यासग्रहणं कुर्यादिति प्रकृते तन्निषेध उक्त इति सर्व-
मनवयम् । अतः परं गृहादेशार्थकत्वेन संन्यासग्रहणे तादृशैः सह सक्त एव भवेत्,
किन्तु स्वयमपि तादृशो भवतीत्याहुः । स्वयमपि तथा । ते साधनत्यागिनः धर्मध्वजिनः
विषयाक्रान्ता येश्चमात्रधारिणः पापण्डिनः, तथा स्वयमपि तत्सङ्गेन विषयाक्रान्तः पापण्डी
च स्यात् । तत्र हेतुः कालतः । कलिकालदोषत इत्यर्थः । अथवा कालत इत्युप-
लक्षणम् । कालकर्मस्वभावैव इत्यर्थः । यतः मार्गान्मुतजीवस्य कालायधीनत्वमेव, मार्ग-
स्थितस्यैव तदनधीनत्वेन तस्य भगवदधीनत्वेन भगवान् रक्षां करोति । तादृशत्यागिनो
भगवदधीनत्वमावाद्रक्षाऽभावेन तथात्वमेवेति भावः । एवं तत्सङ्गदोषं निरूप्य फलाभाव-

माहुः । यदेवं विषयाक्रान्तो भवेत्तदा विषयाप्यन्तानि, देह इत्युपलक्षणम्, किन्तु, देह-
प्राणेन्द्रियान्तःकरणानि येषाम् । सर्वदा सर्वकालं भवेत्, प्रवेशसावकाश एव नास्ति,
तदावेशो न भवतीति सिद्धान्तात् तस्यापि भगवदावेशो न भवेदिति सर्वस्वहानिरेव
भवतीति भावः । अतः कारणाद्भ्रं पुष्टिमार्गे पुष्टिमार्गीयस्य साधने भक्तौ
साधनभक्तिसिद्धयर्थं ध्यागः सुखाद्यहो न भवति, अनिष्टपर्यवसानात् । अतः स
सर्वया न कर्तव्य इति ज्ञापितम् ॥ ३-६ ॥

ननु तर्हि कदा किमर्थं च कर्तव्यं इत्याकांक्षायां तस्य प्रयोजनकयनेनैवाधि-
कारिणं चाहुः ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

हीनगन्धनिवृत्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता शुरयः साधनं च तत् ।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्यास्थं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भाबना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादी तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिष्वेत्यकटः स्यात्मा बह्विष्वत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदेव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याब्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवात् फलरूपत्याज्ञात्र बाधक इष्यते ।

स्यास्थ्यबाधकं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुष्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

विरहानुभवार्थं परित्यागोऽस्मिन्मार्गे प्रसक्तो भवति । अन्यथा नेत्यर्थः ।

अप्रेदमाकृतम् । समागीयसाङ्गीकारसदारम्य श्रीकृष्णसेवैव कर्तव्या, नान्यदिति सिद्धान्तः ।
तदुक्तम् 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति । सा सेवा साधनरूपा फलरूपा चेति द्विधा । मानसी
सा सेवा फलरूपा, तत्साधनरूपा तनुजवित्तवात्वेनोक्ता । एवं सति मार्गनिष्ठया सर्व-
समर्पणपूर्वकं सर्वेषां तनुविजादीनां भगवत्सेव विनियोगकरणेन सेवाकरणे तत्स्वरूपे प्रेम
जायते । एतदेवोक्तम् । 'एहे सित्वा स्वधर्मत' इत्यारम्य 'ततः प्रेमे'त्युक्तं भक्तिवर्धिन्याम्,
नो चेदिह स्थानस विजातीयत्वेन बाधकत्वात् साम्प्रतं वा सात्त्विकानुभवाभवेन पुनर्विजातीय-

सन्नेपि तस्य न नाश इति तत्रैव 'यावद्बीवं तस्य नाशो न कापी'त्युक्तम् । एवं सति अस्मात्
 त्यागस्य पूर्णपुष्टिभाववानेवाधिकारी, नान्यः, तस्य प्रयोजनमपि प्रचुरभावपोषेण विरहा-
 नुभव एवेति सुवृक्तं तथा । ननु तर्हि परित्याग एव कर्तव्यः, संन्यास एव किमर्थं
 कार्यः, तत्र हेतुमाहुः स्वीयेति । स्वीया गृहसम्बन्धिनस्तक्रियमाणो यो धन्यः तन्निवृत्त्यर्थं
 वेपः । अन्यथा संन्यासाश्रमो धर्माचरणार्थं न भवतीत्यर्थः । विजातीयमिलनस्य भाव-
 पातकत्वात् । तदुक्तं फलप्रकरणे 'अस्त्राक्ष्य तत्प्रभृति नान्यसमक्ष'मित्यत्र । 'यथा व्याघ्राये
 देहाभिमानी'ति । ननु तथापि भक्तिमार्गीयभावपोषार्थमपि विहितत्वात् गुरुरूपदेशं विना कथं
 तत्सिद्धिरित्याशंक्य गुरुत्रिरूपयन्ति । कौण्डिन्य ऋषिरनन्तगुणश्रवणेनानन्तस्वरूपा-
 सक्त्या तत्कालमेव सर्वत्यागं कृतवान्, पुनस्तद्विरेहेण विकलः सन् जडादिष्वपि प्रशं-
 चके । तथास्यापि स्वरूपसेवाकरणे प्रेमासक्त्यनन्तरं पुष्टिमार्गीयभावोदयक्षण एव त्यागः
 कर्तव्य इति साम्येन स गुरुवृक्तः । अपरे गुरवो गोपिकाः । यथा पूर्वमप्यासक्तौ
 सत्यां वेणुनादश्रवणानन्तरं त्यागे कृते प्रयुक्तमस्त्रासामप्यगूत् । अग्रे पुनरन्तरासक्ति-
 दाढ्यार्थं विरहातुभवोपि जातः, येन 'तन्मनस्कासलादालापा नात्मागाराणि सस्तरुः'
 इत्यादि विकलत्वास्त्रास्थ्यादिरूपावस्थाप्यासीदिति साम्येन तासां च गुरुत्वं निरू-
 पितम् । एवं सति तद्रीत्या तथा कृते एतस्यापि फलं सेत्स्यतीति भावः । ननु
 यथा 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति ध्रुत्वा ज्ञानमार्गीयसंन्यासे वैराग्यं साधनम्,
 तथात्र किं साधनम्, तदाहुः साधनं चेति । भावनया सिद्धो यो भावः
 तत्साधनम् । पूर्वमपि भावो जायते, परं कृषिम इति । तादृशस्य साधनत्वं न, भासक्त्य-
 गन्तरं 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकमनोरथात्मकभाषनया सिद्धिं प्राप्नो-
 यः पूर्णः पुष्टिमार्गीयो गूढो भावः तत्साधनम् । न अन्यदिति । अतिरिक्तं
 साधनं नेष्यते । सापेक्षतत्त्वामावात्रापेक्षित इत्यर्थः । एवं सति वैराग्यमप्येतदेव, न
 ज्ञानमार्गीयम् । यतो भगवत्स्वरूपव्यतिरिक्ते सर्वव्याप्यव्यतिरिक्ते भक्तिवर्धिन्यां 'लेदाद्राग-
 विनाशः स्यादित्यादिना तथा स्पृष्टीकृतम् । ननु ज्ञानमार्गे वैराग्येण त्यागे कृते विषया-
 यमिलापाभावात् देहेन्द्रियैः प्राकृतधर्मराहित्य चित्तादिस्वास्थ्यं च भवति, प्रकृते
 त्यागादारम्य प्रतिदिनं तथा भावने वैकल्पमस्त्रास्थ्यमेव सकलेन्द्रियेषु वर्धत इति
 प्राकृतविषयधर्मवत्त्वमेव लक्ष्यते, तत्कार्यं फलसिद्धितिलाशंक्य तद्दर्मस्वरूपमाहुः । बाह्यानु-
 सन्धानराहित्यपूर्वकमन्तःस्वरूपानुभवसम्मानाधिकरणबोधितं यत्सकलेन्द्रियाणां तद्विकलत्वम्,
 वह्नियेक्षया विपरीतान्तर्भावरूपाः कलाबोध्येषां तेषां भावस्तत्त्वमित्यर्थः । तथा बहिः प्रिय-
 सङ्गामावजनितात्मा सकलेन्द्रियाणां स्वास्थ्याभावोऽस्वास्थ्यम् । एतद्वयमपि विप्रयोगभावस्य
 प्रकृतिः साहजिको धर्मः । यथा ज्ञानमार्गे वैकल्पभावः स्वास्थ्यं तस्य प्रकृतिः, तथा
 पुष्टिमार्गे तद्विपरीतधर्मवत्त्वं तद्भावस्य प्रकृतिः । अनेन यावत्पर्यन्तं विकलत्वास्त्रास्थ्यादि-

रूपा प्रकृतिः न सिध्यति, तावत्पर्यन्तं तद्भावस्यापि न पूर्णत्वमिति सूचितं भवति । अत एव तद्वाङ्मनन्तरं पुनर्नाशभावेन प्रयत्नाभाव उक्तः 'यावज्जीव'मिति भक्तिवर्धिन्याम् । ननु तर्हि विषयसम्बन्धित्वमायातमित्याशंस्य तन्निराकुर्वन्ति प्राकृतं न हीति । प्रकृतिगुणविकारजन्यं तदुभयमपि न भवति । हीति निश्चयः । अयं भावः । पुरुषोत्तमस्वरूपं तु रसात्मकम्, रसो हि द्विविधः, संयोगविप्रयोगभेदेन, इति स्वरूपमपि तथा, तत्र संयोगे स्वरूपं वहिः प्रकटं भवति । विप्रयोगे भावात्मकतया तत्तदिन्द्रियेष्वधिष्ठे सदन्तरेव रसपोषं करोति । परन्तु तापरूपेण स्थितत्वाददर्शने च तापं जनयति, इति तत्रनिततीक्ष्णभावभावनया पूर्वोक्त-प्रकारेणान्तःस्वरूपानुभवे तदनुसारिचेष्टाकरणेन विकलत्वं वहिः प्रतीयते । दर्शनाभावेनास्वास्थ्यं चेत्सुमयधर्मस्य रसात्मकमगवत्स्वरूपजन्यत्वेन रसात्मकत्वाद्लौकिकानन्दरूपत्वमेव । न तु प्राकृतत्वमिति सुधुक्तं प्राकृतं न हीति । एतेन यथा यथा विकलत्वमस्वास्थ्यं स्यात्तथा तथा फलविलम्बामात्र इति सूच्यते । एतद्व्यकृतिं निरूप्य यथा (ज्ञान) मार्गे परित्यागानन्तरं सकलपदार्थस्फूर्त्या सर्वं ज्ञानं गुणाश्च भगवद्दर्मरूपात्मानुभवेन साधकास्वया प्रकृतेषु तेषां साधकत्वमाशंस्य साधकत्वस्य का सम्भावना, प्रस्युत साधकत्वमित्याहुः ज्ञानमिति । एवं धर्तमानस्य विकलत्वास्वास्थ्यरूपमप्राप्तस्य ज्ञानं वहिरनुसन्धानेन पदार्थस्फूर्त्या सर्वगुणा भगवद्गीतादिधर्मरूपाश्च कदाचित्पच्युताहोत्र व्यभिचारिभावानां वैचिभ्याद्वा हृदि स्फुरति, तदा मनसादवलम्बनं भवति । यथा महासमुद्रे मज्जतः तृणस्यैव । तदा तत्रनितयत्किञ्चिदपि स्वास्थ्ये फले साधका एव, न तु साधकाः । किञ्च, ये लीलागुणाः पूर्वं भावपोषणे साधकाः जातास्त एव गुणाः साम्प्रतमेतात्पर्यवस्थायां जीवनसम्पादकत्वेन साधका भवन्ति । एतेन विरहातुमयस्य पूर्णत्वेन जातत्वात् जीवनस्थितेः प्रयोजनाभावात् । अतः परं गूच्छादीनां दशम्येवावस्था फलसाधिकेति तेषां साधकत्वमुक्तमिति ज्ञापितम् । एवं सति लीलादीनां धर्मरूपत्वेन साधकत्वकथनात् केवलधर्मिस्फूर्तिरेव फलसाधिकेत्यपि ज्ञापितं भवति । ननु ज्ञानमार्गे ज्ञानगुणमनःस्वास्थादीनां साधकत्वम्, भक्तिमार्गेषु कर्म साधकत्वमित्याकांक्षायां मार्गभेदेन साधनफलभेदात् तथात्वमाहुः । संन्यासेन विशेषितात् सम्यक् साधितात् ज्ञानात् प्रथमं सत्यलोके स्थितिर्भवति । पश्चाद्ब्रह्मणा सह मुक्तिरुक्तेति ज्ञानानन्तरमेव सत्यलोकस्थितेः कथनात्तत्र मनःस्वास्थ्यगुणादीनामेव साधकत्वम्, तद्व्यतिरेकेण ज्ञानस्यैर्षाभाव इति तेषां साधकत्वमुक्तम् । एतेन ज्ञानमार्गस्य साधनं फलमपि चोक्तम् । प्रकृते 'भगवता सह संत्वाप'इत्याहुः क्तप्रकारकसाक्षात्स्वरूपसम्बन्धभावनैव साधनम् । तत्र च त्रसम्बन्धव्यतिरेकेण स्वास्थ्यसम्भावने च स्वास्थ्यमेव फलसाधकम्, नो चेत् फलमेव न भवेत् । तत्रापि याच्यी पूर्वोक्तप्रकारिकान्तर्भावना तात्पर्यमेव सर्वेन्द्रियास्वार्थं वहिरनुभवालोकं फलमपि भवेत्, न तु ज्ञानमार्गलाभान्मये सत्यलोके स्थितिः, पश्चादन्तरेव केवलमालाडयगात्रमिति फलं चापि तथा भवेदित्युक्तम् । किञ्च,

ल्योप्यक्षर एव, न तु पुरुषोत्तमे । सोपि प्रवृत्त्या सहेति फलसिद्धौ महान् विलम्ब उक्तः ।
 तत्रापि साधनफलभेदः । प्रकृते साक्षात्पुरुषोत्तमस्य रसात्मकत्वात् रसस्य संयोगविप्र-
 योगात्मकत्वाद्वाद्याभ्यन्तरभेदेन संयोगे विप्रयोगे च स्वरूपरसानुभव एव । न तु
 साधनफलभेदः । एवं सति विकलत्वास्वास्यादिदशायाः पूर्वोक्तरीत्या साधनरूपायामपि
 साक्षात्स्वरूपानुभव एव भवतीति ज्ञानमार्गफलपेक्षया एतत्साधनस्यापि सर्वोत्कृष्टत्वं
 निरूपितम् । ननु ज्ञानस्य फलं मुक्तिः, सत्यलोकस्थितिः किमर्थं भवतीत्याशङ्क्याहुः ।
 तादृशाः संन्यासविशिष्टपूर्णा ज्ञानयुक्ता अपि सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येवेति
 निश्चयः । अत्र संशयो न । यतस्तेषां तु प्रवृत्त्या सहेव मुक्तिसम्भवात्तावत्पर्यन्तं तत्रैव
 स्थितेर्नियतत्वात् तत्र सा मर्यादास्तीति । आदिपदेन तादृशत्वाभावे लोकान्तर एव
 स्थितिः । ननु तत्रापि फलसिद्धौ महान् विलम्बो निरूपितः । प्रकृते तादृगवस्थायां यदि
 गुणापनुसन्धानं न भवेत्तदा तत्कालमेव फलसिद्धिरिति तत्प्रकारं निरूपयन्ति बहिरिति ।
 पूर्वोक्तसाधनया भगवान् एव स्फुरतीत्यर्थः । स चेदतिविगाढभावेन तदालम्बकतया गुण-
 गानद्वारा साक्षाद्बहिः प्रकटो भूत्वा रसानुभवं कारयित्वा पुनस्त्रिरोहितः प्रचुरतापालकः
 सन्नतःप्रविशेत्, तदैव तत्क्षणमात्रेणैव सकलो घन्धः प्राकृतदेहरूप एव बहिः साक्षा-
 त्कलानुभवे प्रतिपन्धः, स तादृशप्रचुरतापेन मूर्च्छादिदशमावस्थां नाशयेति । तत्र घण्टा-
 बहिर्बत् । यया दार्वन्तर्गतो बहिः सदैव तिष्ठति, परन्तु दारुदहनोपयुक्तो
 न भवति । यदा पुनर्मयनेन बहिः प्रकटो भवेत्, तदा तत्सम्बन्धः सन् तदन्तःप्रविश्य
 क्षणेनैव सर्वं दार्वंशं भ्रज्जालयति । न केवलं तावन्नाशम्, किन्तु तत् स्वसदृशमपि करोति,
 तथा अयमपि स्वात्मरूपत्वेन तदन्तर्गतो विगाढभावेन मयनेनैव तथा भूत्वा पुनस्त्रि-
 रोभूयान्तस्त्रापेक्षेण प्रविशेत्तदा स तथा कृत्वा स्वसदृशी रसात्मकतामलौकिकवययोगुणादि-
 सम्पत्तिमपि करोतीति दृष्टान्तपरमेशान्येन सूचितं भवति । एवं सति यया दारुण्याद्रैत्वं यदि
 भवेत्तदा सोप्यसमर्थो धूममेव जनयति, तथा प्रकृते यत्किञ्चित्स्वास्थ्यसाद्रैत्वस्यानीयत्वात्
 धूमबहुपगानादिकमेव भवेत्, तदा तत्सम्बन्धः सः, न तु बन्धनिवृत्तिरित्याशयेनोक्तं
 'न चान्यथे'ति । एतत्प्रकारभावे न भवतीत्यर्थः । एतत्सर्वं फलप्रकरणपीवक्षितीवाच्याये 'गायन्त्य
 उच्चैरित्यस्य विवरणे 'शुन्दो हि भूयवहोक' इत्यादिना निरूपितम् । एतेनास्वास्थ्यदावेव
 फलविलम्ब्याभाव इति तदैव साधकम्, न गुणादिस्फूर्तिरिति पूर्वाशङ्का निरस्तेति भावः । ननु
 विप्रयोगस्य केवलमस्वास्थ्यैकप्रकृतिकत्वात् तदुत्तरक्षण एव प्रतिपन्धनिवृत्तिं कथं न करोति ।
 मध्ये गुणाद्यवलम्बनं कारयति । अत एवोक्तं 'मन्तश्चिते भगवती'त्यस्य विवरणे 'यावत्सा तापोन्तः
 प्रविशेत् तावत्ता भगवतीला प्रविष्टे'ति । तत्रयेश्चै तस्य तदेकस्वभावात् । तदनुभवानावो यतः ।
 एवं सति विप्रयोगनाबार्थं जीवनसम्प्रादकत्वेन गुणानां साधकत्वं तस्मिन्नाते प्रयोजनाभावा-

तादृगवस्थायां स्वास्थ्यकारकत्वेन बाधकत्वमिति न कोपि विरोधः । अत एव ज्ञानं गुणाश्चेति पूर्वं बाधकत्वमधुना गुणास्त्वित्यनेन साधकत्वं चोक्तम् । एतेन भगवतोपि बाधकाभावो निरूपितः । एवं गुणानामवस्थाभेदेन बाधकत्वसाधकत्वनिरूपणात् भगवतो बाधकत्वाभावं निरूप्यातः परमपि चेद्गुणाद्यवलम्बं स्थापयेत्, तदा स्वास्थ्ययुक्तत्वात् बाधकत्वं भवेदिति तदभावात्तुः । एवं सम्पूर्णं विरहानुभवे जति वहिःसाक्षात्फलदानार्थं यतो भगवान् लौकिकैश्वर्यवीर्यगुणादिसकलस्योपयोगशक्तिसहितं स्वरूपं कृत्वा स्थितो भवति । अतः फलरूपत्वात्स्वस्य अत्र दशायां फलबाधको गुणाद्यवलम्बो नेष्यते, भगवता नेष्यत इत्यर्थः । अयं भावः । फलानुभवार्थं भक्तस्य यावती परीक्षा भगवतः कर्तव्या भवति, तावती सर्वा विरहानुभवेन सम्पन्ना जातेत्यत्र भ्रमरपि फलविलम्बे जाते स्वसैव बाधकत्वं भवेत्, तदधिकारस्य जातत्वात् । अतः सुदृक्तं नाश्रेति । ननु तादृगवस्थायामपि तादात्म्यकृत्या यथा प्रियेण सह भाषणादिकं प्रियाया भवति, तथा तादृशभावनया प्रियस्यापि तत्सम्भवतीति तदेव वाक्यं स्वास्थ्यकारकं भविष्यति । अथवा 'हा माये'त्यत्र क्रियाशक्त्या तादृगवस्थायां स्वास्थ्यकरणम्, तथा प्रकृते चापि वचनेनापि तत्सम्भवतीत्याशंक्य तत्राहुः स्वास्थ्येति । यद्यपि पूर्वावस्थायां तथा करोति, तदनन्तरं तदपि स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यमिति न करोति, प्रयोजनस्य जातत्वात् । अत्र हेतुः । दयालुरिति । अतो न विरुध्यते । विरोधित्वेन न न्यत इत्यर्थः । विरोधी स एव यः परस्मानिष्टं करोति । अयं परमदयालुरिति सकलेष्टसिद्धिं कृतवानिति भावः । एवं सति तादृशस्य स्वरूपस्थितौ गानम्, लीलाप्रयोगे प्रलाप इति मूर्च्छा तदवस्थायां निरूप्यते । अतः परं दशभावस्थायाः पूर्वोक्तप्रकारेण प्रतिबन्धनिवृत्त्या फलसिद्धिरिति सर्वमवदाताम् । एतदेव सर्वं फलप्रकरणेषु निरूपितम्, विरहानुभवेन परीक्षानन्तरं 'रुद्रुः सुस्वर'मित्यात्म्य 'तन्मः प्राणविवायत'मित्यादिना । एवं स्वमार्गापपरित्यागस्वरूपं निरूप्य, अस्य दुर्लभत्वमाहुः । अयमिति स्वरूपनिर्देशः । तथा चेद्व्यपुः परिव्यागः, साधनासाध्यत्वादिति दुर्लभः । तर्हि कथं सिध्यति तत्राहुः प्रेम्णेति । श्रीमदाचार्योक्तनिष्ठया साक्षात्स्वरूपसेवाकरणेन तत्स्वरूपे प्रेमासक्तिव्यसने सम्पन्ने चैतत्परित्यागाधिकार इति तदा सिध्यति, नान्यथा । अन्यसाधनप्रकारेण नेत्यर्थः । अत एव दुर्लभप्रेमासक्तिजनितस्वरूपसम्बन्धाभिलाषजन्यदुःखं तेन लामो यस्येति तथा निरूपितम् । अथवा । प्राकृतसाप्राकृतौ प्रेमासम्भव इति तद्वेतुं पक्षान्तरेणाहुः प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा इति । श्रीमदाचार्याद्वीकारवशेन स्वरूपानन्ददानोपयोगि प्रेम भगवत्स्वस्मिन्नायत इति तस्यापि तत्सम्भवतीति तथोक्तम् ॥ ७-१३३ ॥

एवं स्वमार्गाधिकर्तव्यविधिं निरूप्य तासत्तम्यज्ञापनार्थं ज्ञानमार्गाप्यतद्विधिं निरूपयन्ति ज्ञानमार्ग इति ।

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापण्डित्वं भवेद्यापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ॥ १६ ॥

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो मया द्विविधो विचारितः । तदेव द्विविध्यं विचारपूर्वकमाहुः । एकः संन्यासः ज्ञानसाधनार्थं, अपरः ज्ञानोत्तरं मुक्तयद्गमित्यर्थः । तत्र संन्याससिद्धिस्तु जन्मशतैः अनेकशतसहस्रजन्मानन्तरं भवति । न तु शीघ्रम् । तत्र हेतुः । ज्ञानमिति । ज्ञानोत्तरं संन्यासाधिकारः । तत् ज्ञानं च साधनापेक्षम्, साधनं चित्तशुद्धिः; तदपेक्षा । तत्पुनर्यज्ञादिश्रवणान्मतं सम्मतम्, नान्यथा । आदिपदेन तपआदीन्वन्यान्यपि ज्ञेयानि । तत्रापि निष्कामत्वेन कृते चित्तशुद्धिः । तत्रापि बहुजन्मानन्तरम् । अत एवोक्तं यद्गुणं जन्मनामन्ते ज्ञानवान् भवतीति । कदाचित् ज्ञाने जातेषु सत्यलोकस्थितोरावश्यकत्वान्मुक्तेर्विलम्बः एवेति सिद्धिर्जन्मशतैरपीत्युक्तम् । एवमुत्तराङ्गसंन्यासं साधनफलसहितं निरूप्य, अत्रापि ज्ञानसाधनार्थं स चेद् भवेत्तदा तस्य फलासाधकत्वं विपरीतफलकत्वं चाहुः । यतः पूर्वोक्तसंन्यासाधिकारो यज्ञादिकरणेन शतसहस्रजन्मानन्तरं चित्तशुद्ध्या ज्ञाने जाते भवति अतः कलौ चित्तशुद्ध्यभावेनैव कृतः संन्यासः पश्चात्तापायैव भवत्, न त्वन्यथा । उक्तफलाय नैत्यर्थः । सकलेन्द्रियाणां कलिकालधीनत्वे स्वस्वविषयासक्तत्वात्त्यागे तेषां लोलुपत्वेन स्वैर्यामावात् । मया शूयैव संन्यासः कृत इति पश्चात्तापो भवेदिति भावः । केवलं पश्चात्तापमात्रमेव न भवेत्, किन्तु क्रमेण विषयासक्त्या वेपमात्रपर्ववसायित्वमपि । तदाहुः पापण्डित्वमिति । अन्तर्विषयासक्तिर्बहिःसादाश्रमवेपमात्रं पापण्डित्वमुक्तत्वं भवेत् । चकारादारूढपतित्वजनितं पापमपि भवेदित्यर्थः । तस्मादनष्टपर्ययसानात् ज्ञाने ज्ञानसाधनार्थं न संन्यसेदिति भावः । नन्वेवं निषेधः कथम् । कश्चित्समीचीनः स्वेन्द्रियनिग्रहादिना तमर्थं साधयति चेत्तत्राहुः सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ॥ १४-१६ ॥

भक्तिमार्गं च तेषां वापकर्तृत्वं सम्भवेदित्याशङ्कं स्वयमेवोदाटयति ।

भक्तिमार्गं च तेषां वापकर्तृत्वं सम्भवेदित्याशङ्कं स्वयमेवोदाटयति ।

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभाषतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरथ न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान् स्तन्यैः पुपुषुः कथित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियञ्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तिमार्गं चेत्यागिन पूर्वोक्तदोष प्रसज्येत तदा किं कार्यमिति प्रश्नः । तत्रोच्यते, ससाधनमित्यर्थः । तदेवाहुः अच्चारम्भे । भक्तिमार्गीयत्यागारम्भे । यद्यपि आरम्भभेदेन विरहानुभयानन्तरं प्रसुरभाववस्थाभावसमयो ज्ञाप्यते, तथापि पुनर्नाशो न स्यात् । यत्तस्मात्स पूर्वमेव सकलेन्द्रियाणां भगवदधीनत्वात्, तत्रैव विनियोगकरणेन भगवत्स्वरूपैकनिष्ठविषयव्यसनवत्त्वमेव जातम् । न तु प्राकृतनिषयग्रहणस्य भावोपि स्थितः, तत्तदभावे कृतं तत्तदोपसङ्गमणावकाश इति भावः । एतेन तादृशभावस्यापि फलान्तं पातित्वमेव, न तु साधनत्वमिति ज्ञापितम् । ननु तथापि विषयभोगपदार्थेषु दृष्टेषु यत्किञ्चित्स्वास्थ्यं भवेदपि हृष्टो योऽन्तं नाशकं पदार्थं तस्याप्यभावात् नाश इत्यर्थः । पदार्थे दृष्टे कदाचित्सम्भवेदपि, प्रकृते व्यसनानन्तरं गृहस्थितेर्पाथक्यं मत्स्यैव तत्पदार्थानां त्यागं कृतं इति दर्शनस्याप्यभावात् तथेति भावः । अत एव 'यदा स्वाङ्गस्य कृष्यं इत्युक्त्या 'तादृशस्यापि सततं'मित्यनेन तस्य त्याग उक्तः । ननु तथापि वासना चेत्तिष्ठति, तदपि तथा भवेदिति, तदभावमाहुः स्वास्थ्यहेतोरिति । स्वास्थ्यहेतुपदार्थस्य परितः स्वागाद्वासनासहितत्यागं परित्यागं, वासनया विषयग्रहणं भवति, तदभावाद्वाधं केन पदार्थेनास्य सम्भवेत् । अपि तु न केनापीति भावः । वासनासहितत्यागकथनेन दृष्टेऽपि तस्मिन् न तद्ग्रहणमिति सूचितम् । अनेन पदार्थांस्वाद्यस्य स्वास्थ्यहेतवोपि न भवन्ति, किन्तु भगवत्स्वरूपनिष्ठा एवेति ज्ञापितं भवति । एतदेवोक्तं निरोधवर्धने 'वाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदप्या सोपि सिध्यतीति' । ननु तर्हि अद्यष्टादिना स कदाचित्सम्भवेत् तत्राहुः । यद्यपि हरिः कालकर्मादीनामपि सर्वेषां नियन्ता सर्वेश्वरः, तथापि तादृगवस्थानन्तरं स्वस्य रसात्मकत्वेनैव तादृशस्य विलम्बजनितवाधां कर्तुं न शक्नोति । तत्करणे न रसो न वा कीर्तिः, यत् स्वयं हरिः एतादृगवस्थाजनितदुःखं हन्तुमेव रसात्मकसाक्षात्काररूपत्वेन प्रकटं । एतदेव 'भीताम्बरं परं सग्री' इत्येतस्य निवरणे विवृतमित्यत्रापि हरिपदेन स एव भाव उक्त इति ज्ञापितं भवति । एतेनेदानीं वाधाकरणे स्वस्य फलरूपं हरित्वं च गच्छतीत्यत्रापि हरिपदेन स एव भाव उक्तः । तद्वाचोत्कर्षश्च निरूपितः । अत एव 'न पारयेह'मित्यादिवचनम् । एव सति हरिरेव न शक्नोति तर्हि अपरे कालकर्मीयदृष्टादयः कृतं शक्तं भवन्तीत्यर्थः । असक्तो दृष्टान्तमाहुः अन्यथेति । यथेतादृशस्यापि हरिर्वाधां करोति, तदा मातरोपि स्वयां तान् सन्तैः पोषणं न कुर्यात् । यथा तासां स्वलाभवाधकरणमशक्यम्, किन्तु पोषणमेव कुर्वन्ति, तथा हरिरेपीति भावः । एतेन हरिरपि तत्पोषणमेव करोतीत्यपि सूचितम् । अथवा

हरेर्मातृदृष्टान्तकथनात् युक्तत्वानुपपत्तेः क्रियायाश्च विध्यर्थकत्वापेक्षितत्वात् पुपुपुरिति
 नृत्तार्थकतत्रयोगानुपपत्तेश्च कथन गृह्यामिसन्धिरस्तीति लक्ष्यत इति पक्षान्तरेण स
 एवोच्यते । तथाहि । हरिरयं न शक्नोति कुर्वं चाधामित्वासाधारणो हेतुः, यतो मातरः
 पुपुपुः इत्यन्वयसम्बन्धः । अयं भावः । पूर्वं श्रीगद्गोपिकानां गुरुत्वमत्र निरूपितमिति
 गुरुत्वात्ता एव मातृरूपा ज्ञेयाः । यया गुरोर्वरदाने फलसिद्धिः, तथा तासां दान एव तावतैव
 सिद्धिः, नान्यथेति । तास्ताद्ये अङ्गीकृते स्वभावपोषणं कृतवत्सः । अतस्तत्कृतौ प्रमोरपि
 शक्त्यभावो युक्ततमः, तद्वावाधीनत्वादिति भावः । ननु ता एतावत्किमर्थं कुर्युरिति चेत्त्राहुः ।
 अन्यथेति । यद्येता एव स्वसा गुरुत्वात्तस्मिन् पुत्रत्वेपि सिद्धे एव पोषणं न कुर्युस्तत्तस्याः
 अन्याः साधारण्यः सहजकठिनाः स्त्रियः । तास्तु मातरः स्वबालान् सन्त्येनं पोषयेदुरित्यर्थः ।
 एतेन यदि ता अप्येवं कुर्यन्ति पुत्ररूपे तस्मिन्, एतासां परमवात्सल्यस्वभावात् पोषणं युक्तमे-
 वेति निरूपितम् । एतदेवोक्तं निरोधवर्णने 'पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः' । एवं सति पूर्वोक्तानुपपत्तिद्वय-
 मपि निरस्तं भवतीति सर्वमनवयम् । अत्र दृष्टान्ते दाष्टान्तिके च मातर इत्यसावृत्तिः कर्तव्या ।
 ननु यथा ज्ञाने स्वस्मिन् ब्रह्मभावस्फूर्त्तौ सर्वत्र ब्रह्मात्मफलमानादिक्यमेव भासते, ननु द्वितीय-
 पदार्थमानम्, तेन च तेषां सर्वदा स्वास्थ्यं तिष्ठति, तथा प्रकृतेपि स्वस्मिन् भगवदपेक्षे नासा-
 वदमिलादिरूपज्ञाने केवलं तदैक्यमानमेव, न द्वितीयपदार्थस्येति ज्ञानमार्गीयैक्यप्रतिपादक-
 वाक्येन ऐक्यसाम्येन कदाचिदैक्यभावजन्तमोहेन स्वास्थ्यं सम्भवेदित्याशंक्य तदभाव-
 माहुः । पूर्वोक्तावत्यत्येकप्रत्युद्देशे सत्स्वपि यदि तद्विवरणेनैतावत्यन्तं तद्रक्षामेव कृतवान्
 प्रभुः, तदा ज्ञानिनामपि वाक्येनैक्यप्रतिरूपेण भक्तं ताद्यं न मोहयिष्यति । तथा
 चोक्तं भ्रमणीते श्रीमद्गुडयोक्तैः 'श्रूयतां प्रियसन्देशः' 'भवतीनां वियोगः' इत्याद्यैक्यप्रतिपाद-
 कज्ञानिवाक्यैस्तासां मोहो न जातः, किन्तु तच्छब्देन प्रत्युत्पातितसत्तैलपतितजलत्रिन्दुवत्
 प्रभुरतीव्रविरहामिज्वालजालज्वलितास्ता अवब्रूति । प्रकृतेपि तादृशावसायां तथा न करि-
 ष्यति, प्रत्युत तद्वीतिमेव करिष्यतीति भावः । नन्वेवं सर्वयाऽस्वास्थ्यकारकं तापमेव कथं स्वाप-
 यति, तत्र हेतुमाहुः आत्मप्रदः प्रियश्च, अतः किमर्थं मोहयिष्यति । अयं भावः । अत्र
 भगवान् रसात्मकः साक्षात्स्वरूपानन्ददानार्थम्, सुख्यतस्तत्र प्रीतिरूपो गुणश्च हेतुः । स वै
 तादृशावसाभावे पुष्टो न भवति, किन्तु च्युत एव तिष्ठति, तत्पुष्टत्वाभावे तदानमपि न सि-
 ष्यति, रसात्मकत्वादेव साम्ये सर्वदा स्वापयति । एवं सति यत्र भगवतः स्वरूपानन्ददानेच्छा
 प्रियत्वं च, तत्र तद्वाक्यजनितमोहो न भवति । यत्र नैतदुभयम्, तत्र मोहो भवतीति सूच्यते । तथा
 चोक्तं दशमस्कन्धे 'द्विजपत्नीषु तदानन्ददानेच्छामापात् पुष्टिमार्गीयप्रियत्वाभावाच्च न प्रीतये
 अनुरागायै'त्वादिज्ञानिवाक्यजनितमोहो जातः । यतः ताः परावृत्त्य स्वपुष्टिहानगमन् । फल-
 प्रकरणे तु श्रीस्वामिनीनां सर्वस्वाग्नेनागमनपूर्वकमनन्तरमेव पूर्ववदेव 'श्रवणाद् दर्शना'दित्या-
 दिवाक्यैः स्वात्मदानेच्छासद्भावात् पुष्टिमार्गीयप्रियत्वस्यापि विद्यमानत्वान्मोहो न जातः, प्रत्यु-

तेश्वरवाक्यानां सर्वाधिकपलत्वेपि तन्निराकरणं चकुरिति शुभ्रं किमर्थं मोहपिप्यतीति ।
अतः परमेतावदुक्तस्य निर्गलितार्थमाहुः । यस्मात्साधनार्थपरित्यागो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः ॥
अन्यथा पुष्टिमार्गीयभावाभावे तस्मिन् कृते स्वार्थात् पुष्टिमार्गीयपुरुषार्थाद्भ्रष्टयते च्युतो
भयतीत्यर्थः । अत्र प्रमाणमाहुः इति मे निश्चिता मतिः । इति यस्य धर्मस्य यथा स्वरूपं
तत्स्वरूपज्ञानादेव तस्मिन्निश्चयः । स्वमतेरेवेति स्वसैव मतिः प्रमाणत्वेनोक्ता ॥१७-२१॥

एवं संन्यासनिर्णयं कृत्वोपसंहरन्ति ।

इति कृष्णप्रसादेन बह्दभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इत्येवं प्रकारेण भक्तौ सत्यां एव संन्यासवरणं कर्तव्यत्वेन निश्चितम् । तत्र हेतुभूतं
साधनद्वयमाहुः कृष्णप्रसादेन बह्दभेन चेति । कृष्णपदेन रसानन्दात्मक-
गूढभावात्मकं सूचितम् । तादृशस्य प्रसादेन, प्रसादस्यापि नैकविधत्वं सम्भवतीत्युक्तं बह्द-
भेनेति, अतिप्रियेणेत्यर्थः । एवं एतेन भावात्मकपीतिगुणविशिष्टत्वं प्रसादस्य ज्ञापितम् ।
तादृशत्वाभावे परित्यागस्वरूपज्ञानमेव न भवेत्, निश्चयः कथं कर्तुं शक्यः । तथापि
विशेषेणैदमित्यात्तयेति मद्भक्तस्य सन्देशो न कार्य इति निरूपितम् । निश्चयकरणप्रयोजनमाहुः
अन्यथेति । एतत्स्वरणाभावे परित्यागस्वरूपज्ञानात् अधिकाराभावे कृते त्यागे स्वाङ्गीकृतोपि
पतितो भवेत्, पूर्णोक्तप्रकारेण भक्तिमार्गाद्भ्रष्टो भवेदित्यर्थः । एवं सति परमकारुणिक-
स्वभावात् स्वकीयानां रक्षैव कृतेति भावः ॥ २२ ॥

श्रीमदाचार्यकरुणां वर्णयामि कथं यतः ।

यतः स्वतस्त्यागभावप्रकाशं मांश्चेऽकरोत् ॥ १ ॥

यथेमे ज्ञापिता भावाः स्थापयतु स एव तान् ।

यादृशस्त्वाद्यः स्वीयस्त्वदेकशरण विभो ॥ २ ॥

यदत्र मन्मतेदोषाद्विरुद्ध प्रभवः स्वतः ।

क्षमन्तां तत्र च तवाश्रयण शरणं मम ॥ ३ ॥

इति श्रीघनश्यामात्मजश्रीगोपेशविरचितं

संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोपेश्वरविरचितविवृतिसमेतः ।

विविधविरहभावावेशजलेशमानामनुभवविषयः सन् गोपिकानां कृपान्विः ।
कलयति निजरूपानन्दपीयूषपानं सकृदपि स कृतार्थं मां प्रसन्नः करोतु ॥ १ ॥

श्रीगोपिकापीशपयानुगानां सेवाकृपासक्तिसमर्थनाय ।
य एक एवास्ति विभुस्त्वमेव श्रीवल्लभास्व मुहुराश्रयेहम् ॥ २ ॥

श्रीमद्ब्रह्मसूतोः श्रीविठ्ठलनामधेयस्य ।
पदकमलद्वयममलं मनसि मदीये समुल्लसतु ॥ ३ ॥

स्वाचार्यचरणपङ्कजपरागपुरुरागपरभामान् ।
अभिवन्दे-पितृचरणानहमतिभक्त्या तदाप्तमतिः ॥ ४ ॥

अयाज्ञायाद्यखिलप्रमाणप्रतिपन्नसारमकश्रीपुरुषोत्तमविरहानन्दविविधभाववृन्दानुभव-
स्य सर्वात्मभावप्रपत्तिमात्रप्राप्त्यत्वात् सर्वपरित्यागमन्तरेण तदसम्भवादावश्यको नक्तिमार्गो
परित्यागः, स च कर्मज्ञानभक्त्यादिमार्गभेदाद्विभिन्नरूप इति स्वमार्गीयपरित्यागमतिवि-
लक्षणमनाकलयतां तत्तत्संशयवशंवदानां निजगार्वाहीकृतजीवानामविचारितः परित्यागः
पश्चात्तापयैव भवितेति सकलसंशयापवृत्तिपुरःसरं तदपगमाय स्वभक्तेषु परमातुषमकृपा-
किर्मीरितमूर्त्यः श्रीमदस्वदाचार्यचरणाः किञ्चिच्चयोजनं प्रकटमुदीरयन्तस्त्राद्विचारप्रतिज्ञा-
माचरन्ति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

नक्तिमार्गो पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलमितरत्तत्तन्मन्थित्वेनैव तथात्वेनोच्यते इति राधा-
न्तात् तस्य च 'रसो वै स' इत्यादिश्रुतिभ्यो रसत्वेन सिद्धत्वाद्दुभयविविधमुत्स्यरसात्मनः
स्वमार्गीयतेः स्वरूपानन्दं श्रीमदाचार्यव्यैकरणवशाज्जनुसेवादिपरतया सुखं गृहादिषु सतां
संयोगप्रकारेण यथाधिकारमनुभवतामपि विप्रयोगप्रकारेण तदनुभवभावादान्तरेणोन्मिष-

द्विरनन्तविधैरभिलाषे सन्तान दन्तुरितस्वान्तानामस्माक शुद्धपुष्टिभार्गीचार्यसम्वन्धिनामपि स्वमार्गमुख्यफलविप्रयोगभावावुभवो न भविष्यति । तस्य सर्वात्मभावान्तर्गतसर्वत्याग साध्यत्वादस्मासु तज्ज्ञानस्थायभावेन क्व तदाचरणतत्फलदिसम्भावनापीत्येवरूपो य उक्तं दस्ताप स पश्चात्तापपदेनाञ्च्यते । यतोयगुरुरीकृतमुररिपुमार्गनिपुणतराणामाचार्यवर्यपद-पद्मप्रसादलुपामेवाधिहृदयमुदयमासादयति, न पुन साधारणानाम्, तन्निवृत्तिश्च भक्तिमार्गं प्रवर्तकश्रीमदाचार्यचरणेकसाध्येति । तदर्थं परित्यागः सन्यास स्वमार्गीय श्रीमदाचार्य चरणैर्विचार्यते । स्वरूपत फलत सम्यक्तया मार्गीन्तरीयतदसङ्कीर्णत्वेन निरूप्यत इत्यर्थः । तथा च वक्ष्यमाणविधया विचारित स्वमार्गीयसन्यासस्वरूपादिक सम्यगवगम्य भगवदङ्गी काराधिकारतारतम्यभाजस्तन प्रवर्तमाना विमलितपश्चात्तापास्तदनु रूप फलमनुभविष्यन्तीति भावः । यद्वा । भक्तिज्ञानयो सिद्धदशावामेव सन्यास साधीयान्, न साधनदशायां, तदा तादृशैराग्यविरहेण कृतस्यापि तस्मिन्निर्वाहात् पश्चात्ताप एव पर्यवसित इत्येतत्तारत म्यानवगमे त्यक्ताखिलानामपि भक्ताना पश्चात्ताप, तदर्शनेन स्वस्यापि स स्वादिति तदनु-स्यत्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । अथवा, जीवाना प्रभुप्राप्त्यर्थं भक्तिमार्गमाविष्कृतं चक्रि श्रीमदाचार्यचरणेरस्य स्वमार्गीय परित्यागोपि मुख्यफलसिद्धयर्थं प्रागेव निरूपणीय । स तदैव न कथं निरूपितः । किमिति विलम्ब कृत इति य पश्चात्तापो भवेत्तदपगमाय परित्यागो निचार्यत इत्यर्थः । ननु विचारविषय परित्याग कर्तव्यतया कामिहि तस्मदनन्तर तन्निर्णयार्थोत्पाकाक्षायामाहुः स मार्गद्वित्य इति । स परित्यागो मार्ग-द्वितये भक्तौ ज्ञाने विशेषतः वित्तक्षणफलसाधकत्वलक्षणाद्भावितकथमंत प्रोक्तः, श्रुतिश्रीभागवतादिव्यभिहित इत्यर्थः । अत एव 'सन्यस्य सर्वविषया'नित्यादिषु य सर्व त्याग श्रीमत्सभक्तेषु स पर्यवसितप्रयोगानुभवफल एव, ज्ञानमार्गीयेषु तु स नेवविध, किन्त्वपर्यवसायी । यद्वा, विशेष परिपाकदशा भक्तिज्ञानयोस्तदनन्तमेव परित्याग प्रोक्तः । अन्यथा तद्धर्मनिर्वाहाभावेन दोषनिक्षेपपर्यवसानापातात् । विशेषत इति व्यञ्जोपे पयमी । तथा च भक्ती ज्ञाने च विशेष सिद्धदशापत्रत्व प्राप्येति वार्थः । अथवा, विशेषे त इत्यस्य प्रत्यासत्तिवशाज्ज्ञान इत्यनेनेवान्वयः । इत्यस्यैकजन्मनि परित्यागेन ज्ञानमार्गे मुख्यभावाद्नेकजन्मसु तत्करणमेव विशेषपदार्थोवसेय ॥ १ ॥

नन्वेव कर्ममार्गेषु परित्यागकरणे किं बाधकमित्याशकाया तन्निषेधमाहुः कर्ममार्गे न कर्तव्य इति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरा कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्याद्विचारणा ॥ २ ॥

कर्ममार्गे हि सकामनिष्कामभेदेनानिर्गणकर्मकरणरूप, तयानिधुनिनिरूपितः, तस्मिन्परित्यागो निरवकाश इति न कर्तव्यः । न च 'यदहोरेण रिग्जे' इति श्रुत्या पोषित त्वान्परित्यागः सति निषेदे दुर्गतर इति वाच्यम् । कर्ममार्गस्य सन्तानादिकलनावन्दलितका

मनाकलापस्य निर्वेदोदयनिदानभावायोपात् । न च निष्कामकर्मकरणं मनोमलिनिमानगपनीय विरक्तिमुत्पादयिष्यतीति वाच्यम् । तत्रापि सहधर्मिणीसाहित्यनैयत्येन तद्व्यवहानपायात् । न च निष्कामकर्मकरणमेव संन्यास इति वाच्यम् । कर्मलागस्यैव तथात्वीचित्यात् । न च काम्यकर्मत्यागमादाय तथात्वं शक्यवचनम् । सङ्गोचे मानाभावात् । क्वचित्स्मिन्पि तत्प्रयोगस्यौपचारिकत्वात् । मुमुक्षुणां सर्वतत्त्वागदर्शनाच्च । न च मुमुक्षुषु जीवन्मुक्तेषु च तत्तत्कर्मकृतिव्याप्तिरुक्तैवेति वाच्यम् । भगवन्नियोगेनैव तेषु लोकसङ्ग्रहाद्यर्थत्वात्तस्याः । किञ्चास्लामन्यद्वाधकम्, काल एव चलवद्वाधकस्तत्रेत्याहुः सुतरां कलिकालत इति । कलिकालस्तावद्भगवद्भजनस्यैव साधकस्तदतिरिक्तस्य वाधक एवेति तत्र तत्र सिद्धम् । तथा च तयानभूतात्तस्मादनिर्वाहप्रत्यवायादिकं प्रतीत्य कर्ममार्गे सुतरां संन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन काम्यकर्मत्यागलक्षणो गौणोपि त्यागः प्रत्युक्तः । मुष्याहृत्यात्कालो निर्दिष्टः, परमयं देशादीनामप्युपलक्षकः । तेन कलौ देशकर्त्राद्यशुद्ध्यपि न परित्यागः कर्ममार्गे सिध्यति । अत एवायुपस्तुर्वभागे संन्यास इति मतमपि वैराग्यं विना तदसम्भवेन भक्तिज्ञानपरिपाक एव तद्वाङ्मन तथैव सावकाशमिति कालादिदोषाच्च कर्ममार्गे निरवकाशमिति ध्येयम् । एवं कर्ममार्गे परित्यागं प्रतिपिष्य भक्तिज्ञानमार्गयोः कर्तव्यतया परिशिषिते तस्मिन् प्रथमं कुत्रत्ये विचारः कार्य इत्यत्राहुः अत आदाविति । यतः कर्ममार्गे साधभ्रौष्यात् परित्यागो न कर्तव्योतो भक्तौ ज्ञाने च कर्तव्यतया तद्विचारस्य प्राप्तीस्यस्य भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वात् भक्तेः प्राथम्याच्च सिद्धदशायां च तस्य कर्मव्यत्वादादौ भक्तिमार्गे परित्यागस्य विचारणा । भक्तिमार्गे किं साधनदशायामेव परित्यागः कार्यः, किं वा फलदशायामाहोस्विदुभयत्र वेतिरूपा क्रियत इति शेषः ॥ २ ॥

ननु भक्तिमार्गे परित्यागः स्थापितश्चेत्तदा साधनदशायामपि स कर्तव्य इत्याशङ्कते हेतुकं तदनङ्गीकारमाहुः श्रवणादिप्रसिद्धर्थमिति ।

श्रवणादिप्रसिद्धर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणत्वात् ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मेश्च विरोधतः ।

गृहादेर्वाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अत्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विपयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

विपयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुन्वायहः ॥ ६ ॥

श्रवणादीनि यानि साधनरूपाणि तेषां प्रकर्षेणाप्यत्रतया सिद्धिर्निष्पत्तिर्गृहादिषु व्यासङ्गकेषु न सम्भवतीति तदर्थं स परित्यागः कर्तव्यश्चेत्, नेष्यते नांगीक्रियत इत्यर्थः ।

श्रवणादीनां प्रसिद्धिरुक्तप्रकृतं तदर्थं परित्यागः कर्तव्यभेदाङ्गीक्रियत इति वार्थः । कुत इत्याकांक्षायामाहुः सहायसङ्गसाध्यत्वादित्यादि । गृहादिषु तत्कार्यव्यासङ्गसानि-
 वार्थत्वादेकान्ततः श्रवणादिसाधननिर्वाहो न भवतीति तत्परित्यागेन क्वचित्चित्तैकाग्र्येण
 सम्पादनीयमिति मनसिकृत्य यस्त्यागः स कथमुपपद्यतां, यतः श्रवणादीनि सहायसङ्गसा-
 ध्यानि, सहायाः कथकादयो विविधस्वभावाः, तेषां सङ्गः सद्भावेन तदुपसत्तिरूपः, तेन सम्पा-
 दान्यतस्त्यागानन्तरमावश्यकस्यासङ्गत्वादेर्भङ्गप्रसङ्गतः प्रशिक्षिलवैराग्यात् पुनस्तत्तदाकांक्षो-
 न्मज्जनेन च न श्रवणादिसाधनार्थं परित्यागः शक्याभ्युपगमः । किञ्च, त्यागमात्राच्च कार्य-
 सिद्धिरिति श्रवणादिसिपापयिपोस्तत्साधनानां तत्तदवसरे उपेक्षितानां रक्षणं कर्तव्यं, तत्-
 त्यागः कथं लब्धात्मकः स्यात् । अपि च, साधनमार्गीयस्य कृतेषु त्यागे तत्तत्पदार्थेषु
 श्रवणाद्यर्थमपेक्ष्येषु नाभिमानो निवर्तते, प्रतिक्षणमुदेत्येव, त्यागे च स निवर्तनीयः सर्व-
 येति तत्सत्त्वे स न युज्यते । साधनदशायां वेदाज्ञारूपभगवन्नियोगाच्च वर्णाश्रमधर्माणा-
 मुल्लङ्घनं न शक्यमित्यशक्य एव त्यागः । अन्यच्च, श्रवणादिसाधनानां तद्दर्शनैः परित्या-
 गधर्मैः पर्यटनादिभिः समं विरोधो न शक्यविभूत इति न कथमपि साधनभक्तिरूपश्र-
 वणादिषु परित्यागः सम्भवति । ननु तथापि गृहादिकं सत्सङ्गासम्पादकतया श्रवणादिषु प्रति-
 पक्षभूतमत्तत्तदर्थं तत्परित्याज्यम्, तथा सति कदाचित् सत्सङ्गोपि स्यादित्याशङ्क्य समाधान-
 माहुः गृहादेरिति । बाधकत्वेन श्रवणादिविरोधित्वेन । साधनार्थं श्रवणाद्यर्थम् ।
 तथा यदि परित्यागश्चेत् । तदा अद्यपि त्यागानन्तरमपि तदाविषदाढ्याभावात्तदर्थैरेव
 परित्यक्तश्रवणादिपरिपन्थिगृहादिसदृशैरेव सङ्गो भवति, अन्यथा प्रकारान्तरेण गृहा-
 दिपरित्यागरूपेण श्रवणादिकं तु न भवतीत्यर्थः । ननु भवतु भवनादिपरित्यागकर्तृत्वाद्-
 गपरसङ्गः, तथाप्यन्तरुद्भववैराग्यादिनैव श्रवणादिनिर्वाहो भविष्यतीति न तस्यागोनुचितं
 इति चेत्, तत्राहुः स्वयं चेति । यदि वैराग्यमन्तर्जागरूकं भवेत्, तदा क्रमेण बाधरु-
 नियर्हणे निर्वहेदपि श्रवणादिकम्, परन्तु साधनदशायां तादृशं तदेव दुरापम्, अतस्त्यागस्तु
 विरोधिभिर्विभूयेतैव, किन्तु स्वयमपि तु पुनः विषयैरागन्तुर्करेनेकरूपैर्भोग्यैराकान्त उपम-
 र्दितः सन् कालतः कलिरूपात् मत्कारितिरिक्त्परिपन्थिनः पापण्डी तत्तद्विरुद्धाचरणवान्
 भवेदित्यर्थः । स्वकामत इति पाठे क्रोधलोभाद्युपलक्षकात् कामतो बलिष्ठदोषात् स
 तथा स्यादित्यर्थः । तेन किना वैराग्यं त्यागोपमः, तत्तद्विषयप्रतिहतः, फलाय नावकल्पते,
 प्रत्युत प्रत्यवायमेव सम्पादयति, प्रमाणविरुद्धाचरणमुत्पापेति भावः । ननु विषयैराक्रमणेपि
 श्रवणादिभिर्मग्नदावेशशापि सम्भाव्यन्महिम्ना त्यागो निष्प्रत्यूह इति चेत्तत्राहुः विष-
 याक्रान्तदेहानामिति । भगवदावेशे सति त्यागे न कापि क्षतिः । किन्तु विषयैर्देहा-
 दिकं येषामाक्रान्तं तेषां हरेः सर्वदुःखहर्तृविषयदोषदवीयसो निर्दोषोप्यसावेशो हृद-
 यादावागमनं तत् सर्वदा कस्मिन्नपि काले न भवति । किन्तु 'विषयान् ध्यायत' इत्युक्तरीत्या
 नाश एव भवतीत्यर्थः । न च विषयाणां श्रवणाद्यनभिमावकत्वाच्च तत्प्रयुक्तभगवदावेशा-

नुपपत्तिरिति याच्यम् । 'नराणां क्षीयपापाना'मिति वाक्यात्तादृशेष्वेव श्रवणादि प्रयोज्य
 प्रन्वावेशसोपपत्तेः । न च 'वाध्यमानोपि मद्भक्त' इत्यादिवाक्यैर्विषयसत्त्वेपि का क्षतिरिति
 वाच्यम् । उक्तवान्यानां विषयमुखत्वैगुल्येन सेवमानस्य प्रमादात्तत्कृतवाधेपि प्रभुरति-
 कृपार्द्रस्वरोपमपाकरोति, अतो न विषयाभिभव इत्यभिप्रायकत्वात् । अत एव प्रायःपदमु-
 पात्तं तत्र । एतद्वाक्याभिप्रायान्तरमस्मत्पितृव्यचरणकृतो विवेकधैर्याश्रयविष्णुती विलोकनीयम् ।
 एवं साधनभक्तिमार्गे समर्थितं त्यागाभावमुपसंहरन्ति अतोत्रेति । यतो बहुन्येव
 वाधकान्युक्तान्यतोऽत्र साधने भक्तौ श्रवणादिरूपसाधनभक्तिमार्गे त्यागः संन्यासः सुखावहः
 आनन्दहेतुर्नैव भवतीत्यर्थः । साधनपदमेवकारश्च फलभक्तौ त्यागस्य सुखनैयत्यावगत्यै ॥
 नन्वेवं भक्तिमार्गे न युक्तश्चेत्परित्यागः, तर्हि ज्ञानमार्ग एवास्ताम्, एवम भक्तिमार्गे
 व्यर्थस्तद्विचार इति चेत्त्राहुः विरहानुभवार्थमिति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयबन्धनियुक्त्यर्थं वेपः सोऽत्र न शान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

'भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य वाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

यद्विष्वेत्प्रकटः सात्मा यद्विष्वत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न शान्यथा ।

गुणास्तु सद्गुराहिल्याद्वीचनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्वाज्जात्र वाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाच्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

तुशब्दः साधनमार्गावित्यागव्यावृत्त्यर्थः । साधनभक्तौ परित्यागस्य बहुवाधका-
 स्कन्दितात्वेनासम्भवेपि रसात्मकस्य प्रभोः परमफलरूपद्वितीयदलविधिवभावात्सादन-
 लक्षणो यो विरहानुभवस्तदर्थं परित्यागः सर्वात्मभावान्मभूतः संन्यासः प्रशस्यते, प्रशस्तो
 भवति, किंवा प्रकर्षेण मोक्षाधिककक्षापन्नत्वेन कथ्यत इत्यर्थः । तेनातिशयितभगवदङ्गी-
 कारात्तथाधिकाराधिगमेन विधीयमानः परित्यागः परमपुमर्गरूपतद्विप्रयोगरसानुभावक-
 तया भक्तिमार्गे भव्यतम एवेत्येतद्विचारः गुणास्तर इति भावः । ननु ज्ञानमार्गाविसंन्यास-

ग्रहणे यथा विहितत्वात् कापायवस्त्रवेपः क्रियते, स हि सातिशयो मोक्षार्थः, तथा भक्ति-
मार्गीयसंन्यासग्रहणे स न भवतीति किमर्थं तत्सम्पादनमिति चेत्तत्राहुः स्त्रीयवन्धनि-
वृत्त्यर्थमिति । अत्र विरहानुभवार्थं भक्तिमार्गीये परित्यागे ज्ञानमार्गीयसंन्यासे प्रसिद्धो
वेपलं विना भार्यादिभिः प्रतिबन्धः कार्य इति स्त्रीयैर्दारिद्र्यमिषो बन्धः प्रतिबन्धः, किंवा स्त्रीयेषु
बन्ध आसक्तिः प्रतिबन्धरूपा तन्निवृत्त्यर्थं कर्तव्यो, न चान्यथा, प्रकारान्तरेण ज्ञानमार्गीयेण न
कर्तव्य इत्यर्थः । यथा ज्ञानमार्गीयसंन्यासे तादृशवेपस्वाद्यष्टविशेषद्वारापवर्गोपयोगित्वम्, न
तथा भक्तिमार्गीयसंन्यासे, तस्य स्त्रीयवन्धनिवृत्तिमात्रप्रयोजनत्वेनैवात्र कर्तव्यत्वादित-
रथा तदभावादिति भावः । ननु ज्ञानमार्गे गुरुतदुपदिष्टसाधनादेरिष्टसिद्धिः, न पुनः
संन्यासमात्राद्, भक्तिमार्गीयसंन्यासे तु तदप्रसिद्धेः कथं फलसिद्धिरित्याशङ्कायां तत्प्रसि-
द्धिमाहुः कौण्डिन्यो गोपिका इति । कौण्डिन्यो महर्षिः स गुरुः प्रोक्तः, गोपिका
घोषभूषणरूपाः सीमन्तिन्यः, ता भक्तिमार्गीये विरहानुभवपर्यवसायिनि संन्यासे गुरवः
प्रोक्ताः, श्रीभागवतादिषु सम्यक्प्रथिता इत्यर्थः । अत्रायमभिप्रायः । कौण्डिन्यस्यानन्तगुण-
वर्णनाकर्षणोदीर्घतदभ्यर्णगमनादिमनोरथार्णवभयदनन्तभायसन्तताशेषकरणवृत्तेः कृत्स्नप-
रित्यागेन पिपिनगहरादिषु तद्रूपेषणविवशस्य सर्वपरित्यागपूर्वकतात्प्रातिदलक्षणविर-
हानुभवहेतुभावप्रकाशकत्वमस्ति । गोपिकानां तु स्वप्राणप्रेषप्रस्फुरत्सर्वात्मभाववत्तया
रासोत्सवादिप्रस्तावे तथात्वं स्फुटतरमेवेति लोकेदेदातीतशुद्धपुष्टिमार्गीयप्रकारस्य प्रभुणा
स्वप्रयोजनार्थं स्वभोगभक्तस्थापितस्य प्रथमं तत एव प्राकट्यात्तत्रैव गुरुत्वं समञ्जसतमम् ।
महर्षी तु तदर्थेनार्तिप्रकर्षतीत्यात्तदुक्तिः, प्रमाणमार्गीयस्यात्र मुख्यं गुरुत्वमयुक्तमिवेति ।
तेन गुरुत्वमर्थतत्परित्यागफलसाधनीभूतभावप्रकाशकत्वं निवक्षितम्, न तूपदेष्टृत्वम्, तस्य
प्रकृतोऽभावात् । एतत्संन्यासस्य ज्ञानमार्गीयतदिलक्षणत्वेनैतादृशस्यैव तस्य वक्तृमौचित्यात् ।
उपदेष्टृत्वस्यापि तदर्थज्ञापनमात्रौपयिकतया फलतो विशेषाभावाच्च । अत एव 'एवं सत्यस्मि-
न्मार्गे स्वामिन्य एव गुरव इति ज्ञापितं भवती'ति निरोधविवृतिप्रकाशे श्रीमदस्मत्प्रचरणचर-
रुक्तिश्चकास्ति । 'स्वामिन्य एव'लेवकारान्मुख्यं गुरुत्वमेतासामवसेयमित्यन्यदेतत् । किञ्च,
न केवलमेता एतादृशभावमात्रस्य निजमार्गीयस्य प्रकाशिकाः, किन्तु यथा स्वभजनपरा-
णामेतद्भावफलं सिध्यति, तथानुकम्पा सम्पादिका इति विरहानुभवात्मकफलौपयिकधर्म-
वत्त्वलक्षणं साधनत्वं गुरुत्वेपि न निरुद्धं, बहुरिव निमित्तकारणत्वमित्याशयेनाहुः
साधनं च तदिति । तत्प्रसिद्धं मुख्यं साधनं गोपिका एवेत्यर्थः । चोप्यर्थे । तेन श्रीम-
दाचार्यचरणानुग्रहभरविभूमिततज्जकटितैतन्मार्गीयप्रकारपरिकलनावतामेतद्भावसजातीयभाव-
वत्तयैतद्भजनपूर्वकं प्रभुभजने यथोक्तमुख्यफलं गवत्तरां निर्विचिकित्समिति भावः ।
अत एव भगवद्भजनापेक्षयाप्येतासां भजनसत्तममिति सूक्तिः श्रीमदाचार्यचरणानाम् ।
नन्वेवमेतासु गुरुत्वे न्यवस्थापितेषु किमेतज्जकाशितं स्वमार्गीयं साधनमित्यत आहुः
भाव इति । सर्वात्मभावसुखानां मक्तानां विप्रसुक्तत्वदशावशादुन्मिपतो मनोवागविषयस्य

भावस्य भगवत्स्वरूपात्मकत्वेन रसात्मकत्वात्तस्य भावनया स्वाचार्यानुग्रहभरसमुत्पत्तयाविध-
 भगवदङ्गीकारादेवोदयमानया सिद्धः पर्यवसितो यस्तत्सजातीयोऽनुभवैकगम्यो भावः
 स एव तन्मार्गीयतया पूर्वोक्ते परित्यागफले साधनमिष्यते, अन्यत् ज्ञानमार्गीयत्वाये
 प्रसिद्धं किमपि साधनत्वेन नेष्यते, नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः । यद्वा । असिद्धस्य भावस्य सा-
 धनत्वायोगेन प्रियतमस्य गुप्ततया स्थितस्य विप्रयोगरीत्या तत्तद्भावपोषकस्य तादृग्भक्त-
 निजविषयकोत्कटातिनिरीक्षणेन प्रतिक्षणविलक्षणरसभावानुभवविचक्षणस्य प्रभोः शुद्धमुष्टि-
 भक्तकर्तृकया परमार्तिपूर्वकप्रियान्नेषणतर्वादिप्रध्नुगुणगानतत्तदवसासम्बन्धिभावविषयिण्या
 भावनया तेष्वेव सिद्धः फलितो यः कोऽप्यनिर्वचनीयोनुभवैकविषयवैभवः स्वविषयातिरिक्त-
 स्वरणहरणस्यभावः स एवोक्तभक्तानामनुग्रहेणैव कदाचिदन्यत्रापि क्वचिदुदितः परित्याग-
 फले साधनमिष्यत इत्यर्थः । एतेनोक्तभक्तानां गुरुत्वं सम्यगुपपादितं भवतीति भावः ।
 नन्वहर्निशं विरहभावनामभ्यस्तत्तत्परिपाकदशायां नियमतो वैकल्याणस्यादिकं
 यद्भवति तत् कथं फलरूपरसभावेऽन्तर्भावार्हम्, लौकिकतत्तुल्यरूपत्वदर्शनेन प्राकृतत्वस्य
 दुर्बाल्यादिति चेत्तत्राहुः विकलत्वमनुसन्धेयसानुसन्धेयस्य चा-
 नुसन्धानानुसन्धानान्ययातुसन्धानादिजनको व्यभिचारिभावः । तथा तत्तद्व्यभिचारि-
 भावरूपं प्रथमानुसन्धेयविषयकतत्तद्व्योक्त्याभिलाषजनितमत्सास्यं, येन तदतिरिक्तं वस्तु-
 नि, रुचिव्याघातः । ईदृशभावानामन्येषामुपलक्षणमेतद्वयं फलीभूतस्य विरहभावस्य प्रकृतिः
 प्रकारः स्वभावो वा, हि यतः प्राकृतं लौकिकं दुःखादिजन्यं न भवति, अतः फलरूपरसभा-
 वान्तर्भावो नैतस्मानुपपन्न इत्यर्थः । नहि यज्ञातीयं कार्यं दुःखादितो जायते, न तज्जातीयं
 गुणादित इत्यस्ति नियमः । शोकादिव हर्षादप्यभूमादेर्देशेनात् । अत एवैवमुक्तं श्री-
 मदाचार्य्यवरेणैदंशमस्कन्धविवरणे, 'नहि दोषेणैव कार्यं भवति, गुणेन न भवतीति वक्तुं
 शक्यम्, दुःखादप्यश्रुणि आनन्दादप्यश्रुणीति । एवं संन्यासफलसाधनायमिधाय,
 तत्सम्पत्तिमतो बाधकान्याहुः ज्ञानमिति । एवं विकलत्वास्वाध्यादिना वर्तमानस्य सतस्य
 भक्तिमार्गीयपरित्यागवतः । किञ्चैवं परित्यागप्रकारेण वर्तमानस्य भक्तिमार्गीयस्य तस्य
 विकलत्वास्वाध्यादिभावस्य ज्ञानमात्माभेदानुभवरूपं बहिःसंभेदानाद्यभावद्वारा ताद-
 र्थ्यवतापीपशामकत्वाया स्वास्थ्यप्रयोजकं, गुणा भयवतो धर्माः, पूर्वं बहुधातुभूता बहव
 एवानुभवैकवेद्या ये सजातीयमावैर्भक्तैः सम्भूय भूयः क्रमेण मिथो गीयमानाः स्वास्थ्यमु-
 पजनयन्ति, बाधका विरोधिन् इत्यर्थः । ननु ज्ञानमार्गे संन्याससहकृतात् ज्ञानाघाट्यं फलम्,
 भक्तिमार्गेपि त्यागात्तादृशमेव भविष्यतीति न फलत कोपि विशेष इति चेत्तत्राहुः सत्य-
 लोक इति । फलभेदः सामग्रीभेदप्रयोज्य इति ज्ञानमार्गीयेण संन्यासेन विशेषितात्
 ज्ञानात् तत्त्वज्ञानात् सत्यलोके स्थितिर्नल्लोकप्राप्तिरिति यावत्, सा ज्ञानमार्गीयस्य संन्या-
 सिनो भवति, भक्तिमार्गीयस्य तस्य विरहभावानुभावकभावमिद्धितुभूतया भावनया

सहकृतत्वाद्यत्र भक्तिमार्गीयत्यागे, भावना साधनं प्रयोजिका, तत्र फलमपि तथा, तेनैव प्रकारेण विरहानुभवत्मकं भवेत् । ननु सत्यलोकादिसदृशं, कारणानुरूपस्यैव कार्यस्य न्याय्यत्वात् । सत्यलोकाद्येतत्प्रागफलयोस्वारतम्यं तु सुभेदसर्पपयोरेव सुप्रसिद्धमेवेति क इतोधिको विशेषोभिधेय इति भावः । किम, ज्ञानमार्गीयस्य त्यागिनः फलं यन्मुख्य-
 तथासातमपवर्गाख्यम्, तदपि न स्वरितमेव भवति, किन्त्वतिविलम्ब्येनैवेत्यमित्यन्धायाहुः
 तादृशा इति । तादृशाः संन्यासविशिष्टज्ञानवन्तः सत्यलोकादौ ब्रह्मलोकादाववान्तरफल-
 तयोपनते तिष्ठन्त्येव, न तु झटिति मुच्यन्त इत्यर्थः । 'ते ब्रह्मलोके स्वि'ति ध्रुत्वा तन्मुक्तिवि-
 लम्बावधारणात्तल्लोकस्थितिरसन्दिग्धेति न संशय इत्युक्तम् । तेन भक्तिमार्गीयत्याग-
 फलचिन्तायामविचारितरुचिरस्याप्यस्वातिचिरेणैव चेत्याप्तिः, तदा तदाशामप्यवलम्ब्य
 स्थितिः श्रेयसी, न पुनरेतद्बुद्धिचोप्युचित इति भावः । नन्वेवं भक्तिमार्गीयत्यागेपि कुतः
 शीघ्रं फलसम्भवो यत्सत्प्रतिपन्धकस्तदहन्ताममतादिरूपो बन्धस्तदवस्यस्तन्नाशश्च ज्ञाना-
 दिकं विना कथमित्याशङ्क्य तत्प्रकारमाहुः बहिश्चेदिति । सर्वपरित्यागानन्तरं विर-
 हभावभावनाभ्यासमूपस्त्वादन्तस्तद्भावरूपेण स्थितोऽत एव सात्मा निरुपधिप्रियत्वाजीवन-
 हेतुत्वाच्च तत्त्वेन स्फुरितः स कदापिदस्युत्कटतापविलम्बादिभावस्वभावाद्याद्यन्तर-
 नुगम्यते तादृशो बहिः प्रकटो घ्नादियोचरश्चेद्भवति, तद्यथायथा यदि पुनरन्तःप्रविशेत्
 तत्र घटान्तो बह्विषदिति । यथा काष्ठनिष्ठो बहिः कदापिन्मयनादितो बहिः प्रकटीभूय
 पुनस्तान्मध्ये प्रविष्टः काष्ठतामपाकृत्य बहिरूपतां सम्पादयति, तथा भगवानप्यात्मत्वे-
 नान्तःस्थितो विरहभावोद्रेकादहिरागतः पुनः सम्बद्धः सर्वथा प्रतिपन्धकमपनीय निज-
 भावरूपतां सम्पादयतीत्यर्थः । बहिर्घ्नेनान्तेन स यथा तापहेतुरूपेणैव सम्बद्धः स्वरूपात्म-
 कत्वं कुरुते, तथा भगवानपि विप्रयोगभावप्रकारेणैव सम्बद्धस्तद्भावरूपतामित्यपि सूचितम् ।
 तदैव पुनः प्रवेशक्षण एव सकलः सर्वोपि तत्तदहन्ताममतारूपो बन्धो नाशमेति प्राप्नोति,
 न चान्यथा, प्रकारान्तरेणात्र प्रतिबन्धकस्य नाशो न भवतीत्यर्थः । नन्वेवं कार्त्स्न्येऽहन्ता-
 ममतात्मकस्य बन्धस्य विलये प्रलयानन्तादप्यतिप्रकटे विप्रयोगे च प्रातुर्यममति, जी-
 वनमेवाशक्त्यं स्यात्, तत्तद्समावानुभवस्तु दूरदूर इत्यत आहुः गुणास्त्विति ।
 तुशब्दः प्रकारान्तरव्यावृत्त्यर्थः । गुणाः स्वरूपात्मकस्य भगवद्दर्मात्मकाः ते पूर्वं तथा-
 नुभूता वियोगदशायां सद्ग्राहित्वात् बहिःप्रियदर्शनाद्यभावात् अतिविरहतापविलङ्घतया
 कमपि प्रकारं प्राप्नुवतां भक्तज्ञानमग्निमेवंविधरसातुमवाय भगवता सर्वभावेन रक्षार्थि-
 यानां जीवनार्थं भवन्ति । ननु स्वास्त्यमप्युत्पादयन्ति येन तद्भावान्तरायः स्यात् ।
 हि युक्तोयमर्थः । रसात्मकस्य धर्मिणो विरहेण सन्दिग्धस्थितानां जीवनं स्वरूपात्मकतया
 तदीयगुणानामेव शक्यं यतः । यद्यपि धर्मिणो विरहस्य सर्वाधिकबलतया सर्वतिरोपाय-
 कत्वाजीवनं कथमपि न जायतीति, तथापि तस्य त्रियगुणगानप्रादुर्भावावकाशप्रदत्वात्तेषां

च पर्यायेण मुहुरुपनीयमानानां पेपीयमानपीयूषवज्रीवनजननस्वभावस्य जागरूकत्वाच्च
 काय्यनुपपत्तिः । न चैवं गुणैर्जायिनसम्पत्त्यनन्तरं विरहभावस्य तिरोभावः प्रसज्येतेति
 वाच्यम् । तेषां जीवनाधिककार्यानुपधायकत्वेन तस्य तादवस्थ्यात् । विरहानुभवार्थं तत्री-
 वनमात्रस्य भगवच्चिकीर्षितत्वाच्च । नन्वेवं सति स्वविरहसन्तापभरणीडितस्वान्तानाम-
 वस्थां विचार्य सर्वसमर्थो भगवानेव यदि कदाचिदपि लोकसिद्धस्वास्यादिना प्रकार-
 च्चरेण वा तद्भावमुपशमयेत्, तदा स्वयमेव धाषकः स्यादिति चेत्तत्राहुः भगवानिति ।
 अत्र अस्मिन् स्वधिप्रयोगतीव्रतापादिभावानुभवे भगवान् यद्यपि सर्वैश्वर्यसहितः, त-
 यापि धाषकः केनापि प्रकारेणास विधातको नेष्यते, कुतः, फलरूपत्वात्, निरवध्यानन्द-
 रसात्मकत्वादित्यर्थः । यदि भगवान्मनागप्येतद्भावमपनयेत्तदा रसस्य संयोगविप्रयोगमे-
 देनोमयरूपत्वादन्यतरभावानुभवाभावे स्वस्य तथात्वमेव न सिध्येत् । सर्वात्मभाव-
 वस्तु स्वरूपात्मकं रसमविरतं वितरत एव फलरूपत्वान्मुपगमादिति भावः । एवं च 'रसो
 वै सः रसं शेषार्थं लब्ध्वानन्दीभवति ।' 'एतस्वैवानन्दस्वान्यानि भूतानि मात्रामुपजी-
 यन्ती'त्यादिश्रुतिव्याक्रोपोपि नोपनिपतति । ननु तथापि परमकरणापरीतो भगवान् भक्तानां
 भूतिरमात्मविरहक्लेशमसहमानस्तदुपशमाय सर्वथा स्वास्थ्यप्रतिपादकवाप्यानि करि-
 ष्यति, अन्यथा सादयालुत्वविरोधः स्यादिति चेत्तत्राहुः स्वास्थ्यवाक्यमिति । स्वास्थ्य-
 मागन्तुकक्लेशनिवृत्त्या पूर्ववत्सितिः, तत्प्रतिपादकं वाक्यं प्रशुणा न कर्तव्यम् । न
 चैवं सति सामर्थ्यं दुःखदर्शी कीदृशो दयालुरिति शङ्कनीयम् । एवंविधविरहक्लेशादि-
 भावस्य परमपुमर्षरूपत्वेनैतदभावसम्पादन एव दयावचयापातो यतः । अतः स्वत एव-
 तादृशभावनिवहान्निजेष्वनिशं विशदयतो निर्व्यूहो दयातिशय इति मनसिफूलोक्तं व-
 याल्लुर्न विरुध्यत इति । न हेतादृशभावानां प्रतिक्षणं संरक्षणपोषणादितोऽप्यधिकं कचि-
 त्किञ्चिद्वाकार्यमस्ति । क्लेशादित्वेन प्रतीतिमात्रमत्र परं प्राकृतानाम्, वस्तुतस्त्वभी रसात्म-
 का अनुभवैकवेदा निरवयवभगवद्भाव इति मुख्यमखिलम् । स्वास्थ्यवाक्यमित्येकवचनेनै-
 कमपि तादृगवाक्यं प्रशुनं करोति, येनैतद्भाववाच्यः स्याद, बहुनां तु सम्भावनैव केति भावः ।
 एवं भक्तिमार्गीयं परित्यागमभिप्राय तस्य दुरापत्वं यदन्तस्तत्सिद्धधुपायमाहुः दुर्लभोय-
 मिति । अयं भक्तिमार्गीयपरित्यागो दुर्लभः, शुद्धभगवत्क्लेशातिरिक्तसाधनालम्बत्वात् ।
 अत एव तथाभूतप्रश्नरुद्रप्रभयेन प्रेम्णा शुद्धसेहेन सिध्यति, तस्य वृत्तस्वकार्यपरम्परया
 तन्निर्वाहकत्वात्, नान्यथा, न तु विहितेन केनापि प्रकारेणेत्यर्थः । तेनैतदर्थिनां तदीयानां
 प्रेम्णि प्रयत्नः प्रतिष्ठितो मयतीति भावः । यथैतत्साधनस्य प्रेम्ण एव दुर्लभत्वम्, तथै-
 तत्साध्यपरित्यागस्य दुर्लभत्वं किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायो द्योत्यते ॥ ६-१२३ ॥

एवं स्वमार्गीयं संन्यासं विचार्य ज्ञानमार्गीयसंन्यासविचारमाहुः ज्ञानमर्गं इति ।
 ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापण्डित्वं भवेद्यापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रयत्न्यादिति स्थितम् ॥ १६३ ॥

तुशब्दो भक्तिमार्गीयत्यागव्यावृत्त्यर्थः । ज्ञानमार्गे मोक्षार्थं विविदिपाविद्वताभे-
देन द्विविधोपि संन्यासो विचारितः । तदेवाहुः ज्ञानार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञानप्रयोजनार्थं
यः स विविदिपासंन्यासस्तस्य ज्ञानेच्छाप्रयुक्तस्य ज्ञानोत्पादनोपयोगित्वात् । उत्तराङ्गं मु-
क्त्यङ्गं यः स तु विद्वत्संन्यासस्तस्य ज्ञानोत्तरमाविनो मुक्तावेवोपक्षयात् । चकारेण मुक्तिचर-
मकारेण ज्ञानेपि तदुपयोगः सूच्यते । तत्र विविदिपासंन्यासः कलौ न सम्भवतीत्यभि-
धासते । विद्वत्संन्यासस्तु यद्यप्यस्ति, परं तस्मिन् सिद्धिर्मुक्तिर्जन्मशतैरेकजन्मभिर्भवति ।
'पहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्नां प्रपद्यत' इति प्रमुखाक्यात् । ज्ञानार्थं संन्यासस्तु कलौ
न सिध्यतीत्याहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं च न केवलं संन्यासाद्भवति, किन्तु साधनापेक्षं
यज्ञदानाधीनं मतं, साधनत्वेन यज्ञादीनां श्रवणात् । 'तमेव वेदानुवचनेन ब्राह्मणा
विविदिपन्ति यज्ञेन दानेने'ति श्रुतेः । तानि च देशकालादिसाप्यानि, तच्छुद्धिः कथमपि
कलौ न भवति । यतोतः कलौ स विविदिपासंन्यासः कृतः पश्चात्तापायैव
भवति, नान्यथा, यतः फलान्तरमपि संन्येतातः सर्वथैव न कर्तव्य इति भावः । किञ्च,
न केवलं पश्चात्तापस्तस्य पर्यवसति, किन्त्वन्वदपीत्याहुः पापण्डित्वमिति । पापण्डित्वं
स्वधर्मविरुद्धाचरणं च भवेत् । अपिशब्दस्यजन्यपापसमुच्चयार्थः । यस्मादीदृशोयं संन्यास-
स्तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं न संन्यसेदित्यर्थः । यद्वा । ज्ञानेन हेतुना संन्यसेत्, नतु तेन विना
तथेत्यर्थः । अपिच युगान्तरे यथा कथमिद्विविदिपासंन्यासस्य निर्वाहः शक्येतापि, कलौ
तु कलयपि नेत्याहुः सुतरामिति । कलिदोषाणां पहूनां प्रयत्न्यादशक्यचाभत्यादिति
स्थितं, पर्यवसन्नमित्यर्थः ॥ १४-१६३ ॥

ननु यदि कलिदोषप्रायत्याज्ज्ञानमार्गे न संन्यासस्य निर्वाहस्तर्हि तत एव भक्तिमा-
र्गेपि तस्य तथेति तुल्यमित्येवमाशङ्कन्ते भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेदोपस्तादा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अध्वारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तास्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं यार्थां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तिमार्गेण चेत् कलिसम्बन्धी दोषः प्रवृत्तदा नाश एव स्यात्, नतु त्यागस्य फलपर्यवसानमिति किं कार्यं, स्वीकार्यो वा ज्ञानमार्गीयः परित्यागः, परिहार्यो वा भक्तिमार्गी योपीति महत्सङ्कटमिति प्राप्ते, उच्यते, समाधानमिति शेषः । तदेवाहुः अत्रारम्भ इति । ज्ञानमार्गे संन्यासस्योपक्रमे कलिकालादिदोषैः साधनवैगुण्यात्तदनिर्वाहे नाशः फलाभावो बुज्यते । न च तत्र दोषसत्त्वे किं मानमिति वाच्यम् । 'कलेर्दोषनिधे'रिति वाक्येन भगवद्भजना-तिरिक्ते तत्सद्भावस्य बोधितत्वात् । दृष्टस्य श्रुतस्य वा नाशस्यैव दोषोन्नायकत्वात् । अत्र भक्ति-मार्गे आरम्भे उपक्रमे त्यागस्येति शेषः नाशः फलाभावो न स्यात्, कलेरन्यत्र बाधकस्यापि भक्तिमार्गे साधकत्वेन साधनवैगुण्यात्प्रसक्त्या संन्यासस्यानिर्वाहासंभवात् । भक्तिमार्गस्य ज्ञान-कर्मादिभ्यो फलवत्त्वस्य बहुलमुपलभ्यात् । 'न कर्हिचिन्मत्परा नंक्ष्यन्ति' 'न मे भक्तः प्रणश्यती' त्यादिभिर्मक्तस्य नाशभावावधारणात् । एकादशस्कन्धे 'न हांगोपक्रमे नाशो मद्धर्मसोद्भवा-ण्वपी'त्यनेनारम्भदशायामपि तदभावस्य प्रतिज्ञातत्वात् । तेन भक्तिमार्गे दोषलेशोपि न शक्ति-शक्य इति भावः । किञ्च, भक्तिमार्गे परित्यागवान् कश्चिन्नष्टे दृष्टः श्रुतो वा येन तद्दृष्टान्तेना-न्यस्मिन्नप्याधुनिके नाशः शक्यवचनः स्यादतो दृष्टान्तस्याप्यभावतो भक्तिमार्गे न कश्चिदुन्नेतुमपि शक्यते दोष इति न नाशसम्भावनालेशोपि । नतु तथापि विरहव्यथाव्या-कुलः सन् यदि कोपि कदाचित् स्वास्थ्यसम्पादकं कमपि पदार्थमुपादधात्तदा तस्य भावस्य वा प्रायः स्यादेवेति चेन्नराहुः स्वास्थ्यहेतोरिति । स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यप्रयोजकस्य येनैवैतद्भावविपातकं किञ्चिदपि स्वास्थ्यं भवति तस्य सर्वस्यैव पूर्वमेव सर्वभावेन त्यागादस्य भावस्य त्यागिनो वा बाधः प्रतिपातः केन पदार्थेन सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । नतु लौकिकस्य बाधकस्यासम्भवेऽप्यलौकिकाः कालादय एव बाधका भविष्यन्तीति चेन्नराहुः हरिरिति । यद्यपि हरिः सर्वदुःखहर्ता समर्थः सदायम्, तेन भक्तलेशलेशमपीक्षितुं न क्षमः, तथाप्यत्र अस्मिन्नतिप्रसुरविप्रयोगभावे बाधां नाशं स्वरूपरसाद्युत्तेरित्प्रारूपैर्भक्तानामपोषणरूपं कर्तुं न शक्नोति, समर्थो न भवति । अपरे कालादयः कुतो बाधां कर्तुं शक्यन्तीत्यर्थः । इहायमभिसन्धिः । भगवान् हि रसत्वेनैव 'रसो वै स' इत्यादिश्रुत्या निरूपितः, तस्य च संयोग-विप्रयोगात्मके शृङ्गार एव विश्रान्तमिति तदुभयात्मकः स्वयं स्वस्वरूपात्मकानेव तत्प्रस-मायांसात्तद्विद्वत्तिभिरत्यनुष्ठीतेष्वविभीष्य तदनुभवं विदपत्तदुद्बोधितनिजभावनिचयानां चानुभवमनिर्वचनीयानेकप्रकारैर्भक्तानां सम्पादयन् स्वरूपानन्ददायको महोदारो मुहुर्मुहुर्वि-प्रयोगादिभावपोषणमेव कर्तुमर्हति, न तु तद्विपातमपि, स्वस्य भावात्मकत्वात्तेषां चातिप्रव-

लत्वाद्भक्तविषयकैर्भावैः स्वस्य तदधीनत्वभावेनात् निरपेक्षिकृपानिधित्वस्य प्रकटितत्वात् ननु तथापीश्वरः स्वतन्त्रः कदाचिद्भावमन्यययेदेव, न तु नियमेन पोषयेदित्याशङ्क्य तस्य स्वभाव एवेदंशो यदेतद्भावं पोषयत्येव, न तु नाशयतीतीममर्थं व्यतिरेके दृष्टान्तेन समर्थयन्ति अन्यथेति । यदि भगवान् स्वरूपाद्युत्तरैर्भक्तभावैर्भक्त्याद्य पोषयेत् क्वचित्, किन्त्येतद्भाववाधनमेव कुर्यादिति तदा लोके मातरो जनविन्धो भालान् स्तनन्धयान् स्तन्यैः क्वचित् न पुपुषुर्न पोषितवत् इत्यपि स्यात् । तनु तथाभूतस्वभावानां तासां सर्वथैवाप्रसिद्धमसम्भावितमशक्यं च, एवं भगवतोपि स्वस्वरूपाद्युत्तरैर्भक्तानामपोषणमेतद्भावनाशनरूपमित्यर्थः । तेन स्तन्यादिदानेन बालकानामपोषणे यथा मातृपुत्रात्सत्यस्वभावस्य तेषां जीवनस्य चान्यथाभावः स्यात्, तथा स्वरूपाद्युत्तरदानेन भक्तानामपोषणे स्वरूपात्मिकानुभूयमानविप्रयोगभाववाधनलक्षणे भगवति तादृक्स्वभावस्य भक्तानां जीवनस्य चान्यथाभावः सादिति भावः । ननु यद्यप्ययं भावः सर्वाशक्त्यवाधस्तथाप्येतद्भावस्य बहिःसंबेदनदशायामेवोद्भवतामगमेन ज्ञानस्य च तन्नाशकत्वेनैतादृशभाववतो भक्तस्य भगवदिच्छया ज्ञानिभिः संगे सति तद्भावयैरेतद्भावविपर्ययसि चित्तस्वान्यथावृत्तिरूपो मोक्षो भविष्यत्येव, तेन च फलप्रतिबन्ध इति चेत्तत्राहुः ज्ञानिनामपीति । यद्यपि 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य'त्यादिवाक्यैर्ज्ञानस्य तादृशभक्तिपरिपन्थित्वमिति तद्वत्संगे भवति भाववैपरिद्वयं, तथापि भगवान् भक्तं तादृशं ज्ञानिनामपि बान्धयेन ज्ञानाद्भक्तेराधिक्यज्ञापनाय तन्मार्गायाणां संसर्गं संपाद्यापि तद्बान्धयेन बहिःसंबेदनविषयतद्द्वारा तद्भावविरोधिना अत्युत्कटभाववन्तं न मोहयिष्यति, तथा सति तद्भावमेव तस्य न सम्पादयेत्, प्रयोजनाभावात् । अग्रे तस्य ज्ञानिवाक्यादिभिर्निरस्यत्वात् । किञ्चैवं सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणसिद्धं ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमुत्सिदेत् । अतो भक्तस्य भावः केनाप्यन्यथा कर्तुमशक्य इति न फलप्रतिबन्धसम्भावनापीति भावः । सृष्टप्रयोगेणाग्रेपि मोहानुत्पादः सूच्यते । ननु प्रशु-कृतिप्रयोजनमाफलयितुमशक्यं तदिच्छामन्तरेणेति कदाचिदतमपि भावं प्रत्यादिशुभेत्, तदा ज्ञानिवाक्यैर्भक्तमपि मोहयेदेवेत्याशङ्क्यामाहुः आत्मप्रद इति । यत आत्मानं रसरूपं भक्त्यैः प्रकर्षेण विमुक्तसंकीर्तयत ददाति, प्रियः प्रीत्याश्रयश्च, अविशुद्धात्तदधीनश्च भवति, अतो दित्सितस्य स्वरूपस्यैतद्भावतिरिक्तप्रकारेण दानसम्भवादेतद्भावबहिःसंबेदनदशानामावेनासादेयतापत्तेः प्रीत्यन्यथात्वप्रसक्तैः प्रयोजनाभावशून्याय किमर्थं मोहयिष्यतीत्यर्थः । एवं स्वमार्गायं परित्यागं सम्यग्बिचार्य तं कर्तुमशक्यं तस्मादिति । यस्माद्भक्तिरिक्तप्रकारेण कृतः परित्यागः पश्चात्तपैक्यवसितस्तस्मादुक्तो यः प्रकारो 'विरहातुभवार्थं स्त्रि'त्यादिना तेन परित्यागो भक्तिमार्गायः संन्यासो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः । तथा सति पश्चात्तपनिवृत्तिपूर्वकमुक्तफलमप्रलूहं भविष्यतीति भावः । ननु कपरित्यागफलस्यैतत्प्रकारेणैव सिद्धान्तवि प्रकारान्तरकृतपरित्यागे किञ्चित्प्रयोजनं भविष्यत्येव, तस्यापि तत्र तत्रोक्तत्वादिति चेत्तत्राहुः अन्यथेति । अन्यथा प्रकारान्तरेण संन्यासे स्वार्थात् स्वप्रयोजनात् अद्वयते अग्रे भवति, तेन पश्चात् तस्य एव भवेदिति मे एतद्भावतत्त्वाभिज्ञस्य निश्चितसुविनिःसन्दि-

न्या बुद्धिरतो मदीयैरेतन्मत्यनुसारिभिः प्रकारान्तरं सर्वथैव नोपादेयमित्यर्थः ॥ १७-२१ ॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन बह्वभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इतिशब्दः समासौ । कृष्णप्रसादेन कृष्णः फलात्मा, यशोदाद्युत्सङ्गललितः, तस्य प्रसादः, परमकाष्ठापन्नोऽनुग्रहः, तेनासाधारणालौकिकहेतुनालौकिकसैतन्निश्चयजनना-
सामर्थ्यात् बह्वभेनेति प्रयितेन प्रभोः प्रियेणात् एव रसात्मकतत्त्वरूपस्य संयोगविप्रयोग-
भावतदवान्तरमेदानुभववता भक्तौ फलरूपायाम् संन्यासवरणं पुष्टिमागीयपरिलागा-
नीकार इति यावत्, तत् विशेषेण स्फुटतया शुभतया वा निश्चितं निर्धारितं, अन्यथा एत-
न्निश्चयभावे फलरूपभक्त्यभावे वा प्रकारान्तरेण संन्यासगुरीकुर्वन् पतित उक्तस्वमागीय-
संन्यासफलात् प्रच्युतो दोषवांश्च भवेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

श्रीविठ्ठलेश्वरणाञ्जसुगतुगश्रीकल्याणरायतनयेन मुदा विचार्य ।

गोपेश्वरेण विहिता विद्युतिर्वितन्यात् संन्यासनिर्णय इयं विदुषां विनोदम् ॥ १ ॥

इतिश्रीश्रीगोकुलाधीशपदसरसिजसेवापथप्रवर्तकश्रीबह्वभाषार्य-

श्वरणाञ्जरजोषुशरणश्रीकल्याणरायात्मजश्रीहरिरायातुज-

श्रीगोपेश्वरविरचिता संन्यासनिर्णयविद्युतिः सम्पूर्णा ॥



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीपुरोत्तमकृतविवरणसमेतः ।

स्वाचार्यपर्वचरणोदितभक्तिमार्गप्रारम्भकालिकजनतयजनप्रकारम् ।

संन्यासनिर्णयमयं विवृणोति दासः श्रीवालुकृष्णपदप्रनिवेशितात्मा ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा यदा देहदेशपरित्यागविषयकं भगवदाज्ञाद्वयं पुरःस्फूर्तिक-
विचारेण न कृतवन्तः, तदा सेवकत्वात् पश्चात्तापे जाते, लोकत्यागविषयिण्यां भगवतस्तृती-
याज्ञायां जातायां, विचारितवन्तः, किं भगवान् मधुपर्गप्रसन्नोऽस्ति, नवेति । तत्र यद्यप्रसन्नः
स्यात्, उपेक्षेतिव, न त्वाज्ञापयेद्, अतो द्वितीयैव कोटिः; परं तत्र किं कारणमिति
विचारे स्मृमटीकानिवृत्त्याऽतिसज्जनरूपदेशत्यागस्य, माधवभङ्गकारश्मीरिनिवृत्त्यौपचयरूपेदह-
त्यागस्य च भगवतैवं कारितत्वात् पूर्वाज्ञयोर्देशदेहशब्दौ यौगिकायवगतौ । सतस्तदाज्ञाद्वयं भग-
वतानेन प्रकारेण साधितमित्येव कारणमिति निश्चित्य पूर्वाज्ञाद्वयवस्तुतीयस्या अपि दुर्ज्ञेयतां
निश्चित्य, यद्यप्याज्ञाद्वयं सम्पन्नम्, तथापि स्वतस्तु न कृतम् । अतस्तदकरणजः पश्चात्तापः
कथं निवर्तत इति विचारे करिष्यमाणज्ञाविषयविचारादेव भगवान् निवारयिष्यतीति
निश्चित्य स्वावस्थासूचनपूर्वकं परित्यागनिरूपणं प्रतिजानते पश्चात्तापेत्यादि ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्विगतये-प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

अत्र केचित् प्राचो भक्तिमार्गाप्यपरित्यागेतरसर्वपदार्थान् विचार्य त्यागविचाराभाव-
जनितस्वपश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागनिवारप्रतिज्ञेत्याहुः । अन्ये तु कर्ममार्गीयानां संसार-
वैराग्यस्य बार्धक्येऽप्यभावात् तत्सङ्गवशेन कदाचिद्भगवदीया अपि तादृशा मा भूवन्तिले-
तदर्थं सुखोपायस्य संन्यासस्य निरुत्थणप्रतिज्ञेत्युक्त्वा, शरीरवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा, मया
पूर्वमेव भगवदर्थं किमिति न यत्नः कृत इतीदृशो यो भगवदीयानां तापः स पश्चात्ताप इत्याहुः ।
इतरे तु भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च साधनदशायां सिद्धदशायां च परित्यागः कर्तव्यत्वनेोक्तः,

तत्राद्यायां पूर्णवैराग्याभावेन सम्यक्परित्यागासम्भवात् पापण्डित्वप्रसङ्गेन पश्चात्तापयैव सः
 सात्, एतच्चारतमज्ञानाभावेन भगवदीया अपि पूर्वं परित्यजन्तः पश्चात्तत्रा भवेयुः, तथा
 तान् दृष्ट्वा स्वयमाचार्या अपि पश्चात्तापमाप्नुयुरिति तदुभयविधपश्चात्तापानुदयाय प्रतिज्ञेयाहुः ।
 अग्रे तु आचार्यनिर्णयन्धे 'विदण्डं परिगृहीत सर्वशास्त्रविरोधि त'दित्याज्ञापनात्तद्विष्य पुष्टि-
 मार्गीयोपि तुरीयाश्रमत्वेन विदण्डं परिगृह्यन् पश्चात्तापमाप्नुयाद्, अतस्तदनुदयाय पुष्टि-
 मार्गसिद्ध्यसविचारारम्भ इत्याहुः । अन्ये तु श्रुत्यादिप्रमाणप्रतिपन्नस्य रसात्मकस्य भगवतो
 विरहात्मकमावानुभवः सर्वात्मभावप्रपत्येकलभ्यः सर्वपरित्यागं विना न सम्भवतीति तस्य
 त्यागस्य स्वरूपादिकमपिदुपां ज्ञानादिमार्गेष्वपि परित्यागस्योक्तत्वात् सन्दिहानानां स्त्रीयानाम-
 विचारतः परित्यागः पश्चात्तापयैव भवेदिति तदभावाय विचारारम्भ इत्याहुः । मया तु
 तेषां परस्परविसम्मतिमयलोप्यान्तःकरणप्रबोधप्रन्थस्यपश्चात्तापपरित्यागपदयोरत्र प्रत्यभिज्ञा-
 नात् स एव पश्चात्तापोत्र निवर्त्येत्येनादत् इति न दोषः । ननु भगवदाज्ञाया जातत्वात्
 तथा तत्कर्मव्यतायाः स्वयं च निश्चितत्वाद्द्विचारस्य किं प्रयोजनमत आहुः स इत्यादि
 विचारणेत्यन्तम् । स परित्यागः मार्गद्वितये प्रोक्तः, मार्गस्य द्वितयं मार्गद्वितयम् । अत्र
 संख्याया अवयवे तयवित्यनेन द्विशब्दादवयवे तयए । अवयवशब्दश्च 'अहं प्रतीकोवयव'
 इति कौशादङ्गाख्य एकदेशे रुढः, सोत्र न सहज्जते, सुखख्याया गुणत्वेन तत्र देशमे-
 दस्य वक्तुमशक्यत्वात्, किन्तु 'सत्त्वं अवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह'ति द्वादशस्कन्धे
 उपादानकारणेपि प्रयुक्त इति तदत्र ग्राह्यम् । तथा च संख्यायाः कारणं संख्येयं तदत्र
 पदति । समासे मार्गस्येत्येते पृष्ठी, तेन मार्गमिच्छौ यौ द्वित्वसंख्यासंख्येयौ तयोः
 प्रकर्षेणावश्यकर्तव्यत्वेनोक्त इत्यर्थः । तत्र कीं तौ मार्गावित्यपेक्षायां, कुतश्च तत्रोक्त इत्यपे-
 क्षायां चाहुः भक्तौ ज्ञाने विशेषत इति । भक्तिमार्गे आरम्भदशायां सिद्धदशायां
 च, ज्ञानमार्गे विविदिपादशायां विद्वदशायां च वैराग्याद्यतिशयरूपं विशेषमभिप्रेत्योक्त
 इत्यर्थः ॥-१ ॥

ननु 'योगास्यो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधिस्तथा, ज्ञानं कर्म च भक्तिमे'त्येका-
 दशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् त्रयोपि योगा नृणां श्रेयःसाधकत्वानुत्था इति कर्ममार्गे कृतो
 नोक्त इत्यत आहुः कर्ममार्ग इत्यादि ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कल्किकालतः ।
 अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वादिचारणा ॥ २ ॥

चातुराश्रम्यपक्षेण यद्यपि कर्ममार्ग उक्तस्तथापि 'कर्मयोगस्तु कामिना'मिति भगवता
 तस्य कामाधिकारकत्वेनोक्तत्वात्परित्यागस्य च वैराग्याधिकारकत्वात्तत्र न कर्तव्यः । यद्यपि
 'वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाय इ'त्यतः' इत्यङ्गिरसा आतुरमयनीतयोरप्युक्तस्तथापि कलि-

कालतः कलिकाळं प्राप्य सुतरां न कर्तव्यः । कलिवर्जेषु संन्यासस्यापि गणनादित्यर्थः । तर्हि मास्तु कर्ममार्गे तस्य कर्तव्यता, तथापि यत्रोक्तलोनेनैव यथा कर्तव्यो, विचारस्य किं प्रयोजनमित्याकांक्षायामाहुः अत इत्यादि । अतः तत्सन्मार्गे तत्तद्दशायां परित्यागस्योक्तत्वात् भक्तिमार्गे आदौ आरम्भे कर्तव्यत्वमभिप्रेत्य विचाराणा यथा कथयित्सञ्जातमक्तेः पुंसो भक्त्युत्कर्षजनकश्रवणादिनिर्वाहायां एका आरम्भदशा, तीरम्यसौरासक्तिसिद्धयार्था द्वितीया, तदुत्तरं व्यसनसिद्धयार्था तृतीया, तत्र यस्यां दशायां कठिकाठादिकृतदोषसम्बन्धो न भवति तदर्थं तदीयदशाफलस्वरूपप्रकारविचारः कियत् इत्यर्थः । एवं सार्धेन प्रयोजनमुक्तम् ।

अत्रायमर्थः । एकादशस्कन्धस्य सप्तदशेश्याये, 'ययानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् । स्वधर्मेणारविन्दाद्य तन्मे व्याख्यातुमर्हसीत्युद्धवप्रभ्रे चातुराश्रम्यं वदता भगवताष्टा- दशाध्याये 'इष्टया ययोपदेशं मा'मित्यादिभिः पञ्चदशभिः संन्यासाश्रमरूपः परित्याग उक्तः । तदनन्तरं भक्तिवैराग्ययोरधिक्ये 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्रक्तो वानपेक्षकः, सलिङ्गाना- श्रमांस्त्वक्त्वा चरेदविधिगोचर' इत्यादिभिः सार्धैर्दशभिरवेषश्च परित्याग उक्तः । अत्र च ज्ञानभक्तिनार्यिणोर्धर्माः समाना एव सङ्कीर्योक्ताः । एवं पूर्वोक्तेषु बोध्यम् । तथा 'न्यासे शुद्धीचकः पूर्वं बहोदो हंसनिष्क्रिया'विति चत्वारो भेदाः संन्यासस्य तृतीयस्कन्ध उक्ताः, तेन मार्गप्रपेति तस्य कर्तव्यता । यद्यपि कर्ममार्गे तृतीयस्य चतुर्थे पादे 'पुरुषार्थैतःशब्दा'दित्य- धिकरणस्ये'व्याचारदर्शना'दित्यादिषु पञ्चसु सूत्रेषु वशिष्ठादीनां ब्रह्मनिदानसिद्धोप्रादिकर्म- करणाचारदर्शनात्, 'जनको ह वै षड् दक्षिणेन यज्ञेनेज' इति ब्रह्मविदोपि जनकस्य कर्म- करणश्रुते 'स्तं विद्याकर्मणी सगन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति श्रुतौ विद्याकर्मन्यां फलारम्भभावणात्, 'त्रिद्विष्टो ब्रह्मा तं दर्शपूर्णमासयोर्बुणीत' इति कल्पश्रुतौ ब्रह्मविदोपि ब्रह्मत्वेनस्त्वित्त्वभावणात्, 'आश्विनं धूम्रललाममालभेत यो हुत्रांश्छणः सोमं पिपासेत्, ऐन्द्राग्रं पुनरुत्सृष्टमालभेत य आवृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबेत्, विच्छिन्नो वा एतस्य सोमपीयो यो ब्राह्मणः सत्रातृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबति । यावज्जीवमग्निलोत्रं जुहुया'दित्यादिश्रुतिभिः कर्मकरणस्य नित्यताश्रा- वणात्, कर्मणश्च दम्पत्यधिकारकत्वाज्जैमिनिमते आश्रयपक्ष एव, यथा कथञ्चित्कर्मकरणाशक्तौ सर्वत्यागकरणम्, 'यदहरेवे'त्यादिश्रुतिस्तु कर्माशक्ततदनधिकार्यन्धपंगवादिनिपेयति न तद्वैयर्थ्य- मिति कर्मविचारकजैमिनिसिद्धान्तात् कर्ममार्गे न कर्तव्यः । अथ 'तुल्यं दर्शन'मित्यादिसूत्रेषु शुकसंबवर्तारुणिजडभरतच्छान्तेन दर्शनस्य साधारणतया कर्मावश्यकत्वासाधकत्वात्तेनैव च परित्यागस्यान्धपंगवाधिकारकत्वविरासेन जैमिनिमते प्रधाजश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गस्य दुर्वार- त्वात्, 'एतद्द स्म वै तद्विद्वांस आहुः ऋषयः कावपेयाः किमर्या वयमध्येव्यामहे, किमर्या वगं यक्ष्यामहे, एतद्द स्म वैतल्युर्वे विद्वांसोमिहोत्रं न जुहुवाश्चक्रिरे,' 'एतावदरे स्त्वस्मृतस्वमिति ह्योक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवब्राजे'त्यादिभिर्बह्वीभिः श्रुतिभिः प्रब्राज्योपधनेन कर्मकरणश्रुतेरसर्व- त्रिकत्वनिश्चयणात् । 'त्रिद्विष्टो ब्रह्मे'त्यत्रापि ब्रह्मपदेन वेदस्याभिप्रेततया तद्विद् एवास्त्वित्यस्यो-

धनेन तथा श्रुत्या ज्ञानस्य कर्मशेषताया आपादयितुमशक्यत्वात् । 'आश्विनं धूम्रललाम'-
मित्यादियु कर्मनियमवत् 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु'रित्यादौ त्याग-
नियमस्यापि श्रावणेन रागोपाधिक एव कर्मनियम इति निश्चयेनाविशेषात्, उत्तरे वयसि
तुरीयाश्रमतया द्रव्ययज्ञत्यागेपि जरामर्याद्विहोवश्रुत्या तस्मिन्क्षौ यावज्जीवाग्निहोत्रादिश्रुतेर-
प्यथाथाव जैमिन्युक्तद्रूपणपरिहारे जाते कर्ममार्गायचातुराश्रम्यपक्षस्याधुष्णत्वात् कर्ममार्गे
परित्यागः कर्तव्यत्वेनाप्याति, तथापि 'अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकं, देवराज सुतो-
स्पतिः कली पञ्च विर्वजये'दिति वर्जनंस्मृत्या कलिकालतस्तत्र न कर्तव्यः । यदि च, 'यावद्
वर्णविभागोस्ति यावद्देदः प्रवर्तते । संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत् कुर्यात् कली युगे'इति प्रतिप्रस-
वात् कर्ममार्गेपि कर्तव्यत्वं त्यागस्य विभाव्यते, तदापि जावालश्रुतौ चातुराश्रम्यपक्षे पूर्वमुक्त्वा,
ततः 'यदि धेतरया ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृह्णद्वा वनाद्वाय पुनरग्रती वा प्रती वा स्नातको
पाश्चातको चोत्तन्नामिरनमिको वा यदहरोव विरजेत्तदहरोव प्रव्रजे'दिति समाप्ती विरागस्यैव
सर्वश्राधिकारत्वेन श्रावणात्, एकादशस्कन्धे 'यदा कर्मसु काम्येषु लोकेषु निरत्यामशु ।
विरागो जायते सम्यङ्मन्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्तत' इत्यादिना वैराग्य एव तस्य पक्षस्य भगवता
कथितत्वात् कली च सर्वधर्मशून्ये वैराग्यस्यासम्भवात् सुतरां न कर्तव्यः । अतश्चातुराश्रम्य-
पक्षेण प्राप्तस्वेदानीनश्रावणाभावाद्यदा ज्ञाननिष्ठा भक्तिनिष्ठा वा भवति, तदा तस्मिन्मार्गे
कर्तव्यः । तत्र स्वस्य भक्तिमार्गायत्वेन भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वादादौ पूर्वं विचाराणा तत्प्रकार-
चिन्ता कियते, तथा च स यथेकसिन्नेव मार्गे उक्तः स्यात्, यदि वा मार्गत्रयेष्वेकविष-
एवोक्तः स्यात्, तदा भगवदाज्ञावाक्ये सन्देहाभावात् विचार्यः स्यात्, अस्ति तु सर्वत्रो-
क्तः, तत्र कः कीदृशो वा भगवदाज्ञाविषय इति निश्चेतुं विचार्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं प्रयोजनमुक्त्वा विचारमारमन्ते श्रवणादीत्यादि ।

श्रवणादिप्रसिद्धार्थं कर्तव्यञ्चेत् स नेप्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणत् ॥ ३ ॥

अभिमानाक्षिण्योगाच्च तद्धर्मश्च विरोधतः ।

गृहादेर्याश्रकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेपि तादृशैरेव सद्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुम्वायहः ॥ ६ ॥

श्रवणादीनां नवविषमत्तीनां प्रक्रमेण अविच्छेदेन सिद्धार्थं परित्यागः कर्त-
व्यञ्चेत् सः पक्षः नेप्यते नास्तीकियते । अयमर्थः । भगवता हि नृणां श्रेयोविधि-

तस्या ज्ञानकर्ममक्तिरूपं मार्गत्रयमुक्तम्, निर्विण्णाः, कामिनः, न निर्विण्णा नातिसत्ताश्चेति यथायथं तदधिकारिणश्चोक्ता एकादशे 'योगास्य' इत्यादिना । त्रिष्वपि संन्यासश्च तत्र निरूपितः । तथा 'न कर्मणे'ति श्रुतौ च त्यागस्य अमृतत्वरूपं फलमुक्तम् । तत्र फलं मार्गा-
 देव, न तु केवलात् त्यागात्, त्यागस्य तत्तन्मार्गाद्भवेन तत्र फलश्रुतेरर्थवादत्वस्यैव विचारित-
 त्वात् । 'यत्र योगेन सांख्येन दानव्रततपोधरैः, व्याख्यासाध्यायसंन्यासैः प्रामुयायन्नवानपी'ति
 वान्ये त्यागमात्रेण स्वप्राप्त्यभावस्य भगवता कथनाच्च । अतस्तस्य कथञ्चिदुपकारकत्वमेव ।
 तत्राधिकारश्च वैराग्यात्, तद्यथा ययोलुप्यते तथा तथा त्यागो मार्गस्योपकरोति ।
 तस्योत्कर्षश्च कथं सादिति विचारे केवलादप्यत्रेण तदसम्भवान्मार्गानुकूला दृष्टसामग्री
 श्रवणाद्यभिच्छेदरूपा प्राद्या । अतस्तत्सिद्ध्यर्थं त्यागः कर्तव्यश्चेत्, स पक्षो नाप्येत, न
 भगवन्मतेऽङ्गीक्रियते । अयमर्थः । भगवता हि 'यदा कर्मविपाकेष्वि'त्यादिभिः साधनदशा-
 पन्नस्य परित्यागकथने अटनमेव तस्योक्तम्, न तु क्वचित्स्थित्वा श्रवणादिकरणम्, ततो
 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो यानपेक्षक' इत्यादिभिः साधनैर्विभिः परित्यागं सिद्धदशापन्न-
 योर्ज्ञानिमक्तयोरुत्त्वा ततो ज्ञाननिष्ठसापरोक्षज्ञानामावे 'दुःखोदकेषु कामेषु जातनिर्वेद आ-
 सवान्', 'अविज्ञासितमद्गमो गुहं मुनिमुपब्रजेत् । तावत्परिचरोद्भक्त्या श्रद्धावाननसूयकः,
 यावद्ब्रह्म विजानीयान्नामेव गुरुमाहत्' इति द्वाभ्यां विविदिपासंन्यासोपि स्पष्टीतः । ततो
 'यस्त्यसंयतपङ्गीः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः, ज्ञानवैराग्यरहितसिद्धिदण्डमुपजीवति । सुरानात्मान-
 मात्मसं निहृते मां च धर्महा । अविपककषायोस्मादयुष्माच्च विहीयत' इति द्वाभ्यां
 ज्ञानवैराग्यराहित्ये अविपककषायत्वाहोक्तद्वयद्वानिरुक्ता । भक्तिमार्गीयस्य तु साधनदशायां
 संन्यासे किमप्यधिकं नोक्तम्, किन्तु 'भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसे'त्यादिद्वाभ्यां संक्षेपेण चातु-
 राश्रम्यधर्ममुक्त्वा 'इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यमाह । सर्वमृतेषु मद्भायो मद्भक्तिं
 विन्दते ददा'मिति फलोक्तिपूर्वकं चातुराश्रम्यधर्मनिरूपणमुपसंहृतम् । तेन भक्तिमार्गीयस्यापि
 तत्र सन्निरहितो भिक्षुधर्म एव मुख्य इति सिध्यति । एवं सति यदि श्रवणार्थं संन्यासः
 क्रियेत, तत्स्वरूपेण तद्धर्मश्च विरोधः सादित्वाश्रयेन प्रथमं संन्यासस्वरूपविरोधात्मकं
 दोषं व्युत्पादयन्ति सहायेत्यादि । संन्यासस्वरूपं हि जावालश्रुतौ 'तद्वैके प्राजापत्या'मि-
 त्यास्य 'एवमेवैतद्भगव'न्नित्यन्तेनोक्तम्, तदेवैकदशस्कन्धे 'इहा यमोपदेशं मां दत्त्वा
 सर्वस्वमृत्विजे । अधीन्वन्नप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिब्रजे'दित्यनेनोक्तम् । तथा सति 'अग्न्यु-
 पचयनं कृत्वा जीवश्राद्धविधानतः' श्रान्दाष्टकं विधाय प्राजापत्यामिष्टिं कृत्वा मन्त्रेणामीव
 स्वप्राण आवेश्य नैरपेक्ष्येण सर्वत्र परिभ्रमणमिति सिध्यति । श्रवणादिकं तु सहाय्यसद्ग-
 साध्यम्, सहायः समानशीलतया सहकारी, तत्पङ्केन साध्यम् । नहि श्रावयितारं विना
 श्रवणं सिध्यति, न वा श्रोतारं विना कीर्तनम् । तौ च नैतेन सह परिभ्रमत इति न श्रवण-
 कीर्तनयोः सिद्धिः । प्रभृत्पर्यधमिति पाठे तु प्रकर्षेण वृत्तिविषयमानतेति पूर्वोक्त एवार्थः ।

अथैतेन सह परिश्रमतस्तदा नैरपेक्ष्येण सर्वत्रैकाकिपरिश्रमणरूपं संन्यासरूपं विरुध्यः (स
 नेष्यत इत्यर्थः ।) किमेदानीमुक्तदोषाविशेषाभावात् श्रुतमपि स्वरूपलीलादिकं न हृदि
 तिष्ठतीति तत्स्थित्यर्थं पुस्तकादिकं रक्षणीयम्, अर्थनार्थं तदुपकरणमपि रक्षणीयम्, तदपि
 नैरपेक्ष्यं विरुणद्धि । अतः श्रवणादीनां सहायसहायत्वात्साधनानां रक्षणाच्च संन्यास-
 स्वरूपविरोधतः स नेष्यत इत्यर्थः । यद्वा, 'यस्त्वसंयतपङ्गुर्ग' इति द्वाभ्यामसंयतपङ्गुंश्च
 विदण्डोपजीवने बाधकं कथयता भगवता पूर्वोक्तत्रिदण्डिसाधनरक्षणं सूच्यते, तद्रक्षणं च
 'एकधरेन्महीमेता' मित्वादिभिर्धर्मैः पूर्वमुक्तास्ते एव कर्तव्यत्वेन सिध्यन्ति, न तु
 श्रवणादिकम्, एकचरणे सहायसहाभावात्, सत्यपि सहायसहायै स्थितेः कर्तुमशक्यत्वात् ।
 तथा च संन्यास उक्तानां साधनानां संन्यासे अवस्थाचरणात् । एवं सत्यत एव परस्पर-
 स्वरूपविरोधेन तथेत्यर्थः । यद्यपि मूले स्वरूपविरोधत इति पदं नास्ति, तथाप्यत्रे तद्धर्मश्च
 विरोधत इति चकारदर्शनात् मयैवं व्याख्याने समुचित इति न दोषः । अथ त्रिदण्डिनोपि
 चातुर्मास एकत्रस्थितेः स्मरणात् भगवतापि 'विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशय' इति
 कथनात् साधनरक्षणपूर्वकं क्षित्वा श्रवणादिसाधने को दोष इत्याकांक्षायां परस्परधर्म-
 विरोधरूपं दोषान्तरं व्युत्पादयन्ति अभिमानादित्यादि । अभिमानो गर्वः, अहन्ता-
 ममतात्मको वा, तस्मात्, क्षितौ हि, तत्र 'मिक्षां चतुर्षु यर्षेषु विगर्घ्यान् बर्जयन्मेरेत्,
 सहागारानसंकुक्षास्तुष्येहृष्येन तावता । पहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य धाम्यतः । विमज्य
 याचित्तं शेषं शुद्धीताशेषमाहृत' मिति द्वाभ्यामेको गिक्षाप्रकार उक्तः । तत्र सहागारेषु कस्य-
 चित् दृष्टान्ने भ्राते तदोपमज्ञात्वा च तस्य भक्षणे कृते विनिदिपादशायामपि श्रवणादि-
 साधनदशायामपि ग्रन्थादिपक्षपातेन शरीराभिमत्या च प्रतिवादिनिराकरणार्थं पारुष्याव-
 मानयोः सम्भवात् । 'अतिवादांल्लिखितेव नावमन्येत कवने' ति संन्यासधर्मेणु भगवदुक्तसा-
 तिकमेण तद्धर्मविरोधः । किञ्च, नियोगात् नितरां योगो नियोगः, 'तस्मात्सर्वात्मना
 राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवाद्गुणा' मिति द्वितीय-
 स्तुतयान्यासेपामावर्तनं तस्मात् । न हि सृष्ट्वा कृतं श्रवणादिकं प्रेममार्त्तिकं जनयति,
 किन्त्वानल्यमानम्, आवृत्तिश्च क्षित्वा, सा च 'एकधरेन्महीमेता' निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।
 आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान्तामदर्शनं' इत्याहुक्तैः परित्यागधर्मेर्विरुध्यते । अतो हेतुद-
 योपपादिताद्धर्मविरोधादपि तथेत्यर्थः । ननु मास्तु श्रवणाथर्थं संन्यासरूपो वैधः परित्यागः,
 तथापि गृहादीनां विषयासक्तिजनकतया भगवदासक्तिबाधकत्वेनावश्यं त्याज्यत्वात् । 'ज्ञान-
 निष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः । सलिङ्गानाभ्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर' इत्युक्त-
 रीतिकस्य त्यागान्तरस्य भगवदासक्तिसाधनार्थं करणे को दोषः, ताच्छरणागो च स्वरूपधर्म-
 विरोधरूपपूर्वोक्तबाधकभावात्, वैराग्यस्य ज्ञानाजनकत्वं यदा, तदा गृहत्यागः कर्तव्य
 इति पक्षस्य नलकूपरमणिश्रीवस्तुतित्वात्यर्थनिरूपणप्रसङ्गे निर्णीतत्वावैलाशंकां परिहर्तुं
 व्युत्पादयन्ति गृहादेरित्यादि । गृहधनादेर्मगवदासक्तिबाधकत्वेन साधनार्थं भगवदासक्ति-

साधनार्थं, यदि तथा अवैधत्यागः कर्तव्यश्चेत् सोऽपि नेष्यत इत्यर्थः । नेष्यत इति पदद्वयं अत्राप्यनुगम्यते ।

एवमनूय परिहरन्ति अग्नेऽपीत्यादिद्वाम्याम् । त्यागो हि न स्वतंत्रं साधनमपि तु मार्गाङ्गतयेति पूर्वं व्युत्पादितम् । तथा सति मार्ग एव स्वतंत्रः साधकः । स च 'भक्त्या सखातया भक्त्ये'ति वाक्यात्पूर्वं श्रवणादिकमेवापेक्ष्यते । तच्च श्रावयित्रादिरूपं सहायम् । ते च 'हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्परा' इत्यादिना जलमेदे ये निरूपिताः, तादृशास्त्रिदानां दुर्लभा इति 'गायकाः फूपसंकाशा' इत्यादिना य उक्ता गायका वा पौराणिका वा मिलन्ति, ते च यथा स्वयं गृहसक्तो विरजिष्णुमाणो वा तादृशा एव, न तु स्वत उल्लुष्टाः, अतोऽपि तादृशैरेव संगरे भवति, नान्यथा, नोत्कृष्टप्रकारकः । तथा च संगदोषेण स्वाभिप्रेतफलाभावाच्चेष्यत इत्यर्थः । अथ यदि तादृशा मध्यमाधिकारिणो मिलन्ति, तदा गृहपरित्यागे को दोष इत्याशंकायां स्त्रीयदोषादपि तयात्वमाहुः स्वयं चेत्यादि । चोप्यर्थे । स्वयमपि विषयाक्रान्तः । 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टै'रिति न्यायेन पथेन्द्रियविषयाकृष्टमानसस्तानभिध्यायन् पापण्डी स्यात्, 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्यान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' इति गीतावाक्यात् तादृशः सञ्चुपधर्मात्मकाधर्मशास्त्राणां पासः पापण्डी स्यात् । तत्र कालस्यापि सहायतामाहुः तु कालत इति । तु पुनः धर्मप्रतिपक्षरूपात् कलेरपि तथा स्यात् । अतस्तादृशानां संगेऽपि पापण्डित्वात् पतितः स्यादतो नेष्यत इत्यर्थः । अथ 'कलिं सभाजयन्त्यार्या' इत्यादिवाक्यैः कलेः (श्रवण) कीर्तनापनुगुणत्वेन गृहत्यागे दोषामावो विभाव्यते, तदापि दोषमाहुः विषयेत्यादि । सर्वं कालः कीर्तनानुगुणः, तथापि फलांशे एवानुगुणो, न तु साधनस्वरूपांशे, तेषु वाक्येषु तथैवोपलम्भात् । अतो विषयाक्रान्तदेहानां पूर्वोक्तरीत्या विषयारूढस्यूल्लिङ्गशरीराणां कालतः कलेः सकाशात् हरेरावेशः सर्वदा न, भगवच्चित्ता सर्वदा न भवति, किन्तु कदाचित् । तथा सति यदा आसुरवेशः स्यात्तदा पूर्वोक्तस्य सर्वस्य प्रतिबन्धात् पापण्डित्वमेव भवेत् । अतो नेष्यत इत्यर्थः । कामत इति पाठे तु काम इच्छा, तथा च विषयकामनया तथा सादित्यर्थो योष्यः । तदेतद्विगमयन्ति अतोऽप्येत्यादि । अतः उक्तस्यो दोषेभ्यः, अथ काले, भक्तौ भक्तिमार्गे, साधने साधनदशायाम्, तादृश्यसप्तमीपक्षे आसक्तिसाधनार्थं वा, त्यागो गृहपरित्यागः नैव सुखावहः । इदानींतनवीतरागिवत् पापण्डित्वमापादयन् भगवदासक्तिरूपं सुखं न जनयति, तस्मात् मध्यमायामपि साधनदशायाम् सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । अत्र भक्तिमार्गे भगवता कर्तव्यत्वेन प्रोक्तस्य परित्यागस्य श्रेयभक्तिसाधनदशायामकर्तव्यत्वे साहिते पारिशेष्यात् तत्सिद्धत्वदशायाम् फलोपकार्यङ्गत्वेन कर्तव्य इति मिदम् ॥ ३-६ ॥

तत्र 'भक्त्या त्वनन्यथा शन्य अहमेवविधोऽहं । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतपे'ति गीतायां भगवद्वाक्यात् फलस्य त्रयी विधा । तत्र कस्मै फलाय कर्तव्य इति

विचारणायां प्रवेशस्य मत्कर्मकृन् मत्परम इति वाच्योक्तस्त्रापनान्तरसापेक्षत्वात्ततः पूर्वमुक्त-
योर्ज्ञानदर्शनयोरर्थे कर्तव्य इत्याशयेनाहुः विरहेत्यादि ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेशः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता सुरयः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥
तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः सात्मा बहिर्घटप्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्यास्वीयनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥
भगवान् फलरूपत्वाद्वात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाच्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विकृष्यते ॥ १३ ॥
दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३३ ॥

विरहस्यानुभवो विरहानुभवः, विरहसामयिको वागुभयो विरहानुभवः, विरहान-
न्तरोनुभवो वा विरहानुभव इति त्रिधा सम्भवति, तदर्थं कर्तव्य इति फलति, तत्राद्ये पक्षे
जीवस्य घटभादीं च्युत्तराज्जातो यो विरहस्तस्योद्घोषेन आसत्तया कृते तस्याभीक्ष्णमनुभ-
वार्थं, द्वितीयपक्षे तु, भक्तियोगमावाभ्यां सह कृत्वासक्तिभ्रमन्यायेनोत्पादितोऽप्यासरूपो यो
भगवदनुभवस्तदर्थं, तृतीयपक्षे तु 'वासामाविरम्'दित्यादिनोक्तो यः साक्षात्काररूपोऽनुभव-
स्तदर्थं, तथा चैवं त्रिविधो विरहानुभवोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तद्विरहानुभवार्थं, क्तियाविशेषण-
मेतत् । तदर्थं तद्यथा सात्तथा परित्यागः प्रशस्यते । एकादशस्कन्धे भगवता 'वाग्वाद्वाद-
द्रवते यस्य चित्त'मित्यनेनात्यन्तं स्तुयते, अतस्तदर्थं कर्तव्यः । अत्रायमर्थः । पुष्टिपार्श्वीयाणां
जीवानां भगवद्रूपेणार्थं कायात् सृष्टिः । ते तु जीवाः शुद्धमिश्रभेदाद् द्विधा । तत्र मि-
श्राणां कद्राभिदन्त्यासत्तया बाहंकारेण वा मर्यादासाधनार्थं वा शापादिना भगवद्वियोग इति
पुष्टिप्रवाहमयीदायां स्थितम् । तथा गवेषि सदृशपरिवत्सरमितकालाद्बुधचरणेन भगवद्वियोगः ।
स च केनचित्प्रकारेण वाऽनन्यवत्तया वा भगवता निवार्यते । भक्तिमार्गाश्च बहुविधाः ।
तत्रास्मिन्मार्गे यदा निवारयितुमिच्छति तदा तस्य केनचित्प्रकारेण विरहोक्तप्रमुत्सादयति ।

किञ्च, माया ह्यन्यत्र स्थितमन्यत्र प्रत्याययतीति 'ऋतेर्यं यत्प्रतीयेते'त्यत्र सुबोधिन्यां स्थितम् । भगवांश्च रसलीलायां योगमायासुधाश्रयतीति पञ्चाध्याय्यास्मि स्थितम् । सा च न विश्रमायाऽपि तु भगवद्योगार्था माया । एवं सति यदा भगवानेनं जीवं युयुक्षति, तदास्य योगमायया स्वाज्ञानं विरहं चोत्पादयति, अनन्यभक्तिश्च परमा तिरोधाननाशिका । अन्तर्बहिश्च भगवन्तमनुभावयति । भगवांस्तु सर्वमन्तर्बहिर्व्याप्तुवानोपि विरुद्धधर्माश्रयत्वात् परिच्छिन्नः । एतन्मार्गे च भगवतो बहिः प्राकट्यमेवापीष्टे, तदैवेश्वरवादोन्यदा शून्यवादः । एवं सति युयुक्षाविषयस्य भक्तस्नानन्यभक्तिकृतो योन्तःसाक्षात्कारस्तस्य बहिष्ट्वनापादयन्ती माया वासक्तिभ्रमन्यायकं करोति । तादृशो यः साक्षात्कारः, सर्वात्मभावजन्यो भूमविद्यायां सर्वविषयप्रत्ययविलक्षणतया सिद्धः, स एव विरहानुभवपदेन बोधितः । तदर्थं यः परित्यागः स एकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये भगवता अत्यन्तं स्तूयते । किञ्च, विरहानन्तरभावी अनुभवो बहिः साक्षात्काररूपं सम्पग्दर्शनं, तदर्थं यः परित्यागः स भगवता प्रकर्षेण, 'यथा बध्नो लब्धयने विनष्टे' इति सार्धद्वाम्यां पञ्चाध्याय्यां स्तूयते, अतस्तदर्थं कर्तव्य इत्यायाति । एतयोरायस्य प्रशंसा श्रुत्यायते । तथा हि, 'वदन्ति कृष्ण येयांसी'त्यादिना वैदिकोक्तसाधनानां भगवद्भुक्तमकेष्व तारतम्ये पृष्टे, भगवता 'धर्मभेदे यश्चान्य' इत्यादिना भक्तेः फलोत्कर्षं, 'अकिञ्चनस्य दान्तसे'त्यनेन स्वरूपोत्कर्षं, 'न पारमेष्ठप'मित्यादिभिरनन्यभक्तोत्कर्षं, 'निःकिञ्चना' इत्यनेन स्वसुखोत्कर्षं, 'याप्यमानोपी'ति द्वाभ्यां स्वभक्तेर्षलवत्त्वं, 'न साधयती'त्यनेन स्ववशीकर्तृत्वं, 'भक्तिः पुनाती'त्यर्थेन भक्तेरत्यन्तपावनत्वं, 'धर्मः सत्ये'त्यनेन धर्मादीनामतादृशत्वं चोक्तत्वा, 'कथं विना रोगहृषं द्रवता चेतसा विना । विनानन्दाश्रुकलया शुष्येद्भक्ष्या विनाशय' इत्यनेन उर्जितां भक्तिं लक्षणैः परिचाययित्वा, ततो 'वाग्द्रवा द्रवते यस्य चित्तं, रुदत्यभीष्टं हसति कचिच । विलज्ज उद्गायति मृत्यते च मद्रक्तिमुक्तो भुवनं पुनाती'त्यनेन विरहावस्थान्यज्ञानपूर्वकं तादृशभक्तिमानत्यन्तं स्तूयते । अतस्वसां दशायां जातायां तदर्थं कर्तव्य इत्यर्थवत्प्रदायाति । तथा तत्रैव द्वितीयाध्याये कविनापि 'मन्येऽकृतमिन्द्रयमच्युतस्य' पानास्याप नरो राज'न्नित्यादिभिर्भगवद्भर्तृनुपक्रम्य, 'गृण्वन् सुमद्राणि रयांगपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके । गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसंगः । एवं त्रतः स्मिप्यनामकीर्त्यां जातानुरागो हृतचित्त उच्चैः । हसत्ययो रोदिति रीति गायत्युन्मादवप्लवति लोकपाद्मः । एवं वायुमग्निं सल्लिष्टं महीं च ज्योतीपि सत्वानि दिशो ह्रमादीन् । सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च मृतं प्रणमेदन्नन्यः । भक्तिः परेशानुभवो निरक्तिरन्यत्र वैष विक्र एव काठः । प्रपद्यमानस्य यथाशतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः सुदपापोतुपासं । इत्यच्युताद्भि भक्तोनुपृत्या भक्तिर्पिरक्तिर्भगवत्प्रबोधः । भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षा'दित्यन्तेनोच्यते । एतत्सुबोधिन्यां च प्रथमस्कन्धीये 'नामान्यनन्तसे'नि नारदपाक्ये कर्मज्ञानमकीर्णां प्रयाणां फलसाधकसञ्चितयानुक्तस्यो य

उक्तस्वरूपमत्र कविनोच्यते इत्येवमवतार्यते पद्यश्लोका व्याख्याताः । तत्र प्रथमे 'आदौ
 शृङ्गारिर्गत' इति कथनेन त्यागावस्था बोधिता, भगवज्जन्मादिश्रवणं तद्गानं विचरणं लज्जा-
 भावश्च, अनुकल्पस्वरूपत्वेन चोचितः । ततो द्वितीये 'एवं व्रत' इत्याद्युक्तैरष्टधर्मैः प्रकृत्युल्लङ्घने-
 नालौकिकत्वरूपं लोकषास्त्रत्वं चोचितम् । तेन विरहानुसन्धानावस्यैव स्फुटीकृता । ततस्तृ-
 तीये एवं विचरणकर्मणा लोकपरित्यागेन ज्ञानमक्ती एकहेल्या युगपन्निरूपिते । तत्र सादिपु
 समुद्रान्तेषु लौकिकप्रत्यक्षगण्येषु प्रणमनक्रियाकर्मलं हरिश्चरितलेनोच्यते । तेन तेषु तया-
 त्वज्ञानमर्यादाक्षिप्यते । अत आक्षिप्येन 'ज्ञात्वे'त्यन्तेन ज्ञानं 'प्रणमैदनन्य' इत्यनेन साधन-
 मक्तिर्बोध्यता । ततश्चतुर्थपद्यमाभ्यां दृष्टान्तपूर्वकं परमभक्तिभगवज्ज्ञानतदितरविरक्तीनां युग-
 पद्भवेन साक्षात्परमशान्तिरूपं फलमुक्तम्, तेनापि कर्मज्ञानमक्तीनां यत्परमं फलं तदनेन
 मार्गव्रितयानुकल्परूपेण परित्यागेन गवतीति तादृशत्यागप्रशंसैव सुबोधिन्सुकप्रकारेण सिध्य-
 तीति बोध्यम् । नन्वेवं सत्यत्र संन्यासवेशः कुतो नोक्त इत्यत आहुः स्वीयेत्यादि । स्वीयाः
 पुत्रदारादयः तल्लुतो यो बन्धः, स्वस्य तेष्वामृत्यभावेपि तेषां स्वस्मिन्त्याऽऽसक्तिस्तन्निवृ-
 ष्यर्थं, अत्र अस्मिन्भक्तिमार्गीये संन्यासे, स वेशः, विदण्डकौपीनधारणादिवेशः । न
 चान्यथा । बोधधारणे, अन्यथा तल्लुतपन्धाभावे सति, न च नैवापेक्षितः, अतो पस्य पन्ध-
 संभावना तस्य स वेश आवश्यको, नान्यस्येत्यसर्वत्रिकत्वात्तत्रोक्त इत्यर्थः । ननु भगवदुक्तेषु
 प्रशंसावाक्येषु परित्यागो न प्रकटतया प्रतीयते, कविवाक्येषु च ज्ञानमिश्रभक्तेः प्रशंसा
 प्रतीयते । खं बायुमग्निमिति वाक्यात् । तथा सति शुद्धमक्तिमार्गीयस्य त्यागस्य प्रशंसा
 कर्म निश्चेतुं शक्या, तत्रसिद्धमावादित्याकांक्षायां तत्रसिद्ध्यर्थमाहुः कौण्डिन्यो गो-
 पिक्ताः प्रोक्ता सुरय इति । कौण्डिन्यो ह्यनन्तदोरकस्वामी प्रक्षेपेणोत्पत्तादपराधाद् दा-
 र्दिमापन्नः, स्वपत्न्याः शीलाया वाक्यादनन्तापराधजन्यं तद्दुःखा निर्विण्णोऽनन्तं प्यायन् क
 द्रक्ष्यामीत्याशया शृङ्गारं निर्गतो, निरशनं व्रतं ब्रह्मचर्यं च कृत्वा हरिं जपन् निजैरेरण्ये
 नूतवृक्षं गोपभृतीश्वेतनानचेतनांश्च बहून् पप्रच्छ, तैः सर्वैरपि नानन्तोस्माभिरेष्ट इत्युक्ते
 विद्वलीभूतो जीविते निराशो दीर्घमुष्णं च निश्चस्य नूतले पपात, ततः किञ्चित्कालोत्तरं
 संज्ञां प्राप्यानन्तेति जल्पन् तस्मिन्क्षणे सुनिर्विण्णोऽन्तु । ततः कृपयाऽनन्तदेवोपि वृद्धमा-
 क्षणरूपेण प्रत्यक्षाम्बु 'एतं शही' त्युत्त्वा शतालं अपरेव, कौण्डिन्यं दक्षिणे करे शहीत्या
 खपुरी दर्शयामास । तत्र दिव्यसिंहासनाश्रितं स्वात्मानं च सायुधगरुडाद्युपशोभितं दर्शया-
 मास । ततस्तं दृष्ट्वा परया मुद्रा प्रसन्नः कौण्डिन्यः 'पापेहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः ।
 प्राहि मां पुण्डरीकाक्ष शरणं मे भवाच्युत । अयं मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् ।
 यतर्वाभिमुगांभोजे मन्मूर्द्धां भ्रमरायत'इत्युक्तवान् । भगवांस्तु तस्मै दारिद्र्यनाशनं धर्म
 सनातनं विश्रुलोकं च वरं दत्तवानिति भविष्योत्तरे भगवता सुभिर्द्विं प्रत्युक्तम् । तेनायं
 परित्यागः रूपादिकृतपन्धाभावात् संन्यासवेपरहितः स्वफलसाधने साधनान्तरापेक्षारहितः

प्रसन्नप्येषसाक्षात्कारफलकः अवैधः शुद्धभक्तिमार्गीयश्चेति सिध्यति । अत एव वेदसुतौ 'एकदा नारदो लोका'नित्यत्र सुबोधिभ्यामुक्तम् । 'एवमेव च परिभ्रमणं कर्तव्यं यथा कौण्डिन्येन कृत'मिति । गोपिकानां तु फलप्रकरण एव भगवत्प्राप्त्यर्थं सर्वपरित्यागः पूर्वमुक्तः । ततो मदमानान्यां भगवत्तिरोभावे भगवद्विचयनं, ततः प्रसादार्थं गानं, ततो दैन्येन रोदनं, ततो भगवद्ग्राह्यभावः, ततो भगवत्कृता तत्यागप्रशंसा, ततो लीलानुभव उक्तः, तथापि पूर्ववदेव वेपराहित्यादिकं फलपर्यन्तं सिद्धम्, अतस्त एवात्रैतत्परित्यागप्रवर्तकत्वाद्गुरवः, तथा चैवं शास्त्रसिद्धत्वात् । 'एवं मदर्थोऽञ्जिते'त्यादिना भगवता ब्रजभक्तकृतत्यागस्य प्रशंसनाद्यैकादशस्कन्धीयप्रशंसात्प्राप्त्यानामप्येतदारंभावस्यासूचकत्वात्तत्रशंसायामेव तात्पर्यम् । तत्रापि द्वादशाध्याये 'रामेण सार्ध'मित्यादिभिस्तत्कृतसाधनस्यैव प्रशंसनात्, उद्धवस्य तदर्थसन्देह एवाग्रिमग्रन्यायताराद्य । उचितं चैतत्, यदारम्भः प्रशस्तस्त्वस परमा काष्ठाप्रशस्तेति । अतस्तत्परैव सा प्रशंसा निश्चेयेत्यर्थः । अत्र कौण्डिन्यग्रहण निरपेक्षभक्तानां बहुविधत्वात्कृतपरित्यागार्थं बोध्यम् । एतत्प्रशंसायास्तद्बददर्शनात्, विरहोत्तराभाष्यतुभयार्थमात्रत्वेनैव विवक्षितत्वाच्च । एवं च यो यो यादृग्भक्तिमान् त्यागं चिकीर्षति तस्य तस्य तादृग्भक्ता एषेद्यगवस्थाका गुरव इत्यपि बोधितम् । भगवदुद्धवसंवादसमाप्तौ अजसा सिद्धिहेतुप्रश्ने 'दिवानुसमुद्रप्येषु मद्भक्ताचरितानि चे'ति भक्तचरिताश्रयणस्य तयात्वेनोपदेशादिति । एतेषां गुरुत्वं च स्वचरितेनैतन्मार्गप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाद्दानेयगुरुणां पृथिव्यादीनामिव बोध्यमित्याशयेनाहुः साधनं च तदिति । एतेनोपदेशानपेक्षाप्यत्र बोधिता । अत्र विरहानन्तरभक्तिनां तत्कृतानां साधनानां गुरुत्वात्तानि सर्वाणि कर्तव्यान्नुत क्रियेदेकमित्यपेक्षायां तत्सर्वप्रयोजकमादिभूतं यत्साधनमनन्दं निश्चित तदन कर्षतपेप्यत इत्याहुः 'भावो भावनपेत्यादि । भगवति परमा रतिर्भावः । 'रतिर्देवादिनिपया भाव इत्यभिधीयत' इति धारय्यात् । सोपि न स्वतः सिद्धो विवक्षितः, तस्य सामानिकत्वात्, किन्तु भावनया निरन्तरचिन्तया सिद्धः प्रचितः तादृशस्यैव साक्षात्कारफलकत्वायाः साधनान्तरसाधकत्वायाश्च पूर्वोक्तोपास्यानद्वेषेपि सिद्धत्वात् । अतः स एव साधनं, नान्यदिष्यते, अन्यद्विचयनादिकं साधनत्वेन नेष्यत इत्यर्थः । ननु तस्यापि तत्र मत्वात् कुतः साधनत्वेन नेष्यते इत्यत आहुः चिकलत्वमित्यादि । जडेणयोग्येषु च प्रथो निरुल्लस्य । तथा अस्वास्व्यं प्रकृत्वा स्थितमानः । एतत् द्वयं प्रकृतिः निरहाम्ब्याम्भावः । तत्रापि हेतुः प्राकृत्यनं न इति । प्रकृतिमन्वन्धि प्राकृतं, स्वम्प्राप्त्याप्राप्तं न दृश्यते, हि यतो हेतोः, तथा च सपदि स्वम्प्राप्त्योहेतुकं स्यात्तदा साधनत्वेनेष्यत । अतन्मदभारात्नेष्यत इत्यर्थः । ननु तद्वैवादादशस्कन्धे 'शृण्वन् गुह्यदानी'त्यादि-श्लोकप्रयोजकभगवद्ग्रन्थसमर्थनार्थनिर्णयनादयः सर्वथ भगवन्धीरत्वेन ज्ञान च स्वम्प्राप्त्यापर्मन्वान् साधनत्वेनेष्यते । यत्रानीरर्षमन्वादित्यारंशापानाहुः ज्ञानमित्यादि । ज्ञानं

सर्वस्य भगवच्छरीरत्वेन ज्ञानम् । गुणाश्च श्रवणकीर्तनगानविषया भगवद्गुणा अपि, तस्यैव भावनाप्रचितभावस्यैव, वर्तमानस्य तदन्तःकरणादियु व्याप्तस्य, बाधकाः वर्तमानतानाशकाः, यथायथं शुकादियु मथुराप्रयातभगवद्वियुक्तविशोकगोपिकासु च दृष्टाः, अतो नेष्यन्त इत्यर्थः । ननु तादृशज्ञानं साक्षात्कारफलकम्, गुणाश्च शोकाभावफलकाः, 'विशोका अहनी निन्तु'रिति वान्मयात् । अतः विरहानुभवस्वरूपयापेपि को दोष इत्याकांक्षायां प्रयमतः ज्ञानभावनयोः फलतारतम्यं व्युत्पादयन्ति सत्येत्यादि । संन्यासेन विशेषितात् सहकृतात् सर्वत्र ब्रह्मस्थितिवोधकात् परोक्षज्ञानात्, सत्यलोके चतुर्मुखलोके स्थितिः । 'वेदान्तविज्ञानमुनिश्रितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परासृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' इति (तैत्तिरीय) श्रुतेः । असां श्रुतौ वेदान्तविषयकनिश्चितपरोक्षज्ञानवतां संन्यासिनां शुद्धसत्त्ववत्त्वेन ब्रह्मगुक्तिकाले परासृतं प्राप्य मुक्तिरुक्ता । छन्दोग्ये तु 'यथा क्रतुरसिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेला भवती'ति मरणानन्तरमेव भावनानुरूपं पारलौकिकतात्कालिकफलं भावितम् । अतो यत्र पुरुषे भावना साधनं तत्र तथा तादृशमेव फलं भवेत् । चोपधारणे । तथा च ज्ञाने फलस्य भेदः कालस्य विलम्बश्च दोष इत्यर्थः ।

ननु 'यथैधानि समिद्धोमिर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथे'ति गीतावाक्यात् प्रथले ज्ञाने कर्मणां निःशपनाशात् न कालविलम्बः । 'हरेः शरीर'मित्युक्ततया ज्ञानस्य भगवद्रूपवत्याय न फलभेद इत्याशंकायामाहुः तादृश इत्यादिसाधनम् । तादृशः प्रथलज्ञानवान् सत्यलोकादौ विद्युद्गुरुणेन्द्रप्रजापतिलोकेषु तिष्ठत्येव, तत्रत्यभोगेन स्वप्नारब्धमरणयन्नातिपाहिकवैषुतपुरुषागमनपर्यन्तं स्वप्नारम्भानुसारेण तिष्ठत्येव न संशयः । परान्तकालप्रतीक्षाऽभावेपि वैद्युतपुरुषप्रतीक्षाया आतिपाहिकाधिकरणे सिद्धत्वात् । ज्ञानप्राप्त्येपि तादृशस्य विलम्बे सन्देहो नेत्यर्थः । नन्विदं भावनापक्षेपि तुल्यमित्याशंकायामाहुः वह्निरित्यादि । अरणिमथनप्राप्त्येन वह्निरिव भावनाप्राप्त्येन वह्निः प्रकटः सात्मा पुरुषोत्तमो यदि वह्निवद्बह्निर्व्याप्य पुनरन्तःप्रविशेत्, तदैव तस्मिन्नेव काले सकलो वन्द्यो पाश आभ्यन्तरश्च नाशमेति, निवर्तते, न चान्यथा अन्यथा न निवर्तते एव । तथा च 'यदा सर्वे प्रतीयन्ते कामा येस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्याऽसृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नत' इति श्रुत्या तदानीमेव वन्द्याभावस्य फलाध्यायद्वितीयपादादरन्ते 'वाचनमि दर्शना'दिति सूत्रे विचारितत्वात् अन्तर्ग्रहगतगोपिकासु तथैव दर्शनाचेति न भावनापक्षस्य ज्ञानतौल्यम् । अतो विलम्बापादकत्वात् ज्ञानं साधनत्वेन नेष्यत इत्यर्थः । एतेन शुद्धभक्तिमार्गीयत्वागे ज्ञानमिश्रपक्षोपि निवारितः । तर्हि गुणानां तथात्वमस्त्वित्याकांक्षायामाहुः गुणास्त्वित्यादि । तुः ब्रह्मनिरासे । श्रवणादिविषया गुणाः सह-राहित्यात्, भावनासिद्धस्य भावस्याप्राप्त्ये भवतो वह्निः प्राकट्याभावेन तत्सहाराहित्यादुद्भवे विरहे जीवनार्थं भवन्ति । हि निव्येन । विशोकत्वान्ये तत्पत्नीवनवाक्ये च तथैव सिद्धत्वात् । अतो विलम्बापादकत्वेन मध्यमाधिकारे ते उपसृज्यन्ते । अतो मुख्याधिकारे तेपि साधनत्वेन नेष्यन्त इत्यर्थः । ननु येषां गानादिविषयाणां गुणानामपि प्रापकत्वम्, तर्हि

भाव्यमानस्य भगवतोपि विठम्बापादकत्वेन बाधकत्वं कुतो न स्यादित्यत आहुः भगवानित्यादि । स हि फलरूपः, प्राप्तश्चेत् फलमेव जातं साधनस्य, अतः फलरूपत्वात् साधनावस्थानिवर्तकत्वेपि बाधकत्वेन नेष्यत इत्यर्थः । एतेन येषु बहिः प्राकट्योत्तरमन्तःप्रवेशस्तेषां सद्योमुक्तिः, येषु च बहिः प्राकट्यमेव, नान्तःप्रवेशस्तेषामिहैव लीलानुभव इति मुत्स्येष्वपि व्यवस्था सूचिता । तेन न कोपि क्वापि विरोध इति ध्येयम् । ननु यदि भगवान् फलरूपत्वात् बाधकः, तदा फलरूपत्वादेव यथा विजने दर्शनार्थं यतमानाय नारदाय दर्शनं दत्त्वा तिरोहितः सन् पुनर्दर्शनार्थं यतमानं तं प्रति 'हित्वावयमिमं लोकं गन्ता मञ्जनामसी'ति स्वास्थ्यार्थं वाक्यमुक्तवान्, तस्य स्वास्थ्यं च कृतवान्, तथा अत्र कुतो न बक्तिः ? स्वास्थ्यं च कुतो न करोतीत्यत आहुः स्वास्थ्येत्यादि । स्वास्थ्यं च वाक्यं स्वास्थ्यवाक्यम्, विभाषैकबद्धावः । स्वास्थ्यसहितं वाक्यं स्वास्थ्यवाक्यं तत्, भगवतः न कर्तव्यम्, अर्हं तव्यः, कर्तुं योग्यं न भवति । तत्र हेतुः, दयालुर्न विरुध्यत इति । अयमर्थः । नारदो ह्यविपकपापः परं शुद्धभाव इति तस्य स्वास्थ्यार्थं तिरोहित एव वाक्यमुक्तवान्, स्वास्थ्यं च कृतवान् । प्रकृते स्वन्तर्युद्गतानामिमास्य पन्थ एव तत्कालं नाशनीयः । स पन्थो यदि प्रारम्भकृतस्तदा भगवद्विरहजतीव्रतापभगवदाविर्भावजाह्लेषसुखाम्यामेव निवर्तनीयः, भावसौत्क्यात् । यदि तादृशेपि वाक्यं बदेत्, स्वास्थ्यं वा कुर्यात्, तदा सद्योमुक्तिं विरुष्यात् । अतो दयालुत्वाच्च विरुष्यते । अयं कर्मकर्तृप्रयोगः । तथा च स्वास्थ्यवाक्यकरणमेव दयालुं विरुष्यति । स्वयं तु दयालुर्न विरुष्यते । अतः परमरूपया स्वयमेव शीघ्रं बन्धनिवृत्तिं विभासन् तत् इयं न करोतीत्यतः स्वास्थ्यवाक्यं कर्तुमनर्हमित्यर्थः । ननु यद्येवं तर्हि 'वाग्ददे'त्यादिना भुवनपावनत्वेन यः स्वयं प्रशंसितः, तादृशस्य स्वास्थ्यादिकमपि न करोतीत्यार्शंकायामाहुः दुर्लभोयमित्यादि । अप्यं सद्योमुक्तिसम्पादकः परित्यागः तादृशस्यापि दुःश्रापः । तत्र हेतुः । प्रेम्णा सिध्यति नान्यथेति । तथा च ते यद्यपि परमभक्ताः, तथापि सर्वज्ञत्वात् केचन पुष्टिमिश्राः, केचन गुणज्ञत्वान्मर्यादामिश्राः, न तु शुद्धाः सदा प्रेमयुताः स्वरूपमात्रपराः । अतस्त्राद्यधिकारामावात् करोतीत्यर्थः । एवमत्र भक्तिमार्गीयत्यागे गुरुद्वयस्य कथनेन फलविठम्बशैष्यतात्कालिकफलकथनेन चावस्थामेदादिस्वप्नादविचारितत्वाच्चैतं विहाय विचारितो ज्ञानमार्गीय एव कर्तव्यः, किमेतद्विचारेणेत्याशंकायां भक्तिमार्गीयस्वाम्भदशायां निःप्रलूहत्वं वक्तुं ज्ञानमार्गीयस्य परिग्रहतामनिविठम्पयतां च साधयन्ति ज्ञानमार्गं इत्यादि ।

अतः परं नन्वेकादशस्कन्धीपप्रशंसायाः भक्तिपरमकाष्ठारूपेऽसिन् दुर्लभे परित्यागे पर्यवसन्नतायां प्रारम्भदशाकर्तव्यस्य परित्यागस्य विठम्बपक्षया ज्ञानमार्गीयत्यागतीत्येन विशेषभाषादविचारितत्वाच्चैतं विहाय विचारितो ज्ञानमार्गीय एव कर्तव्यः, किमेतद्विचारेणेत्याशंकायां भक्तिमार्गीयस्वाम्भदशायां निःप्रलूहत्वं वक्तुं ज्ञानमार्गीयस्य परिग्रहतामनिविठम्पयतां च साधयन्ति ज्ञानमार्गं इत्यादि ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराहं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापपिडित्वं भवेत्तथापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रयत्नत्वादिति स्थितम् ॥ १६१ ॥

तुः पूर्वोक्तश्रद्धानिरासे । ज्ञानमेव मार्गो ज्ञानमार्गः । तत्र द्विविधोपि सत्प्राप्ता ज्ञानार्थमुत्तराहं च यथा स्यात्तथा विचारितः । क्रियाविशेषणद्वयमेतत् । उत्तरतथे तृतीयस्य तुरीये पादे 'ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हीति' सूत्रे विविदिद्योर्ज्ञानोत्सव्यर्थतया जातज्ञानस्य फला-
नुभवप्रतिषन्निवारकत्वेनान्तरङ्गतया च कर्तव्यत्वेन निर्णीतः । परं सिद्धिः साक्षात्काररूपा जन्मशतैः, न तु शीघ्रम्, 'घट्टनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति गीतावाक्ये परोक्षज्ञानवतो 'वासुदेवः सर्व'मिति स्वप्रपत्तेर्वहुजन्मान्ते कथनात् । प्रप्रतिपरोक्षं ज्ञानम्, तस्य विठम्बेन भवने हेतुं स्युत्पादयन्ति ज्ञानं चेत्यादि । ज्ञानं गीताचापयोक्तरीतिकसाक्षात्काररूपं साधनापेक्षम्, कर्मज्ञानभक्तिरूपं साधनं स्वोत्सवाव-
पेक्षते । अत्र प्रमाणम्, यज्ञादिश्रवणात् निष्कामानामपि यज्ञकरणस्य 'अथाकामयमान' इति श्रुतौ प्रतिपादनात्, तदेतत् 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरखव'दिति सूत्रे विचारितम्, ज्ञानं च न शमदमादिमात्रेण सम्पद्यते, किन्तु यथाश्रममाश्रमकर्मापि शमादिसहकारित्वेनापेक्षत इति सहकारित्वसूत्रे व्युत्पादितम् । अतः देशद्रव्यादिरूपसाधनवैगुण्येन विहितकर्मात्मक-
सहकारिशून्यैः केवलैः शमादिभिर्ज्ञानानुदवात् स विविदिपादशोकः संन्यासः कलौ पश्चात्तापाय अनन्तरं खेदाय । तर्हि विद्वदशोकः कर्तव्य इत्यत आहुः नान्यथेति । अन्यथा विद्वत्कारकः कलौ तत्साधनासम्भवावेत्यर्थः । क्रिया, न खेदमात्रं किन्तु पाप-
पिडित्वं चापि भवेत् । निष्ठादिबुद्ध्याभावेनोपपन्नसंन्यासवत्त्वम्, पश्चात्तापवकीर्णित्वम्, अ-
पिशब्दात्, 'आरूढो नैष्टिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुष्येत् स आत्महे'ति वाच्योक्तः पाकः संश्लथते । सिद्धसाधुः तस्मादित्यादि । यस्मात् विविदिपा-
संन्यासस्य कलौ खेदादिजनकत्वम्, विद्वत्संन्यासस्य चासम्भवस्तस्मात् ज्ञानमार्गे वैधं संन्यासं न कुर्यात्, तत्र हेतुः, सुतरामित्यादि इति स्थितमिति । कलौ संन्यासं निषे-
धन्निः शास्त्रकारैरेव निर्णीतमित्यर्थः । तेन संन्यासप्रतिप्रसवशास्त्रं काचित्कत्वात् सर्वत्रोपशु-
ज्यत इति बोधितम् । एवमत्र भगवदाज्ञया कर्तव्यस्य परित्यागस्य विचारणायानेतावत् सिद्धम् ।

कर्ममार्गे जैमिनिमते परित्यागस्याकर्तव्यता, मतान्तरे चातुराश्रम्यपक्षेण कर्तव्यत्वेपि कलिप्रलादाकर्तव्यता, भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वेनोक्तत्वेपि श्रवणादिप्रसिद्धार्थं करणे संन्यास-
स्वरूपतद्दर्शयोर्धरोधात् संन्यासत्वेन रूपेणावैधत्वाग्ररूपेण चाकर्तव्यता, तथैव श्रेयसाधनार्थं

करणेपि प्रेमानन्तरं त्ववैधस्य परित्यागस्य स्वत एव सिद्धिर्मुखाधिकारिणः । तत्र च नाज्ञा-
पेक्षा, तथैव मध्यमस्यापि । परं तस्य प्रारम्भप्रतिबन्धनेपद्विलम्बः फले । तथैव ज्ञानमिश्रस्या-
पि । ज्ञानमार्गे तु विविदिपादशायां विचारितोपि कलिकालजदोषसम्भावनाश्च कर्तव्यः,
विद्वत्संन्यासस्य तु कलिदोषेण ज्ञानासम्भवादसम्भव एव ॥ १४-१६ ॥

अतः परं प्रेमासम्भदशायां परित्यागोवशिष्यते, तं विचारयितुं प्रथमुखेनाशङ्कन्ते
भक्तिमार्गंपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमिति ।

भक्तिमार्गंपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशाः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरद्य न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालाञ्च स्तन्यैः पुपुषुः फचित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि बाधयेन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रष्टपते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तेः प्रेमरूपाया यो भार्यः उपायभूतः परित्यागस्तत्रापि कलिप्रभृतिभिः कृतो दोष
उत्पद्यते चेत्तदा तत्परिहारार्थं किं कार्यमित्यर्थः । तत्रोक्तसुखेन समादधते उच्यते ।
अत्रेत्यादि । अत्र प्रेममक्ताचारम्भे आरम्भदशायां परित्यागे नाशः कलिप्रभृतिभिः कृतेन
दोषेण तदवस्थातो हीनत्वसम्भवः स न स्यात् । तत्र हेतुः । दृष्टान्तस्याप्यभावत
इति । अत्र नाशपदं सप्तम्या विपरिणतं पुनरन्वेति, तथा च अत्रारम्भे नाशोऽनुमीयमाने दृष्टा-
न्तस्याभावात् अपिना दोषान्तराच्च, तथा हि उक्तारम्भदशायां गृहत्यागकर्ता नश्यति, तदानीं
त्यागकर्तृत्वात्, अत्र यदेवं तदेवमित्यन्वयप्यासौ दृष्टान्ताभावः, व्यतिरेके तु यत्र यत्र
तादृशत्यागकर्तृत्वे सति नाशाभावः, तत्र तत्र त्यागकर्तृत्वामाव इति व्याप्तेरेव शून्यता,
तादृशत्यागकर्तृत्वे सतीति विशेषणानङ्गीकारे तु तादृशव्याप्त्या गृहत्यादिष्वेवानाशसिद्ध्या
तादृशत्यागकर्तृत्वस्यैवालाभ इति दृष्टान्ताभावः । यदि तु भक्तिमार्गीयारम्भदशायां तस्यागक-
र्तृत्वात् अविपत्कफपायत्वाद्वा सद्दोषसंभवाद्वा अथवादिप्रसिद्धधर्मत्यागकर्तृवदित्यनुमातव्यम्,
तदाप्यसन्नतर्क, नारदपूर्वजन्मदृष्टान्तेन आपयोः साधारणत्वात्, तृतीयस्य तु 'गायन्विठजो
विचरेदसद्' इति वाक्येन स्वरूपासिद्धत्वात् । पूर्वोक्तदशायां गृहत्यागकर्ता न नश्यति,
पूर्वोक्तारम्भदशायां त्यागकर्तृत्वात्, पूर्वजन्मीननारदवदिति प्रत्यनुमानेन निरस्तत्वाच्च । न
चेदमप्रयोजकम् । नारदपूर्वजन्मकथासन्दर्भविवाच्यैस्त्वाद्यां नाशस्यैवासिद्धत्वादिति ।
अनेनैव हेतुना नाशानुमाने तु सिद्ध एव दृष्टान्ताभाव इति सुप्रसक्तं दृष्टान्तस्याप्यभावत

इति । किम्, अयं त्यागो हि भगवद्धर्मः । 'धर्मान्भागवतान् मृते'ति निमोः प्रश्ने कविना 'ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये । अद्धः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्' इति लक्षयित्वा 'कायेन वाचे'त्यादिभिः कथ्यमानेषु 'गायन् निलजो विचरेदसद्' इत्यनेनासद्-विचरणरूपस्य त्यागस्यापि बोधनात् । भगवद्धर्मस्याग्नेषु न ध्वंस इत्यपि भगवतैवोक्तं 'न ह्यज्ञोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्यपी'ति । तथा चातोपि न नाश इत्यर्थः । न चैवं सति श्रवणादिप्रसिद्धयर्थं कृते त्यागे कथं ध्वंस इति शंस्यम् । तस्मां दशायामज्ञानात्कलरणेन उपक्रमत्वाभावात् । 'ज्ञात्वारम्भ उपक्रम' इति कोशेन ज्ञात्वारम्भस्यैवोपक्रमत्वादिति । ननु मास्तु नाशस्तथापि देहरक्षणार्थं मिश्रादेरायत्कत्वात् फलविलम्बसम्पादको वापः केन वा-यैतेत्यत आहुः स्वास्थ्येत्यादि । त्यागिनः स्वास्थ्यस्य हेतुर्हि विगर्हभिन्नेषु चतुर्षु वर्णेषु मिश्रा तस्मात्त्यागात् । 'चीराणि किं पथिन सन्ति दिशन्ति मिश्रां नैवाज्ञिपाः परमृतः सरितोप्य-शुष्यन् । रुद्धा गुहाः किमजितोवति नोपपन्नान् कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्गदान्थान्' इत्युक्त-रीत्या त्यागात् । यद्वा, अत्र स्वास्थ्यहेतुपदं परित्यागनिशेषणम्, परित्यागादिति त्यन्लोपे पश्यमी । तथा च स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः स्वरूपावस्थित इति यावत् । तस्य भावः स्वास्थ्यम्, तद्धेतुर्गः परित्यागस्त प्राप्य जीवन्मुक्त एव जात इति । अस्मिताद्यास्य वापः केन सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । मन्वेवमन्याकांमादीनां वापकत्वाभावेपि कालादिभिर्वाधः केन यार्येतत्काक्षायां केसुतिक्रियायेनावापमुपपादयन्ति हरिरित्यादि । हरिः स्मर्तुः सर्वापहु-ग्रहती सोपि अत्रास्मिन् परित्यागे वाधां कर्तुं न शक्नोति । अस्य भगवद्धर्मस्य स्वयमेवोक्तत्वात्, 'वक्ता कर्ता विना नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुयो'ति वान्येन स्वयमेवाव-साध । तथा सति अपरे कालादयः कुन्तो हेतोः कर्तुं शक्नुयुः । ते हि भगवदधीना इति न तच्छ्रुतोपि वापसम्भव इत्यर्थः । अत्र तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । अत्र पुपुपुरिति अत्यन्ता-पहवे लिङ्गकल्प इति वार्तिकालिङ्ग । तथा च स्वधर्मोत्पादको रक्षकश्च भगवानेव यदि वाधां कुर्यात्, तदा मातरो जनविध्यः बालान् स्तोत्रज्ञान् यस्तन्वैः पुष्पन्ति, तत्र पुपुपुः, ततश्च तत्कृतं पोषणमहन्तापहतमेव स्यात्, तथा च भगवत्कृतो वापस्तर्कादपि पाथित इत्यर्थः । ननु भवत्वेवं, तथापि मोहनार्थं नियुक्तं या माया सा तु स्वकार्यं मोहं कुर्यादेव, 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, कलादाहृष्य मोहाय महामाया श्रयच्छती'ति वाच्ये भगवत्प्रियतमस्य ज्ञानिनोपि तत्कृतमोहसोक्तत्वादित्यत आहुः ज्ञानिनामित्यादि । 'ज्ञानिनामपी'ति वान्यं ज्ञानिनामपि वान्यं उत्तरपदलोपी समासः । तथा चानेन मार्कण्डे-यवान्येन ज्ञानिनामेव मायाकृतो मोह उक्तो, न तु भक्तानां, अतः सा भक्तं न मोहयि-ष्यति । गीतायां 'दैवी क्षेपे'ति वान्ये भगवता तस्याः प्रपत्तिरणीयत्वकथनात्, उक्तविध-भक्तस्य च प्रपद्यते सन्देहाभावात्, अतो दूरायाम्ब मोहनमित्यर्थः । न चेति कारणाभावे ज्ञानिनामिति पदस्य कथं वान्यवोधकत्वमिति शंस्यम्, प्रक्षिप्ताभ्यायेपु 'यावद्रत्सके'ति श्लोके 'मयं विष्णुमय गिर'इत्याचार्यः श्रीपरेण च सर्वं विष्णुमयमिति पदद्वयस्येति कारणाभा-

वेपि 'सर्वं विष्णुमयं जग'दिति वाक्यप्रतीकताया अङ्गीकारेणात्रापि तथोक्तौ दोषाभाव-
दिति । चाचामतेष्वेवम् । किञ्च, अयं भक्तः आत्मप्रदः आत्मानं भगवते प्रकर्षेण
सर्वसाहित्येन समर्पितवान्, न तु स्वार्थमात्मानमपि स्थापितवान् । तथा प्रियश्चायं भग-
वतः, 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' इति वाक्यात् । माया तु भगवतस्तद्भक्तेभ्यश्च जिहेति,
'विलम्बमानया यस्य स्थातुमीधापयेमुया । विमोहिता विकल्पन्ते ममाहमिति दुर्धिय' इति
द्वितीयस्कन्धवाक्यात् । उक्तभक्तस्य तु न दुर्धित्वम्, भगवति षट्सौहृदत्वात् । नाप्यन्यत्रा-
सक्तिः । अतः किमर्थं मोहयिष्यति । तथा चोक्तैर्हेतुभिः सापि न भक्तं मोहयितुं शक्ते-
त्यर्थः । एवमेतेन विचारणेनास्यामारम्भदशायामपि भक्तिमार्गीये त्यागे न पश्चात्तापादिदोष-
सम्भावनेति सिद्धम् । तद्वदन्त उपसंहरन्ति तस्मादित्यादि । यस्मादन्ये त्यागप्रकाराः
सदोषाः असम्भविन्श्च, गुल्फस्त्वाज्ञां नापेक्षते । तादृशभावपृष्ठलत्वेन स्वाभाविकत्वात् ।
अतोऽयमेवाज्ञाविषयो भवितुमर्हति, तस्मात् उक्तप्रकारेण भगवतोद्भवं प्रत्याज्ञप्तेन प्रका-
रेण भक्तिमार्गीयः परित्यागो विधीयताम्, भक्तैः कर्तव्यः । अन्यथा उक्ताधिकारा-
भावेपि त्यागकरणे अधिकारसद्भावेपि तदकरणे च स्वार्थात् स्वस्य यः अर्थः प्रयोजनं
विरहातुमथो भगवत्प्रसादश्च तस्माद्भङ्ग्यते, च्युतो भवतीत्यर्थः । अत्र स्वस्य निश्चय-
माहुः इति मे निश्चिता मतिरिति । एवंप्रकारिका निश्चयवती मम बुद्धिरित्यर्थः ।
श्रीमद्बुद्धकर्तृकश्च परित्याग एवंप्रस्तुतीयस्कन्धे चतुर्थाध्याये 'इहागतोर्दं विरहातुगले'-
ति 'सौर्दं तद्दर्शनाद्वादिपयोगार्तिसुतः प्रभो'रित्येतान्यां बोधितः । तृतीयस्य चतुर्थे पादे
'पहिस्तुमयथापि स्मृतेराचाराद्ये'तिधिकरणे विचारितश्च । तत्र हि प्रसुरभगवद्भावमाप्रवतः
साक्षात्स्वरूपभोगवतो वा गृहत्यागः कर्तव्यो न वेति संग्रहे फलस्य सिद्धत्वान्नायस्य
कर्तव्यः । 'मद्भातर्पातयामानां न पन्थाव गृह्य मता' इति वाक्यात् गृहाणां पन्धकत्वा-
भावेन द्वितीयस्यापि न कर्तव्य इति प्राप्ते आह 'बहि रित्यादि । उक्तपूर्वपक्षनिरासाय
तुशब्दः । भावमात्रे साक्षाद्भगवत्सम्बन्धे चेषुमथथापि पद्धिः गृहाद्बहिर्गमनम् गृहत्याग
इति यावत् । स आवश्यकः । तत्र प्रमाणमाह 'स्मृतेराचाराद्ये'ति । 'त्वं तु सर्वं परित्यज्य
खेदं सज्जनपन्थुषु । मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृक् विचरस्व गा'मित्यादि स्मृतिर्भगव-
द्भाववतस्तत्सद्बुद्धिदृष्टस्यापि पद्धिर्गमनमाह । तदाचारोपि तथैव श्रूयते, अतस्तथेति निष्कर्षं
उक्तः । अयं च त्यागो नाश्रमधर्मरूपः, तस्य पूर्वे 'उर्ध्वैरेतःसु च शब्दे ही'त्यत्र विचारि-
तत्वात् । न चैवमस्यास्मिन्नुच उक्तत्वे विचारितत्वेनेति कुतो नोक्तमिति शक्यम् ।
प्रकारस्यानुत्पेक्षेन तयात्वाभावात् । शुबन्संवर्तादिकर्तृकस्य ज्ञानमार्गीयस्यावैयस्यस्याससापि
तयात्वाच्चेति ॥ १७-२१ ॥

एवं त्यागप्रकारं तत्कर्तव्यताप्रकारं च निरूप्योपसंहरन्ति इति कृष्णप्रसादेनेति ।
इति कृष्णप्रसादेन घट्टभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासपरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

एव सर्वं प्राय आहु । मम लन्यत् प्रतिभाति, उपक्रमे परित्यागो विचार्यत इति कथनात्, उक्तश्लोके च परित्यागो निधीयतामिति कथनाच्च तत्रैवोपसंहारप्रत्यभिज्ञानात्, इति कृष्णप्रसादेनेति श्लोकेस्तु तत्रैव विशेषान्तरस्य बोधनाय । तथा हि । आचार्याणां पुरस्तरितकविचारेण देहदेशपरित्यागविषयकभयवदाज्ञाद्रयाकरणाभिमानजनितपेदे सति यदा लोकपरित्यागविषयिणी तृतीयाज्ञा जाता, तदा तद्वान्यार्थविचारेऽनेन प्रकारेण कृते भगवार् विशेषतः प्रसन्नो भूत्वा तस्य सन्यासरूपतामाचार्याणां मनसि स्फोरितयान्, तदेतदस्मिन् श्लोके बोधयन्ति इति कृष्णप्रसादेनेति । इति एव पूर्वोक्तप्रकारेण परित्यागे निचारिते सति यः कृष्णप्रसाद पूर्वस्मादतिरिक्तं तेन कृत्वा बहभेन भगवत्प्रियेण मया भक्तौ भक्तिमार्गे सन्यासवरणं उद्भवत् सन्यासाङ्गीकरणं त्रिनिश्चितं विशेषतो निश्चितम् । अन्यथा एवमाज्ञाऽभावे तत्कारणे पतितो भवेत् । भक्तिमार्गावधर्माणां सन्यासधर्माणां चेतरेतरविरुद्धत्वात् भक्तिमार्गतश्च्युतो भवेदित्यर्थः । विशेषनिश्चयस्तु, 'आहितोऽस्तेस्तु सन्यासो वेराग्यादुत्तरासुपि । यावज्जीवधृतेस्तत्र न निरोध कथञ्चन । यजमानोऽसिक्वचनादपुनर्भवाम्बन्धयत । न्यासो निधेयस्तनादौ यागनिनिन्दनात् । श्रेयानित्यादिवचनादपुनर्भवाम्बन्धयत । त्वं ब्रह्मेति च नापेक्ष्य प्रातर्भुंरया यथानिधि । मार्पातुञ्जा तु नपेक्ष्या देवादारुदियावपत । आभ्युदेवप्रकारेण पुत्राणां लीकिक्रमत । आगूरचयनं कृत्वा जीवश्राद्धविधानत । आभ्युदेवप्रकारेण शाब्दान्यष्ट समाचरत् । वर्गत्रयं प्रसिद्धं हि तत् आत्मत्रयं मतम् । देहेन्द्रियप्राणदेवा पञ्चमे देवता मता । शिरःपाश्यायकदेवा यन्तुदेवास्त्वगादिका । गोलाधिष्ठानदेवाश्चक्षुरायास्त्रत परम् । त्रिधाहङ्कनिदेवाश्च रश्मि सङ्घर्षणं शिव । सप्तमे गुणदेवास्तु वशाया अष्टमे मता । ततो दण्डत्रयं शिष्यं पतित्र जलभाजनम् । पात्रं चेति समादाय तथा वापस्त्रिभ्रजति गियादिषु श्लोकेषु वतते । सर्वो ग्रन्थ उल्लसत्, पूर्णो न लभ्यत इत्यत एते श्लोका न विनियन्ते । अतस्तदुत्तरप्रकारस्तत्तच्छास्त्रीयसन्यासपद्धतिभ्योवगन्तव्यः । भगवता सन्यासस्य स्फोरणादेवाचार्यैरिदं सन्यास एव कृतः । मार्पादिभिराज्ञाया अदाने स्वपणशाशास्त्रप्रदर्शयं तेषिगच्छत शीघ्रं निर्मच्छतेत्युक्ते करकलोपीने गृहीत्वा निर्गता । ततो उद्भिरपि शास्त्रं । ततो यवानिधिं सन्यासं गृहीत्वा अरेलयामात् काश्यामागता । मासमात्रं चानशनं कृतम्, दिनाष्टकं च मोनवत्, तेन पूर्वाज्ञाद्रव्यदेशदेशेऽप्यगो पाक्षिकदोषपतिहारेण कृतो । तत आपाकशुद्धितीयाया सिद्धिं गता उति प्राचा चानयादयगन्त्यते ।

वमापसहतिगतश्रुतिस्त्वम यवद्वोषितं भगवता निभृत्सुख्ये ।
यत्तरत्तदनुमूलं च वान्यजातं सन्यासनिष्पन्नमयं चरणोत्तरीयं ॥ १ ॥

इति श्रीपीताम्बररत्नजश्रीपुरुषोत्तमविरचितं विवरणं सम्पूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतः ।

विचारितपरित्यागः पश्चात्तापनिवृत्तये ।

प्रसीदन्तु सदा गह्वरगङ्गीकृतपितृत्वका ॥ १ ॥

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्विप्तये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विद्वेषतः ॥ १ ॥

भक्तानां स्वहिताज्ञानेन भगवांस्तेषां हितमेव सम्पादयतीति वस्तुस्थितिः । अतः साधनदशाया भक्तेन चिकीर्षितेषु परित्यागे तस्य पतनमाशङ्क्य तत्र विघातं करोति । ततो भक्तस्य तत्स्वरूपाज्ञानात् पश्चात् सेवाव्यसरे भावनादशायां तापो भवति, मया चिकीर्षितेषु मद्वाफले परित्यागे भगवानविघातं करोति, अतो मयि न कृपेति मम फलमुत्पाधिकाराभावात् सर्वमेव व्यर्थमित्येवरूपं । तन्निवृत्त्यर्थं परित्यागः केन कर्तव्यः, कदा कर्तव्यः, किं वा तस्य स्वरूपमित्येव चिन्तयते, स्वमगसेव युक्तिभिः परिशील्यते, तत्स्वरूपं पश्चात्तापं पोष्यते, न तु कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । साधनदशाया निषेधस्य फलदशायां च स्वकृत्य-नाध्यन्त्यस्य वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । भक्तिमार्गाणि फलानुभवाकाले कृतो देहेन्द्रियादिषु स्वीयत्वलागोविनारिभेदेन पूर्वमिद्वत्त्वयागो वा परित्याग इति कर्तृकालस्वरूपाणां त्रयाणां मुत्तरं भविष्यति, तज्ज्ञाने मम साधनदशापन्नत्वाद्भगवांस्त्वादिघातं कृपयैव करोतीति स्वस्मिन् कृपाज्ञानेन पश्चात्तापनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः । युक्तिभिः स्वमार्गविनिर्णयार्थं सामान्यतः सर्वनिर्णयमाहुः स इति । फलरूपभवन्यनुमापार्थं च मार्गद्वये विद्वेषतः प्रोक्तः इत्यर्थः । यद्यपि कर्ममार्गेष्वप्यधर्ममत्त्वेनोक्तं, तथापि यान्त्रीकव्यस्यसाधि निपमानत्वात् विशेषतो नोक्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

कर्तव्यतापोधकसमयेन पार्श्वकर्तव्यत्वमाशङ्क्य तदपि निराकुर्वन्ति कर्मणि ।

कर्ममार्गं न कर्तव्यः सुतरां फलकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥ २ ॥

यापजीववाक्येन प्रत्यवायश्रवणात् पाक्षिकोपि दोष परिहरणीय इति न्यायेन न कर्तव्य इति भावः । वाच्यद्वयस्य रागारागभेदेन व्यवस्थायामपि कलो तु 'अभिहोन गवा लम्भ' मिलादिवाक्यै प्रत्यक्षत एव निषेधादेशादीना दुष्टत्वाच्च न कर्तव्य एवेत्याहुः सुतरा मिति । स्वस्य भक्तिमार्गविचारकत्वात्तन्मार्गीयवर्तव्यतामेव निचारे हेतुत्वेनाहुः अत इति ।

तत्रापि साधनदशाया निषेधमाहुः श्रवणादीति ।

श्रवणादिप्रसिद्धार्थं कर्तव्यश्रेत् स नेप्यते ।

सहायसद्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्भर्मेच्च विरोधतः ।

गृहादेर्याधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥

अग्रेपि तादृशैरेव सद्गो भवति नान्यथा ।

व्ययं च विषयान्तः पापण्डी स्यात्सु कालतः ॥ ५ ॥

विषयान्तान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

एतेषा साधनरूपाणा प्रकषण गेहीयानामनुकूलत्वेपि क्वचिन्त्वात्सात्किसम्पादनेन प्रति बन्धकानामससंगेण सिद्ध्यर्थं कर्तव्य इति चेत् ? स परित्यागोऽस्माभिर्नैप्यते, इष्टफलमाधक त्वादित्यर्थः । प्रतिफले तु त्याग उचित एवेति भावः । तद्विशदयन्ति सहायेति । श्रवणे सहायमूर्तो यस्माद्दशाना सद्गस्तत्साध्यत्वात् श्रवणादीनामिति शेषः । एकाकिनस्तदसम्भवात् प्रन्धाबलोकनादिना स्वत एव शक्तितत्पर्यनिर्धारसम्भवे दोषा तरमाहुः साधनानामिति । पु स्तकादीनामित्यर्थः । तावत्स्थापनेपि परित्यागो न सिद्ध इति भावः । अत एव 'प्रन्धान् नेवाभ्यसेत् यहू' निति वाच्यम् । यत्किञ्चिद्ब्रह्म्याभ्यासस्तु पुस्तकं विनापि भवतीति यहूनित्युक्तम् । एष स्वरू पासाधक दोषद्वयमुक्तमित्यनयो समुच्चयेनेकरूपतपोधनार्थं चकार । फलासाधक दोषद्वयमाहुः अभिमानादिति । मूर्खोम्यासेन प्रतिभोत्वत्तो पुस्तकार्थरूपसाधनत्वानेपि अन्त करणाशुद्ध्या अहं ज्ञानीत्वभिमानो भवेत् । ततो मुख्यफलसिद्धिः । तीर्थादिभिस्तन्त करणशुद्धानभिमानाभावे दोषान्तरमाहुः नियोगादिति । नियोगो विधिलस्माद्धतोरित्यर्थः । मुख्यफलस्य विषयस्यष्टत्वा द्विहितत्वेन कृतेन त्यागेन न तत्सिद्धिरिति भावः । एव फलासाधक दोषद्वयमुक्तमिति चकार । मुख्यदोषमाहुः तद्भर्मेरिति । तस्य गगततो भजनकर्मणो धर्मस्तनुवित्तजज्ञसेवारूपोर्विरोधात् । त्यागे सति तादृशसेवाऽसम्भवादित्यर्थः । तथा च फलरूपाया नानस्या पूर्वोक्तदोषैरसिद्धिः । तनुवित्तानायाश्च त्याग इत्युभयप्रशं इति भावः । नन्वेव सति सेवाश्रवणादिसाधकस्थापनेन भार्यदेरनुकूलत्वेपि स्वात्किसम्पादनरूपपाक्षिकदोषसद्भावेन वाधकत्वात् पाक्षिकोपि दोष परिहरणीय इति न्यायेन त्याग कर्तव्य इत्याशङ्क्य निषेधन्ति गृहादेरिति । भार्यदेरित्यर्थः । साधनार्थमिति । अन्वयानासकत्या सेवाश्रवणादिसम्पादनार्थमित्यर्थः । तादृशैरिति । रागिभिः स्वस्मिन्नासक्तिसम्पादकैरित्यर्थः । नान्यथेति । अतिविरक्तैरित्यर्थः । तादृशैरुच्छले

सेवाश्रवणादिकमपि न सिध्येदिति भावः । ननु ते व्रीहेश्च अपि भवन्तु, स्वस किं दूषणमित्यत आहुः स्वयं चेति । ते विषयाक्रान्तास्तत्सद्भात् स्वयं च तद्वैविध्यविषयै रूपादिभिराक्रान्तो लुब्धः सन् पाखण्डी वेदविरुद्धविषयभोगकर्ता भवेदित्यर्थः । ननु दृढचित्तः कथमेवं भवेदित्यत आहुः कालत इति । कलिकालस्यादाव्यसम्पादकत्वादिति भावः । साधनदशायां कालस्य प्रचलत्वा-
 त्प्रिश्चितमेव स्यादिति पक्षान्तरनिरासकस्तुशब्दः । मार्गादिसहभावे विषयाक्रमणेपि पाखण्डित्वं तु न भवेदिति भावः । ननु निषिद्धविषयाक्रमणे भवतु नाम वेदमार्गविरोधः, स्वमार्गायफलस्य तु विष्यसृष्टत्वात् तत्र किं बाधकमित्याशङ्क्य स्वमार्गविरोधमप्याहुः विषयेति । स्वकीयैरनिषि-
 ष्टैर्विषयैरन्तःकरणमेवाक्रान्तं भवति । तदपि देहेन्द्रियप्राणानामनाक्रान्तत्वात् तैः सेवाश्रवणादि-
 करणे निवर्तेत । तदा नित्यमगवदावेशो भवेत् । परकीयैर्निषिद्धैस्तु दुर्लभत्वेन निरन्तरभाषनया
 द्देहैरदृष्टजनकैः प्रतिलोभ्येन देहपर्यन्तमाक्रान्तं भवति । तथा च देहपदेनेन्द्रियप्राणान्तः-
 करणानामाक्रमणं कैमुत्तेन सूचितम् । तादृशानां सर्वस्यापि सदातस्य विषयाक्रान्तत्वेन सेवाश्र-
 वणमवात् तैर्विषयं यान्तीति स्युत्पत्त्या विषयैर्मृत्युरूपं दुःखमेव भवेत्, न तु दुःखहर्तुरावेशेना-
 मृत्युरूपमगवदानन्द इति भावः । सर्वदेति । एवमपि गुणगानादिना तत्काले कदाचिद्भग-
 वदावेशो भवेदपि, न तु सर्वदा । तादृशस्तु कादाचित्कत्वेनागन्तुकत्वादसमर्थ इति भावः ।
 उपसंहरन्ति अतोऽत्रेति । अतो भगवदनावेशादेव हेतोरत्र मार्गं साधनमक्तिसिद्ध्यर्थं
 परित्यागो न भगवदानन्दप्रापकः, किन्तु मृत्युरूपदुःखप्रापक इत्यर्थः ॥ ३-६ ॥

द्वितीयदलानुभवाय फलानुभवकाले त्यागाम्यनुज्ञानाहुः चिरहेति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।

स्वीयवन्धनिष्टुच्यर्थं वेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।

भावो भाषनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथास्यारुध्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।

ज्ञानं गुणाश्च तस्यैषं वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।

भाषना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

यद्विष्येत्प्रकटः स्वात्मा यद्विष्यत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदेव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

गुणास्तु सद्गुरादित्याञ्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्यागान्न बाधक इष्यते ।

स्वार्थ्ययाफयं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोपं परित्यागः प्रेम्णा सिष्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

पूर्वसंयोगव्यावृत्त्यर्थं तु शब्दः । सुप्रप्रदुःखन्यायेन । तदनन्तरं जातस्तु संयोगो विर-
 हाभिन्न एव, तदर्थं परितस्स्यागो देहेन्द्रियादीनामप्यनुसन्धानरूपः । प्रकर्षेण गुरुरूपदेश-
 भार्याम्यनुज्ञादिव्यतिरेकेणैव फलसाधकत्वेन शक्यते । तर्हि वेपेपि तथा न स्यादित्यतस्त-
 व्ययोजनमाहुः स्त्रीयेति । यहिस्तथावेपामावे स्त्रीयानां भार्यादीनामन्तःकरणधन्यो
 वासनारूप एतस्मिन्निष्ठेदेव, वेपे तु कृते अयमस्मदुपयोगानर्ह इति ज्ञानेन स्त्रीयानां
 वासना एतस्मान्निवर्तेतेति तदर्थं स थिदण्डिवेपोत्र मार्गे शक्यते इति पूर्वोक्तान्वयः । न
 चान्यथेति । फलार्थं चकारात् साधनसिद्धयर्थं च नेत्यर्थः । ननु गुरुरूपदेशमावे 'यस्त्वि-
 च्छया कृतः पुम्भि'रिति वाक्याद्धर्माभासत्वेनाधर्मवत्त्वमेतस्य स्यादित्यत आहुः कौण्डिन्य
 इति । कुण्डिने भवा कौण्डिनी, आयनहिपी । तत्प्रधानत्वात् तस्या एव सर्वशक्तिवत्त्वात्
 सर्वा एव महिष्यः कौण्डिन्यः । तथा च कौण्डिन्यो गोपिकाभेति वाचिककायिकतिरोधान-
 द्वयजनितद्विविधविरहानुभवविशिष्टं गुरुद्वयमित्यर्थः । तथा च तयोर्नियामकत्वात् स्वप्नाकृति-
 रूपो दोषः । ननु तत्कृतोपदेशासम्भवात् कथं गुरुत्वमत आहुः साधनं चेति । तत् एत-
 द्वये निरन्तरभावनया सिद्धं स्यापिभावरतिरूपं क्रमेण तिरोधानद्वये वचनैः स्वरूपेणोक्तं
 सत् साधनम् । चकारात् फलमपि तत्र सिद्धो विरहानुभव एव । तथा च साक्षादुपदेशा-
 भावेपि साधनफलमोक्षकत्वात् गुरुत्वमिति भावः । नन्वेवं साधनसाध्यत्वे 'नापमास्ते'ति
 वाक्यविरोध इत्यत आहुः भाव इति । भावनया चर्चणया सिद्धं स्यापिभावरतिरूपं विरहानु-
 भवस्य साधनं वरणादन्यत्रवचनदिरूपं नेष्यते, किन्त्वित्दं सर्वं वरणान्तःपालयेति न पूर्वोक्त-
 वाक्यविरोधः । ननु विरहे विकलत्वान्नास्त्याभ्यां दुःखानुमानात् कथं फलत्वम् ? आनन्दस्यैव
 फलत्वादित्यत आहुः विकलत्वमिति । एतद्वयमन्तःस्थितस्य विरहात्मकसानन्दरूपस्य
 भगवत् एव प्रकृतिः स्वभावो धर्म इति यावत् । न त्वानन्दतिरोभावेन दुःखरूपायाः प्रकृतेर्धर्म
 इत्यर्थः । तादृशे दुःखधर्मत्वं नोचितमिति हि शब्दः । एवं सर्वदा द्वितीयदलानुभवे पूर्वदला-
 नुभवत् पूर्णरसानुभवो न भवेदतः पूर्वदलानुभवमाहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं 'तद्दृष्ट्वा भगवान्
 कृष्णः प्रियायाः प्रेमवन्धन'मित्यत्रोक्तं प्रेमवन्धनदर्शनम्, गुणा ऐश्वर्यादयश्च क्रमेण तस्यैव
 वर्तमानस्य गुरुद्वयस्य वापकाः, पूर्वानुभवं नाधित्वा पुनः संयोगरसानुभावका इत्यर्थः ।
 तत्र प्रकारमाहुः सत्येति । ज्ञानात् तत्पूर्वोक्तात् सत्यसाक्षरब्रह्मणः श्रीवत्सस्य लक्ष्म्याश्च
 लोके विशाले स्थाने बद्धसि स्थितिः 'आलिप्य बाहुना राज'नित्यत्रोक्ता भवति । नन्वेवं
 प्रकारं ज्ञानं तु पूर्वमप्यासीदतः कथं पूर्वं तिरोभावसम्पादनमत आहुः संन्यासेनेति ।
 सम्यक् न्यासेन विरहे देहेन्द्रियाद्यनुसन्धानेन विशेषितं प्रेमवन्धनज्ञानं जातमित्यर्थः ।
 नित्यज्ञानवत्त्वेपि रसमार्गस्य भगवतो रसमर्यादवैव ज्ञानोद्बोध इति सिद्धान्तात् ।
 नन्वेतादृशज्ञानस्य सत्यलोकस्थितिरूपस्य फलस्य चायमहिष्यामेवोक्तत्वात् कथं सर्वासां
 गुरुत्वमित्यत आहुः भावनेति । पूर्वोक्तं भावसाधकभावनारूपं साधनं तथा आयमहिपी-
 सद्यं यत्र भक्तेषु भवेत् फलं चकारात् तत्साधनं भावश्च तथा पूर्वसदृशं विरहानु-

भवरूपं यत्र भक्तेषु भवेत् तादृशा भक्ताः महिषीरूपाः सत्यलोके आदिपदेन 'तासु-
 त्याप्य चतुर्भुज' इत्यत्रोक्तोन्थापनकेशसमूहनवक्रमार्जनादिना मुजादिषु च तिष्ठन्त्येव, ताव-
 त्सिद्धौ तावदपि युक्तमेवेत्येवकारः । तत्रैवाधान्यासामपी'त्यतिदेशादन संशयो न कार्य
 इत्याहुः न संशय इति । ननु पूर्वमपि सयोगस्य विद्यमानत्वात् कथं विरहानन्तर जात-
 सैव फलत्वमत आहुः चहिरिति । स्वस्य भक्तस्यात्मा भगवान् वाचिकतिरोधानलीलाया
 बहिः प्रकटो भक्तस्वरूपाद्दहिर्भूतो भिन्नश्चेत् सन् पुनर्भक्तस्वरूपे प्रविशेत्, सत्यलोकादी
 तत्स्थापनेन तत्प्रत्यङ्गेषु समुत्पन्न स्थितो भवेत्, तदैव सकलो देहेन्द्रियादिषु वासनारूप
 आध्यात्मिकोपि बन्धो नाशमेति, नान्यथा तिरोभावातिरिक्तप्रकारेण न भवतीत्यर्थः । विर-
 हेतितोषेन देहेन्द्रियाननुसन्धाने सर्वाशेन तद्वासनानिवृत्तिः, तदनन्तर सयोगेप्याध्यात्मिका-
 विद्याया निवृत्त्यादेहेन्द्रियादिकमात्मा च भगवदीयत्वेनैव प्रियो भवति, भगवानपि भगवत्त्वे-
 नैषेति मुख्यो निरोधो सिद्धो भवतीति पूर्वसंयोगेप्याध्यात्मिकबन्धस्य विद्यमानत्वान्न तस्य
 फलत्वम्, किन्त्वस्यैव निरोधस्यैव फलत्वादिति भावः । तत्र दृष्टान्तः बह्विषदिति । यथा बह्वि-
 र्मथनेन काष्ठाद्दहिर्भूतः सन् पुनः काष्ठे यदा प्रविशति तदा काष्ठांशं निवर्तयति तथेत्यर्थः ।
 एव वाचिकतिरोभावे षषसोत्कटेन भावेन विरहानुभवः, ज्ञानेन सयोगानुभवः, पुनरेवमिति
 पौरोपर्येषणं दलद्वयानुभव एव, नान्यायस्येति प्रथमगुरौ साधन फल चाभिहितम् ।
 द्वितीयगुरौ वाचिकतिरोभावे स्वरूपेणोत्कटेन भावेन विरहानुभवः, गुणैः सयोगानुभवः,
 सयोगेपि न विरहबाध, विरहेपि न सयोगबाध इति सार्वदिकशषलितरसातुभव
 इति । ततोपि निश्चिष्ट साधन फल चेत्यभिप्रेत्य पुनः पूर्वदलानुभावे साधन दलस्वरूप
 चाहुः शुण्णास्त्विति । पूर्वं गुरौ ज्ञान सर्वाशेन विरह बाधित्वा सयोगानुभावकमुक्तम्, न
 तथा शुणा अनेति तुशब्दः । किन्त्वैकाशेन विरह बाधित्वा सयोगानुभावका इति ।
 सद्ग्राहित्वादेहेन्द्रियादिभिर्भयः सद्ग्राहित्वात्तत्तिरोभावादेतोः स्वयमेव देहेन्द्रियादिरूपा
 भूता फलानुभवाय जीवनसम्पादनार्थं साधनरूपा भवन्ति । न तु सर्वथा विरहबाधिका इत्यर्थः ।
 निरद्वेषात्सुषुप्तमदिना देहेन्द्रियादितिरोभावे भगवद्गुणा एव तत्रैवा नूत्वा तत्र स्थिता इति चतु-
 र्थाध्याये निरूपितम् । अत एव परमाध्यायेपि गुणरूपा एव ता इति निरूपितम् । तथा च
 सद्गमेपि निरद्वेषात्सुप्तदिच्छासत्त्वेन न सर्वथा विरहबाधः । अत एव सद्गमेपि 'दिरक्षितदृशो-
 न्यगम'द्विनि वाच्यम् । निरद्वेषान्तरमगान्त्र सर्वथा सयोगबाधः । अत एव 'वर्णयन्सोभिरसिरे'
 'रमिरेहसु तच्चिता.' । 'निशोका अहनी निन्सु' इत्यादिवाच्यानि । एव शनलितरसातुभवः सर्वदा,
 न त्वेकरुचबाधः । अत्र कदाचिद्विद्यापूर्तिप्रलापादिभावा अपि जायन्ते । उद्धवोपदेशानन्तरभावे
 तु सर्वदैव भवेति तस्यात्यन्तिकत्वम् । ननु विरहभावन्य प्रनलन्वाहृषीर्वाधामम्भवेपि भगवान्
 न्यसत्त्वेन तद्वासनापकः स्यादित्याशङ्क्याहुः भगवानिति । भगवानुभवकलरूप इति स्वरूपतो
 नेहपरबाधकः इत्यपने, किन्तु वाच्यं न्यास्पजनक विरहभावनियतक 'मयापरोक्ष भजता
 तितोद्वि'भियादिरूप पदति । तास्य वाच्यं तु एताभिर्न कर्तव्यं न मन्तव्यः, 'स्वागन व' इत्यादि-

वाक्यवत् । एतासां स्वरूपमात्रनिष्ठत्वाद्वाक्यैः पूर्वभावोपमर्दो न भवतीत्यर्थः । ननु दलयो-
रुभयोर्विरुद्धत्वादेकदेशेवोभयदलरूपो भगवान्मर्यादाया विरुध्यत इत्यत आहुः दद्यात्तुरिति ।
भगवानेतासु दयालुरतो दयाया शब्दितपूर्णसदित्सया मर्यादाभङ्ग्यतिक्रम्य लीलां करोति ।
अतो न विरुध्यते, विरोपविषयो न भवतीत्यर्थः । ननु विरुहभावात् पूर्वम'प्यात्मारामोप्यरी-
रम'दिति प्रकारकभावस्य जातत्वात्तदैव देहेन्द्रियादितोभावरूपः परित्यागः कुतो न सम्पन्न
इत्यत आहुः दुर्लभ इति । अयं पूर्वोक्तः परित्यागो दुर्लभः, दुःखेन विद्योगालकेन लभो लाभो
यस्य तादृशः । तत्र हेतुः । प्रेम्णा भावनासिद्धेन रत्याख्येन सिध्यति, नान्यथा, प्रकारान्तरेण
न सिध्यति । तादृशप्रेमोक्त्यं तु विरहात्मकदुःखे एव भवति । अतो दुर्लभत्वात्तत्र विद्योगात्
पूर्वं तत्सिद्धिरित्यर्थः ॥ ७-१३३ ॥

ज्ञानमार्गीयं निरूपयन्ति ज्ञानमार्गं त्विति ॥

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।

पापण्डित्वं भवेद्यापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रवृत्त्वादिति स्थितिः ॥ १६३ ॥

भक्तिमार्गीयोस्माभिर्विचारितः, ज्ञानमार्गीयस्तु प्रमाणगम्यत्वात् तैर्विचारित एव ।
अस्माभिस्त्वनूयते, परप्रीतिविभेदज्ञापनाय तुशब्दः । विविदिपाविद्वेदकेन द्विविधोपि प्रमाणै-
र्विचारितः । साधनमपि विचारितमित्याहुः ज्ञानार्थमिति । भक्तिमार्गीयेण त्यागेन विरहानु-
भवार्थं साधनत्वेन भावः पूर्वमुक्तः । ज्ञानमार्गीयेण 'यदहरेव निरजे'दिति प्रकारेण त्यागेन
आत्मापरोक्षरूपज्ञानार्थं साधनत्वेन उत्तरं मुख्यमङ्गं श्रवणं, तदपि विचारित 'मात्मा वारे द्रष्टव्य'
इति वाक्यादित्यर्थः । पूर्वस्मादेतस्य वैलक्षण्यमाहुः सिद्धिरिति । परमत्र जन्मशतैरनेक-
जन्मभिः सिद्धिर्भवति, तत्र तु न विलम्बः, 'यहन्तां जन्मनामन्ते' इति शान्त्यादिति
भावः । नन्वाधुर्भाग्यकारेण कृते कर्ममार्गीयेषु संन्यासे तुरीयाश्रमे ज्ञानमेवाभिहितम् ।
अतो विशेषाभावात् कर्ममार्गीयोपि कुतो न कर्तव्य इत्याशङ्क्य मार्गद्वयीयज्ञानयोर्भेदार्थं
ज्ञानमार्गीयज्ञानस्वरूपमाहुः ज्ञानं चेति । ज्ञानमार्गं यथाप्रकारेणाधिकारिदेहस्य सिद्ध-
त्वाज्ज्ञानमसिद्धान्माने साधनानपेक्षम्, श्रवणरूपं तु साधनं फलनान्तरीयकत्वात्
फलाङ्गमेव, अत एवोत्तराङ्गमित्युक्तम् । कर्ममार्गीयं तु ज्ञानमस्मिन्नपि जन्मनि साधनापेक्षम्,
गाईस्थे यज्ञादयः कर्माभ्या इति श्रवणाद्भेदोक्तं सम्मतमित्यर्थः । चरत्त्वर्थे, पूर्वज्ञानव्यवच्छे-
दाय । अतः साधनाधीनत्वात् साधनानां कलौ देशादिदोषेणासिद्धत्वाच्चित्तशुद्ध्यभावेन
ज्ञानानुदयान्मया शृण्वैव परित्यागः कृत इत्याकारकपश्चात्तापाय स कर्ममार्गीयः संन्यासो

भवेत् । नान्यथेति । ज्ञानभक्तिप्रकारकस्तु साधनानपेक्षत्वात्तथा न भवेदित्यर्थः । न केवलं पश्चात्तापमात्रं किन्तु दोषसम्बन्धोपि भवेदित्याहुः पापण्डित्वमिति । चित्-चाश्रव्याद्वेदविरुद्धकार्यकर्तृत्वमपि भवेत् । कदाचिदोपाभावेपि पाक्षिकदोषसम्भावनाया विद्यमानत्वात् फलसिद्ध्यभावाच्च न कर्तव्य इति चकारः । पूर्वोक्तपश्चात्तापसमुच्चयार्थमपि-शब्दः । तस्मादेतोज्ञाने साधनानपेक्षज्ञानसिद्धयर्थं न संन्यसेत्, संन्यासं न कुर्यादित्यर्थः । ननु कालदोषा इव कर्माणि प्रमाणसिद्धमतः कालेन कथं कर्मबाध इत्यत आहुः सुतरामिति । कलिदोषाणां सुतरां कर्मापेक्षयापि प्रचलत्वात् । काले कर्मविधाने कर्मणः कालाधीनत्वात् कालस्य कर्मापेक्षया प्रचलत्वम् । 'इम्यनुसारी'त्यारम्य 'योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैत' इति सूत्रेण कर्मणि कालबाधस्य न्यवस्थापितत्वादिति स्थितिरित्युक्तम् ॥ १५-१६३ ॥

ननु तत्र तु ज्ञान एव कालानपेक्षोक्ता । अतः कर्मणीव मक्तावपि कालबाधः प्राप्त इत्याशङ्क्य तत्समाधानमाहुः भक्तिमार्गोपीति ।

भक्तिमार्गोपि चेदोपस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः बेनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरथ न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालाग्र स्तन्यैः पुपुषुः फनित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः म्रियञ्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्याहुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

किं कार्यं, भक्तिमार्गोपैव स्येयं, तं मार्गं परित्यज्य ज्ञानमार्गो वा आश्रणीय इत्याश-
ङ्कायां समाधानमुच्यते । व्यासस्य ज्ञानावतारत्वेन ज्ञानरूपत्वात्तन्मार्गसमाधानं व्यासि-
रुक्तम् । अस्माकमासत्वेन भक्तिरूपत्वाद्भक्तिमार्गसमाधानमस्माभिरुच्यते इत्यर्थः । तत्र
ज्ञानमार्गं फलदशायामेव बाधाभाव उक्तः । अत्र तु साधनदशायां फलदशायां च तथेति
ततोपि वैशिष्ट्यबोधनार्थं पूर्वं साधनदशायां बाधामावमाहुः अत्रेति । आरम्भे साधन-
दशायामित्यर्थः । बाधो हि स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेति । तत्र प्रथमं स्वरूपतस्तदभाव-
माहुः न नाशः स्यादिति । भगवतः सर्वतः प्रचलस्य रक्षकत्वान्न भवत्येवेति सादिति
विधिरुक्तः । फलतस्तदभावमाहुः दृष्टान्तस्येति । फालदष्टो यः अन्तः फलं तस्याभावात् ।
सदृष्टमेव हि फलं कालेन नास्यते, इदं तु फलं काल्यतीतम्, अतः कथं फलनाशद्वारा
श्रवणादिसाधननाशः कालेन कर्तुं शक्यतेत्यर्थः । साधनतस्तदभावमाहुः स्वास्थ्येति ।
कालकृतनाशस्य निवृत्तित्वात् स्वं कालकालस्यैव श्रवणादीनां नाश इति यावत् । सर्वमेव
नष्टं सत् कालस्यं भयति । तादृशनाशस्य हेतुर्विषयादिः । विषयोपाधिकमेव श्रवणादिकं नाश-

प्रतियोगि भवति, न तु भगवदीयम्, स्वास्थ्यस्य नाशस्य हेतोर्विषयादेः परित्यागात् स्थितस्य च भगवति समर्पणादित्यर्थः । भगवदीयो विषयस्तु स्थितोपि कालेन नाशयितुमशक्य इति साधनतोपि नाशाभाव उक्तः । अतः प्रकारत्रयस्याप्यभावादस्य साधनभूतध्वपादेः कालकृतो वाधः केन प्रकारेण सम्भवेदित्यर्थः । फलस्य तु वाधः सम्भावयितुमपि न शक्य इति तत्र कैमुत्यमाहुः हरिरत्रेति । दुःखहर्तृत्वेन सर्वात्मना विरहे वाधितुगुचितोपि तद्वा-
वसापि भगवद्रूपत्वेन प्रयत्नत्वात्तद्वाधां कर्तुं न शक्नोतीत्युक्तम् । अपरे कालादयः कुतो हेतोः करिष्यन्ति, एकंशेनापि वाधहेतुभूतयोर्ज्ञानगुणयोरपि कालायतीतत्वात् कुतो हेतोरि-
त्युक्तम् । भगवान् संयोगं पुनरनुभावयितुं तं भावमेकंशेन ज्ञानगुणान्यां वाधयति, सर्वा-
शेन तु वाधनेऽशक्तः । कालादयस्तु वाधहेतोः संयोगरूपफलस्य ज्ञानगुणरूपस्य साधनस्य च स्वागम्यत्वात् कुतो हेतोरैकंशेनापि वाधितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः । एवं भगवतोऽशक्तौ स्वरूपमेव हेतुरिति दृष्टान्तेन बोधयन्ति अन्यथेति । भगवतो वाधकत्वे मातरो न पुपुपुरित्वमि स्यात् ।
तथा च यथा मानुस्वरूपस्यैव तथात्वान्मातरो बालान् स्तनेन पुपुपुरित्वसम्भावितम्,
तथा भगवत्स्वरूपस्यैव तथात्वाद्भगवता सर्वांशेन भावसाधनमप्यसम्भावितमिति विन्व-
प्रतिविन्वभाषसिद्ध्या दृष्टान्तालङ्कारसिद्धिः । ननु 'तर्हि भवतीनां वियोगो मे न हो'त्यादीना
कथं विरहाभावबोधनमित्यत आहुः ज्ञानिनामपीति । ज्ञानिनां ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयाणामपि
सम्बन्धिना तादृशवाक्येन भक्त ज्ञानांशरहितं शुद्धभक्तं न मोहमिष्यति, पूर्वसिद्धविरहानुभव-
रहितं न करिष्यति । ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयाणामेव तादृशीर्वाक्यैर्विरहवाधो भवति । एतासां
तैर्वाक्यैः प्रसृतस्य भाव उक्त्यो जातः । एतच्च विवृतं तत्रैव । ननु ज्ञानिन इव भक्तमपि कुतो न
मोहयति, अशक्तावपि तुल्ययत्नत्वादपिकप्रयासेन तत्सम्भवादिवाशङ्क्य तत्र प्रयोजनाभावं हेतु-
त्वेनाहुः आत्मप्रद इति । ज्ञानमिश्राणां विरहे विप्रयोगरसात्मकस्य स्वरूपस्य न प्राकट्यम्,
अत आत्मनः स्वरूपभूतस्वानन्दस्य दानार्थं पूर्वभाव वाधयति । सुखदातृत्वेनैव च प्रियः,
अतो दुःखावाधे प्रियोपि न स्याद्, अतः पूर्वं वाधयतीत्यात्मदाने प्रीतिरूपप्रयोजनद्वयं भगव-
न्निष्ठं भक्तनिष्ठं च निरूपितम् । एतासां तु विप्रयोगरसात्मकस्वरूपानुभवान्निष्ठेपि भगवान्
आत्मप्रदः । निरुपाधिकप्रीतिविषयत्वात्तादृशदुःखेपि प्रियः । अतः प्रयोजनद्वयस्य तदापि
सिद्धत्वात् किमर्थं कस्मै प्रयोजनाय मोहविष्यतीत्यर्थः । तत्र 'नीलाम्बुदस्यामो हृदयाद-
पसरत्वि'त्यादिनोक्तोपि भावो जायते इति चकारः । परं तस्य व्यभिचारिभावत्वाच्च स्वायि-
भावरूपप्रीतेर्ज्ञानिः । तादृशस्वरूपदानेपि प्रीतिसूचनायापिशुद्धः । एवं गुरुद्वये सिद्धं सर्वं
निरूपितम् । तत्राधुनिकस्य यावत्कर्तव्यं तदाहुः तस्मादिति । यतो भक्तिमार्गीयस्य न
वाधस्तस्माद्धेतोरुक्तेन गुरुद्वये सिद्धेन प्रकारेण परित्यागो विधीयतामित्यनुज्ञा । गुरौ दल-
द्वयमुक्तम् । तत्रैकदलार्थं तत्सम्पादकः परित्याग आधुनिकेनापि कर्तव्यः । अपरस्य तु दलस्य
तत्र सिद्धस्य नाधिकार इति तदाकाङ्क्षायां वाधकमाहुः अन्यथेति । परित्यागादन्यप्रकार-
करणे इत्यर्थः । अपरदलेच्छायामपि स्थस्मिन् सिद्धादर्थोत् फलाद्भयते, ततोप्यधः पतती-

त्यर्थः । अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येवेत्यवधारणात् । एतस्य फलान्तरविचारस्य प्रमाणा-
गम्यत्वात् स्वसंवाजसत्वेन भक्तिरूपस्य भवेः सम्पत्तिमाहुः इति मे निश्चिता मतिरिति ।
उपसहरन्ति इति कृष्ण इति ।

इति कृष्णप्रसादेन बह्वभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासचरणं भक्त्यावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

कृष्णस्य प्रसादेन कृष्णेन तन्मैव बह्वभेन कर्मा विनिश्चितं, भक्तौ फलरूपभक्तिविद्वह-
र्धम् । संन्यासो त्रियते स्वीक्रियते अनेन करणेन तादृशो विचारः संन्यासचरणम् । इति
समाप्तमित्यर्थः । 'अत आदौ भक्तिमार्गं कर्तव्यत्वाद्विचारेण'त्यनेन भक्तिमार्गाधिक्येन तात्पर्य-
त्रिपयत्वेनोपशान्तत्वात्तेनैवोपसहारः । म्यनिश्चितमिदमेव । ज्ञानमार्गाद्य तु प्रमाणनिश्चितमेव,
न्ययमनूदित परमिति भावः । अन्यथाकरणे बाधरूपाहुः अन्यथेति । स्वयं निश्चितात् फल-
मार्गाद्यादनुदिताय ज्ञानमार्गाद्यादन्यथा साधनमार्गप्रकारेण कर्ममार्गप्रकारेण वा करणे तस्मात्
साधनात् पतितो भवेत्, निरुद्धाचरणात् स्वयमेव पतितो भवेत् । ननु भगवांस्तत्पातक इति
छेदो स्तामिनामग्रहणस्य हेतुत्वेनापुक्तत्वात् कर्मपदमित्यनेन मृत्रवान्यनिवरणे प्रगृह्णा भक्ति-
मार्गमयीदा सूचिता । स्वसत्तन्निश्चयस्य सिद्धत्वेपि कारणकर्तृकयनैवैवत्रिपनिश्चये कृष्णप्रसाद
एव साधनम्, तत्रियत्वमेव च स्वरूपयोग्यतासम्पादकमित्यनुग्रहेतरसाधनासाध्यत्वं सूचितम् ।
नन्वेव सति स्वस्य दामत्वगायाति, अत एव ग्रन्थान्तरेपि 'इति श्रीकृष्णदासस्ये'त्युक्तम्,
अन्यत्र च 'वैश्वानरदासपते'रित्यनेनाधिदेविकास्त्व स्वयमेवेत्युक्तम्, अतः कथं विरोधपरिहार
इति चेदुच्यते । यथा भगवतो 'जीवय मृतमिदं दास'मित्यादिवान्यैस्तथात्वमप्युच्यते, तत्र
रसात्मकत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वाद्रसस्य च तादृशत्वाद्दमिमाहृत्मानेनोदयरूपत्वम्, न तु
कसचिदारोपितत्वमिति निर्णयः, तथा प्रकृतेपि रसात्मकत्वेन दास्यरसानुभवार्थमाविर्भाषा-
त्तद्रसस्यैव तथाविधत्वाद्भयरूपत्वम्, न तु किञ्चिदारोपितम्, अतो यथार्थत्वादित्येनासत्त्वात्तद्वा-
न्यमखिलप्रमाणमूर्धन्यमिति तदनुग्रहभाजनैस्वगन्तव्यम् । एवमेवाश्रितुमारचरणेष्वपि भगवत्त्व
'यावन्ती पदपद्मानी'त्यादिपुक्तं तदासीत्वमित्यादिकं यद्यद्रसानुभवे यद्युक्तं तत्तत्सर्वमनारोपि
तमेवेति ज्ञेयम् । एतेन विरुद्धपर्यायत्वकथनेन भक्तेः स्वस्य भगवत्त्वमेव सूचितं
भवति, मानुषभावस्वीकारादनधिकारिणा परं न तथा प्रतीतिरिति विभावनीयम् । पूर्वप्रणि-
पातादिकरणेपि 'न पारयेह'मित्यादिवान्यै भक्तप्रकारक दास्यं न सम्पन्नम्, अत एवमाविर्भूय
ग्रन्थद्रयोक्तप्रकारेण स्तामिनीदास्यरसत्वमनुभूतवानिति भावः ॥ २२ ॥

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मनि । वदनानलदासोक्ता व्याकृति पूर्णतमगात् ॥१॥

इति श्रीविद्वलेशात्मजश्रीबह्वभक्तता संन्यासनिर्णयस्य

चिह्नितः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

संन्यासनिर्णयः ॥

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिसमेतः ॥

निबन्धे 'विदण्डं परिगृहीत सर्वशास्त्रविरोधि तत्' इत्यादिवचनैस्तेत्यात्र विदण्ड-
विषयकेष्टसाधनताभ्रमाद्रभसयज्ञेन पुष्टिमार्गीयोपि तुरीयाश्रमत्वेन विदण्डं गृह्णन् पश्चात्ता-
पमाभ्रयाद्, अतस्तदनुदयाय पुष्टिमार्गसंन्यासस्य विचारमारभन्ते ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

कलिकालजन्यदोषाकान्तत्वात् कर्ममार्गीयस्य विलम्बेन फलजनकत्वात् ज्ञानमार्गीयस्य
च परित्यागस्य सद्योपत्यमुद्भाव्य पुष्टिमार्गीयपरित्यागस्य किं प्रयोजनं, कोत्र गुरुः, किं वा
साधनं, का च परित्यागिनो व्यवस्थितिरित्यादिविचारः क्रियते इत्यर्थः । तथा चैवं विचारेण
परित्यागो निर्णीते सलान्यत्र प्रवृत्त्यनुदयात् पश्चात्तापानुदय इति भावः । स इति । यस्य
विचारः क्रियते स परित्यागो भक्तौ भक्तिमार्गे ज्ञाने ज्ञानमार्गे च कर्तव्यत्वेन प्रोक्त
इत्यर्थः । विशेषत इति । मार्गद्वितयोक्ताचपि ज्ञानमार्गे विशेषत उक्त इत्यर्थः ।
तथा च वेदस्मृतिपुराणेतिहासेषु सर्वत्र प्रसिद्धत्वाद्विशेषेणोक्तः, भक्तिमार्गे तु भगवदनुग्र-
हेकलम्यभजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकविरहात्तुमवार्यं भगवत्कृतपरणरूपस्तद्रसिकेयैव प्र-
सिद्धत्वाद्विशेषेण नोक्त इति भावः ॥ १ ॥

ननु मार्गद्वितयप्रोक्त एव विचार्यते, न तु कर्ममार्गीयः, तथा च तस्याविचारे को
हेतुरित्यत आहुः ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाविचारणा ॥ २ ॥

वस्तुतो ज्ञानमार्गेपि न कर्तव्य एव, अनन्तजन्मभिः सिद्धिसम्भवात्, परन्तु ज्ञानमार्गे
दैवात् ज्ञानसिद्धौ पाश्चिन्त्यपि सिद्धिः, अतः कर्तव्योपि, कर्ममार्गे तु न कर्तव्य एव-
त्याशयेन सुतरामित्युक्तमिति चोच्यम् । तत्र हेतुः कलिकालत इति । कर्ममार्गस्य देश-
कालद्रव्यकर्तृमघादिसापेक्षत्वात् कर्तौ तु देशादीनामशुद्धत्वात् कर्ममार्गीययावत्सदार्थसिद्धिः
कालत्रयेपि पाधितेत्याशयः । तथा च कलिकालजन्यदोषाकान्तत्वेनाकर्तव्यत्वात्तद्विचारोपि
न क्रियते इति भावः । अत इति । सत्तरासन्दिग्धफलजनको निर्दोषोऽवश्यकर्तव्यश्च,
अतो हेतोः ज्ञानमार्गीयपरित्यागविचारात् प्रथमं भक्तिमार्गीयो विचार्यते इत्यर्थः ॥ २ ॥
तत्र प्रथमं परित्यागप्रयोजनं विचात्यन्तः प्रयोजनानन्तरमाशङ्क्य दूषयन्ति ।

श्रवणादिप्रसिद्धार्थं कर्तव्यञ्चेत् स नेप्यते ।
 सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
 अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मश्च विरोधतः ।
 गृह्णदेर्वाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
 अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
 स्वयं च विषयाक्रान्तः पापण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
 विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
 अतोऽथ साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

प्रेमजनकश्रवणादीनां गार्हस्थ्ये व्यासज्ञान्तरेण सम्यगसिद्धेः, प्रकर्षेण सिद्धयर्थं परित्यागः कर्तव्य इति पक्षो नेष्ट इत्यर्थः । अनिष्टत्वे हेतुमाहुः । श्रवणे सहायाः श्रवणकारयितारः तत्सङ्गसाध्यत्वात् श्रवणसेत्सर्थः । तथा च परित्यागे सर्वसङ्गराहित्येन स्थितिरपेक्षितेति भावः । ननु मास्तु श्रवणार्थं, कीर्तनस्मरणादिनिमित्तपरित्यागे को दोष इत्यत आहुः साधनानामिति । कीर्तनस्मरणादिसाधनानां बाधनसादीनां प्रेमाभावात् स्वतोऽप्रवर्तमानानां प्रयत्नेन कीर्तनस्मरणादिषु रक्षणात् स्थापनात् प्रवर्तनादिति यावत् । तथा च स्वतः प्रवृत्तिरहितानीन्द्रियाणि बलेन प्रवर्तनाद्विक्षेपमासादयन्तीति भावः । एवं पादसेवनादिषु सर्वत्रेन्द्रियप्रवृत्तौ स्वयमूहम् । दार्ढ्यार्थं हेत्यन्तराण्याहुः अभिमानादिति । मया सर्वं परित्यक्तं, मत्समः कोपि नास्तीत्येवमादिरूपाद् गर्षादित्यर्थः । तथा चैवं गर्षे सति सर्वेषामुद्देगजननात् पेक्षिको वेदस्मृत्यादिनिन्दनात् पारलौकिकशोषप्रवृत्ति इति भावः । नन्वभिमानत्यागे को दोषोत आहुः नियोगादिति । ईश्वराज्ञालक्षणदेहादेरित्यर्थः । तथा च वेदादिप्रसिद्धयतिधर्मानुष्ठाने सति अनुष्ठानरूपन्यासज्ञात् श्रवणस्य सम्यगसिद्धिः, तदनुष्ठानाभावे त्वाद्भ्रष्टपतित एव स्यादिति नियोगादुपपन्न इत्यर्थः । ननु 'सापत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विचेत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायत' इति शाक्याद्भगवदीयैकसङ्गः सन् श्रवणादीनि कुर्वीतः सत्सङ्गवशात् शनैः शनैः स्वतः प्रवर्तमानेन्द्रियो गर्वमन्यकुर्वन् उक्तवाक्याप्यतिधर्मानपि नानुतिष्ठन् सत्सङ्गातिरिक्तं सर्वं परित्यजेत्तदा को दोष इत्याशङ्क्याहुः तद्धर्मैरिति । पुष्टिमार्गीयपरित्यागधर्मैरित्यर्थः । तथा च पुष्टिमार्गीयरसिकानुभवैकसाक्षिकमगवद्भरणरूपपरित्यागे भावनासिद्धभावातिरिक्तान्यत्साधनानामनभिमत्त्वात् भावपोषकविरहानुभवातिरिक्तयावत्पदार्थस्य व्यासज्ञान्तजनकत्वेन तत्तदनुभवसाक्षिकभावरूपैः प्रकृतपरित्यागधर्मैः विरोधात् परित्यागकारणीमूतप्रेमजनकश्रवणादिप्रसिद्धयर्थं कर्तव्यो नेत्याशयः । तथा च विचारसारन्धत्वात् प्रकृतप्रयोजनकातिरिक्तपरित्यागकथनम्, अस्तुतस्तु विरहानुभवातिरिक्तप्रयोजनकः परित्यागः पुष्टिमार्गीयमत्तानां बुद्धिस्त्वोपि न प्रभवति, कुतोऽस्य कर्तव्यतेति ध्येयम् । ननु भावविरोधित्वान्मास्तु श्रवणाद्यर्थं, परन्तु पुष्टिमार्गीयमकोपदिष्टप्रकारेण साध्यमाने भावलक्षणे चरूपानन्दस्य साधने प्रतिबन्धकीमूतभावादेस्त्यागे को दोष इत्याशङ्क्याहुः गृह्णदेरिति । सा-

घनार्थं साधनं भावस्त्वसिद्ध्यर्थं यदि चेत्तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । तथा च प्रतिबन्धक-
निवृत्तिरवश्यं सम्पादनीयेति गृहादेर्भावोत्पत्तौ प्रतिबन्धकत्वेन चेत् परित्यागो भावरूपसाधन-
सिद्ध्यर्थमिति भावः । दोषमाहुः अत्रेपीति । तादृशीर्भावसिद्धौ प्रतिबन्धकैरेवेत्यर्थः । तथा च
कृतेपि भेषजे न क्षान्तो व्याधिरिति न्यायापात इति भावः । नान्यथेति । ये अन्यथा अतादृशा
अपाधकाः साधका इति यावत्कैः सङ्गो न भवतीत्यर्थः । तथोक्तं निबन्धे विवृत्तौ 'सन्ति प्रह्वभाषं
प्राप्ता नत्वेतादृशा मक्ता' इति । यद्यपि 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति निबन्धे प्रोक्तं, तथापि स परि-
त्यागः पूजानिर्वाहजनकत्वेनोक्तः, न त्वेतदेहावसान एव भजनानन्दरूपफलार्थमिति पूजानि-
र्वाहको भिन्नः, अर्थं च भिन्न इत्यनुसन्धेयम् । तथा च पूजानिर्वाहके तु सहायसङ्केत्यादिनो-
क्तमेव दूषणमित्यपि ध्येयम् । तर्हि प्रकृतगृहादिपरित्यागस्य का गतिरिति चेत्, न । प्रकृते तु
गृह एव तिष्ठन्नविरतमेव तन्मार्गीयोपदिष्टप्रकारेण भावनां कुर्वाणः सिद्धभावलक्षणसाधनः सन्
गृहादि सर्वं परित्यजति विरहानुभवार्थं, न तु साधनसिद्ध्यर्थमिति सर्वमवदातम् । ननु याधकं
गृहादि परित्यज्य सर्वसङ्गरहितः सन् भावनाया भावलक्षणं साधनं साधयेत्तदा को दोष इति
अत आहुः स्वयं चेति । आहारादिविषयाप्राप्त्या क्लिष्टः सन् तदेव ध्यायन् विषयाक्रान्तः
स्यात् । ततो मनसेन्द्रियायां स्मरन् मिथ्याचारपदान्यः पापण्डी तु भवेत्, तथा च
भावरूपेष्टसिद्धिस्तु दूरे, प्रत्युत्तानिष्टसिद्धिरिति भावः । नन्विन्द्रियनिग्रहे सर्वमुपपद्यत इत्यत
आहुः कालत इति । कलाविन्द्रियनिग्रहस्य दुःसाध्यत्वादित्यर्थः । विषयाक्रान्तत्वे पापण्डि-
त्वम्, एकमनिष्टमुक्त्वा द्वितीयं यल्लवनिष्टमाहुः विषयाक्रान्तेति । देहो लिङ्गशरीरं तस्य
मोक्षपर्यन्तमनवतमुपचीयमानत्वादेहपदेनोक्तिः, एवञ्च लिङ्गशरीराभ्यक्षत्वेन (अभ्यस्तत्वेन)
तदभेदं मन्यमान आत्मैव (देह) पदेनोच्यते, तथा च विषयाक्रान्तात्मना भगवदावेशः
संहरन्ति अतोत्रेति । यत् उक्तदूषणानि अतो भक्तौ श्रवणादिसिद्ध्यर्थं अत्र साधने
अनन्यभावलक्षणसाधनसिद्ध्यर्थं च परित्यागो नैव सुखावह इत्यर्थः ॥ ३-६ ॥

एवं प्रयोजनान्तरेण प्रयोजनान्तरकृतपरित्यागे च दूषणमुक्त्वा प्रकृतप्रयोजनमाहुः ।
विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं धेपः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता सुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनाया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य पापकाः ॥ ९ ॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा बहिवत्प्रविशेद्यदि ॥ ११ ॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

शुणास्तु सद्गुरादित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥

भगवान् फलरूपत्याग्रात्र वाधक इष्यते ।

स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दग्गालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥ १३ ॥

निरोधलक्षणे 'हरिमूर्तिः सदा ध्येया सद्गत्पादपि तत्र ही'त्याद्युक्तप्रकारेणान्तररम-
यान्त-पातिसयोगविशेषानुभवेनोत्पद्यस्योत्कण्ठानिशेषस्य निपयीभूतानां भगवत्स्वरूपनिष्ठतत-
त्पदार्थानामनवाप्तेर्भवति हि चिरहस्तदनुभवाय परित्यागः प्रशस्त इत्यर्थः । प्रयोज-
नमुक्त्वा प्रकारमाहुः । अत्रास्मिन् परित्यागे वेदादिषु प्रसिद्धः स वेशो बन्धुजनकृतनन्य-
माशनिमित्तत्वेनैव स्वीकार्यः, न तु सस्कारत्वेनेत्यर्थः । कापायदण्डादिधारण सत्ययोजन
चोक्त्वा गुरुमाहुः । भगवदर्थमेव सर्वनिपयसजनात् कौण्डिन्यो गुरुः, गोपिकास्तु
सर्वप्रकारेषु गुरव इत्याशयः । गुरुमुक्त्वा साधनमाहुः साधनं चेति, । तत् पुष्टिमार्गीय-
रसिकेषु प्रसिद्धमित्यर्थः । किं तदत आहुः भाव्य इति । ननु भावे किं साधनमित्याकां-
क्षायामाहुः भावनयेति । भावे भावनेव साधनम्, अन्यत् साधनान्तरं तद्रसिकसम्मत
नेत्यर्थः । तथा च ज्ञानमार्गीयपरित्यागे श्रवणमननादिभिरुत्पन्न ज्ञान मोक्षे साधनं, तथा
भावनया सिद्धो भावः स्वरूपानन्दे साधनमिति भावः । साधनमुत्स्वेदानीमस्य ज्ञानिस-
दृशी दशान्यादृशी वेत्यत आहुः । विकलत्वमात्माधनुसन्धानराहित्यम् । अस्वास्थ्यमभिल-
षिताधीनवापेयावद्विषयनिर्वेदादनिवृत्तिरिति यावत् । तथा च सद्गल्पप्रतिभाते भगवति
जातसु चक्षुरागचित्तासङ्गसङ्कल्पनिद्राच्छेदतनुतात्रिषयनिवृत्तिरपानाशोन्मादमूर्च्छान्तासु नव-
स्वस्वासु विषयनिवृत्तिपर्यन्तानामस्वास्थ्यपदेन उपानाशोन्मादमूर्च्छानां विकलत्वगि-
त्यनेनोक्तिरिति ध्येयम् । एव च अस्वास्थ्य विकलत्व च भावनासिद्धभाववतः प्रकृतिः
स्वभावः स्वाभाविकमिति यावत् । हि निश्चयेन प्राकृतं न, प्राकृताः सत्त्वरजस्तमोगुणास्त-
त्सम्बन्धि न भवतीत्यर्थः । ननु गुणजन्यज्ञानेनापि जडोन्मत्सदहव्यवस्थाजननात् भवति
विकलत्वम्, तथा तमोगुणजन्यप्रमादमोहाज्ञानैरपि तत्रायते । एव रजोगुणजन्यलौकिकवि-
षयलोभे सति लौकिकविषयानवाप्तेरपि सादस्वास्थ्यम् । तथा चैतेपि विकलत्वास्वास्थ्ये प्राकृते
एवेत्याश्रय्याहुः ज्ञानमिति । एव वर्तमानस्य विकलत्वास्वास्थ्यसहितैतादृशभाववतो निर्गु-
णमपि ज्ञान वाधक, शुणा अपि वाधकः, तथा च यद्यप्रतिबन्ध निर्गुण ज्ञान सात्तदैकात्म्य-
स्फूर्त्यादयः, यदि च सत्त्वरजस्वमासि सुमुत्ता सगुणज्ञानलौकिकविषयलोभप्रमादमोहाज्ञा-
नैश्च प्रतिबन्धजननात् अयं भाव एव नोत्पद्येतैतन्न्यथानुपपत्त्या ज्ञानस्य गुणानां चाभाव-
निश्चयाद्विकलत्वास्वास्थ्ययोः प्राकृतत्वं दुर्बचमित्याशयः । न च गतिस्मितप्रेक्षणेत्यादिनिरूपि-
तीकात्म्यस्फूर्तिरपि प्रतिबन्धिकास्त्विति चान्यम् । तस्मात्सत्त्वरसानयिकभावान्तरेण प्रतिबन्ध-

त्वात् । यद्यपि पुष्टिमार्गीयैकात्म्यस्फूर्तिलक्षणं रसान्तःपाति निर्गुणं ज्ञानमप्रतिबन्धमप्रसिद्धमेव,
 तथापि 'मन्त्रिष्ठं निर्गुणं स्मृत'मिति भगवद्वाक्याद्भगवद्विषयकं भगवत्करणारविन्दरूपाक्षरविष-
 यकं च ज्ञानं सत्त्वगुणजन्यमपि ज्ञानं निर्गुणमेव, तथाप्रतिबन्धं सत् प्रतिबन्धकमिति बो-
 ध्यम् । एवं च निर्गुणं ज्ञानं प्रतिबन्धकं यत्र, तत्र गुणानां प्रतिबन्धकत्वे किं वक्तव्यमिति कैमु-
 तिकन्यायप्रदर्शनपूर्वकं गुणानां प्रतिबन्धकत्वाय ज्ञानमित्युक्तमिति विभावनीयम् । ननु रज-
 स्रामसोरासां लौकिकविषयलोभादिजननेन प्रतिबन्धकता, सत्यस्य तु ज्ञानमात्रजननेन कथं
 प्रतिबन्धकतेत्याशङ्क्य मुरीयाश्रमविहितश्रवणादिना सत्त्वगुणोद्रेकात् जातस्य सगुणज्ञानस्य
 मोक्षरूपफलान्तरविषयकेच्छाजननपूर्वकं सत्यलोकलक्षणफलजननात् प्रतिबन्धकत्वमाहुः ।
 विशेषितात् सहकृतादित्यर्थः । नन्वत्र ब्रह्मणा सह मोक्षोपि, ततोर्वाह् महल्लोकीयमुखानुभव
 इति फलद्वयजननेन पुष्टिमार्गादुत्कृष्ट इत्यत आहुः । यत्र भावे यथा भावना कारणं तत्र तथा
 फलमपि स्यात्, तथा च भावनया यथा भावो जन्यते, तथा भावेन स्वफलमपि
 जन्यत इत्यर्थः । एवं च भावनयास्मिन्नेव जन्मति भावो जन्यते यथा, तथा भावेन
 भजनानन्दलक्षणं स्वफलमपि श्वात्स्येतदेहावसानाध्यवहितोत्तरक्षण एव जन्यत इति भावः ।
 एवं भावस्योत्कर्षमुक्त्वा ज्ञानस्वापकर्षमाहुः तादृश्या इति । अप्राप्तमोक्षा एवेत्यर्थः ।
 इत्थं चानेकजन्मक्रियमाणयोगान्यासादिभिर्ज्ञानं विलम्बेन जन्यते यथा, तथा ज्ञानमपि
 ब्रह्मस्वित्तिपर्यन्तं ब्रह्मलोके स्थापयित्वा ब्रह्मणा सह मोक्षजननादिलम्बेनैव स्वफलमपि जनय-
 तीत्येवमादिरूपाद्भावात् भावसाधनात् भावफलाय स्फुटतर एव ज्ञाने ज्ञानसाधने ज्ञानफले
 चापकर्ष इति भावः । नन्वासां तावत् भावस्वरया फलजनकः, परन्तु यदुक्तं स्वासाधनी-
 मृतभावनातः सत्त्वगुत्वत्वात् स्वफलमपि सत्त्वरमेव जनयति भावस्तत्र साधु । नहि बर्ष-
 शतेन पुष्टो दृढदण्डो घटजननेऽचिरवति, नवा सत्त्वगुत्वात् कपालं सति प्रतिबन्धे सञ्जीभवति
 घटगुत्वादिपितुम्, तथा च को हेतुर्भावस्य सत्त्वरफलोत्पादन इत्याशङ्क्य आहुः । यथा दारुण्य-
 मिमूतो बहिर्मथनेनोद्भूतः सञ्जन्तःप्रविष्टः सर्वं भस्मसात्करोति तथाविर्भूतो भगवान् सर्वमप्य-
 विचाररूपं बन्धं नाशयतीत्यर्थः । तथा च व्यापकत्वात् सर्वत्रैव भगवानस्ति, यदा तु मत्तया
 अन्तःकरणे प्रकटीभूयान्तःकरणे प्रकटो भवति, न कदाचित्तिरोधते इति यावत्, तदा
 श्वात्स्यविद्यानाशात् स्वरूपानन्दानुभव इति भावः । न चेति ज्ञानमार्गापिप्रकारेण
 नैवमित्यर्थः । ज्ञाने तु स्वापप्रबोधबुद्धयानुदयान्यां चिरेण ब्रह्मणा सह मुक्तिरिति भावः ।
 नन्वविद्यायद्भस्य जीवनं सम्भवति, नत्वब्रह्मस्य । तथा च बन्धे नष्टे किं प्रयोजनं जीवनस्य,
 किं वा जीवनसाधनमिति आशङ्क्याहुः । तुल्यत्वात् कारणान्तरव्यापृतिः । भगवद्गुणा एव
 जीवनं सम्पादयन्ति । हि निश्चितोयमर्थ इत्यर्थः । ननु गुणाः किमर्थं जीवयन्तीत्यत आहुः
 सद्भैति । सद्भरादित्यादिरहात् प्रयोजनीभूतादित्यर्थः । तथा च भजनानन्दानुभवयोग्यता-
 सम्पादकविरहानुभवसिद्धिनिमित्तं गुणा एव जीवनार्थं भवन्तीत्याशयः । ननु सर्वसमर्थो
 भगवान् यथा गुणैर्जीवयति, तथा संयोगेनैव कुतो न जीवयति, यतः किञ्चित् स्वास्थ्यमपि

सादित्याशङ्काहुः भगवानिति । यदि संयोगं सम्पादयेत्तदा भजनानन्दानुभवयोग्यताजनक-
विरहनाशजननेनास्वाप्पापगमात्, स्वयमेव प्रतिबन्धकः सात्, तथा च फलरूपस्य स्वस्य स्व-
प्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वं नोचितमित्यर्थः । नन्वतिद्वेषात् कदाचिद्द्वेषेणास्य मनसि फलप्राप्तिसन्दे-
होदयजन्यमस्वास्थ्यं सात्त्रिपृथग्यं सन्देहनिवारकं वचनं वक्तव्यम्, यथा ब्रह्मानन्ददानार्थं
यतमानं नारदं प्रति 'गन्ता भजनतामसी'त्युक्तवांस्वयेश्चाशङ्काहुः स्वास्थ्येति । कर्तुमेव
योग्यं न भवति यतोऽयं दयातुरनुग्रहकर्ता यतश्च स्वयं न निरुध्यते । निरोधी नातो हेतोः,
तथा च खेच्छयानुष्टयं दुर्लभपरित्यागपर्यन्तं सर्वं सम्पादितवान्, अतो दयालुर्यतश्च
स्वप्रापकभावोत्पत्तौ प्रतिबन्धकं न कृतवानतोऽविरोधी, इत्थं चाविद्वाननुग्रहको भगवां-
स्त्वैव मनः प्रेरयति यथा न सन्देहोदयः, न च तत्रन्यमस्वास्थ्यमिति तादृशवाक्यं प्रयो-
जनाभावाच्च कर्तुमुचितमिति भावः । इदानीं प्रकृतपरित्यागाधिकारं वदन्त उपसंहरन्ति
दुर्लभोपमिति । ज्ञानमार्गीपवैराग्यमिवात्र व्यसनरूपं प्रेम साधकम् । तथा च प्रेमवानधि-
कारीत्यर्थः । नेति । प्रेमाभावेऽयं परित्यागः सिध्यत्येव नेत्यर्थः । दुर्लभो भगवदनुग्रह-
कसाध्यत्वाद्बुद्ध्याप इत्यर्थः ॥ ७-१३३ ॥

इत्थं प्रकृतगुपसंहरत्य ज्ञानमार्गीपसंन्यासे किञ्चिदाहुः ।

ज्ञानमार्गं तु संन्यासो विधिभोपि विचारितः ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराहुः च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्सापाय नान्यथा ।

पापण्डित्थं भवेद्यापि तस्मात्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रचलत्वादिति स्थितम् ॥ १६३ ॥

विचारित इत्यविचारेषु सिद्धवन्निर्देशादस्तुतोत्र न किञ्चिद्विचार्यमस्तीत्यर्थः ।
तथाहि, विद्वत्संन्यासस्य प्रकृतपरित्यागविचार एव प्रसङ्गाद्भवस्योक्तैव सत्यलोक इत्यादिना ।
परमवशिन्यते विविदिपासन्त्यासः, तस्य नून्यत एवेति न किञ्चिदपि विचार्यमस्तीत्याशयः ।
अवशिष्टव्यवस्थामाहुः ज्ञानार्थमिति । उत्तरस्य स्वजन्यज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमुत्पत्स्यमानस्य
मोक्षस्य अद्रपरम्परया प्रयोजकः, न तु साक्षात्जनकः, तथा चैतादृशपरित्यागो ज्ञानोत्पत्त्यर्थं
चेत्किमेतेत्याशयः । दोषमाहुः सिद्धिरिति । परन्तु तत्फलमनेकैर्जन्ममिर्मवतीत्यर्थः । ननु
सत्वरमेव कुतो न भवतीत्यत आहुः ज्ञानं चेति । पश्चात् आदिव्यस्येदशाश्रवणाद्भवति, यतः
साधनापेक्षं मतं कारणसापेक्षं स्वीकृत सर्वैरित्यर्थः । तथा च यत्तैर्मानसमखानामावश्यकत्वात्
कृतिपूर्वकमेव श्रवणमुचितम् । इत्य च मानसमश्रवणयोस्तत्तदिन्द्रियनिग्रहाधीनत्वात् नि-
ग्रहस्य सुतरामशम्भत्वात्तानेकैरपि जन्मभिः सिद्धिर्दूरतरा ज्ञानस्येति भावः । उक्तं च निधन्धे
'तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात् परमानन्दः । त्रिधां प्राप्नोत्युक्तेः कश्चित् सत्ययुगे पुण्य'निति
श्लोकः । इममेवार्थमाहुः अत इति । सत्ययुगे कदाचिदपि सिद्धिः, कलौ तु पश्चात्पातिरिक्तं

किमपि फलं न भवतीत्याशयः । नेति । अस्मिन्नर्थे न काचिद्विप्रतिपत्तिरित्यर्थः । एवमभेद-
सिद्धयभावमात्रं न, किन्त्वनिष्टसिद्धिरपि भवतीत्याहुः पापण्डित्यमिति । यद्योक्ताश्रम-
धर्माणामनाचरणद्वेदमार्गाद्युतेः पापण्डित्वं, चकाराचरकोपि स्यादित्यर्थः । उपसंहरन्ति
तस्मादिति । ज्ञाने ज्ञानमार्गे संन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः । इत्थमकर्तव्यत्वसाम्यादुपसित-
ज्ञानमार्गाविसंन्यासस्य स्थूणानिखननन्यायेन पुनरकर्तव्यतामाहुः सुतरामिति । कलिदोष-
श्रावल्यात् सुतरां न कर्तव्य इति सितं, प्रथमगेवोक्तमगूढयेत्याशयः । तथा चोभावपि न
कर्तव्यौ, समानदोषत्वादिति भावः ॥ १४-१६३ ॥

एवं मार्गान्तीययोः सदोपलभ्युत्वा प्रकृतस्य संयुक्तिकं निर्दोषत्वमाहुः ।

भक्तिमार्गेपि चेदोपस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥

अध्वारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्वाघः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं वाघां कुतोऽपरे ।

अन्यथा मातरो बालान् स्तन्यैः पुपुषुः कथित् ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।

आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।

अन्यथा भ्रष्टपते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

भक्तिमार्गे परित्यागकृतौ यदि दोषसम्भावना तदा किं कर्तव्यमित्यर्थः । तथा च
परित्यागः कर्तव्यो न कर्तव्यो वेत्याशङ्कायां समाधानमुच्यते इत्यर्थः । समाधानं वदन्तः
प्रथमं प्रवृत्तिप्रतिबन्धकविघ्नरूपं दोषमाशङ्क्य तदभावमाहुः । अध्यास्मिन् परित्यागे आरम्भे
प्रवृत्तौ नाशो विघ्नो न भवेदित्यर्थः । ननु मास्तु प्रवृत्तौ प्रतिबन्धकस्तदभावस्यानुभक्तित्वात्
परन्तु फले प्रतिबन्धकान्तरात्तुमाने को दोष इत्यत आहुः दृष्टान्तेति । अनुमानस्य दृष्टान्त-
सापेक्षत्वात्तदभावादनुमातुं न शक्यत इत्यर्थः । अपिशब्दात् सदेतोरप्यभावान्नुमानमित्या-
शयः । ननु लौकिकविषयानुरागात् स्वर्गाद्यक्षरानन्दतात्पर्यिककलाभिलाषाशास्त्रास्वनाशेन
फलप्रतिबन्धलक्षणो दोषः प्रकृतपरित्यागेपीत्याशङ्काहुः स्वास्थ्यहेति । स्वास्थ्यहेतोरस्वास्थ्यना-
शक्येत्यर्थः । तथा च भजनानन्दवित्तिरिक्त्यावदभिलाषविषयाणां प्रथममेव तुच्छीकृत्य परित्यक्त-
त्वात्तदभिलाषामाशेन फलप्रतिबन्धः केन स्यात्, न केनापीत्यर्थः । ननु कालादयश्चेत्यतिबन्धकाः
स्युरत आहुः हरिरिति । अपरे कालादय इत्यर्थः । पूर्वपक्षिणं मनसिकृत्याहुः अन्यथेति ।
प्रथे चासन्नकाल इति सूत्रेणासन्नकालिभ्यां क्रियायां तुच्छमानायां पुपुषुरिति लिट् । अन्यथा
वाघां करोति भगवानिति, यदि त्वं निश्चितोसि तदाहं तुच्छामि, कचिदय प्रातः सङ्गवे वा
मातरो बालान् स्तन्यैर्न पुपुषुः किमित्यर्थः । तथा चैतावत्कालं तु मातरोर्भक्त्योपपणपरा
एव सर्वसंमतास्त्यथा त्वय किमुष्णन्त्यो दद्या इतीत्यः प्रश्नः पुपुषुरित्यस्य वाच्यः । इत्थं च

यद्यसम्भावितमर्कपोषाभावमद्राक्षीस्तदा भगवत्कृतधाधामपि मनस्थानयेः । एवं चोभयमपि शशविषाणापमानमिति भावः । ननु देवात् मिलिता ज्ञानिनः स्नानुभवज्ञापनपूर्वकं स्वमार्गोपदेशं कुर्युस्तदा का गतिरत आहुः । यद्वा, ननु भगवान् स्वयं प्रतिबन्धं न जनयति, परन्तु सर्वमोहिका माया चेन्मोहमुत्पाद्य मार्गान्तररुचिलक्षणं प्रतिबन्धं जनयेदित्याशंस्याहुः । ज्ञानिनामपीति च घाच्यं चेति कर्मधारयः । तथा च 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, पलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती'ति वान्येनेत्यर्थः । एवं चास्मिन् वान्ये ज्ञानिनामित्युक्तम्, ननु भक्तानामपीत्यतो ज्ञानिमोहवन्न एवासा शक्तिर्न तु भक्तमोहजनन इत्याशयः । मोहेति । अतीतवर्तमानमोहयोरभावस्त्वेतन्मार्गान्यधानुपपत्त्यैव निश्चितः, परमवशिष्यते सन्दिग्धसम्भवो भविष्यमाणः स तु पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न मोहविष्यतीत्यनेन परिह्रियत इति ध्येयम् । ननु भगवदिच्छया दुरुद्धतरत्वाद्भवतः स्वतन्त्रतमत्वात् कदाचित्स्वयमपि मोहयेदत आहुः आत्मप्रद इति तुष्यो द्वेषा चाऽभविष्यदमोहविष्यद्गर्षास्तु जीवकृत्तिस्राध्यसाधननिरपेक्षः सन् स्वात्मानमपि प्रकरोँज ददद्दुदरः, तथा द्वेषापि न भवति, उदासीनोपि न भवति, अपि तु प्रियः, तथा च प्रयोजनयोः लोभद्वेषयोरभावात्तत्रैव मोहविष्यतीत्यर्थः । अप्रापि अतीतवर्तमानमोहयोरभावस्तु वरणान्यधानुपपत्त्यैव निश्चितः, अवशिष्टसत्त्वत एवेति ध्येयम् । एवं प्रकृतपरित्यागे दोषाभावमुपपाद्य प्रवृत्तिं विदधति । यस्मात्सर्वथा निदापैकस्माद्दुक्तप्रकारेण 'स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेश' इत्याप्तुक्तप्रकारेणेत्यर्थः । स्वार्थाद्विरहानुभवलक्षणस्यप्रयोजनात् रहितो भवतीत्यर्थः । किमत्र प्रमाणमत आहुः इति मे इति । निश्चिता साक्षात्कृतविषया मन्त्रित्वे प्रमाणमित्याशयः ॥ १७-२१ ॥

नन्वप परित्यागः किं तुरीयाश्रमः, किं वा भक्तिमार्गीयः साधनविशेष इति सन्दिहानं प्रत्याहुः ।

इति कृष्णप्रसादेन चङ्गभेन विनिश्चितम् ।

संन्यासचरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इति समाप्तोयं ग्रन्थ इत्यर्थः । भगवत्प्रसन्नतया हेतुभूतया साक्षात्कृतमित्यर्थः । भक्तौ भक्तिमार्गे संन्यासचरणं परित्यागलक्षणो भगवद्वीकारः । तथा च नार्थं तुरीयाश्रमः, न वा भक्तिमार्गीयः स्वकृतिस्राध्यः साधनविशेषः, किन्तु भगवत्कृतो जीवस्याङ्गीकाररूपोयं परित्याग इत्याशयः । अन्यथाङ्गीकाराभावे पतितोऽस्मान्मार्गात् व्युत्तो भवेत् । तथा चैतन्मार्गात्स्युतिः पतित्यमेवेति पतितपदप्रयोग इति बोध्यम् । इत्यं च भगवानेव स्वभिन्नभाव-लौकिकालौकिकविषयेभ्योन्तःकरणं निरुप्य यदि स्वस्मिन् व्यसनं सम्पादयेत्तदायं परित्यागो भजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकरिहातुभवार्थं कर्तव्यः, नो चैतन्नित्तैवेव सेवा कर्तव्येति श्रीमदाचार्यचरणानामाशयोऽनिसुमनुसन्धेयः । तथा चोक्तं विद्वन्मण्डने श्रीमत्पुत्रचरणैः 'तस्माद्गीवानां मर्यादैव हितकारिणी'ति ॥

चाथाश्रीगोपेशकृता संन्यासनिर्णयचिहृतिः सन्पूर्णा ॥

धीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-चोदक-प्रणयान्तर्गतं-पञ्चदश-

निरोधलक्षणम्

ध्मिष्टीकाभित्तमलंकृतम्

१. बाबा धीगोपेयानाम् ४. धीवल्लभानाम्
२. काका धीवल्लभानाम् ५. धीपुण्योत्तमानाम्
३. धीहरिरायानाम् ६. धीव्रजराजानाम्

परिशिष्टप्रयोगेषु

१. धीहरिरायानां प्रथमा अक्षरपूर्णा टीका
२. धीवल्लभदृष्टम्-निर्णयार्थवान्तर्गतम्-
एतद्व्याख्यायनविरचितम्.
३. धीवल्लभदृष्टम्-निरोधस्वरूपनिरूपणम्-
दशमस्तोत्रे, योजनान्तर्गतम्

धीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-चोदक-प्रणयान्तर्गत-गीत्वामित्री-

१००८- धीपुण्योत्तमलालजी-महाराजधी-स्वैतेया-स्मृती-
सदासर्जेः-गीत्वामित्री-१०००-धीगोपाललाल-महाराजे
प्रकाशितम्

वि. सं. २०३७

धीवल्लभाब्द : ५०३

प्रकाशक :

योस्वामिश्री १००८ श्रीगोपाललालजी महाराज
श्रीमहाप्रभुजीका बडा मन्दिर, पाटनपोल, कोटा,
राजस्थान, ३३४००६, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवस्त्रभास्व ५०३

द्रव्य परिचय लेखक . योस्वामी द्रव्यम बनोहर

मूद्रक :

स्टुडियो बहार, २३-ए, केन्दुल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी, अम्बई-४००००७



गोस्वामिन्त्री १००८ श्रीपुरपोत्तमलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलैर्म्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

निरोधलक्षण ग्रन्थ श्रीमहाभ्रमुने युजरातके आपके शिष्य राजा दवे और माधव दवे के लिए लिखा था. एक किंवदन्तीके अनुसार इसका रचनाकाल वि.सं. १५१६ है. ^१

चीरासी वैष्णवोंकी बातकि अन्तर्गत इन दोनों भाईजोंकी कथा भावप्रकाशमें यों मिलती है :

“राजा दुबे — माधो दुबे के माता-पिता मादे भवे तब दोऊ बेटानसो कहें—‘अब हमको या समे श्रीरत्नछोड़जोके दरसन करावो तो यहोत आछो.’ तब वै दोऊ बोली भाड़े करि माता-पिताको बेठारि भीठाकुरजीकी सग ले बले सो श्रीरत्नछोड़जीके दरसन माता-पिताको कराये. तब तहा कहुक दिनते श्रीआचार्यजी द्वारकामे हते .. तब राजा दुबे — माधो दुबे सौमनसो पूछें—‘इहा कहु कथावार्ता—भगवत्सुखार्थ होत होई तो तहा जंये .. तब एकने कही—‘श्रीवल्लभाचार्यजी पृथ्वी-परिक्रमा करि इहा पवारे हें सो कथा यहोत आछी कहत हूँ’. तब दोऊ भाई प्रसन्न होई आये ज्यै बैठे. तब श्रीआचार्यजी नन्दमहोत्सवको वर्णन — श्रीभागवत दशमस्कन्धवे पाचमे अध्यायको वर्णन किये सो नन्दालयकी लीलाकी प्रकट अनुभव दोऊ भाईनको कराय दिये. .

.. श्रीआचार्यजीके पास बड़े सबेरे ज्यै बिनती किये— ‘महाराज ! हमकी सरनि लीजिये.’ तब श्रीआचार्यजी दोऊ भाईनको फेरि गृहपाईके नाम मुताये ब्रह्मसम्पन्न कराये पाछे श्रीआचार्यजी कहे—‘अब तुम भगवत्सेवा करो !’.. सो श्रीआचार्यजी भीठाकुरजीकी परुचामृत स्नान कराई राजा दुबे — माधो दुबे के भाये पधराये और आज्ञा किये—‘सब ठोरते मन छुटारि निरोध करि भगवत्सेवा करो.’ तब राजादुबे—माधोदुबे विवती करि जो—‘महाराज ! निरोधकी स्वरूप कहु है?’..

या प्रकार दोऊ भाईनकी दीनता सरल स्वभाव देखिके पशमत्कल्प जाको ‘निरोध-स्वप्न’ कहे हें ताकी अग ‘निरोधलक्षण’ ग्रन्थ करि दोऊ भाईनको पाठ करायके कहें—‘तुम दोऊ भाईनकी निरोध सिद्ध होईयो’ सो तत्काल दोऊ भाईनकी मन अन्वेषिक हे गयो लीलासको अनुभव होन लग्यो तब श्रीआचार्यजी कहे—‘अब अपने घर जाय तवा करो... देवी जीव आनं तिनको नाम दीजो. तुमको निरोध निद्ध भयो और जो तुम्हारो सग मन लगामके करेयो साहूको निरोध सिद्ध होययो?’

१ वैष्णवशास्त्री (अंक ५ वर्ष ७९) श्रीवाग्यदास भास्ती निश्चित लेख

सो अपने गाम मण्डमे आये. धरमे दोऊ भाई भगवतसेवा करना लागे. कसुक इश्य धरमे हतो तामें निर्वाह करे. काहू सो वहीत बोले नाही. जो आवे तपर दया करिके खानपानको समाधान करे. भगवद्बार्ता करि दोऊ भाई श्रीठाकुरजीकी लीलाके रसमे मगन रहते !”

भगवान्के भक्तोमे तथा भक्तोके भगवान्मे तल्लीन ही जानिकी कथा भागवतके दशमस्कन्धमे निरोधलीलाके रूपमे वर्णित हुई है. भगवान्की इस निरोधलीलाके फलस्वरूप, यह कहा गया है कि उन भक्तोकी ऐसी स्थिति हो गई कि वे सोते-जागते, चलते-वार्तालाप करते, खीडा या स्नान करते और भोजन करते हुए भी अपनी सारी सुष-नुष बाँकर केवल श्रीकृष्णमे ही तल्लीन रहते थे— “अध्यासनाटनालापकीडासनापानादिपु न विदु सन्तमात्मन वृण्य कृण्यचेतसः” (भाग १०-१०.४६) यह निरोधका परिनिष्पन्न स्वरूप है.

योगका लक्षण हमारी केवल चित्तवृत्तियोका निरोध माना गया है—“योगश्चित्तवृत्ति-निरोध”. केवल चित्तवृत्तिका निरोध किन्तु भक्तिमार्गमे अपर्याप्त माना गया है. पुष्टि-भक्तिरूप निरोध श्रीकृष्णके संयोग एवम् विषयों को गहराईसे अनुभूत करना है. केवल चित्तवृत्ति ही नहीं अपितु देह-इन्द्रिय-प्राण-मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त-आत्मा, तथा अन्य भी आत्मीय वस्तु और परिजनो का कृप्यभजनमें विनियोग या तत्पर ही जाना पुष्टि-मार्गीय निरोध है

इस भक्तियोगके निरोधकी व्याख्या उसके (१) कारणलक्षण (२) स्वरूपलक्षण (३) कार्यलक्षण एवम्, (४) प्रयोजनलक्षण के आधार पर चार तरहसे दी जा सकती है कारणलक्षण

भागवतके द्वितीयस्कन्धके दसवें अध्यायकी सटी कारिका—“निरोधोऽस्यनुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ” में निरोधके कारणलक्षणका निरूपण हुआ है. श्रीमहाप्रभुने भी भागवतार्थ निवन्ध (१०:१४-१७) में इसका विवेचन किया है. वहाँ यह समझाया गया है कि अपनी दुर्बिभाष्य शक्तियोके साथ श्रीकृष्णका इस घरातलपर कीटार्थ प्रकट होना निरोध है. ‘निरोध’ के इस तरह के लक्षणमे ‘निरोध’ शब्दका अर्थ नहीं किन्तु योगिकार्थ विवक्षित होता है. नवमस्कन्धका चर्च-विषय भक्ति और दशमस्कन्धका चर्च-विषय निरोध माना गया है. इनके पूर्वोक्त होनेकी क्रमगत यह भावी गयी है कि नवमस्कन्धमे विदित भक्ति जितने प्रकट होती है ऐसे भक्तोका, उन्हें विमुक्त करनेके लिए भगवान्के द्वारा, जो रोप किया जाता है, उमे ‘निरोध’ कहते हैं क्योंकि जो श्रीकृष्णके द्वारा निरुद्ध होते हैं वे सत्तारते मुक्त हो जाते हैं. संसारावेश भक्तिकी जसुद्ध बनता है अतः भक्तिकी शुद्धताके लिए श्रीकृष्णके द्वारा भक्तोका निरोध आवश्यक है

दशमस्कन्धमे वर्णित भगवान्की प्रत्येक लीलाकी चरण परिणति यही दिखलायी गयी है कि कैसे उन-उन लीलाओसे सम्बद्ध भक्त श्रीकृष्णके प्रति प्रबल आकर्षणके कारण प्रपञ्चको भूल कर श्रीकृष्णमे अनन्यतया आसक्त हो गये थे.

वास्तव्यभाववाले नन्द-यशोदाकी यही गति हुई सत्यभाववाले गोपाबालकोकी यही गति हुई माधुर्यभाववाले गोपिकाजोकी भी यही गति हुई. प्रजके तो पशु-पक्षी-पुल-मवंत-नदी पर्यन्तकी यही गति वर्णित हुई है. आगे चल कर मधुरालीला या द्वारकालीला से सम्बद्ध भक्तोकी भी प्रपञ्चविस्मृति और कृष्णासक्ति ही पूरे अवशिष्ट दशमस्कन्धका प्रमुख वर्णनीय विषय है

इस जगतमें भगवान्की जैसी लीलाके कारण भक्त, प्रपञ्चको भूलकर, भगवान्में अनन्य-तया आसक्त हो पाता हो वह भगवान्की लीला भक्तके भगवान्में निरुद्ध होनेका कारण मानी जाती है. अतः ऐसी भगवल्लीलाके निर्देश द्वारा निरोधकी व्याख्या, निरोधका कारण-लक्षण माना जाता है

भगवान्की मनोहारी लीलाजोके द्वारा अवतारकालमें तो भक्तोका निरोध भागवतके दशमस्कन्धमें वर्णित हुआ है, किन्तु आपुनिक भक्तोंके निरोधकी सम्भावना कितनी हो सकती है? इस सवाका समाधान श्रीमहाप्रभुने भागवतार्थ-निरूपणके गुणप्रकरणमें किया है. वहाँ यह कहा गया है कि जैसे परिष्कृतमें श्रीकृष्णके स्वयमेव प्रकट होनेपर भक्त उनमें निरुद्ध हो गये, इसी तरह भगवान्के गुण-धर्मोंका निरुद्ध ध्वण-स्मरण-कीर्तन करनेसे, आपुनिक भक्त भी भगवान्में निरुद्ध हो सकते हैं अतएव दशमस्कन्धके अन्तमें छह अध्याय गुणप्रकरणके रूपमें दीक्षित किये गये हैं

परमात्मा परमायत यदि निगुण विघ्नमक विराकार निविद्येय हो तो कृष्णावतारकी लीलाको मायाका कपटनाटक मानना पड़ेगा. इसी तरह परमात्माका मूलरूप श्रीकृष्ण न हो तो दशमस्कन्धमें वर्णित लीलाजोकी आपिदैविक महत्ता लुप्त हो जायेगी अतः परब्रह्मपरमात्मा भगवान् स्वयम् सगुण-साकार श्रीकृष्ण हैं, यह दिखलानेके लिए अन्तिम गुणप्रकरणमें श्रीकृष्णके विषय सकृच्छित एवम् पारम्परिक, ऐश्वर्यं शीर्यं यथा श्री श्रुत और वेदांग रूप, छह गुणोका चोत्तर छह अध्यायों द्वारा किया गया है (भा नि १०।४।१८।-४२०)

अवतारकालमें अपने स्वरूपगत आरुपणसे भगवान् भक्तोको अपनेमें निरुद्ध करते हैं. अवतारकालमें स्वयम् भगवान्के प्रकट न होनेपर भी भगवद्गुणोका ऐसा माहात्म्य है कि गुणगानकर्ता भक्त भगवान्में निरुद्ध हो ही जाते हैं अपरि श्रुत भगवद्गुणोके सकीर्तन करनेसे भी प्रपञ्चकी विस्मृति और भगवदासक्ति मुख्य हो जाती है—“स्वन्ध्यायंतु” गिरोयो हि कुरुस्तेनोपलक्ष्णितः अयेषि ये भक्षिष्यन्ति कीर्तनात्तेषु तादृशतः” (भर नि १०।४२९९)

इससे सिद्ध होता है कि भगवल्लीलासे प्रत्यक्ष सम्बन्धकी तरह परीक्षामें उसका ध्वण-स्मरण-कीर्तन भी प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति रूप निरोधका कारण बनता है

वक्षितवर्धिनीमें अतएव दोनों कल्प दिखलाये गये हैं : मेवा और कथा, तथा केवल कथा. भागवतार्थ-निरूपणके तामसफल-प्रकरणके उपसंहार (१०।१।०—१।१) में यह कहा गया है कि “गुणगान-कथा परीक्षामें करनी चाहिये प्रत्यक्षमें भजन-सेवा श्रेष्ठ होती है इस

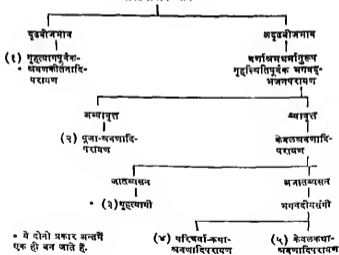
तरह वियोग एवम् सयोग की अनुभूतिको चक्रकी तरह आवर्तन निरन्तर चलने लग जाये तो निरोधदद्याकी सिद्धि मान लेनी चाहिये।" अनन्तरकालमें भगवत्सेवा पुष्टिमागमें भगव-
ल्लीलाकी प्रत्यक्ष अनुभूतिकी तरह मान्य है. अतएव सेवाके अनन्तरमें कथाका समाश्रयण
आवश्यक है.

स्वरूपलक्षण

निरोधके कारण-लक्षणकी पहचानके बाद स्वरूपलक्षण सुबोध हो जाता है. प्रपञ्चको
सर्वथा भूलकर भगवानमें ही अनन्यतया आसक्त हो जाना निरोधका स्वरूपलक्षण है "प्रपञ्च-
विस्मृतिः तस्मात् कृष्णासक्तिश्च वर््यते"

भागवतके नवम स्कंधमें भक्तिका वर्णन अभिप्रेत है. ऐसी भक्तिवाले जीव प्रपञ्चको
भूलकर अनन्यतया भगवान्में आसक्त किस तरह हो पाये, यह दिखलाना दशम स्कंधमें
अभिलषित है. तदनुसार षोडशप्रश्नमें भी, भक्तिवर्धनीमें पहले भक्तिके विविध प्रकारको
वर्णन किया गया है, और बादमें निरोधलक्षण प्रथम ऐसी भक्तिवाले जीवोंके लिए
अनन्यतया भगवान्में निरुद्ध होनेके उपाय समझाये गये हैं एतदर्थ भक्तिवर्धनीमें वर्णित
भक्तोंके पाचो प्रकारपर धोखासा दृष्टिपात उपगोपी होगा :

भक्तिमार्गीय जीव



इस तालिकापर दृष्टिपात करनेके बाद यह समझ लेना भी आवश्यक है कि योद्धा-
ग्रन्थोमें कौनसा ग्रन्थ किस अधिकारीके लिए मुख्यतया उपदेसाहं है, इसके अन्तर्गत निरोध-
लक्षण ग्रन्थके उपदेसाहं शोभित अधिकारीके ज्ञानमें इस ग्रन्थकी, अन्य भक्तिवर्धिनी आदि
ग्रन्थोंसे, समति तथा तात्पर्य का निर्धारण सरल हो जाता है :

ग्रन्थ	किस अधिकारीके लिए
१) यमुनाष्टक	भक्तिवर्धिन्दुक्त पाचो के लिए
२) बालबोध	" " "
३) सिद्धान्तमुनिसावली	" " "
४) पुष्टिप्रवाहपर्याय	" " "
५) सिद्धान्तरहस्य	२ तथा ४ के लिए
६) नवरत्न	भक्तिवर्धिन्दुक्त पांचोके लिए
७) अन्त करणप्रबोध	" " " "
८) त्रिकैर्यगर्थाथय	विशेषत ४ और ५, सामान्यतया सभीके लिए
९) कृष्णार्थय	सभीके लिए
१०) षण्मुद्राकी	२ तथा ४ के लिए
११) भक्तिवर्धिनी	सभी के लिए
१२) जलभेद	" " "
१३) पंचपद्यानि	" " "
१४) सन्यासनिर्णय	१, ३ तथा ५ के लिए
१५) निरोधलक्षण	सभी के लिए
१६) सेवाफल	२ तथा ४ के लिए

इस तालिकापर भी दृष्टिपात कर लेनेसे अब निरोधलक्षण ग्रन्थकी संबंधित अधिकारि-
योके लिए उपयोगिता मान्य करनेपर इसके तात्पर्यनिर्धारणमें श्लेष नहीं रह जाता है

जो भक्त अपने गार्हस्थ्यके साथ, राजराज-भाषीदुबेकी तरह, परम भगवान्की सेवा और
रुपा दोनोको निभा पावे हों, उनके लिए गृहत्याग निरर्थक हो जाता है, क्योंकि पूर्वोक्त
रीतिसे सेवा-रुपाके सतत भावर्तवते ही उन्हें प्रपन्नकी विभूति और भगवान्में आसक्ति दृढ़
हो जाती है, यह मुख्य कल्प है

स्वगृहमें भगवत्सेवा न निरन्तर, परगृहमें जब गृहस्थासो भगवदीयके परिचारक बनकर
उत्तरे द्वारा श्रीकृष्णकी सहायतामें सहयोग देना अर्थात् परिचर्या करना, और जब यह
भावबलकषा करता हो तब श्रीकृष्णके रूपमें उसमें सम्मिश्रित होना, यह भगवदीय पद्मोत्तीके
विकट रहनेवाले मज्जातन्मयसद भक्तिमार्गीय जीवके लिए आवश्यक माना गया है निरोधकी
सिद्धिके लिए यह भी एक शौणकल्प स्वीकार्य गया है, गृहत्यागके विकल्परूपमें.

भक्तिवर्षिणीमे इव दोनो कल्पोको (अर्थात् स्वगृहमे भगवत्सेवा-कथा-मय जीवनयापन, अग्न्या एते किसी भगवदीयके समीप पर बनाकर रहना और परिचर्यायं एवम् कथा-श्रवणायं उस भगवदीयका संग करना, यो दोनो कल्पोको) लक्ष्यमे रत्नकर-“शेषाया वा कथाया वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् यावज्जीव तस्य नाशो न भवापीति मतिर्मम” आत्वासनद्वारा श्रीमहाश्रमु निरोधसिद्धिकी बात ही समझा रहे हैं क्योंकि निरोधमे अभावमे-“हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ये विषट्ठास्त एतान् मोदमायान्त्यहृतिराम्” इस निरोधलक्षण ग्रन्थके बचनके अनुसार भवसागरमे मग्न होना निमित्त माना गया है अतः परगृहमें भी भगवत्परिचर्या तथा भगवत्कथाश्रवण की प्रणालीसे निरोधकी सिद्धि स्वीकारनी ही पडती है कार्यलक्षण

कारण और स्वरूपके विमर्शके बाद अब निरोधके कार्य अर्थात् इसके कारण पैदा होने-वाले प्रभावोंका विचार आवश्यक ही जाता है

जो भक्त प्रपञ्चकी विस्मृतिके साथ भगवान्मे आसक्ति जोड़ पाता है, उसे भगवान्के सयोग एवम् वियोग की अनुभूति तीव्रतासे होने लगती है जैसा कि ब्रजभक्तोंके बारेमे वर्णन मिलता है- “गोपीना परमानन्द आसौद्भोविन्ददर्शने क्षण युगशतमिव घासा वेग विनाम्रवत्” (भा १०।१९।१६) भक्तिवर्षिणीमे इस अवस्थाको ‘मग्नतादशा’ कहा गया है निरोधका स्वरूप निष्पन्न होते ही निरोधका प्रभाव अर्थात् व्यवसन्धता व्यक्त होने लग जाती है भगवत्सयोगमे परमानन्दकी अनुभूति और एक क्षण भी भगवद्-वियोग सह न पाता यह निरोधका कार्य माना गया है- ‘भगवद्भिरहृतामयिक-परमदुःखकारणत्वे सति भगवत्सयोग-सामयिकपरमानन्दसाधकत्वे निरोधत्वम्’ (निर्गोचार्णव).

भगवत्सवतार-कालमे भगवत्सेवाका अवसर भगवत्सयोगानुभूति है तथा अन्वतर नियोगानुभूति है अतः कार्यलक्षण भी अन्वतरकाल और अनन्तरकाल दोनों परिस्थितियोंमे उपपन्न हो जाता है

प्रयोजनलक्षण

भागवतमे तथा भागवतार्थ-निबन्धमे भी निरोधका प्रयोजन मुक्ति एवम् आश्रयभावपति स्वीकारा गया है- निरोधोत्थानुवागनमात्मन सह भक्तिभि मुक्तिर्हित्वात्यध्यास रूप स्वरूपेण व्यवस्थिति, आभासत्वे निरोधत्वे यत्तथाप्यवशीयते स आश्रय पर ब्रह्म परमात्मैति शब्दवै’ (भा २।१०।६-७) इसी तरह भागवताथ निबन्धमे भी कहा गया है-“भक्ता पूर्वम निर्दिष्टा ते रोद्धव्या विमुक्तये, कृष्णे निरुद्धकरणात् भक्ता मुक्ता भवन्ति हि” (भा नि १०।१५-१६) और “हरिराश्रय इत्युक्तो मुक्ताभावमिति वणितम्” (भा. नि १२।१७)

पोडनग्रन्थकी निरूपणशैलीसे इसमे थोडासा यह अन्तर है कि यहा निरोधोत्तर दो अवस्था (१) मुक्ति और (२) आश्रयभावपति स्वीकारती गई है थोडनग्रन्धमे जबकि निरोध-

लक्षण ग्रन्थके बाद आते सेवाफल ग्रन्थमें सेवाने तीन फल (१) अलौकिक सामर्थ्य (२) साधुज्य; और (३) वैकुण्ठादिपु सेवोपयोगिदेहो स्वीकारे मये हैं स्पष्ट है कि इनमें 'साधुज्य' और 'मुक्ति' समानार्थी पर हैं, इसी तरह 'वैकुण्ठादिपु सेवोपयोगिदेह' और 'आश्वयमावापति' भी अर्थात् एक ही अवस्थाके श्रोतक है

जहा तक 'अलौकिक सामर्थ्य' के अलक्ष्य होनेका प्रश्न है तो उसमें यह ज्ञातव्य है कि भागवतके दशमस्कन्धमें तामस राजस एवम् सात्त्विक प्रकारके भक्तोंके भक्तिकी प्रेम भासवित एवम् भगवतदासा का वर्णन क्रमशः प्रमाण प्रयोग और साधन के रूपमें हुआ है साधनके बाद तीनों ही प्रकारके भक्तोंको फलावस्थाका भी वर्णन किया गया है. निरोधकी यही फलावस्था सेवाफलमें अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें वर्णित है. इसे 'स्वसनीत्तर-कृतायंता' 'सर्वारम्भभाव', 'मानसी सेवा' अथवा 'फलनिरोध' कही जात एक ही बनती है

पौडघग्रन्थ पुष्टिमार्गीयोंके लिए श्रीमहाप्रभुने प्रकट किया है. पुष्टिप्रवाहमर्षादा ग्रन्थकी —'भगवानेव हि फल स यथाविभेदेद् भुवि गुणस्वरूपभेदेन तथा तथा फल भवेत्' (वा १७) कारिकामें यह तामसाया ही मया है कि पुष्टिमार्गीयोंमें फल स्वयम् भगवान् है, वे गुण या स्वरूप के भेदसे जैसे भी इस भूतलपर प्रकट हों, तदनुसार, उन्हें फल माना जाता है. स्वयम् स्वरूपावस्था इस भूतलपर भगवान्का भक्तोंके बीच प्रकट होना पुष्टिमार्गीय फल है इसी तरह गुणगानकी प्रकिया द्वारा भी भक्तोंके हृदयमें भगवान्का प्रकट होना फल ही है दोनों ही तरहके भगवत्प्रकटघके कारण भक्त प्रपञ्चकी भूलकर भगवत्साक्षात्ता ही पाया है हर मूरतमें इस भूतलपर यदि भगवदनुभव नहीं होता तो इस देहके छूटनेके बाद भगवान्में साधुज्यरूप मोक्ष मिलेगा अथवा वैकुण्ठ आदि लोकमें सेवोपयोगी देह मिलेगा ये दोनों ही फल इस भूतलपर घटित होनेवाली अनुभूति नहीं हैं, अतः पुष्टिप्रवाहमर्षादा ग्रन्थमें परिभाषित पुष्टिमार्गीय फलानुभूतिकी तुल्यतामें ये कुछ मोक्ष अनुभूतिया हैं अतएव इन अनुभवोंके सामर्थ्यको 'अलौकिक' नहीं कहा गया है, क्योंकि इनमें लौकिक अनुभव होनेकी शक्यता ही नहीं उठ सकती है. फलनिरोध इस भूतलपर होनेवाली अनुभूति है, मानसीसेवाकी तरह, अतः इसके अनुभवको 'अलौकिक सामर्थ्य' कहा गया है अथवा भूतलपर घटित होती अनुभूतिकी कोई लौकिक तामस सकता है वास्तविकता जबकि यह है कि यह इस लोकमें घटित होनेपर भी अलौकिक घटना ही है

निरोध अपने दोनों रूप, अर्थात् साधननिरोध एवम् फलनिरोध, में इस लोकमें घटित होनेवाली अलौकिक घटना है "प्रपञ्चे कीटन हरे" बचनमें श्रीमहाप्रभु अतएव भारपूर्वक प्रपञ्च अर्थात् इस लोकाका उल्लेख करते हैं इस भूतलपर भक्तोंके बीच भगवत्कीटा साधन-निरोध है और ऐसी लीलाके कारण जब भक्त जगत्की भूलकर जगदीशमें अनन्यतया आसक्त हो जाता है तो वह फलनिरोध है इस स्पष्टीकरणक बाद निरोधका प्रयोजन-लक्षण सुगम हो जाता है

भगवदवतारकालमें भूतलपर प्रकट होनेवाले भगवद्रूपकी यह लीला कि जिसका प्रयोजन जीवात्माको सर्वात्मभावका दान करना हो वह 'निरोध' कहलाती है. अवतारकालमें सायुज्य-मुक्ति या आश्रयभावापत्ति प्रदान करनेके लिए, जो वियोगानुभव भगवान् कराते हैं; और इस तरहके तीव्र वियोगमें, भक्तका निरन्तर भगवान्के भुगगानमें तल्लीन हो जाना भी निरोध ही है. ये दोनों तरहके लक्षण भगवदवतारकालके हैं.

अनवतारकालमें लीलाका स्थान तनु-वित्तया सेवा से लेती है और भुगगानका स्थान भगवत्कामका श्रवण-स्मरण-कितन से लेते हैं. तदनुसार निरोधका प्रयोजन सेवाकालमें बर्णित अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य एवम् बंक्रुष्ठादिलोकमें सेवोपयोगी देह का लाभ माना जाता है.

अवतारकाल हो या अनवतारकाल सबने पुष्टिभक्तकी भक्ति निष्पापिक-निष्कारण-निष्प्रयोजन ही होती है. भक्त केवल भगवान्की ही चाहता है; मुक्तिकी नहीं, पर भक्ति अर्वाञ्छित फलप्रदान करती ही है. यह तृतीयस्कन्धमें कहा गया है. अतः प्रयोजनलक्षण भक्तके भाव-अभिप्रायको दृष्टिगत रखकर नहीं दिया गया है किन्तु भक्तिके स्वभावको दृष्टिगत कर दिया गया है.

इसका अलावा एक और दृष्टिमें भी निरोधका लक्षण-व्याख्यात किया जा सकता है यह है:

- १) करण-निरोध
- २) व्यापार-निरोध
- ३) काल-निरोध

१) करण-निरोध

सुबोधिणी तथा भागवतार्थ-त्रिबन्ध के तामसप्रकरणके प्रारम्भमें इस विषयकी विवेचना हुई है कि जीवके स्वभावका बदलना स्वयम् जीवके लिए सर्वथा असंभव बात है. अतः जीवके सार्विक राजस या तामस स्वभावोंके अनुरूप स्वरूप धारण कर भगवान्, जब भूतलपर प्रकट होते हैं और भक्तोंके बीच लीला करते हैं, तब अपने-अपने स्वभावोंके अनुरूप जीव भगवान्के स्वरूप एवम् लीलाओं में आसक्त हो ही जाते हैं. इस लीलाविहारी श्रीकृष्णमें आसक्तिके कारण प्रापञ्चिक विषयोंमें आसक्ति अनायास स्वतःपूब टूट जाती है. अथवा स्वार्थबुद्धिरहित केवल भगवद्रूपबोधिताकी भावनामें कथान्तरित हो जाती है. यह विलक्षण परिवर्तन निरा लीलाके कारण सम्भव होता है, उस भगवल्लीलाको करणात्मक निरोध माना जाता है.

'करण' यानि असाधारण कारण. इसमहास्कन्धमें बर्णित भक्तों-विशेषतः व्रजभक्तों—को जो प्रपञ्चविरम्वृत्ति और कृष्णासक्ति की सिद्धि मिली, उसका असाधारण कारण भक्त-स्वभावानुरूप भगवद्रूप एवम् भगवत्लीला ही थे. अतएव कहा गया है—'ते नाधीतभृतिगणाः नोपाक्षीदमहत्तमा. अत्रतातन्तपस. सत्सगन्धामुपागतता केवलैव हि भावेन गोप्यः याव. नया

मृगाः येन्ये मूत्रधिवो नागाः सिद्धाः मागीपुरञ्चसा, यं न योगेन गांस्तेन दानवततपोध्वरैः
 व्याख्यास्वाध्यायसंघासं प्राप्नुयाद् यत्नवानपि" (भा. १.१.१२।७-९). यहा जिस तत्संग
 और जिस भाव को स्वप्रतिभे भगवान्ने साधन माना है, वह स्वयम्का लीलात्मक संग तथा
 लीलासक्तिरूप भाव ही है. अन्य सभी योग सास्य दान वत तप यज्ञ व्याख्यान स्वाध्याय
 एवम् संन्यास रूप साधनोकी अधिकिचरकरता स्वयम् भगवान्ने ही गणित कर दी है
 इसे 'साधननिरोध' अथवा 'भगवान्का भक्तोमे निरोध' माना जाता कहा जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि भक्तोके स्वभावानुरूप भगवान्की लीला, भक्तोके निरोध
 अर्थात् प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का असाधारण कारण है

२) व्यापार-निरोध

कारण दो तरहके होते हैं : (१) उपादान (२) निमित्त विट्टी घटेका उपादान कारण
 होती है चक्का दण्डा आदि उपकरण निमित्त कारण माने जाते हैं निमित्त कारणके निष्क्रिय
 होनेपर कार्य उत्पन्न नहीं होता. अतः सक्रिय-क्रियाव्यापार करनेवाले कारणको 'करण'
 या 'उपकरण' कहा जाता है.

भगवल्लीलाको निरोधकी उत्पत्तिमें करण माना गया है. तदनुसार ही कुछ व्यापार भी
 होना चाहिये अतः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति यह भगवल्लीलाका व्यापार है. जैसे
 चक्केका फिरना या दण्डेके फिरना, इन व्यापारोके कारण चक्का-दण्डा आदि उपकरणोको
 'करण' कहा जाता है.

३) फल-निरोध

भक्तोके स्वभावानुरूप करण-भगवल्लीला, और उसके व्यापार-प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक
 भगवदासक्तिके फलस्वरूप भक्तके प्रापञ्चिक विषयोके सारे वन्धन टूट जाते हैं इनका
 अभाव ही जाता है यह दो प्रकारसे होता है या तो भक्तते सम्बन्धित सारे लौकिक पदार्थ
 और भावो में भगवदावेश अलौकिकता अर्थात् सच्चिदानन्दारमकता प्रकट हो जाती है, या
 फिर लौकिक पदार्थ और भावो से मुक्त होकर और सापुण्य या शुकुष्ठ आदि लोकोमे
 सेवोपयोगी देह प्राप्त कर लेता है अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "लोकियेषु तु भावेषु
 यत्रैव हरिविद्या निवर्तये तदेवान् बन्धैर्दाकमय यथा" (सुबो. १=१५।१). जिन-जिन लौकिक
 भावोमे या पदार्थोमे भगवदासक्तिके कारण भगवदावेश हो जाता है उन सभी पदार्थो और
 भावो मे त्रिरोहित चिदान और आनन्दान पुन प्रकट हो जाता है यो सच्चिदानन्दासके पूर्ण
 प्राकट्यके कारण वे ब्रह्मात्मक हो जाते हैं काष्ठमे त्रिरोहित अग्नि जैसे एक बार प्रकट हो
 जाती है तो काष्ठ स्वयम् अग्निरूप हो जाता है ऐसे ही जिस भक्तमे प्रपञ्चविस्मृतिके
 साथ भगवदासक्ति प्रकट हो जाती है, उसके सभी पदार्थ और भाव भक्तत. सच्चिदानन्द
 ब्रह्मका रूप धारण कर लेते हैं. जैसे भी जगत्की प्रत्येक वस्तुका वास्तविक या आन्तरिक
 स्वरूप तो ब्रह्मात्मक ही होता है, पर अज्ञानवश हमे विपरीत मान होता है, और यह भाव
 विवृत्त हो जाता है.

भट्टैतिह्योने सिध्दा-मायिक प्रपञ्चकी तरह यह प्रपञ्चका वापमान नहीं है. न न्यायिकोने अनित्य प्रपञ्चकी तरह यह प्रपञ्चका नाश ही है साक्ष्यने प्राकृत प्रपञ्चकी तरह इसे विकृतिका प्रकृतिमे पुन लीन हो जाना भी माना नहीं जा सकता है. प्रपञ्चके ब्रह्मात्मक हो जालेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि दृष्ट्या-जीवको यह ब्रह्मात्मक होनेपर भी वेता दिसलाई नहीं देता है, पर निरुद्ध भक्तकी दृष्टिमे अपने प्रियतम परमात्माके अलावा अन्य कुछ आता ही नहीं, फलत जड़जगतने विभिन्न पदार्थ भी उसे सच्चिदानन्दारमक दिसलायी पढ़ने लगते हैं इसी तरह जीवजगतने भी सभी रूपीमे ब्रह्मात्मकताका भान होने लगता है. जड़ जीवात्मक जगतकी जड़रूपता एवम् दुःस्वरूपता तिरोहित हो जाती है. इस अर्थमे इस अवस्थाको कभी 'प्रपञ्चप्रलय' या 'प्रपञ्चनाश' कहा जाता है यह फलनिरोध है अर्थात् भक्तका भगवान्मे तिरोध है इसका प्रयोजनलक्षणके अन्तर्गत विचार हुआ है इसाम एकधमे भगवान्की लीलाका वर्णन भतुर्पा हुआ है :

- (१) प्रमाण-निरोध
- (२) प्रमेय-निरोध
- (३) साधन निरोध
- (४) फल-निरोध

(१) भगवान्की प्रमाणरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त अपने स्वभावके अनुसूच धारण किये गये भगवद्रूपको जान पाता है अतः ऐसी लीलाको 'प्रमाणनिरोध' कहा जाता है. प्रमाणलीलाके कारण वननेपर व्यापार भक्तके हृदयमे प्रेम्के रूपमे प्रकट होता है. इसका फल भक्तके हृदयमे प्रमेयकी स्थिरता होती है

(२) भगवान्की प्रमेयरूपा निरोधलीलाके कारण भक्त-स्वभावानुसूच धारण किया गया भगवान्का रूप—प्रेम भक्तके हृदयमे सर्वथा आरुड हो जाता है अतः ऐसी लीलाको 'प्रमेयनिरोध' कहा जाता है प्रमेयलीलाके कारण वननेपर व्यापार भक्तके हृदयमे भगवदात्मक—भगवान्के अलावा अन्य सभी विषयोमे अस्ति—के रूपमे प्रकट होता है इसके फलस्वरूप भक्त अपने मनोरथोके अनुसूच भगवान्के रूपकी प्राप्तिके साधनोमे जुट जाता है

(३) भगवान्की साधनरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुसूच धारित भगवान्के रूपकी प्राप्तिके साधनोमे भक्त तत्पर हो पाता है अतः ऐसी लीलाको 'साधननिरोध' कहते हैं साधनलीलाके कारण वननेपर व्यापार भक्तके हृदयमे भगवद्ब्यसनके रूपमे प्रकट हो जाता है अब भगवान्के बिना भक्त रह नहीं पाता फलस्वरूप अपने मनोरथके अनुसूच भगवद्रूप एवम् भगवल्लीलाकी अनुभूति उसे होने लगती है

(४) भगवान्की फलरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुसूच धारित भगवद्रूपकी लीलाके भक्त सम्मिलित हो पाता है अतः ऐसी लीलाको 'फलनिरोध' कहा जाता है फलरूपका लीलाके कारण वननेपर व्यापार भक्तके हृदयमे मानसी सेवा, सर्वानुभाव

आदिके रूपमें प्रकट होता है- फलस्वरूप भगवान्‌के बाह्य-आन्तर अनुभवोका चक्र भक्तके हृदयमें निरन्तर चलने लग जाता है- भक्त भगवान्‌में तन्मनस्क तदात्म्य तद्विषेष्ट तदात्मक तद्गुणगानपरायण होकर अपने देह-गेहकी मुच-मुच छो देता है ! मजनानन्दकी इस परत-काष्ठकी तुलनामें भक्तको ब्रह्मानन्द कभी मुहता नहीं है !! ब्रह्मानन्दमें एकरसता होती है शुद्ध-अद्वैतरूप, जबकि मजनानन्दमें अनेकविध मधुरता रहती है : द्वैतरूप भी और अद्वैतरूप भी !!!

सायुज्यरूप मोक्ष अथवा ब्रह्माभावावर्तिरूप संकृष्णादि लोकमें मेवोपयोगीदेह भी इस पूर्वोक्त अलौकिक-सामर्थ्यकी तुलनामें भक्तके मनको लुभायने नहीं लगते है- भगवत्संयोग—तेवा और भगवद्विषय—रूपा के अर्हतिश बलते चकते बढ़कर केवल विप्रयोगको माना नहीं जा सकता है यही कारण है कि मुक्ति या आश्रयभावावर्ति की ओर ले जानेवाले अमरगीतमें वर्णित विद्योगका स्थान फलप्रकरणमें न हो कर प्रमेयप्रकरणमें है-

“मय्यावेद्य मन कृत्स्न विमुक्ताशेषपूति यत्, अनुस्वरन्वयो मा नित्यमनिरान्मामवापमय” (भा १०।४७।३३) की मुचोधिनीमें इस अवस्थाकी व्याख्या करते हुए श्रीमहाप्रभु कहते है- “अहं हि कृत्स्नः प्रसादेनापि प्राप्त कृत्स्नेनैव साधनेन प्राप्नु वीद्यः साध कृत्स्नता मय्या-मेवावस्थाया भवति नाप्यथा” अर्थात् तामसफल-प्रकरणमें भगवान्‌के रसात्मक रूपका मनु-भव यद्यपि पूर्णता हो ही गया था, किन्तु वह साधनावस्थाके बाद फलावस्थाके क्रमानुसार न होकर भगवदनुपह्वय साधनावरणकी पूर्णतासे पूर्व ही फलानुभूतिके सम्पन्न हो जानेकी सीमा थी अथ राजसप्रमेय-प्रकरणमें, अर्थात् जो राजस भवनीके लिए प्रमेयरूपा निरोध-लीलाका प्रकरण है, वहा तामसभवताकी तो फलानुभूतिका नहीं किन्तु साधनानुभूतिका ही स्तर है

“आन्तर तु पर फलम्” (सुबो. १०।२६।१) अथवा युगलगीतमें वर्णित “द्विविधोऽन्तर्गो-पिकाना स्वानन्द भगवान् हृदि प्रवासात् तेनैव पूर्णानन्द इतीयते” वाला परमकलात्मक विषय अमरगीतमें वर्णित विषय, नहीं है- अतएव श्रीप्रभुवरणने इस विषयानुभूतिका वास्तविक स्वरूप इन शब्दोंमें समझाया है- “एतासा तु अपुनैव बहुसागमो अभिलषितः तदभावादस्मदमभिप्रेतामपि अस्मदधिकारविषयतामपि ज्ञात्वा ईश्वरमावेनाज्ञापितवान्, अन-भिप्रेतामपि बलाद् दाहवियुम् इति मनाकलेनीम् इद भवति यद्यपि, तथापि प्रियतमसम्बन्धि-त्वेनैव श्रुतत्वात् तयैव कलिव्यति, नतु उपवेद्यत्वेनेति साधनावारं सदेसपरम्” (लिय. १०। ४७।२९). प्रमेयस्वभावके निवय प्रजभक्तोंमें विषय स्वीकार है-निज भाव या मर्मिलापा के वश नहीं- भगवत्कथाके श्रवण या कीर्तन का फल, भगवत्स्वरूप एवम् भगवल्लीला का पहले मान्तर और बादमें बाह्य अनुभव स्वीकार गया है- बाह्यानुभवके अभावमें केवल आन्तर ज्यम होता है- “बाह्याभावे तु आन्तरतय व्यसंता” (सुबो १।६।१).

इस आन्तरअनुभव और बाह्य अनुभव के मूल्य रहस्यकी समझनेके लिए निरोपने दो और भी रूपोंको समझना आवश्यक हो जाता है -

(क) स्वरूप-गुण-उभयकृत निरोध

(ख) केवल-गुणकृत निरोध

(क) सामसफल-प्रकरणके विवेचनमें श्रीमहाप्रभुने यह समझाया है कि यहां सात अध्यायोमें, अर्थात् २६ वें अध्यायसे लेकर ३२ वें अध्याय तक, क्रमशः (१) ऐश्वर्य (२) वीर्य (३) यश (४) श्री (५) धर्मी (६) वैराग्य (७) ज्ञान यो छह भगवद्गुण और सातवें स्वयम् धर्मी भगवान्के स्वरूपका वर्णन अभिप्रेत है.

इस फलरूपा निरोधलीलाके स्वरूपका मलीमांति विमर्श करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि सातों अध्यायोमें फलरूपलीलाका ही वर्णन अभिप्रेत होनेपर भी धर्मनिरूपक पांचवें अध्याय तथा ज्ञाननिरूपक सातवें अध्याय का कुछ विशिष्ट महत्व है ही. अतएव प्रारम्भमें रूपलीलाके —“वाह्याम्यन्तरभेदेन” —जो दो प्रकार दिखलाये गये हैं, वे इन दो अध्यायोमें परमोत्कर्षके रूपमें वर्णित हुए हैं. धर्मप्रकरणमें बाह्य संयोगसुखका तथा ज्ञानप्रकरणमें आन्तर संयोगका वर्णन हुआ है.

“ज्ञान भक्तिश्च सतत भगवत् परिवर्तते” की उक्तिके अनुसार महा परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों में सयोगसुखका ही वर्णन अभिप्रेत है. अतएव इसे फलप्रकरण माना गया है.

(ख) इसके विपरीत राजसप्रमेय-अकरणमें वज्रभक्तकी अनुभूतिकी स्वरूप श्रीमहाप्रभुने इन शब्दोंमें दिया है— “अन्तनिष्ठा वा विरहो वा, द्वयमेव, नतु तासामग्न्या लीकिकी अक्षया” (सुबो. १०।४।४८). यहाँ पूर्वोक्त “आन्तर तु परं फलम्” वचनके आधारपर अन्तनिष्ठाकी तो परमकालरूप मानना ही पड़ेगा. परन्तु द्वितीयात् विरहकी फलरूप माननेका कोई भी आधार मिलता नहीं है यह विरह अतः फलरूप न होकर पूर्ववर्णित ‘साधनरूपता’ ही है इसीलिए श्रीमहाप्रभु इसे ‘फलरूप’ न कहकर ‘फलसापक’ कहते हैं. — “. . . फलसापकरवाद् भक्तिमार्गे विरह एव पुष्टयार्थः.” विरहानुत्थामे किये जाते गुणगानके सुख और भगवत्स्वरूपानुभवके सुख का परस्पर तात्त्व्य समझाते हुए श्रीमहाप्रभु कहते हैं— “पर विरलममृतम्. केवल मरणोपस्थिती तद्विषयकमेवेति, नतु सम्भूर्वकश्च रसजनकम्. रसपिण्डयोरिव तत्र कथापादत्र विशेष अन्वया कथार्थमेव यत्न कृत स्यात्. पर विरहे मरणनिवर्तकत्वेन तदुपयोग इति भगवत्वेन स्तूयते”. भगवत्कथानके श्रवण-स्मरण-कीर्तनके कारण भक्तके प्राण तीव्र विरह-वेदनामें भी निकल नहीं जाते— टिके रहते हैं. एतावता भगवान्की तरह भगवद्गुणगानकी भी प्रशंसा की जाती है वास्तविकता परन्तु यह है कि भगवत्स्वरूपकी रसानुभूति में सुख पनी-भूत होता है और भगवत्कथामें यह तरल हो जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि केवल गुणकृत निरोधमें बाह्य एवम् आन्तर सयोग सुखकी फलानुभूतिका चक्र सतत नहीं चलता. नहा विरहदुःख और अन्तनिष्ठाके सयोगसुख का चक्र-वत् आवर्तन चलता है अतः इसके अर्थांशमें साधनरूपता और अपर्थांशमें फलरूपता है. जबकि रसात्मक होनेके कारण द्विदलात्मक, और द्विदलात्मक होनेके कारण सयोग-वियोग-आत्मक या ‘नटवर’ वगु रूप भगवान्का फलरूप होना, वियोगमें अन्तनिष्ठाके कारण मिलते

आन्तर संयोगमुख और संयोगमें स्वरूपानुभूतिके कारण मिलते बाह्य संयोगमुखको लक्ष्यमें रखकर स्वीकारा गया है। आन्तरमुख-दान रचनाएँ हैं तथा बाह्यमुख-दान रसस्व प्रत्यप्र-भोग है। यह 'बर्हणीय' श्लोककी सुबोधनीसे सिद्ध होता है। अतः उत्तरदलमें अन्तर्निष्ठाके अंशमें फलरूपता तथा विरहोप या धर्मविप्रयोग के अंशमें साधनरूपता है। केवल विरहके फलरूप होनेका उल्लेख श्रीमहाप्रभु अथवा श्रीप्रभुचरण के कितो भी वचनमें मिलता नहीं है। आन्तर-संयोग-मुख प्रदान करनेवाला विप्रयोग स्वतन्त्र अंगीरूप निरोध है। जबकि केवल विरह आन्तरसंयोग-मुखके अभावके कारण, युक्ति या आश्रयभावापत्ति का अंगरूप निरोध माना जाता है। इसे 'केवलगुण-कृत निरोध', 'धर्मविप्रयोग' 'केवल विरह', 'मुन्यग निरोध' या 'आश्रयभावापत्त्यंग निरोध' कुछ भी कहो अर्थ एक ही होता है।

इस तरह निरोधके कारण-स्वरूप-कार्य-अयोजन-रूप चतुर्विध लक्षण, विविध स्वरूप कारण-व्यापार-फल-रूप; तथा स्वरूप-गुण-उभयकृत और केवलगुणकृत निरोध के रूपमें अनेक-रूप भेद-उपभेदोंके विस्तृत विमर्श करनेपर निरोधलक्षण ग्रन्थको समझना एकदम सरल हो जाता है। फिरभी ग्रन्थके अनुवादसे पूर्व एक और स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है। उसे देखनेके बाद ही ग्रन्थानुवाद देखेंगे।

जैसे ही हमने देखा ही लिया कि निरोधलक्षण, भक्तिवर्धनी ग्रन्थमें वर्णित पाषो प्रका-रके अधिकारियोंको लक्ष्यमें रखकर उपादिष्ट हुआ है फिरभी इसे सौपत्तिक समझ लेना अत्यावश्यक है। सम्यासनिर्णय ग्रन्थके— "कोशिन्यो गोपिका प्रीयताः पुरतः साधन च तद्-भावा भावनाया सिद्ध " वचनमें ब्रजभक्तोंके भावोंका भावनारम्भक अनुसरण विरहानुभवार्थ गृह्याग करनेवालीके लिए आवश्यक माना गया था ब्रजभक्तोंके भावोंकी भावना केवल गृह्यागियोंके लिए ही है ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि "भजनीयो ब्रजाधिप." कहकर गृह्यागियोंके लिए ही है ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि "भजनीयो ब्रजाधिप." कहकर ब्रजभावनाकी उपयोगिता समी पुष्टिमन्त्रोंके लिए सर्वदा ही अनुश्लोकीमें आवश्यक मानी गयी है इसी तरह पुष्टिप्रवाहमर्त्या ग्रन्थमें पुष्टिबोनोंके फलानुभवके प्रकारमें गुण-स्वरूपका प्रभेद मान्य हुआ ही है। "स्वरण ब्रजन पापि न रयाग्यम्" नकाराकार भग-वतीवा-कथाकी आवश्यकता अनुश्लोकीमें प्रतिपादित हुई है। अतः सेवा और कथा दोनोंमें ही ब्रजभावना आवश्यक है अतः इस निरोधलक्षण ग्रन्थमें सभीके लिए सर्वप्रथम ब्रज-भावनाका स्वरूप समझना जा रहा है

निरोधकार्य संयोगमुख-विधीमदुःखकी भावना

जिन भक्तोंसे सेवा और कथा दोनों विम पाती हो उन्हें अपने मावके अनुरूप सेवा करते समय गोकुलकी भावना और कथाके समय वृन्दावनकी भावना करनी चाहिये।

गोधारणके लिए प्रतिदिन भगवान् वृन्दावन पधारते हैं। तब गोकुलमें कारसत्यभाववाले नन्द-यशोदा आदि भक्तोंको तथा धृवारमाववाली गोपिकाओंको जैसे विप्रयोगदु सकी अनुभूति होती है, वैसे दुःखानुभूति-विरहदेवना हमें कथाकारणमें कव होगी !

सापंकाल गोनारण कर भगवान् गोकुल छोडते हैं- तब गोकुलमें गोपिकाओंकी तथा अन्य भी सभी ब्रजवासियोंकी अनेक रीतिते भगवत्सेवाद्वारा जैसा मंयोगमुख मिलता है, वैसा मुख सेवाके समय भगवान् मुझे कब प्रदान करेंगे !

इस तरह तामसफल-प्रकरणके “ज्ञान भनितश्चः सततं चक्रवत्परिवर्तते” वचनमें बर्णित सयोग-विधयोग-रूप अवस्थामें निरोधने-कार्यं मुख-तु तकी भावना करनी चाहिये-

जिन भक्तोंके सेवा-कथा एक साथ नहीं निभ पाती, ऐसे मध्यमाधिकारियोंको पहले, राजसप्रभेयप्रकरणमें बर्णित तीव्र विप्रयोग-वेदनाकी भावना करनी चाहिये; और बादमें कथाश्रवणकालमें अन्तर्निष्ठाके साथ आन्तरसयोग-मुखकी भावना करनी चाहिये-

उद्वेगके ब्रज आनेपर उनके साथ भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें जैसा एक सुमहान् उत्सव प्रकट हुआ, वैसे उत्सवकी अनुभूति कथा-श्रवण करते समय हमारे मनमें कब होगी ! गोकुलमें सख्य-वात्सल्य-भाववाले ब्रजभक्तोंको और नृन्दावनमें सख्य-माधुर्य-भाववाले ब्रज-भक्तोंकी उद्वेगके साथ भगवद्गुणवाचन करते समय जैसा आरुह्यद अनुभूत हुआ वह मेरे हृदयमें कब प्रकट होगा !

केवल कथाका सगाधपण करनेवाले भक्तको ऐसी भावना करनी चाहिये- इस तरह यह निरोधका कार्यलक्षण श्रीमहाप्रभुने सूचित किया है

निरोधके कारणभूत गुणगणकी भावश्यकता

कार्यलक्षणकी सूचित करनेके बाद श्रीमहाप्रभु निरोधके कारणलक्षणकी सूचित करना चाहते हैं-

पूर्वांस्त भावनाओंको करते रहनेपर भी हृदयमें भावोंका उदय सहता नहीं हो पाता है महान् भक्तोंकी कृपा होनेपर ही भगवान् ऐसी ब्या हमपर करते हैं कि हमारे हृदयमें भाव अकुरित हो पाते हैं- इस बीच आनन्दसन्दोह—मुक्तसिन्धु भगवान् श्रीब्रजधिपके रूप गुण लीला एवम् नामो का सकीर्तन हमें करना चाहिये- इससे भक्तिमार्गपर हमारी यात्रामें हम सुखपूर्वक आगे बढ़ पायेंगे-

श्रीब्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि “सादृशी भावना कार्या यथा भावाकुरोदय , श्रीमदाचार्यकृपा मयेद् भानो न पान्यया...आयो भावनाया सिद्ध इति दासदासप्रतीयते, तदाव्यपरिनिष्ठाना हृदि भावाकुरो मयेद्” अथ श्रीमदाचार्यचरण, श्रीयमुना तथा पुष्टिपथके आद्य-पथिक—गुरु श्रीब्रजभक्तों की कृपा होनेपर भगवत्कृपाभाजन बतनेका अधिकार प्राप्त होता है-

पी चुपची हुई गरम रोटी और रूखीसूखी वाली रोटीके स्वादमें बहुत अन्तर पड जाता है- इसी तरह स्नेहभावकी उन्मावाकै पूर्ण भगवदीयोंके मुखसे, उनकी कृपादृष्टिकी सिन्धुगतके साथ, भगवत्कीर्तनका श्रवण जितना सुखर होता है, उतना लौकिक प्रयोजनकी पुस्तिके लिए उठे दीमार्गसे जोड़तोड़ वैठाकर, भगवत्कथामें प्रवृत्त होनेवाले व्यक्तिके मुखसे भगवत्कथा सुनना सुखद नहीं होगा वह तो रूख कीर्तन लगता है- भगवान् गोविन्दके गुण-

गानमे जैसा सुख श्रीगुरुमुनि जेते निर्दोष आत्माराज मुनिबोवो मिलता है, वंसा उन्हें अपनी ब्रह्मात्मिकताकी अनुभूतिमे भी नहीं मिलता है, अतएव श्रीगुरुने—“परिनिष्ठितोपि नैगुण्ये उत्तमस्लोकलीलया गृहीतपेता राजये आख्यान यदधीतवान्” (भा. २।१।९) वचनकी व्याख्यामे श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है “आत्मलामसे उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है ऐसे पारस्वीय वचनोके अनुसार आत्मपर्यवसायी गुणातीत समाधिमे नित्य स्थित होनेपर भी भागवतके रसकी अनुभूति होनेपर, उसकी अप्राकृतता—दिव्यता समझमे आनेपर, श्रीगुरुको यह समझमे आया कि ब्रह्ममे खीन होनेवालेको जब समाधि—अवस्थाकी गरज नहीं रह जाती, तब ब्रह्मानन्दसे भी अधिक रमप्रद भागवतके कथारसको छोड़कर कीन समाधिमे चक्करमे पड़े ।”

इस भगवद्गुणगानके कारण भक्तके हृदयमे भगवदासक्तिरूप स्थायी भाव, जब भगवद्बिरहवलेदके कारण सापयुक्त हो जाता है, तब हृदयमे छिपे हुए भावात्मक भगवान् सदानन्द श्रेष्ठगुण कृपायुक्त होकर बाहर प्रकट हो जाते हैं, आलम्बन-विभाषके रूपमे

भावात्मक हृदयमे विराजे अथवा भावके आलम्बनारतना बाहर प्रकट हो, भगवान् सर्वत सर्वेषा आनन्दमय ही होते हैं इस आनन्दमय परमात्माका मर्तमभाषके रूपमे प्रकटय जब परमात्माकी परमकृपामयी आनन्दानुभूति है यह कृपा मुकुलम है भक्तके हृदयमे भावके रूपमे भरा हुआ तैलु, भगवद्गुणगानके श्रवण-कीर्तनके सखिपवाहते महानिश्च भरे जानेपर एक दिन छलक जाता है । इस तरह कि भक्तके देह इन्द्रिय प्राण अन्त करण आत्मा तथा मन्य भी आत्मीय वस्तुओ की यह अपनी अलौकिक रसानुभूतिसे प्लावित कर देता है ।।

अतः सदानन्द श्रेष्ठगुणके द्वारा निरुद्ध अर्वात् पुष्टिमार्गमे भगीकृत जीवाको चाहिये कि सारी लौकिक आसक्तियोंको छोड़कर केवल भगवान्के गुणगानमे वे तस्पर हो जाय गुणगानके कारण अन्तत सर्वत्र ब्रह्मरूपताकी अनुभूति भक्तकी अपने देह इन्द्रिय-अन्त करण तथा आत्मा से भी होने लगेगी प्रपञ्चकी अनुभूति रह ही नहीं जाती तो स्मृति कहासे होगी ? फलस्वरूप प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति रूप निरीध निरुद्ध हो जाता है

विरोधके सास्तविक स्वरूपके उपदेशक श्रीमहाप्रभु

छान्दोग्योपनिषद्मे माता है कि देवता देवविद्या और आत्मविद्या का उपदेश ता कर सकते हैं, पर गति तो आचार्य ही दिला सकते हैं, आचार्यते जब विद्या मिलती है तो वह मिदलत होती है—“ते होच्युदककोसलैषा सोम्य वेज्रमद्विद्या आत्मविद्या च, आचार्य-कृते गति वक्ता” (४।१।११) “आचार्यद्विद्ये विद्या विदिता साधिष्ठ प्रापतीति” (४।१।१२)

भागवत (५।१२।१२) म भी गुरुकृपाकी महत्ता महत्पादरजोभिषकके रूपमे प्रशंसित हुई है—“रहस्यगतत् तपसा न याति न वेज्यया निवपयाद् गृहाडा न छन्दता नैव जलानि-सुर्वचिना महत्पादरजोभिषकम यत्रोत्तमस्लोकगुणानुवाद प्रस्तूपते प्रात्म्यकयाधिघात निषेवमाणोनुदिन मुमुक्षोर्मतो सती वञ्चति वासुदेवे”

इससे सिद्ध होता है कि भगवन्-भावमें आचार्यकी महत्ता असाधारण है अतः स्वयम् भगवान् ने भी आज्ञा दी है कि "आचार्यं वा विजानीयात् नावमन्येत कहिंचित् न मत्संबुद्ध्या-सूयेत सर्वदेवमयो गुरु" (भा. ११।१७।२७)। अर्थात् आचार्यको साक्षात् भगवद्रूप ही समझना चाहिये - मत्संबुद्धिसे आचार्यको देखना आचार्यके साथ असुययाका व्यवहार है- आचार्यके माध्यमसे ही भगवान् अपनी शक्ति व्यक्त करते हैं- "आचार्यैरेत्यवपुषा स्वशक्तिं व्यगन्ति" (भा. ११।२९।६)।

निरोधके कारणलक्षणमें यह समझाया गया था कि इस भूतलपर भक्तोंके बीच भगवान् का प्रकट होना कारणनिरोध है, अर्थात् भगवान् का भक्तोंमें निश्चय होजाना है, अतएव श्रीमदाचार्यचरणका भूतलपर प्रकट होना उनका भक्तोंमें निश्चय होना ही है, इसे सर्वोत्तम-स्तोत्रके चार नामों- "श्रीभागवतगुह्यार्थ-प्रकाशन-परमार्थ.", "जनशिक्षाकृते कृष्णमक्तिकुण्ड" तथा "मर्वासक्तो भक्तमात्रासक्त." के अवलोकन करनेपर अच्छी तरह समझा जा सकता है.

श्रीप्रभुचरणने अतएव बल्लभाष्टकमें- "पौषापीष्ठ तदेभे कथमपि मनुजा प्राप्नुयु त्वं देवीसृष्टिर्भर्षा न भूयाभिजफलरहिता देव वैश्वानरैषा" कह कर श्रीमदाचार्यचरणके प्राकट्यके कारणनिरोध होनेकी पुष्टि की है, स्वयम् श्रीमदाचार्यचरणने भी- "अयं तस्य विभेनित् नहि विभु वैश्वानराद्राक्यते अन्यस्तत्र विधाय मानुषतनु मा व्यासवत् श्रीपति. दरपागा च कृपावक्रोकनपट्ट-यस्मादतोह मुदा मूर्धायं प्रकटीकरोमि" (सुभो. १।१।१) कह कर अपने प्राकट्यकी निरोगरूपता ही ध्वनित की है वही कारणनिरोधरूपता अपने प्राकट्यकी श्रीमहाप्रभु "अहं निश्चयो" वचनद्वारा यहाँ सूचित कर रहे हैं

पुष्टिमार्गीय जीवोंकी भगवदासक्ति और प्रपञ्चविरमृति में कहीं कोई बाधा न आ जाये एतदर्थ आपने पृथ्वीपरिक्रमा करके उनके समस्त स्वयम् भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा के अलावा अन्य सभी बस्तुओंकी विस्मृति का उदाहरण स्थापित किया, इस व्यापारनिरोधकी ही यहाँ 'रोषेन' पद द्वारा सूचित करते हैं

इस व्यापारनिरोधके कारण ही कलनिरोध भी आपके अनूयायीओंमें प्रकट हुआ है- इसका सूचन सर्वोत्तमस्तोत्रमें- "साभिध्रमामत्र-दत्त-श्रीकृष्णप्रेमा" द्वारा श्रीप्रभुचरणने भी किया है यही 'निरोधपदवी' है, जिसे श्रीमहाप्रभुने पुष्टिमार्गमें भगवान् के द्वारा निश्चय या अगीकृत देवी जीवोंके निरोधके लिए पारण की है- "रोषेन निश्चय निश्चयाना तु रोषाय निरोधपदवी गतो अहं ते निरोध नर्भयामि".

अथवा नार्तामें हम देख गये हैं कि राज्ञ-माधो देवको आपने आज्ञा दी थी- "अब अपने घर जाय सेवा करो, देवी जीव आने सोनकी नाग बीजा तुमको निरोध सिद्ध भयो और जो तिहारी सग करेयो ताहूको निरोध सिद्ध होययो!" यदि यही भाव महा भी स्वीकारें तो अन्वय यों होगा- "रोषेन निश्चय निरोधपदवी गतो अहं निश्चयाना तु रोषाय ते निरोध वर्णयामि" जैसे श्रीमहाप्रभुकी सेवा-कथामय दिनचर्या - कारणनिरोध तथा व्यापारनिरोध-से राजा-

मायो दवेको फलनिरोध—प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति सिद्ध हुई थी, वैसे ही राजा-पापी दवेके सेवा-कषामय जीवनसे पुष्टिमार्गमें निरुद्ध बनेक जीवोंको प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का लाभ होना. यह बरदान श्रीमहाप्रभु इस दलोकमें दे रहे हैं.

निरोधका स्वरूप

मुक्ति और आशयभावापत्ति, (अर्थात् सामुज्य और वैकुण्ठादि लोकमें सेवोपयोगीदेह) की प्राप्तिकी तुलना में, निरोधकी महत्ता यही है कि वह इस भूतलपर होनेवाली भगवदनुभूति है, जीवन्मुक्तिकी तरह.

सामुज्यमुक्तिमें जीवात्मा परमात्मामें लीन हो जाती है. भक्तके हृदयमें किन्तु ऐसे मोहोरण नहीं चल सकते. भगवान् स्वयम् कहते हैं कि "अनिच्छतो गतिमण्वी प्रयुक्ते" (भाग ३।२५। ३६). अतएव वेणुगीतकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने निरोध और मुक्ति की तुलना : नेत्रवान् भक्तिको किसी सुरम्य दर्शनीय स्थल दिखाने और उसे निबिड अन्धकारवाले कूपमें नष्ट कर देने से की है— "इदमेव इन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा यथान्धकारे नियता स्थितिः नास्तीः फलं भवेत् एवं मोक्षोपि इन्द्रियादिबुधताया सर्वथा नहि"

इसी तरह आशयभावापत्तिके भी अनेक प्रकार वर्णित हुए हैं. उनमें, वैकुण्ठादि लोकमें मूलतः तन्त्रिदानन्दारण्यक दिव्य देह, यदि सेवोपयोगी मिलता हो तो, ऐसे दिव्य देहेन्द्रियोंसे भगवदासक्ति तो सम्भव है ही, अतः उसे भक्त भी स्वोकार सकता है तारकालिक भावस्थकता परन्तु भक्तको इस भूतलपर इन देहेन्द्रियोंसे अपने प्रियतम परमात्मके अनुभूतिकी है.

प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिसे जीवके सम्पन्न होनेपर यह अनुभूति सम्भव है अन्यथा श्रीहरि जिन्हें विनिर्मुक्त करते हैं, अर्थात् जिन्हें निरुद्ध नहीं करते, वे भक्ततापरमें मग्न हो जाते हैं—डूब जाते हैं. यहाँ इस भूतलपर भगवान्की मान्तर एवम् बाह्य सयोषाणुमृतिके कारण; अथवा सेवा और कषा के कारण अर्हतिश मोक्षप्रमोदका अनुभव तो भगवान्के द्वारा निरुद्ध जीव ही कर पाते हैं.

लौकिक रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दोंमें आसक्त अर्थात् ससारावेशी दूषित हमारी इन्द्रियोंकी दर्शनरति आस्वादनरति आम्नाणरति स्वर्णरति श्रवणरति, या अन्य भी कर्मेन्द्रियोंके एवम् अन्तःकरणके व्यापारोभे रतिको का अहित दो तरहसे हो सकता है या तो उन्हें कियो भी प्रकारके निग्रहके बिना लौकिक सुख सुखोकी लोभमें निरन्तर गटकते रहने दिया जाये, या फिर उनका पूर्णतया निग्रह करके उन्हें सर्वथा खतम ही कर दिया जाये. विषयव्यापमूल करनेके बजाय. विषयोंसे न्यामूष करनेकी बात तो समझने में आ सकती है पर नेत्रोंकी दर्शनरतिसे यन्त्रित करनेमें नेत्रवान्की क्या लाभ हो सकता है ? इन्द्रियमृत्तियोगा ऐसा दमन या निरोध 'कृपयोग' कहलाता है. श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "सर्वेषामेव निरोधने तत्तद्विच्छातुदेवद्रोहो भवत्येव भगवत्समर्पणे तु तद्वचनेन तदुक्तानेव कृतमिति न कोपि दोषः सम्भवति" (सुबो २।४।१७) इन्द्रियोंकी ख्यातक मृत्तियोगा दमन उचित नहीं है. इसी

तरह लौकिक विषयोंमें इन्द्रियवृत्तियोंका दुरुपयोग भी उचित नहीं है. अतः इनके दुरुपयोग या अनुपयोग के बजाय कुछ भगवदुपयोग श्रेय सेनेपर इनका सदुपयोग ही जाता है

सुबोधिनी (३।१४।४६) में श्रीमहाप्रभुने इतना विस्तृत निरूपण किया है—“प्राणिगोमें सतरह तरहकी वृत्तियाँ होती हैं दस कर्मज्ञानेन्द्रियोंकी वृत्तियाँ, चार अन्तःकरणकी वृत्तियाँ, एक देह सम्बन्धी वृत्ति, एक प्राणसम्बन्धी वृत्ति और एक आत्मसम्बन्धी वृत्ति. इन सभी वृत्तियोंको भगवत्सम्बन्धी-भगवद्विषयक बनानेसे सर्वभयनसमर्थ-सर्वभावापन्न भगवान् प्रसन्न होते हैं”

यही 'भूमासुख' अथवा 'सर्वस्वभान' कहलाता है. “भूमासम्प्रसादादभ्युपदेशात्” (१।३।८) ब्रह्मसूत्रमें यह निरूपण किया गया है कि सभी वृत्तियोंसे भगवदनुभूति भूमासुख है—“यो वै भूमा तत्सुख भास्वे सुखमस्ति”, “यत्र नान्यत्वव्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा” (छान्दोग्य ७।२३।१ और ७।२४।१).

अतः इन्द्रियादिकी वृत्तियोंके सर्वथा अनुपयोग अथवा लौकिक विषयोंमें दुरुपयोग में उनका अहित-अल्पसुख होता है. भूमा-गुरुपीतम श्रीकृष्णमें उन्हें योजित करना उगना वास्तविक सदुपयोग एवम् हित है इसे ही 'प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति' भी कहते हैं यह भक्तका भगवान्में निरोध है. भगवत्स्वरूपमें यह मुख्य निरोध जिनके लिए शक्य न हो उन्हें भगवान्के गुणोंके अर्थ-स्मरण-कीर्तनमें अपना चित्त लगाना चाहिये. सर्व्वी भगवान्के गुणोंमें आसक्ति और प्रपञ्चविस्मृति तिष्ठ हो जानेपर, न तो सासारिक क्लेशोंकी अनुभूति होगी और न भगवद्विरहक्लेशकी ही भगवान्के गुणानुवाचमें भी साक्षात् भगवान्की तरह सुखदानका सामर्थ्य है

केवल गुणकृत निरोध

इस केवलगुणकृत निरोध द्वारा यदि भगवान् सुखदान न करते होते तो उन्हें दयालुके बजाय क्रूर ही मानना पड़ेगा. क्योंकि प्रपञ्चविस्मरणके कारण लौकिक सुखोंके छूट जानेपर, भगवान् यदि भक्तको भगवत्स्मरणकी प्रक्रियामें सुखदान न करते हो तो, भक्ति दुःखनिवर्तक ही मानी जायेगी. सुखप्रद नहीं परन्तु गुणकृत निरोधमें भी इतनी सामर्थ्य है कि भक्त सासारिक क्लेश और भगवद्विरहजन्य क्लेश, दोनोंसे ही उबर सकता है

भागवत (१०।८७।२०) में कहा गया है “अपने दुर्जेव आत्मस्वरूपका भक्तोंको सुखानुभव करानेके लिए भगवान् अनेक रूप धारण करते हैं इन रूपोंमें भगवान् अनेकविध लीला भूतलपर प्रकट करते हैं ऐसे भगवत्चरित्रके सुखसागरमें तैरनेवाले भक्त भगवान्के परण-सरोजोंके बीच निवास करनेवाले हृद्य परमहंसोंके कुलमें प्रविष्ट होनेकी कामनासे निजकुल परिवारीकी छोड़ देनेपर भी, अपवर्ष या सामुज्यभुक्ति की कामना नहीं करते हैं” यहाँकी सुबोधिनीमें कहा गया है—“यतोवतीर्णस्य कृष्णस्य चरित्रमात्रध्वजोपि तादृश आनन्दो

जायते येन विचारकाः अपवर्गमपि परमानन्दप्रापकं न परित्यजन्ति कदाचिदपि न वाञ्छन्ति ...
 गृहे हि महत्सुखं भवति. तस्मिन् विद्यमानं तदपि परित्यजन्ति. यदि भगवति सहस्रांशेनापि
 आनन्दसन्देहो भवेत् तर्हि विद्यमानं को वा त्यजेत्... चरणसरोजैकाधया ये हंसास्तेषां कुलं
 समूहः तेषां संगार्थं विगुष्टं स्वगृहं यैस्तैः सह परमानन्दो बहूधा भोक्तव्य इति मोक्षापेक्षायापि
 भगवत्कथाध्वनणरसोपि को निरूपितः." अतः केवलगुण-कृत निरोधकी अवस्थामें भी, प्रपञ्च-
 विस्मृतिके कारण न तो सासारिक क्लेशकी अनुभूति होती है; और न भगवद्-विरह-जन्य
 क्लेशकी अनुभूति ही होती है, भगवदावस्थितवज होती आन्तर सयोगानुभूतिके कारण.

इस गुणकृत निरोधकी प्रारम्भिक अवस्थामे केवल मन बाणी और ध्वन इन्द्रियोंका
 ही भगवान् मे चिन्तियोग होता है. सकल इन्द्रियोंन नही. ऐसी स्थितिमे अवशिष्ट इन्द्रिया
 कभी अपने-अपने लौकिक विषयोंमे रहती आसक्तिके कारण प्रपञ्चविस्मृति अथवा भगवदा-
 सक्ति में बाधा पहुंचा सकती हैं ! ऐसी बाधा गुणकृत निरोधके बारेमें नहीं करनी चाहिये.
 क्योंकि गुणकृत निरोधमे भी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके एक बार सिद्ध होनेपर, सभी
 इन्द्रियोंसे 'आसक्तिभ्रमण्याय' (प्रेमी या प्रेमिका को गद्द आसक्तिके कारण एकदूसरेके भागमनकी
 या उपस्थितिकी भांगित जैसे होती रहती है) से भगवान्का अभ्यास, या भगवान्के गुणोंका अभ्यास,
 लौकिक विषय-व्यक्तियोंमें तथा लौकिक रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द आदि गुणोंमे भी बना ही
 रहता है. अतः लौकिक विषय इस अभ्यासके कारण निरोधमे बाधा उपस्थित नहीं कर सकते.

अतएव छान्दोग्योपनिषद्मे इस सार्वभौमिकी अनुभूतिमे आसक्तिभ्रमण्यायसे होने विभिन्न
 सञ्चारिभावोंका वर्णन तदादेश अहकारादेश और आरमादेश के रूपमे किया है— "स एवाच-
 म्नात् स एवोपरिष्ठात् स परचात् स पुरस्तात् . स एवेद सर्वमिति अथातो अहंकारादेश
 एवाहमधस्तादहमुपरिष्ठादहम् .. अहमेवेदं सर्वमिति. अथात् आरमादेश एवार्मैवाधस्तादारमैवो-
 परिष्ठादारमा पश्चादारमा पुरस्ताद्... आरमैवेदं सर्वमिति. स एष एव पश्यन् एव मन्वान
 एवं विद्वान् आत्मरतिरारमकीड आत्मगिषुव आरमानन्द स स्वरद् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु
 कामचारो भवति." (७।२५।१-२). विषय भक्तकी कभी अपनेमे भिन्न परमात्माकी अनुभूति
 सर्वत्र होती है — कभी स्वयम्की ही अनुभूति सर्वत्र होने लग जाती है— कभी अपनेमे भिन्न
 परमात्माकी अनुभूति सर्वत्र होने लग जाती है! रामपञ्चाध्यायीमे भगवान्के विरोहित होने-
 पर "कृणोह पश्यत गति क्लिप्तमिति तन्मना" (१०।१०।१९) ध्वननेमे शीपिकाओंके इसी
 तरहके अभ्यासका उदाहरण मिलता है

सर्वविषयोंमे भगवान्के अभ्यासके कारण पुन लौकिक विषयासक्तिमे मनके भटक जाने-
 की आशंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि उन लौकिक विषयोंमे लौकिक-विषयत्वेन तो
 विराग ही रहता है. ऐश्वर्य शीघ्र मग धी जान वैराग्य धने भगवद्धर्मके भक्तमें भी आवेशके
 कारण, इन धर्मोंके आवेशते पूर्व भी परमानन्दरूप भगवान्के धर्मरूप स्थायिभान-भगवद्गतिके
 कारण भी लौकिक विषयोंमे विराग स्थिर रह सकता है. सर्वविभवावकी भी भगवद्धर्मरूप

माना गया है, अतः सर्वात्मभावरूप भगवद्दर्शनके कारण भी लौकिक विषयोंमें विराग स्थिर रह सकता है.

इस विषयवैराग्यके साथ भगवान्के गुणोंके अहृदिष्ठ श्रवण-स्मरण-किर्तनके कारण गुणोंके माध्यमसे सर्वदुःखहारो श्रीहरिको आन्तर मुक्तस्पर्श बना ही रहता है. अतः दुःखी होनेका तो कोई संभाव ही नहीं उठता.

सर्वात्मभावकी अनुभूति ज्ञानमार्गमें भी होती है और भक्तिमार्गमें भी. ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभाव दान्तरस्तात्मक होता है, तथा भक्तिमार्गीय सर्वात्मभाव यथायथ श्रुत सत्य वास्तव्य या वास्तव भानात्मक होता है. ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभावमें केवल आत्मना ब्रह्मानन्दकी अनुभूति होती है पर भक्तिमार्गीय सर्वात्मभावमें सर्वेन्द्रिय भक्त करण तथा आत्मा से भी भजनानन्दकी अनुभूति होती है. अतएव भ्रमरगीतकी सुबोधिनीमें यह कहा गया है कि सकल इन्द्रियोंसे अतीत अधोक्षज भगवान्को सकल इन्द्रियोंका विषय बनाना मुनियोंके लिए भी दुर्लभ अनुभव है, जो गोपिकाओंको सर्वात्मभावके कारण मुलभ हुआ (गुणो १०।४४।२५-२७). हरिकथा-वर्णनके श्रवण-स्मरण-कीर्तनके कारण पनपे इस तरह निरोधका यह उल्लेख, ज्ञानमार्गीय रूढ़ नीरस चित्तवृत्तिके निरोधकी तुलनामें, स्वीकारना ही पड़ता है.

हरिकथाके श्रवण-कीर्तनमें दो तावधानियोंकी अतिशय आवश्यकता है. प्रथम तो यह कि इस हरिकथाको, स्पर्श-ईर्ष्या-द्वेषकी हमारो तुच्छ मनोवृत्तियोंकी सत्पुष्ट करकेका माध्यम न बनाया जाये दूसरे हरिकथाको उदरपूर्ति यथा कीर्ति मधना चन्दा एकत्रित करनेके लोभ-मत्त न किया जाये अन्यथा यह हरिकथा भक्तिमार्गीय उत्कृष्ट निरोध सिद्ध करनेमें विफल हो जाती है—'अमल्लरे अलुम्बेय वर्यनीया सदा गुणा'.

गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोध

अवतारकालमें तो स्वेच्छया स्वरूपका प्राकट्य होता है. अनवतारकालमें स्वरूपके प्रकट न होने के कारण स्वरूपकृत निरोध सम्भव है कि नहीं? यह प्रश्न विचारणीय है.

सांगतफल-प्रकरण (१०।२६।१९) में इस प्रश्नका सुलारा इस शब्दोंमें दिया गया है—'ज्ञानभक्त्योस्तु भाविर्भावार्थगुणयोग आविर्भावरेवेदव्यासिद्ध तदा न ज्ञानभक्त्योरुपयोग'. अतएव भगवान् स्वतएव आविर्भूतः, भक्तिदानार्थ सर्वसाधारण्येन. ईश्वरेच्छया अनियम्यत्वात् अतः आविर्भाव स्वेच्छया मत्स्या ज्ञानेन वा भगवदवतारारतिरिक्तकाले द्वयमेव हेतुः अवतारवधाया तु न तयो प्रयोजकत्वम्. चर्पाकाले जल सर्वत्र मुलमिति न कृपणदीनामनुपयोग शकनीयः" अर्थात् भगवदाविर्भावके लिए ज्ञान वा भक्ति की आवश्यकता है अवतारकालमें तो भगवान् स्वेच्छया स्वतएव सभीके समक्ष प्रकट हो जाते हैं अतः उस समय ज्ञान-भक्ति अनावश्यक ही जाते हैं. एतावता अनवतारकाल में उन्हें अनुपयोगी नहीं मान लेना चाहिये.

सर्वनिर्णय-निबन्ध (का. २२८-२२९) में भगवान्के भक्तिमार्गीय आविर्भावकी प्रक्रिया दिसलायी गयी है : (१) साकारब्रह्मवादके सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्ममात्रके ब्रह्मात्मक होनेसे

भगवन्मूर्तिके भगवदात्मक होनेमें किसी प्रकारके सन्देहकी आवश्यकता नहीं है। (२) भक्तिका बीज भगवदनुग्रह ही होता है। अतः भक्तके हृदयमें किसी विशेष भगवन्मूर्तिके प्रति लगाव पैदा होता हो तो उसका बीज, उस मूर्तिरूपद्वारा भक्तोद्धारके, भगवान्के सबलपने निहित होता है। (३) भक्तके भक्तिमार्गीय भावनामय सकल्पके कारण भी भक्तके तेज्य-स्वरूपकी "भगवान्के एक विशेष-व्यक्तिगत अवतार" के रूपमें मान्य करना चाहिये।

ब्रह्म व्यापक भी है और साकार भी। अतएव भगवन्मूर्तिनो मायिक भयवा चित्तकी एकाग्र धरनेका एक उपकरण माननेकी रीति वास्तव सिद्धान्तसे विपरीत है "ये यथा मा प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजाम्यहम्" (गीता) बचनके अनुसार मूर्तिमें साक्षाद् प्रजापिपकी सच्चे हृदयसे भावना करनेपर सचमुच ही प्रजापिपका उस रूपमें प्राकट्य होता है।

भगवान्के इस कृपाणय सकल्प और भक्तके भावनामय सकल्प के बलसे प्रकट हृदिमूर्ति-का ध्यान अपने हृदयमें, भवनको अर्थ सभी रूपोंको मूलाकर, सदा-निरन्तर बनाने रखना चाहिये, यह भगवान्के स्वरूपमें अन्तःकरणकी निरोध है इसी तरह इसी स्वरूपके नेत्रोंसे दर्शन तथा स्पर्शेन्द्रियसे स्पर्शन के लिए आनुरता होनी चाहिये। हाथोंकी इस स्वरूपकी सेवा के लिए उद्यत रहना चाहिये पैरोंकी इस स्वरूपके दर्शनार्थ या भजनार्थ दोड़नेकी उद्यत रहना चाहिये जागोते भगवद्गुणवान् मुनते समय, वे गुण, इसी भगवत्स्वरूपके गुण हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये, चालीमें कीर्तन, इस स्वरूपके रूपसौन्दर्यका गुणमापुर्णका और लीलावाच्य का करना चाहिये।

अतमपित-अन्न रस्य पुण्य गन्ध आदिका त्याग पहले ही सिद्धान्त-रूपमें—"अतमपित-वस्तुना तस्माद् वर्जनमाचरेत्" द्वारा समझा दिया गया है। अतः पुनर्दत्ता अनावरण है

यहां यह अवश्य है कि इन्द्रिया तीन तरह की होती हैं (१) जिनका साक्षात् भगव-इन्द्रियोग शक्य हो यथा नेत्र स्वना कर्ण बाणी हस्त चरण और अन्तःकरण (२) कुछ इन्द्रियोग शक्य हो यथा नेत्र स्वना कर्ण बाणी हस्त चरण और अन्तःकरण (३) पूर्वोक्त अतः इन्हें भगवत्प्रसादरूप अन्तःकरण तथा गन्ध के ग्रहणके प्रथमे दक्षिण करना चाहिये (३) पूर्वोक्त योगी प्रकारकी इन्द्रियोगे व्यापार ग्रहणात्मक होते हैं चित्तज्जनात्मक नहीं अतः उनका विषय साक्षात् भगवत्स्वरूप अथवा या स्वरूपसम्बन्धी प्रसादी अन्न-रसको बनाया जा सकता है, पर पापु और उपस्थ इन्द्रियोग व्यापार ग्रहणात्मक न होकर चित्तज्जनात्मक होता है अतः इनका विनियोग कथमपि साक्षात् भगवत्स्वरूप या तत्सम्बन्धी पदार्थोंके ग्रहण में शक्य नहीं है किन्तु पापुसे मलाशयात्मके द्वारा शुद्ध देहकी भगवत्सेवोपयोगी बनाया जा सकता है इसी तरह कृष्णसेवामें सहयोगी सन्ततीके जन्मके लिए उपस्थका भी उपयोग सम्भव है—"पुत्रे कृष्णप्रिये रति"

इस तरह जिस इन्द्रियका, साक्षात् अथवा परम्परया भी भगवत्स्वरूपमें विनियोग अथवा भगवत्कार्योपयोग दिखलायी न देता हो, उसका विनियोग अच्छी तरह निग्रह करना

चाहिये. इस नियमके पालनसे अनवतारकालमें भी गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोध शक्य न जाता है

भक्तको भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा के द्वारा प्रपञ्चविरमुक्ति और भगवदासक्ति सिद्ध हो जाती है

निरोधकी सिद्धि साधनावस्थाकी अन्तिम अवधि है कोई भी साधन षोडशग्रन्थमें वर्णित अष्टाक्षरपञ्चनाक्षर-मन्त्र (या अन्यत्र वर्णित मन्त्र—“ह्र ह्र कृष्ण भुस्वारविन्दविरहान्ते” भी) उभयकृत निरोधसे अर्थात् कृष्ण-सेवारूपा-मय जीवनसे परत्तर-उत्कृष्ट साधन नहीं है न इस षोडशग्रन्थमें वर्णित यमुनाष्टक या कृष्णाष्टक जैसे स्तव (या अन्यत्र भी वर्णित सर्वोत्तम आदि स्तोत्र भी) इस निरोधसे परत्तर-उत्कृष्ट साधन हैं. भाष्य निबन्ध आदि ग्रन्थोंमें वर्णित अनेकविध ब्रह्मविद्यायें या सर्वनिर्णय आदि ग्रन्थोंमें प्रकाशित तीर्थाटन भी इस गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोधसे परत्तर साधन नहीं हैं

इस निरोधसे परत्तर यदि कुछ है तो वह है आगे सेवाकालमें वर्णित होनेवाला अलौकिक सामर्थ्य रूप फल, जो इस निरोधका प्रयोजन है परन्तु उसे तो ‘फलनिरोध’ ही पुन कष्टा-जाता है

निरोधलक्षण ग्रन्थका प्रस्तुत संस्करण, वि स १९७३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफ-सेट् प्रतिसङ्घात पुनर्मुद्रित रूप है. इसमें दिग्दे परिशिष्टोंको हमने यथोचित क्रममें पुनर्व्यवस्थित किया है पूर्वसंस्करणके प्रकाशक थे गोस्वामीश्री १००८ श्रीजीवनलालजी महाराज (वीर-बन्दर) सम्पादक थे श्रीमूलचन्द तुलसीदास वैलीवाला तथा श्रीवीरजलाल प्रजदास साकलिया एन सभी महानुभावोंका हम हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं



ग्रन्थसङ्ग्रहपरिचयः ।



१ सर्वां मुद्रितटीका अन्वयपुस्तकद्वय च इष्टा धीमदाचार्यमकटित निरोधलक्षण मुद्रितमन्त्राणि । तत्र विद्यमाना पल्लभेदा श्लोकमभेदाश्च जिज्ञासुभिर्यिचरणेषु मुद्रितेषु द्रष्टव्या । गूढमात्रस्य पुस्तकद्वय उद्घनकोटिजगद्वल्लितसग्रहस्य, प्राय शुद्ध प्राचीनं च ।

२ चाष्वाधीगोपेसकृतविवरणस्य पुस्तकपञ्चकमुपलब्धम् । तत्र पुस्तकद्वय प० गूढालसग्रहस्य लिखितसग्रहस्यम्, एक प्राचीन विन्दु जगद्व, अन्यत् नूतन, प्राय शुद्धम् । श्लोक शुद्ध नूतन च धीयल्लभलाकानाम् । चतुर्थं प्राय शुद्ध, प्राचीन च रा० तनमुत्तरामसकाशादुपलब्धम् । पञ्चमं धीजीवनलाकानाम्, शुद्ध दिव्यण्युत्त च ।

३ धीविद्वेसात्मजधीयल्लभकृतटीकाया पुस्तकद्वयमुपलब्धम् । एक प० गूढालसग्रहस्यम्, अन्यत् धीमजराणावाम् । अथ प्राचीन प्राय शुद्ध, द्वितीय नूतन, परन्तु क्वचित् शोधितम् ।

४ धीहरिपत्रपत्रणकृतविद्वते द्वादशपुस्तकानि प्राप्तानि । तत्र पुस्तकत्रय प० गूढालसग्रहस्य, अन्यत् पुस्तकत्रय उद्घनकोटिजगद्वल्लितसग्रहस्य, द्वय धीजीवनलाकानां, एक धीनृसिंहलाकतनपधीगोपेसकृतलाकानां, एक गोस्वामिनीधीकृष्णविषयाणां, एक रा० तनमुत्तरामसकाशादुपलब्धम् । एक भाई नारायणशास्त्रिण । सर्वाण्येतानि प्राचीनानि प्राय शुद्धानि । एक तु धीहरिराजहस्ताक्षरपुस्तकमिति प्रतिभाति । धीहरिराजैनिरोधलक्षणविवरण वारद्वय लिखितमिति प्रतिभाति । पञ्चाष्टोपि वा विस्तृत लिखित विवरणमत्र मुद्रितम् । पूर्वं लिखित तु जिज्ञासुवृत्तपर्यं परिशिष्टे निवेदितम् । पूर्वलिखितविवरणस्य पुस्तकद्वय मिलितम् । एक धीयल्लभलाकानाम् अन्यत् रा० तनमुत्तरामसकाशादुपलब्धम् । उभयमपि प्राचीन प्राय शुद्ध परन्तु मुद्रितम् । यथारस्येव परिशिष्टे मुद्रितमन्त्राणि । रा० तनमुत्तरामस उपलब्धे पुस्तके ध्वमपि भाषाया लिखित 'निरोधलक्षणको टीका अथन धीहरिराजपुत्रे कीर्तीधी पत्र २२' इति । एतेनास्मदुक्त समर्थ्यते ।

५ चतुर्थं मुद्रित स्वयन्वयन धीयल्लभानाम्, धीगोकुलवाद्यानाम् । एतद्विवरणस्य पञ्च पुस्तकान्युपलब्धानि । एक प० गूढालसग्रहस्यम् । द्वितीय उद्घनकोटिजगद्वल्लितसग्रहस्यम् । श्लोक धीजीवनलाकानाम् । चतुर्थं सुरतिस्वगोस्वामिधीगिरिवरणां गोस्वामिनीधीकृष्णविषयाणि रूपया प्रदत्तम् । पञ्चमं सुन्दरलाक भाणिस्यचन्द्र धी ए इत्येतेन प्रापितम् । इदं नूतनमशुद्ध च । धीजीवनलाकाना तस्यैव नूतन, प्राय शुद्धम् । उद्घनकोटिजगद्वल्लितसग्रहस्य प्राचीन प्राय शुद्धम् । अन्यद्वय प्राय शुद्धम् ।

६ पञ्चमं धीपुरुषोत्तमानाम् । अन्वयपि यद् पुस्तकानि मिलितानि । एक योगिधीगोपेसराणां हस्ताक्षरेर्लिखितदिव्यण्युत्त शुद्ध प्राचीन च, प० गूढालसग्रहस्यम् । द्वितीय गोस्वामिनीधीगिरिवरणां लाकतनपधीगोपेसकृतलाकानाम् । इदमपि प्राचीन प्राय शुद्धम् । श्लोक गोस्वामिनीधीजीवनलाकानाम्, नूतन, प्राय शुद्धम् । चतुर्थं गोस्वामिनीधीकृष्णविषयाणि अष्टकम्, प्राय शुद्धम् । पञ्चमं काशीस्य धीगिरिवरणीनहराराजाभितरामकृष्णभट्टस्य, गुजराती अक्षिपलेनदरवालादेन सङ्घं प्रदत्तम् । यद् अस्मदीयं स्वशास्त्रिभाईनारायणस्य ।

७ षष्ठं धीमजराणाम् । एतद्विवरणस्यैकमेव पुस्तकमन्त्राभिरुपलब्धम् । कुत्रापि पुस्तक मिलति । अत्र एक पुस्तक यद्व्यपया सुरतिस्वधर्मिगीरिवरणा अत्रिद्वारस्यस्यैव उपलब्धम् । तत् तत्रत्यगोस्वामिनी धीकृष्णविषयाभिरुपलब्धया बरदेवदासपतितनहृद्द्वारा अथस्तकाया प्रेषितम् । एतदुर्लभपुस्तकप्रदानेन यथमत्यन्तमनुपूरीतास्तानि । प्राथम्यायै अन्यत् अपि गोस्वामिय पुत्रा अनुकुर्वुरिति । अस्मिन् पुस्तकसङ्घे प० गूढालसग्रहाया 'कार्योपपन्न काशीदास नारायणदास द्वाला, धी ए एक एक, धी

सुख्यद्वी येथी विमुचनदास' इत्येतेषां महत्सुपकृति । डॉ एम् के बेलवलकर एम् ए पी एच. डी इत्यस्य, गोस्वामि श्रीगोवर्धनलालानां, कल्याणदासिण्यस्य, गोस्वामिधीरहनुमलालानां माधवजाकिण्यस्य, गोस्वामिधीश्रीपनलालानां, गोस्वामिनीधीकृष्णवियाणां, बळदेवदासस्यापि, गोस्वामिधीमजरसानां शास्त्रिभाईनारायणस्य च महत्सुपकृति । तन्मुखराम मन सुखराम त्रिपाठी श्री ए, सुन्दरदास माप्ति स्वयच्छन्द् श्री ए, नटवरलाल सूर्यराम देसाई श्री ए इत्येते सहस्रं प्राचीनदुलललितपुस्तकग्रहणानां यत्नामनुगृहीता वयम् । 'अकम्मिप्रोत्सवकाल रामकृष्ण पटना' इत्यस्य प्रतिदिल्लने कश्चिदुपकार । अस्य यावत्प्राथम्यविवरणसमेतस्य निरोधलक्षणस्य सुदृष्यस्य गोस्वामिवर्षधीजीवनकाले सहस्रं कृत इति तेषां सुपकृति वय सधिनय स्ताराम । प्राथम्यमहे चापेपि गोस्वामिन धीमतो वैष्णवाश्रिताननुकर्तुरिति । एतेषां गोस्वामिपरिणी कृपयैव निरोधलक्षण वद्विवरणयुत मुद्रित साम्प्रदायिकानां सुगम भविष्यतीति ।

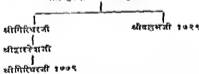
विवरणकृता परिचय ।

१ तत्रादी धीमद्वलुभाचार्यप्रकृतित निरोधलक्षण वद्विवरणयुत समुद्यते । स्त्रीपानुग्रहाय भाचार्यैस्त्रकडीकृतमिति । भाचार्योणां प्रादुर्भावरतु १५३५ वर्षे विप्रकृष्ण एकादश्या इतिवागरे । तेषां चरित्रादिकं तु साम्प्रदायिकवातांशित्तु प्रतिदमिति मेह विस्तार । गोदराम-येष्वय निरोधलक्षण मस्य पद्मदत्तस्यवा भवते ।

२ मयम मुद्रित विवरण चावाधीगोपेनामात् । इमे धीगोपेना धीमद्वलुपरगाना सहस्रं पुत्रधीउत्पत्तमाना वृत्तव । गोदराम-येपरि वद्वल्लेषा टीका इत्यने । तदुल्लेखककटिप्पणी स्वतु तेषांमामि प्रकृतिता । भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६५२ वर्षे प्रादुर्भूता ।

३ द्वितीय विवरण धीविहृतेनामत्रधीवलमानाम् । इमे धीवलभा धीमद्वलुपरगपञ्चमयुत्र धीरपुनायतभ्रुवर्षी सववा विभूषवत १७२९ वर्षे कालिककृष्णद्वादश्या प्रादुर्भूता । नवरत्नविष्णवावयवतत्रिणवदीकालेवापल्लैकादश्या प्रणेतर एत एव । नवरत्नविष्णवा षष् म्प्राचीन पुस्तकमस्मानिदम एम् । तत्र धीविहृतरावमत्रधीवलभकृता नवरत्नविष्णो तिसमासी वदने । एतपुनक धीमद्वोस्वामिधीद्वारैधरात्मज-मिगिरिपरणां सवम् १८३२ पीपयुक्ते लिखितम् । तलुचरभोपदि अस्तपिद्व्यनरगानां लेख इति लिखितम् । सपदावयवसदृशे तेषां साम्प्र एव दर्शित ।

धीविहृतराव — धीविहृतेव



एतेन तेषांकृतव्याख्यास्य प्रणेताशरीरि धीरपुनायनदया इत्यनुमीयते । दशमस्कंधधीनु बोधिनीलेखस्यापि प्रणतारम् एषेपि प्रतिभाति । विशेषेण तु पुष्टिभक्तिसुधाया सहस्रमवर्षस्य नवमासिः मपञ्चितम्, त्रिज्ञानुभिन्नत्रि वद्व्यम् ।

४ तृतीय व्याख्यान धीमद्वरिधमपरगानाम् । धीहरिदया इति प्रतिददा हि ते । धीमद्वलु चरनद्विनीयवमारधीगोति 'द्वारयमेवपुत्रधीकल्याणरायाणां ज्येष्ठपुत्रेण भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १६७०

वर्षे प्रादुर्भूता । एषां प्रकृतसम्बन्धसंस्कारस्तु भीमिहलेभराणां चतुर्थशतके भीमस्तुभे भीमोक्तुलनायेति-
 प्रतिद्वैते कृत । भीमिहाराणां नामसंख्यायां सूक्ष्मप्रत्या १२५० । सम्प्रदाये प्रसिद्धानि शिक्षापत्रा-
 ण्यपि ते प्रादुर्भाविताः । भीमस्वरिचनचरणस्वरूपे तु शुद्धपुष्टिमार्गीय फलात्मक रसात्मक विप्रयो-
 गायक साक्षाद्देव्य भूर्तिमात् प्रादुर्भूतमनुभूयते । तेषां व्याख्यानानि सर्वाण्यपि अत्यवतुगुणानि ।
 नि साधनजीवानुग्रहार्थमेव तेषां प्राकट्यमिति प्रतिभाति । अत एवात्र मुद्रित तेषां निरोधलक्षणव्या-
 ख्यान निगूढ मत्तयनुगुण सरस भक्तिनिह्वनानुग्रहार्थं विराजते ।

५ चतुर्थं व्याख्यान भीमस्तुभानाम् । इदं व्याख्यान भीमोक्तुलनाया नामिति के चिद्वदन्ति । भावार्थो
 पुस्तकद्वये श्रीपुस्तककृतमिति लिखितम् । अन्यभिक्षादशैत्रये विमपि नाम नास्ति । भीमोक्तुलनाया
 प्रसिद्धानु सूक्तवटीकानु भीमिहलेभरप्रभुचरणान् स्वपितृचरणत्वेन आरभ्ये नमस्तुर्वन्तित, अथवाग्नौ
 तथैव करन्ति । अस्मिन् निरोधलक्षणविवरणे यद्यपि भीमस्तुभचरणा नमस्कृता, तथापि सामान्यतः,
 न तु स्वपितृचरणत्वेन । अत एव कविस्वन्देहः । भीमोक्तुलनायास्तु भीमिहलेभरप्रभुचरणानां
 पदुर्भूतव्यव सागरीर्षेणुक्तसप्तम्या १६०८ वर्षे प्रादुर्भूता । पौषहृणनवम्यां १६९० वर्षे सिद्धि
 गता । भीमप्रभुचरणलात्तु इमे अतिप्रसिद्धाः । पिद्मादीनां सन्यासपापिण्डना मुचमर्दनं कृत्वा
 मोगलराजजहागिरि च यतीकृत्य स्वमार्गारक्षा एतेरेव कृता । सतां कण्ठे माला च तैरेव सुरक्षिता
 स्वस्वरूपबलेनैव । भीमदाचार्यप्रकटितभीमद्रागपतास्तुयोधिन्या विशेषप्रचारतैरेव कृत, अतस्तेषां
 भीमोचोचिनीप्रयतंका इति नामापि प्रसिद्धम् । साम्प्रदायिकनार्तादीनां प्रकटीकर्तारोपि ते एव । स्व
 सम्प्रदायस्य प्रचारायै प्रयत्नार्थं च गुर्जरभूमिरेकवार स्वचरणनक्षिणामोक्षिते पवित्रीकृता । दक्षिणे
 गुण्यपत्तनपर्यन्तमेकवार लक्ष्यमेव गता । परन्तु तत्रस्थान् कृष्णमक्षिरसानधिकारिण एव तत्रास्थ
 वर्तन्त । दक्षिणाया 'भेता' इत्युपहास तैरेव कृत । तस्कीतनादियु च प्रसिद्ध । भीमस्तुभस्योक्तलि-
 खान्तमुष्पापलिपुष्टिप्रवाहमर्षादातिद्वान्तरहसान्त करणप्रयोधपणु शोकीभक्तिवर्षिनीस्वादीनां प्रत्याना
 विदुतय तेषां नवनगोचरीभवन्ति । भीमस्तुभभङ्गकलीले श्रीगोपालदासकृतमालाप्रसूये च तेषां
 चरित्रादिकं सुविस्तृत, विशेषतश्चात्सुभिलसिवापलोकीकवीयम् ।

६ पञ्चमं व्याख्यान भीमस्तुभोक्तुलनायाम् । भीमदाचार्यैव पुष्पगणनया सप्तमी सप्त्या विभूय
 यन्तो भाद्रपदशुद्धदशम्यामेकादश्या वा १०२५ वा १०३४ वा वर्षे मोक्षता । तेषां विवरणं या
 चार्थतीत्या त्रुशुशुभोपकमिति प्रतिभाति । विशेषत तेषां चरित्रजिज्ञासुभिः पुष्टिभक्तिमुपैति मारिक
 पत्रिकाया पञ्चमवर्षस्य तृतीयांके दृश्यं । यावत्प्रायः कायमान्तरं वा तेषां चरित्रादिकमस्मात्सिद्ध
 तैव निवेदितमिति भावः पुनरनूयते । अत्र मुद्रित तेषां निरोधलक्षणविवरणं शास्त्राधरीत्या त्रुशुशुभोय
 कमाचार्याचार्य सप्तम्या प्रकटीकृत्यं विराजते ।

७ षष्ठं व्याख्यान भीमस्तुभस्तुभजीवनराजानाम् । इमे भीमजराजा माघहृणद्वितीयायां
 १६८२ वर्षे प्रादुर्भूता । भीमस्तुभचरणभीमिहलेभरगुर्वीयकुमारभीमदालकृष्णानां मरैत्रा दशदि
 गन्तविजयिगोस्वामिभीमस्तुभोचरणानां चित्तव्यवस्था । अयुजा सुरतिपुरमलकुर्वन् श्रीबालकृष्णप्रभु
 गोकुले भीमद्वारकापीथरप्रभोत्सवने विराजितवान् । स्वाम्येव लक्ष्मण स्वसिरति भीमजराजे
 सुरतिपुरे सेवितम् । अत्र निरोधलक्षणव्याख्यानं मयकाचरणे भीमजराजित्स्वरूपमेव निरोधभावत्वेन
 सूचितम् । तेषां रोचिषा भीमदालकृष्णप्रभु सुरतिपुरे भीमस्तुभोचरणानां भूमिं विराजितवान् । य
 एव भीमदालकृष्णप्रभुमद्भक्तसोत्सवनाय् भीमजराजायां सिरति अयुजा विराजते । श्रीपुस्तोचरा
 स्वपितृचरण भीमजराज स्वसप्तमि गणपति । भीमजराजानां प्रमथा भावपूर्णा बहवः दृश्यन्ते ।
 गीतामृततरंगिणी रसगोपालमहेन काश्चन श्रीपुस्तोचरनाथ प्रकटीकृता । सप्तशोकीचनतु शोकी
 कृष्णाक्षयादिपौडसाम-येषु बहूनां व्याख्यानानि भावा मकानि तै प्रादुर्भावितानि ह्यगोचरीचरन्तीति ।
 अत्र अस्मात्निरोधलक्ष्यानि पञ्चविरणानि प्रकटीकृत्यन्ते एतावदेव प्रसिद्धानि, तथापि एतावन्त्येव
 विवरणानि निवाचिकानीति तैव चरन्ते बहुमस्यानि । अतो यदि अत्रामुद्रित निरोधलक्षणव्याख्यान

केवादिद् महासुभाषानां पुस्तकसंग्रहे विद्येत् श्रेष्ठता ते रूपया यदि तद्व्यक्तकानां प्रेषयिष्यति,
 तदा तदपि सोपकारं स्वीकृत्य मुद्रयिष्यामः । प्रायैवामहे च विद्वांसः अकदेतो प्रायेणां रूपया स्वीकृत्य
 सम्प्रदायोक्तिं कर्तुमुच्यता भविष्यन्तीति । शीटाग्रामरत्नवाक्याङ्कितः सुतमेवाक्यामिर्वद् श्रीमपुराणी-
 शान्तिरसंग्रहे विशेषलक्षणश्च अन्यत् टीकाद्वयं वर्तते, एका श्रीकल्याणरायाणाम्, द्वितीया श्रीदेवकी-
 नन्दनायाम् । प्रवृत्ते कृतेषु नास्मात्कश्चिन्नरुपमुपलब्धम् । अतस्तत्संग्रहमत्र कर्तुं वयमवाप्ता इति ।

वामनजयन्ती १९०१. }
 सुन्दरं. }

मूलचन्द्र तेलीवाला,
 धर्मशाला सांकलीया.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

एव दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥
गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
घृन्दायने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥
महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।
तायदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥
महतां कृपया यद्भूत् कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरक्षवत् ॥ ५ ॥
गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनां नैयात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥
क्षिप्रमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं यतिः ॥ ७ ॥
सर्वानन्दमपस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृत्तः सगुणान् श्रुत्वा पूर्णः ह्लादयते जनान् ॥ ८ ॥
तस्मात् सर्वं परिलज्ज निन्दैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरैर्गोयाः मशदानन्दना तनः ॥ ९ ॥

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
 निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते' ॥ १० ॥
 हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
 ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्वहर्निशम् ॥ ११ ॥
 संसारावेशादुपानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
 कृष्णस्य सर्ववस्तुनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥
 गुणेष्वविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
 संसारभिरहक्लेशै न स्यातां हरिबन्धुखम् ॥ १३ ॥
 तदा भवेद्यालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।
 बाधदाह्वापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥
 भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरामो विषये स्थिरः ।
 गुणैर्हरिसुखस्पर्शात्त दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥
 एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षां हरिबर्णने ।
 अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥
 हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
 दर्शनं स्पर्शनं स्पर्ष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥
 अवनं कीर्तनं स्पर्ष्टं गुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
 पापैर्भलांशल्यागेन शेषभावं तनौ नपेत् ॥ १८ ॥
 यस्य वा भगवत्कार्ये यदा स्पर्ष्टं न दृश्यते ।
 तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥
 नातः परतरो मज्जो नातः परतरः स्तवः ।
 नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणप्रकटितं निरोधलक्षणम्
 समाप्तम् ।

१ तमिति पाठ । २ भूम्नि इत्यथ योजयेदिति पाठ । ३ हरे कुशलवर्णयामि
 पाठ । ४ उत्कर्षमिति पाठ । ५ अवनवर्णने इति पाठ । ६ स्पर्ष्टमिति पाठ ।
 ७ नापौरिति पाठ । ८ शेषभागमिति पाठ ।

धीरुष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविद्युतिसमेतम् ।

श्रीमद्भागवतसुयोधिन्यामन्वेषु च स्वग्रन्थेषु निरोधस्य निगद्यमानत्वात् तमाचक्षणाः
तदवश्यंभावसूचकं मनोरथस्वरूपमाहुः ।

यच्च दुःखं यशोदाया मन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

गोपिकानां स्थित्यन्तेन सर्वोत्कृष्टता स्नेहतामता च सूचितेति शेषम् । स्यादिति
प्रार्थनायां लिङ् । क्वचिदिति दुर्लभत्वम् । तथा च बहिराविर्भूतो भगवान् मातृचरणादीनां
विरहातुभवजननार्थं यदा गपुतं गतस्तदा यद्विरहात्मकं दुःखं समजनि तद्भवेदित्यर्थः ॥ १ ॥

विप्रयोगदर्शनां तादृशरसिकानुभवसाक्षिकान्तरसुखविषयकं मनोरथमाहुः ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

स्थिति पूर्ववदेव । यद्यपि नास्त्वत्र संशयश्लाथापीष्टतमस्यार्थस्य सिद्धौ सन्देहा-
स्पदताया लोकेऽपि दुर्निवारत्वान् किमुत सर्वसाधनाप्राप्यलाखिलप्रमाणागोपरस्येति
विभावनीयम् । ननु विहाय सर्वप्रसिद्धं संयोगसुखं कथमान्तरामिलाय इति चेत् । न ।
आन्तरस्य महाफलत्वादस्यामवस्थायामसौचित्याद्गुरुत्वंसंयोगसुखस्य च विजातीयवपुः-
साध्यत्वादितिदिक् ॥ २ ॥

अथ 'सर्वेन्द्रियसुखासादो यत्रास्तीत्यमिमन्वते । तत्रास्तीच्छां ससद्गुणसुखकण्ठां
कवयो विद्'रितिलक्षणलक्षितोत्कृष्टिकाजनकोत्सवविषयकमाहुः ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
घृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

यदा भगवदुक्तं याविकमादायोद्धवः समागतस्तदा जातो यथा घृन्दावने रास-
मीडायां भगवदन्तर्यानान्तरामाविर्भूते सति जातो यो वा गोकुले जात इत्यर्थः । सर्वेषामपि
प्रत्येकं विजातीयोत्कृष्टिकाजनकत्वेन स्पष्टणीयत्वात् सर्वविषयकं स इति ध्येयम् ॥ ३ ॥

अवान्तरभेदविशिष्टान्तरविषयकमाहुः ।

महतां कृपया याचन्नगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

‘अस्मिन्मार्गे स्वामिन्य एव सुखं’ इति श्रीप्रभुचरणोक्तिरनुसन्धेया । तथा च महत्पदवान्यास्ता एवेति तादृशगुरूणामनुकम्पयेत्याशयः । सुखायेति । सुखजनकः सादित्यर्थः । सुखसमूहरूपो भगवान् यद्यहीलाविशिष्टः कीर्त्यते तत्तहीलासहितो ह्या-
विर्भूतः सन्नन्तरानन्दमनुभावयतीत्याशयः ॥ ४ ॥

इदानीं विजातीयकीर्तनविषयकं तमाहुः ।

महतां कृपया पद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु श्लिग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

स्वामिनीनां कृपया हृदि स्फुरितस्य भगवतो यत्कीर्तनं तदेव सर्वदा मनसि सुखं स्यात्, न तु लौकिकानां विहितकीर्तनोपदेष्टृणां कृपयेत्यर्थः । एषां मर्यादासत्त्वेनोक्त-
पुष्टापप्रवेशात् । तत्कृपास्फुरितकीर्तनस्य विहितकीर्तनस्य च तारतम्येन सुखजनकत्वे दृष्टान्त-
माहुः श्लिग्धेति । रूक्षभोजनं रूक्षभोजनम् । तथा च श्लिग्धभोजनरूक्षभोजनयोस्त्वारतम्येन
सुखजनकत्वं यथा तथा तत्कीर्तनयोरपीतिभावः । एवञ्च महत्कृपया स्फुरितस्यैव कीर्तनं नै-
हृदि सुखजनकं भवत्वित्यर्थं मनोरम इति ध्येयम् ॥ ५ ॥

ननु मर्यादामार्गीयविहितकीर्तनेषु अशुपुलकादीनां सत्त्वात् कथमप्रीवाग्रह इत्या-
शंकाभासस्य समाधानमाहुः ।

गुणगाने सुखावासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा श्लुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गोगोकुलपतेरनन्यगोकुलस्वामिन इति यावत् । गुणगाने क्रियमाणे
यथा ध्यानन्दो भवति तथा विरक्तानां मशमावापञ्चायां श्लुकादीनामपि आत्मनि
न भवति, किमुतान्यनेत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं निरोधसाधनीभूतभगवन्विषयकं निरोधावश्यंभावसूचकं मनोरमसुखस्वेदानीं
तादृशमनोरमविषयीकृतं दुःखे जायमाने कदाचित् कृपया आन्तर सुखमपि प्रयच्छति तदाहुः ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्यं निर्गतं यद्भिः ॥ ७ ॥

‘भवेदिति देहलीदीपन्यायेनोभयनाप्यन्वेनि । यदा कृपालुर्भवेत् तदा विरहदुःखा-
नुमपितृहृदयस्थितं सदानन्दं मगरत्नरूपं स्वयं सर्वज्ञेन मायोदाहृतेन अव्यगोचके
पक्षिपत् तिमिस्ताळं हृदय एव पक्षिराविर्भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु 'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ती'त्यादिमर्यादामार्गीय-
श्रवणादिभिरप्यानन्दो भगवदाविर्भावश्च भवेतामेव तत्क्रोयमाग्रहो दुःखानुभव इत्यासंख्यादुः।

सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् भुत्वा पूर्णः ह्यावयते जनान् ॥ ८ ॥

हेतुं विना कृपानन्दो नैलाशयः । तर्हि गुणगानस्य किं फलमत आहुः हृद्गत
इति । स्वगुणश्रवणेन कृपया पूर्णः सन् स्वरूपानन्देनाहुतान् करोतीत्यर्थः । यथा चाद्य-
रमणे रासक्रीडायां विरहानुभवानन्तरं 'जयति तेभिकं जन्मने'त्यादिना कृते गुणगाने
कृपया पूर्णः सन् स्वरूपानन्दं प्रायच्छत्, तथाप्राप्यान्तररमणे संकल्पप्रतिभातो भगवान्
भजनानन्दस्य कथनं लेशं ददातीत्याशयः । 'यद्यपि गतिस्मितप्रेक्षणे'त्यत्र गुणगानं नोक्त-
मान्तररमणे, तथापि चाद्यरमणानन्तरगन्तर्धाने विनापि गुणगानं आन्तरमात्मान्, परन्तु
साधनदशायामेतच्छरीरावच्छिन्नरामनीयमेव सरणिरिति ध्येयम् । ननु विकलत्वास्वास्थ्य-
नाशकान्तररमणसम्पादनं भगवतो नोचितमिति चेत्, न । विप्रयोगसैनोद्बोधकमिदमा-
न्तरमित्यधिकतरास्वास्थ्यविकलत्वयोर्जनकमेव । तथा चोक्तं श्रीमद्भजरत्नप्रष्टेन श्रीगोपी-
जनवल्लभेन 'यथाधनो लब्धधने प्रणष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेदे'ति । तथा च
किञ्चित्कालिकोऽयमाविर्भावो निर्धनस्वाल्पकालिकधनलाभ इव भक्तस्य सङ्कल्पप्रतिभाते
भगवत्स्वरूपे संयोगसत्त्वाद्बुलाभः । ततन्तदनवाहारेपिकतममस्वास्थ्यं विकलत्वं च
भवतीति ध्येयम् ॥ ८ ॥

एवं कृपोद्रेकजनकगुणगानमावश्यकमित्याहुः ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गैः सच्चिदानन्दना स्वतः ॥ ९ ॥

निरुद्धैः पुष्टिमार्गीयैः सदानन्दपरैः श्रीकृष्णमात्रनिष्ठान्तःकरणैः एवंकृतौ
स्वतोऽनमिलपितापि सच्चिदानन्दता स्फुरतीत्यर्थः । तथा च गुणगानं तु कृपोद्रेक-
जननार्थमेवेयं तु स्वत एव भवतीति भावः ॥ ९ ॥

नन्वीदृशालौकिकप्रकारे किं प्रमाणमित्याशङ्क्य खानुभवमेव प्रमाणमाहुः ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं चर्णयामि तम् ॥ १० ॥

निरुद्धः पुष्टिमार्गीयोऽहं रोधेन भजनानन्दातिरिक्तयावत्फलम्यो निवृत्त्या निरोध-
पदवीं निरोधाधिकरणतां प्राप्तः सन् निरुद्धानां पुष्टिमार्गीयाणां रोधाय रोधसिद्धौ
यदधिकरणतामहं प्राप्तस्तं निरोधं चर्णयामीत्यर्थः । ते इति पाठे कमपि वक्ष्यमाणशङ्का-
वन्तमभिमुखीकृत्य ते गुण्यं कथयामीत्यन्वयः ।

ननु निरोधस्य भगवताप्रे सम्पादयिष्यमाणत्वाच्चिरुद्धानामिति वचः कथं सहस्रच्छत इति चेत्, न । भगवतो विषयाव्यभिचारिण्यामेवविधस्वरूपानन्ददित्सायां सम्प्रदानत्वेन निपयीभूते पुष्टिजीने सिद्धवत्कारेण निरुद्धपदप्रयोगेन काचिदप्यनुपपत्तिरिति ध्येयम् । ननु कोयं रोध, को वा निरोध इति चेत्, उच्यते । लोकत्रेदसमाधिभापाप्रसिद्धपशु-पुत्रादिपुरपोत्तमसायुज्यान्तयानत्कलेभ्यो निवृत्ती रोधः, रोधपूर्विकात्मोपाधिकप्रियत्वा-निपन्वनी भगवन्मात्रोपाधिकप्रियत्वनिपन्धना भगवत्परता निरोधः । रोधे भजनानन्दाति-रिक्तयानत्कलनिरपेक्षता, निरोधे तु स्वात्मनोपि निरपेक्षता, यतो भगवान् स्वार्थं न प्रियः, किन्तु स्वात्मापि भगवदर्थमेव प्रियो, भगवानपि भगवत्त्वेनैवेत्यमेव गितरां रोधो एव स्वात्मनोपि निवृत्तिः । तथा च रोधनिरोधयोरयं भेदः । इत्थं च 'न वा रे पुत्रस्य कामाय पुत्र प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्र प्रियो भवती'तिश्रुतेः सर्वत्रात्मोपाधिकमेव प्रियत्वम्, तच्चिन्त्येनैव च प्रवृत्तिः, अत्र तु स्वात्मनो भगवतश्च प्रियस्यै भगवानिरोपाधि-रिति भगवन्मात्रोपाधिनिपन्धनेयं भगवद्विपयिणी प्रवृत्तिर्भजनानन्ददित्साविपयीभूते जीवे परं रोधं सम्पाद्य भगवता निरोधः सम्पाद्यत इति गात्र । ननु निरोधो भगवतः प्रीडा, तद्व्यभिध लक्षणमिति चेत्, न । रोधनिरोधयोः सम्पादनगपि भगवतो विशिष्टक्रीडापामेव निविर्शनं, न त्वतिरिच्यत इति दिक् । तर्हि रोधस्य भगवदेकसम्पाद्यत्वे रोधसिद्धयर्थं श्रीमदाचार्यकृतं निरोधवर्णनं कुत्रोपयुज्यत इति चेत्, न । 'नमामि हृदये शेषे लालाक्षीगन्विशायिनमित्युक्ते'निरोधपदवीं गत' इत्युक्तेथानपरतमन्तःकरणे श्रीमद्रोपी-जनसहभो भगवान् रममाणन्तिष्ठति । तथा चान्तःकरणस्थो भगवानेवाचार्याणामानन-सरोजेन पुष्टिजीवानामुक्तलक्षणकरोवसिद्धयर्थं निरोधं वर्णयामीति वदतीति ध्येयम् । उक्तश्रेयभूतोर्ध्वं श्रीमदाचार्यवरणैर्देशमस्वरूपस्य प्रथमाप्याय'श्वैतत्रिशम्य भृगुनन्दन सायुत्रादम् । यथासक्तिः सभगवानथ विष्णुरात'मित्यस्य श्लोकस्य विवरणे 'भगवता सहित-तदन्तःस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छती'त्यनेन सभगवानितिपदव्याख्यानेन 'चाप्या यदा तदा म्याम् प्रादुर्भूतं पकारं हे'ति सर्वोत्तमे श्रीमत्प्रसुपरणोक्तेर्भगवन्पुत्रारविन्दमेव श्रीमदाचार्या इति तदर्थपरिरित्तमाकलनीयमिति दिक् । इत्थं च भगवानेव निरोधवर्णनेन निगेपस्य सर्वोक्तप्रत्येन ज्ञानमुत्पादोक्तकलेभ्यो निपतयतीति भगवत्सम्पाद्यत्वं रोधस्येति सर्वं सुस्पष्टम् । वस्तुतस्तु यदत्र साधनं यत्र फलं तत्परं वरणैकलम्पत्वाद्भगवदेकसाध्य-मंत्रेति किमेभिरुक्तैरिति भाग्यत्रद्विर्भाषनीयम् । निरुद्धानां त्विति शुश्रूषादन्वयार्थं न वर्णयामीति भावः ॥ १० ॥

ननु पुनः सर्वार्थं न निरूप्यत इत्याकाङ्क्षापामाहुः ।

रिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मन्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धान् एषात्र मोदमापान्त्वर्निजाम् ॥ ११ ॥

सर्वदु खहर्त्रापि येऽन्यत्रिपयेभ्यो निमोच्य स्वस्वरूपलिप्सो न कृतास्तेषा मन्द-
भाग्यानामर्थे कथ निरूपणीयमिति भाव । यद्यपि तेषा मार्गान्तरेण यत्किमिदपि
फल जायताम्, तथाप्येतदतिरिक्तपरेषु सामान्यबुद्धिरेण श्रीमदाचार्यचरणानागत एव
भवसागरे मग्ना इत्युचिरेतराम् । श्रीमद्भागवतेषु 'सर्गापवर्गनरकेष्वपि तुत्यार्थदर्शिन'
इति ॥ ११ ॥

भावनासाधनीभूता माधनतापन्ननिरोधपदवाच्या भावनामाहु ।

संसारारोषशुद्धानामिन्द्रियाणां रिताय वै ।

कृष्णस्य सर्ववस्तुनि भृश ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

रूपरसादितन्मात्रासु पर्यवसत्त्वाद् दुष्टाना चक्षुरसनादिज्ञानेन्द्रियाणा नि-
पिद्धनानान्रियाजनकाना कर्मेन्द्रियाणा तत्तदोपनिरसनपूर्वक तत्तत्फलसिद्धौ सदानन्दस
सर्वांन् रूपादीन् पदार्थांन् तत्तदिन्द्रिययोग्यान् योजयेदित्यर्थ । नन्वनवरतमन्तरङ्ग
भक्तैर्भज्यमानस्य भगवतस्त्रय तत्रोपयुक्ता सर्वे पदार्था कथ योजयितु शक्या इत्या-
शङ्कायामाहु भृश इति । ईशस्य सर्वसमर्थस्य भृश बहुत्वात् । तथा च सुगपद-
नेत्रेषु स्थलेषु मायोद्घाटेनाविर्भवति भगवति सर्वमुपपद्यत इति भाव । योजनप्रकारस्त्वग्रे
वक्ष्यते ॥ १२ ॥

ननु मनोमात्रयोजनेन निःप्रत्यूहं ब्रह्मरूपं रूपरसादिधिपयवैराग्य-
जनकमचिदितदु खं निहाय कथमेवविधप्रकारे प्रवृत्तिर्जायेतेतिशङ्कानिरासाय ज्ञानमार्गे
यत्परमफल तदन गुणगणकस्य निनिडाच्छन्ननौकया गच्छतोऽनाशसमानशीतसदाग-
तिस्पर्श इव मध्येमार्गमिदमवान्तर फलमित्याहु ।

गुणेभ्योऽधिष्ठितानां सर्वदा सुरवैरिणः ।

संसारचिरदृष्टेऽशौ न श्यतां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥

संसारस्य विरहो लौकिकरिपयवियोगजन्य दुःख क्लेशो रोगादिजन्यो
द्रावपि न भवेतामित्यर्थ । न हि शार कृपवानीय विषत पातरस्यापि पानकपानसम्पत्तौ
तादृशकृपवानीयनिरहो दृष्ट श्रुतो वा । एव प्रकृतेष्वनसानविरसान् नश्वररूपादीन् बुद्धानस्य
स्वरूपानन्दानुभवनसम्पत्तौ न संसारनिरह इति भाव । हरिवदिति । स्वरूपानन्दो यो
भगवतानुभूयते स एवानेनेति भाव ॥ १३ ॥

ननु गुणमाननिष्ठया कुत एव करोतीत्याशङ्कायामाहु ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा कूरता मता ।

याधशङ्कापि नास्त्वत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

यदि गुणमाननिष्ठयैव न कुर्यात्तदा कूरता मता । दयालुत्व न स्यात् । तथा च

निसर्गदयालु भगवत्स्वरूपं कथमन्यथा भवेदित्यन्यथा क्रूरतेत्यस्यार्थः । इत्थं च सर्वतो
 यलवती ह्यन्यथानुपपत्तिरित्युक्तिरुक्तेति भावः । एवं ज्ञानमार्गोपास्येऽप्युक्ते मनो-
 योजनेन यत्फलं जायते तदत्र गुणमात्रे मनोयोजनेनेति ध्येयम् । निःप्रत्यूहमित्यत्राहुः
 बाधेति । देशकालादिसापेक्षसाधनसाध्यफले हि कालादिकृतप्रतिषन्धशङ्का स्यादयं तु
 भगवदनुग्रहातिरिक्तसर्वसाधनरहित इति न तच्छङ्केति भावः । ब्रह्मेत्यत्राहुः तदिति ।
 तदध्यासोऽक्षरात्मता । यद्यपि नेयमिष्टा तथापि गुणगानेन संसारानेशनाशे सति
 स्वस्वरूपसङ्कर्तिरनाशास्यमानापि निसर्गादेव जायते, यतो जीवस्य मूलमक्षरं ब्रह्मेति
 ध्येयम् । तथा चोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्या विवृती ब्रह्मबोधनमित्यस्य व्याख्यायां तथापि
 वस्तुस्वभावाद्भवत इति ॥ १४ ॥

रूपेत्यत्राहुः ।

भगवद्भक्तसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

ज्ञानमार्गो 'भागास्पर्शास्त्रि'तिधात्र्येन यत्नपूर्वकमनिलत्यादिभावेन पलासिर्वेदः,
 अतोऽस्थिरश्च भवति, प्रकृते तु तन्मनस्कत्वादिसिद्धान्तानवरतमानन्दमात्रकरपादमुखो-
 दरत्वादिभगवद्भक्तसङ्कर्ता सर्वत्र मनश्चक्षुरादीनां रागात् प्रवृत्तेः कदर्थ्येषु विषयेषु
 जायमानो विरागः स्थिर एव भवतीत्यर्थः । अविदितेत्यत्राहुः गुणैरिति । सर्वदुःखहर्तु-
 र्यसुखं तस्य स्पर्शादीपरसम्बन्धमानादित्यर्थः । तथा च सर्पाशेन तदनुभवस्य भगवतो
 विजातीयवपुःसम्पादनेन करिष्यमाणत्वादत्र स्पर्शमात्रमेवोक्तमिति ध्येयम् ॥ १५ ॥

उपसंहरन्ति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद्भक्तयोर्हरियर्णने ।

अमत्सरैरल्लुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

उत्कर्षो गुणेति पाठे ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने उत्कर्षोऽस्ति एवं ज्ञात्वेत्यन्वयः ।
 अमत्सरैरिति । एतन्मार्गीयभगवद्भक्तेषु द्वेषरहितैस्त्रैपामनवरतमेतद्भावावेशेन मात्रात्मक-
 भगवदात्मकत्वात् स द्वेषो भगवत्सर्ववसायी भवतीत्याशयः । अल्लुब्धैरिति । स्वसर्व-
 विधभगवदीयत्वस्यापनेनोदरदरीमपूरयन्नित्यर्थः ॥ १६ ॥

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमिन्द्रिययोजनप्रकारमाहुः ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं स्नेहं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

अपणं फीर्तनं स्पर्ष्टं पुष्ट्रे कृष्णमिषे रतिः ।

पायोर्मलांशल्यागेन शेषमायं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

मुख्यं तु विजातीयवपुःसाध्यमिति तदसम्भवात् सङ्ख्यादपि दर्शनादि सर्वे
 भावयेदित्यर्थः । अनाक्षुण्णतां फलमित्येतद्भाष्यायां 'भगवता सह संलापो दर्शनं
 मिलितस्य च । आश्लेषः सेवनं चापि स्वर्गधापि तयाविधः ॥ अधरामृतपानं च भोगो
 रोमोद्गमस्तथा । तत्कृजितानां श्रवणमापाणं चापि सर्वतः ॥ तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं
 तद्भावनं सदे'त्येतत्सर्वमनुसन्धेयम् । स्पर्शनं स्पष्टमिति पाठे अत्रैव लोके प्रकटभाषि-
 दैविकमुत्तमं 'कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुंक्ते न चापर' इत्यनुसन्धेयम् । पुत्र इति ।
 सङ्ख्याज्ञातत्वात् सङ्ख्यास्य पुत्रे कामे इत्यर्थः । अत एव 'भगवानपी'तिश्लोकविवरणे
 'कामपितामहं मन उत्पादितवा'नित्यनेन कामपितामहत्वमुक्तं मनस इति ध्येयम् ।
 नन्वत्र काम आपामरप्रसिद्धो आद्योऽन्यो वेत्याशङ्क्यामाहुः कृष्ण इति । अलौकिक
 इत्यर्थः । उक्तं 'चात्मारामोऽप्यरीरम'दित्येतद्भाष्यायां 'क्रिया सर्वापि सैवान् परं कामो
 न विद्यत' इति धीमदाचार्यचरणैरिति ध्येयम् । रतिरिति । अलौकिकं तदुद्भाष्य स्वर्ग-
 विशेषो भावनीय इत्यर्थः । नन्विन्द्रियेषु पायोरपि सत्त्वात् तस्य का गतिरित्याशङ्क्याया-
 माहुः पायोरिति । मलांशत्यागमात्रैकप्रयोजनकसोपरोधजडुःखनिर्पतकस्य सुखाजन-
 कस्यास्य शेषभावं गौणत्वं प्रापयेदित्यर्थः । तथा चाक्रियित्करत्याह्वयमेवेति भावः ।
 पायुमिति पाठे अजामरण्यं नपतीतिवत् स्पष्ट एवान्वयः ॥ १७ ॥ १८ ॥

तर्हि स्त्रीपुमवयवविशेषयोः का गतिरित्याशङ्क्यामाहुः ।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

विनिग्रहस्तिरस्कारोऽवगणनेति यावत् । तथा च यथास्यादीनि भलानि च
 तथानुपयोगात् पुमवयवविशेष इति तस्य निग्रह इति भावः । येति निकल्पादेकसास्तुपु-
 योग इति ध्येयम् ॥ १९ ॥

एवं निरोधमुक्त्वा खानुपदिशन्ति ।

नातः परतरो मञ्जो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मञ्जो मननीयो नितरां गोपनीयश्च । स्तवो मगवत्सादहेतुः । विद्या काम्य-
 मानयावदर्थसाधनम् । तीर्थं प्रतिबन्धकीभूतदुरितविचयनिरसनपूर्वकं तस्यासिसम्पादक-
 भागधेयोद्देशकमित्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरप्रभुचरणात्मजश्रीचनश्यामतनयश्रीगोपेशगोस्वामि-
 विरचिता निरोधलक्षणविवृत्तिः समाप्ता ॥

श्रीवृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम् ।

देवासु प्रार्थितं मङ्गलमनुरूपफलद्वयम् ।

व्यासेन च समासेन फलत्रययुता खयम् ॥ १ ॥

निरोधलक्षणमिति ग्रन्थनाम । निरोधस्य लक्षणं लक्ष्यत अनेन तादृशमिति करणं व्युत्पत्तिरत्र । तथा च लक्षणनिरूपणेन निरोधत्रापकमित्यर्थः । तत्र लक्षणं द्विविधम्, स्वरूपलक्षणं कार्यलक्षणं चेति । तत्र स्वरूपलक्षणं यथा 'सल ज्ञानमनन्तं प्रज्ञे'ति । कार्यलक्षणं यथा 'ज-माघस्य यत' इति । तत्र स्वरूपलक्षणं दशमस्कन्धे षडुधा निरूपितमिति कार्यलक्षणान्यदोष्यन्ते यथेत्यादिना ।

यच्च द्रुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् द्रुःखं तद् द्रुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

नन्दादीनां चेत्यत्रादिपदेन उपन-दादयः । चकारेण अन्तरङ्गगोपा । तथा च यशोदाया नन्दस्य उपनन्दादीनामन्तरङ्गगोपानां च यद् द्रुःखं येन पूर्वोक्तत्रयाणां दिवा यनममने भगवद्विन्तमन्तरङ्गगोपानां च रात्रौ सुषमानं सद् द्रुःखम् । चकारात् पूर्वोक्तानां चतुर्णां सुखं लीलातुभवरूपं निरोधलक्षणं भगवदासक्तिकार्यमित्यर्थः । गोपकृतसुषमानसासक्ति-कार्यत्वमप्रादशध्यायकारिकासु स्फुटम् । अन्येषु लक्षणेभ्यस्त्वानधिकारात् स्वपरत्वेनैव तानि निरूपयन्ति गोपिकानां त्विति । 'निन्दुर्दुःखेन वासरा नित्योक्तं दुःखं च निरोधकार्यम् । इदं तु क्वचिन्मम स्यात्, अन्यस्य तु सर्वथा दुर्लभमेवेत्यर्थः । अन्यव्यावृत्तये तु शब्दः । चकारपक्षे इदमपि द्रुःखं निरोधकार्यमिति समुच्चयः ॥ १ ॥

सुखरूपं निरोधलक्षणमाह गोकुले इति ।

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां त्रजयासिनाम् ।

यत्सुखं ममभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

गोपिकानां चकारेण अन्तरङ्गगतानां यत्सुखं पूर्वदलातुभवरूपम् । सर्वत्र-यामिपदेन अन्तर-दास्य उच्यन्ते । पुल्लिङ्गपदं परोक्षनादाय । तेषां च यत्सुखमत्यन्तं

रङ्गलीलादर्शनरूपं समभूत् तदपि निरोधलक्षणम् । अन्यसाधोग्यमतो भगवान् मे किं विधासतीत्याशंसेत्यर्थः । अत एव अष्टकान्ते विट्ठलपदाभिधेये मध्येवेत्येवकार उक्तः ॥२॥

आत्यन्तिकविरहानुभवरूपं मुख्यं लक्षणमाहुः उद्धवागमनेति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

घृन्दाचने गोकुले चा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

उत्सव आत्यन्तिकविरहानुभवरूपः । एतस्य मुख्यफलत्वसिद्धान्तात् सुमहानित्युक्तम् । अयमुत्सवो गोपिकानां नन्दादीनां च भ्रमरगीतप्रसङ्गे अध्यायद्वयेनोक्त इति घृन्दाचने गोकुले चेत्युक्तम् । अथ अन्यस्नानधिकार इति मे मनसि स्यादिति उक्तम् । दुर्लभत्वस्थापनाय क्वचिदिति । एतेषु स्वाशंसाकथनेन पूर्वं 'यव' इत्यर्थेनोक्ते दुःखसुखे अन्येनापि भक्तेन मयि सादिति आशास्य इति सूचितम् । तथा च यशोदाया नन्दस्योप-नन्दादीनामन्तरङ्गगोपानां च दुःखगुणानि निरोधलक्षणानि भक्तेन स्वपरत्वेनाशासानि । गोपिकानां दुःखसुखे, अन्तरङ्गगोपीनां अन्तर्यद्गतानामन्तरङ्गदासीनां गुणम्, सर्वेषामात्यन्तिकविरहानुभवश्च । इमानि निरोधलक्षणानि स्वरूपतो ज्ञेयानि, न तु स्वपरत्वेनाशासानि, तत्रानधिकारादित्युक्तम् । भगवान् कृपया सम्पादयेद्येदस्तु, स्वयं नाशासा-नीत्यर्थः ॥ ३ ॥

स्वपरत्वेन आशास्यस्य पूर्वोक्तस्यापि फलस्य दुर्लभत्वेन चिकालसाध्यत्वात् तत्सिद्धिपर्यन्तं श्लेशभाषायावान्तरं निरोधफलमाहुः महतामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दपयिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

महतामत्रत्यगुरूणां स्वामिनीनां कृपया भगवान् यावद्दपयिष्यति पूर्वश्लोकार्थोक्ते फले सम्पादयिष्यति तावत् कीर्त्यमान आनन्दसन्दोहो भगवान् सुखाय भवति । गुणगानञ्च सुखं निरोधस्यावान्तरफलमित्यर्थः ॥ ४ ॥

मुख्यफलस्य स्वामिनीकृपासाध्यत्वमुक्त्वा अवान्तरफलमप्यत्र तत्कृपासाध्यमेव ज्ञेयमित्याहुः महतामिति ।

महतां कृपया यदस्कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

लौकिकानां लोके प्रसिद्धानां नारदशुकादीनां कृपया जातं कीर्तनम्, तथा स्वामिनीकृपया सजातकीर्तनप्रकारकमुखदं नैत्यर्थः । तत्र हेतुं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्ति स्निग्धेति । स्निग्धभोजनं रूक्षभोजनं च तद्भदित्यर्थः । स्वामिनीकृपया अन्तर्भगवत्साकल्यात्

कीर्तनस्य स्निग्धभोजनतुल्यत्वम् । अन्यत्र तु मानसा मूर्तेः कल्पितत्वेन वस्तुतः प्राकट्या-
भावात् कीर्तनस्य रूक्षभोजनतुल्यत्वम् । महतामित्यस्य कीर्त्यमानेनाप्यन्वयः । तत्कृतं
कीर्तनं न त्वन्येनोपनिषद्भित्तिर्धर्मः । मुख्यफलप्राप्तिपर्यन्तं गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम् ॥५॥

तत्र कर्मणापि तावत्पर्यन्तं क्रममुक्तिप्रकारेण स्वर्गादिमुखावाप्तिसिद्धौ किमर्थं
गुणगानाग्रह इत्याशङ्क्याहुः गुणगाने इति ।

गुणगाने सुखावासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गुणगाने यत्प्रकारिका सुखावासिसत्प्रकारिका सुखावाप्तिः
शुकादीनां सिद्धज्ञानानां तथापि आत्मनि आत्मविचारदशायामपि न जायते,
तर्हि अन्यतः कर्मण्यः कुतः सादित्यर्थः । अत एव 'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य' इत्यादि
पाक्यानि ॥ ६ ॥

तत्कृतकीर्तने विशेषमाहुः क्लिश्यमानानितिद्वयेन ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

सदानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् क्षुत्वा पूर्णः ह्लावयते जनान् ॥ ८ ॥

सदानन्दं सद्रूप आनन्दो यस्मिन् तादृशं स्वरूपं क्लिश्यमानान् जनान्
दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत् तदा बहिर्निर्गतं भवति, स कृपानन्दस्तु सुदुर्लभः ।
कर्मणा ज्ञानेन वा न भवति, किन्तु श्लेषेनैव भवति, अतस्तथेत्यर्थः । सदानन्दस्य बहिर्नि-
र्गमनं विवृण्वन्ति हृद्गत इति । तत्तद्दृष्ट्वो भगवान् स्वगुणान् अन्योऽन्यं वर्णितान्
क्षुत्वा पूर्णो भवति । इदं दार्शिकशास्त्रकारिकायां स्फुटम् । सर्वं पूर्णः सन् जनान्
ह्लावयते, स्वरूपानन्दे निमग्नान् करोति, तेषामन्तर्बहिः स्वरूपानन्दं प्रकटीकरोति । इदं
सदानन्दस्य बहिर्निर्गमनमित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

सशीर्कृतमुपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परिलयज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गोपाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥

सर्वं कर्मज्ञानादिप्रपाप्तं परिलयज्य निरुद्धैर्भक्तैः सह सदानन्दपरैः कर्तुभिः
गुणा गोपाः । एतस्य फलस्य अवाप्तरत्वं साधयन्ति सच्चिदानन्दतेति । ततो गुणगानात्
सच्चिदानन्दता भवति, थलोक्तिकशरीर्यास्या परमफले स्वरूपयोग्यता भवतीत्यर्थः ।
एत इति पाठे गुणगानस्वभावादेव भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु यैः सह गुणा गेयास्ते निरुद्धाः कथं ज्ञेया इत्याशङ्क्य तदभिज्ञापकं कथयामीत्याहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदर्थी गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं चर्णयामि ते ॥ १० ॥

रोधेन निरोधपूर्वस्थापनेन भावविशेषेण अहं निरुद्धः निरोधस्य पदर्थी मार्गपूर्वोक्तयुस्यफलपर्यन्तं गतः प्राप्तः । अतो गोपिकानां त्विलादिनोक्तफले इव अभिज्ञापककथने मम न प्रयोजनम्, किन्तु अन्यार्थं कथयामीत्याशयेन कश्चित्सेवकमभिमुखीकृत्याहुः ते इति । तव निरुद्धानां सम्बन्धि यो रोधस्तदर्थं त्वयि तादृशभावसिद्धयर्थमित्यर्थः । निरोधं चर्णयामि अभिज्ञापककथनेन कथयामीत्यर्थः ॥ १० ॥

विविच्य कथनाय व्यावर्तानामपि अभिज्ञापकमाहुः ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्वहर्निशम् ॥ ११ ॥

सर्वदुःखहराणि ये विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मग्ना इति व्यावर्तानामभिज्ञापकमुक्तम् । निरुद्धानामभिज्ञापकमाहुः ये इति । अत्र गुणगानादी इत्यर्थः । यथा सर्वज्ञत्वमलौकिकं तेजश्च ज्ञाने निदर्शनम्, तथा गुणगानादी मोदो निरोधे निदर्शनम् । एवं निदर्शनेन निरुद्धान् ज्ञात्वा तैः सह गुणगानं 'यय' इत्यर्थेनोक्तफलसिद्धिपर्यन्तं कर्तव्यम् । फलप्राप्त्यनन्तरं तु तत्त्वगावप्राप्तमेव सर्वं भविष्यतीति न तत्र कथनापेक्षेति भावः ॥ ११ ॥

ननु परमदयालुर्नगवान् कथं कांशिजीवान् भुञ्जति येन ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्याशङ्क्य धर्मिप्रादकप्रमाणसिद्धमेतदिति आहुः गुणेऽपिचित्तिसार्धेन ।

गुणेऽपिचित्तिसिद्धानां सर्वदा मुरवैरिणः ।

संसारचिरहृक्षेणै न स्यातां हरिचत्सुखम् ॥ १२ ॥

तदा भवेद्यत्सुखमन्यथा क्रूरता मता ।

समाधानं तु निबन्धे 'आत्मसृष्टेर्न वैपम्य'मित्यनेनोक्तमत्र ज्ञेयम् । येन संसारक्षेपो भगवद्विरहक्षेपश्च निवर्तते, हेरेखि सुखं च भवति, तादृशगुणावेशो यदा भवति तदा भगवतो दयालुत्वं भवेत् । एतावत्फलपर्यन्तं प्राप्ता भक्तिमार्गीया एव भवन्तीति भक्तिमार्गीयेषु दयालुत्वं भवतीत्यर्थः । अन्यथा भक्तिमार्गीयत्वाभावे भगवतः क्रूरता तेषां मोचनम्, येन ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्यर्थः । कर्ममार्गे पुनरावृत्तिकथनात् संसारे गजनम् । ज्ञानमार्गेऽपि 'शानिनामपि भेतांसी'ति वाचन्यात् तथा । इदं निबन्धे द्वितीय-प्रकरणान्ते व्यवस्थापितम् । इदं सर्वं प्रमाणसिद्धमेवेति मतेऽनुक्तम् ॥ १२ ॥

ननु ज्ञानमार्गे मायेव अत्रापि कश्चिद्वाधेतेत्याशङ्क्याहुः ।

वाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १३ ॥

अत्र वाधसम्भावनापि नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुः तदध्यासोपीति । माया हि ससारे अध्याससम्पादनेन मग्नयति, अत्र तु भगवदीयत्वेनैव अध्यासो भवतीत्यर्थः ।
यद् सर्वात्मना त्याज्यमिति त्यागपक्षसमुच्चयाय अपिशब्दः ॥ १३ ॥

गुणावेशेन उभयच्छेद्याभावे हेतुमाहुः ।

भगवद्भूमिसामर्थ्यादिरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शात्तु खं भाति कर्त्तृभित् ॥ १४ ॥

गीयमाना ये भगवद्भूमिसामर्थ्यात् विषयवैराग्यं भवति, तेन सत्तारक्षेशाभावात् ।
गुणैर्हरिसुखस्पर्शादिरहोच्छेद्याभावात् इत्यर्थः ॥ १४ ॥

मार्गात्तैरेभ्य उक्त्वा स्फुटं कर्तुमुपसहरन्ति एवमिति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षां गुणवर्णने ।

अमत्सरैरस्तुष्यैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १५ ॥

ननु 'परामि पा'नीतिनाकयादिन्द्रियाणामन्यपरस्वस्त साहजिकत्वात् तैः सर्वदा विषयभोगे गुणगानं कथं भविष्यतीत्याशङ्क्य तदुपायमाहुः ।

संसारावेशादृष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

कृष्णस्य सूर्यपरस्तुभि भुञ्ज ईशस्य योजयेत् ॥ १६ ॥

एतेषां हिताय भगवत्परतासिद्धये कृष्णस्येशस्य वस्तुनि एतैः सह योजयेत् ।
प्रपञ्चे प्रसन्नमाना सुर्यादिति सिद्धान्तमुत्तमस्तुक्तेषां पुस्तन्घातप्यः । भुञ्जेति चतुर्थी ।
नृणां सर्वात्ममान्स्वार्थमित्यर्थः । भगवदीयैरेव वस्तुनि सर्वव्यवहारसिद्धौ सर्वोप्यात्मनो
भागे भगवति मित्रो भवनीत्यर्थः ॥ १६ ॥

भगवदीयवस्तुनामिन्द्रियैः सह योजनेन सिद्धं भूयान् निवृण्वन्ति हरिभूर्तिरिति ।

हरिभूर्तिः सदा ध्येया संकटपादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं श्रेष्ठं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

अथवा कीर्तनं स्पर्ष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।

पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

यस्य ध्या भगवत्कार्यं यदा स्पर्ष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य फलं न्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

नातः परतरो मञ्जो नातः परतरः स्तथ ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

आद्यचरणेन मनसो भाव उक्तः । इन्द्रियाणामाहुः सङ्कल्पादपीति । दर्शनस्वर्शन-
कृतिगतिश्रवणकीर्तनानि चक्षुस्त्वन्पाणिपादश्रोत्रचान्कार्याणि सङ्कल्पादपि तत्र भगव-
त्येव सम्पादनीयानि । भगवद्विषयकाण्येव दर्शनादीनि सङ्कल्पनीयानि, न तु विषयविषय-
काणीत्यर्थः । मुख्यतस्तु भगवद्विषयकाणि तानि कर्तव्यानि । तदसम्भवे सङ्कल्पमात्रमपि
कर्तव्यमिति सङ्कल्पस्य ततो गौणत्वसूचनाय अपिशब्दः । भगवद्दर्मसामर्थ्यसिद्धवैराग्य-
स्वरूपं तेन साध्यं फलं च यदन्तः पायोर्विनियोगमाहुः पुत्रेति । कृष्णप्रिये पुत्रे रतिः
तनौ नयेत् प्रापयेदित्यन्वयः । मलत्यागस्य पायुकार्यत्वान् पायुग्रहणम् । अत एवा'सिद्धोः
पुर. पुर्यां नाभिद्वारमपानत' इति देहत्यागस्य अपानकार्यत्वमुक्तम् । अपानं इन्द्रियमिति
उक्तेरपानं पायुभेत्येकमेव । कृष्णप्रिय इति । भगवदीयेषु रागो अन्यत्र निराग इति
लक्षण वैराग्यस्वरूपमुक्तम् । कृष्ण. प्रियो यम् तादृशे भगवदीये । तथा च भगवदी-
यत्वेन राग इत्यर्थः । पुत्रपदमुपलक्षणम् । भार्याद्विषय्येयम् । 'नापुत्रस्य लोकोस्ती'त्यादि-
पान्त्र्यैः पुत्रे रागस्य प्रमाणसिद्धत्वेन कर्तव्यत्वसङ्ख्या पुत्रपदम् । अन्यत्र आत्मन एव
निरूपयित्वाह विषयत्वात् पुत्रस्य च 'आत्मा वै पुत्रनामासी'त्यादिवाक्यैरात्मत्वकथनात्
तत्र राग उक्तः । अत्र तु भगवत एव निरूपयित्वाह विषयत्वाद्भगवदीये एव रागोऽन्यत्र
निराग इति भावः । मल द्वित्रिधम्, प्रतिजन्मनि जायमान देहरूपमेकम्, प्रसहं जायमा-
नमपरम्, उभयविधमलनिवृत्तेः पायुकार्यत्वादेककथने द्वितीयमप्युक्तं जातमिति ज्ञेयम् ।
प्राणरसभोपस्थाना विनियोगमाहुः यस्येति । अन्येषां भगवति विनियोगसङ्कल्पो विषय-
भोगसङ्कल्पनिग्रहश्चोक्तः । एतेषामप्युना भगवति विनियोगसङ्कल्पासम्भवात् निग्रहमात्र
कर्तव्यम् । एतेर्विषयभोगो न सङ्कल्पनीय इत्यर्थः । वाशब्दोऽनादरे । यस्य एव इन्द्रियस्य
कार्यं भगवत्सम्बन्धि यदा यस्मिन् काले स्पर्ष्टं न दृश्यते तदा तस्मिन् काले तस्मै-
न्द्रियस्य विनिग्रहः कर्तव्यः । तदिन्द्रिय विषयान्तरे न प्रवर्तनीयम्, पतिप्रतावसूष्णी
शेषमित्यर्थः ॥ १७, १८, १९, २० ॥

स्वीयेषु कृमयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मनिः ।

यदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामयात् ॥ १ ॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीचन्द्रभक्तुता निरोधलक्षणविघृतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीहरिरायकृतनिरोधलक्षणविवृतिसमेतम् ।

नमामि श्रीमदाचार्याननल्पकरुणासुतान् । निरोधफलदानाय प्रभुणा प्रकटीकृतान् ॥ १ ॥
यदीयचरणाम्भोजं वरणं मूर्तिमत्प्रभो । तत्कृपातः करिष्येह निरोधविवृतिं मुदा ॥ २ ॥
तदाविर्मानितश्रीमद्व्यभुसेवारसात्मकः । अस्मत्प्रभुः कृपयतु प्रियः श्रीधिङ्गलेश्वरः ॥ ३ ॥
वन्दे पितृपदाभ्भोजं श्रीमदाचार्यमश्रितम् । यतोऽहमभव सर्वसाधनाभायवानपि ॥ ४ ॥

अशोषोद्घाततया इदं विचार्यते, को निरोधः? किञ्च तस्य कारणम्? कथं वा तस्य फलत्वमिति । तन्नोच्यते । प्रपञ्चविस्मृतिसहिता आसक्तिनिरोध इति । न च आमक्तिमानस इति वाच्यम् । विषयासक्तौ व्यभिचारात् । न च तत्र प्रपञ्चविस्मृतिः, किन्तु विशेषतः तदभिनिवेश एव । न चासक्तिनिषयातिरिक्तप्रपञ्चविस्मृतेरुभयसाधारण्येन अतिव्याप्तिरिति वाच्यम् । प्रपञ्चशब्दस्य नस्त्वामान्याभिप्रायत्वात् । न च लौकिकीसासक्तिविषयो न प्रपञ्चः इति वाच्यम्, तद्रूपस्य तादृशशक्त्यैवोत्पादकत्वात् । न च प्रपञ्चमानास्मरण आसक्तेर्निषिष्यत्वापात इति वाच्यम् । प्रपञ्चातीतस्य तद्विषयत्वात् । न च तद्विषयस्य तदतीतत्वे प्रापञ्चिकजीवासक्तिविषयस्य न स्यादिति वाच्यम् । योगजधर्मप्रत्यासत्या अतीन्द्रियार्थस्य इव भक्त्या प्रपञ्चातीतस्य निषयत्वोपपत्तेः । किञ्च, श्रुतानुरागसंके लोकेऽपि अतीन्द्रियार्थस्य तद्विषयत्वमस्ति एव । अत एव कल्पतरुकामधेयादिमाहात्म्यध्रुवणेन दृश्यते अखिलानां लोकानामखिलापः । वस्तुतस्तु प्रपञ्चातीतस्य अपि ऐन्द्रियकत्वमेव, चक्षुरव्येयत्वेऽपि अरण्यवेद्यत्वात् । 'कश्चिद् धीरः' इति ध्रुते 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' 'तस्मिन् दृष्टे धरानरे' 'पश्यन्ति ते मे' 'त एव पश्यन्ति' इत्यादि-स्मृतिम्यथ निशिष्टचक्षुर्वैद्यत्वात् । ननु लक्षणे प्रपञ्चत्याग एव कुतो न निरोधनिशेषण-तयोच्यत इति चेत् । न । तस्य ज्ञानमार्गागमोद्धसाधनत्वेन अत्र अनुपयोगात् । अत्र तु मन्त्रनान्यथानुपपत्त्या ममतापरावर्तनस्यैव त्यागपदार्थत्वेन तस्य तद्विस्मृतिमात्रपर्यवसितत्वात् । अत एव 'त्यन्माययात्मात्मजद्वारगेहेष्वसक्तचित्तस्य' इति घृतरचः । उक्तं च प्रभुभिः श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'मत्प्रभावात् तु भक्तानां गृहमेव निशिष्यत' इति । तस्मात् तद्विस्मृतिमात्रमेवानुपपन्नमिति । अत एव भरताचार्योप्याह तद्विशेषणं 'या तु व्यसन-सम्प्राप्तिनिरोधं न तु कथ्या' इति । व्यसनं च प्रपञ्चविस्मृतिवृत्तिका आसक्तिरेव । अत

एव क्षणमपि तत्र तेन विना श्वालुमशक्तिः । अंशतोप्यन्यस्मरणे क्षणं तेन निर्वाहात् । अत एव प्रोचुः परमदुर्लभत्वमेव वदन्तः श्रीमदाचार्याः भक्तिवर्धिन्यां 'यदा साहस्रत्तनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि' इति । विशेषेण असनं क्षेपणं सर्वस्य यस्मादितिव्युत्पत्त्यापि तस्य भावस्य प्रपञ्चविसृष्टिरूपत्वमेव निश्चयति ।

स च निरोधो द्विविधः । भगवतोऽन्यथा । अत एवोक्तमाचार्यैः 'निरोधो यदि भक्तानां स्वस्मिन् स्वस्य च तेषु हि, तदोभयसुसम्बन्धात् लो भवति नान्यथे'ति । तत्र आद्यो भगवतः प्रपञ्चविसृष्टिपूर्वकभक्तविषयकामक्तिरिति । 'निरोधोऽसानुशयनमात्मनः सह शक्तिभि'रितिपचनात् । अस्मेति पष्ठवा भेदेन निर्दिशात् । 'निरोधोऽसानुशयनं प्रपञ्चे कीदृशं हरे'रित्याचार्यधरणैर्विबृतत्वाच्च । लीडारूपेषु सर्गादिषु परिगणितत्वाच्च । 'स च गोपीभिः स्तोभित' इत्यादिना निरूपितः ।

नव्यत्र लक्षणमिदमनुपपन्नम्, भक्तानां प्रापञ्चिकत्वेन भगवतस्तद्विषयकासक्तौ प्रपञ्चविस्मरणाभावादिति चेत्, उप्यते । अपधारितं च तेषु त्वया प्रापञ्चिकत्वं केन प्रमाणेन ? न तावत् प्रत्यक्षम्, तेषां लीलासृष्ट्यतिरिक्तजनप्रत्यक्षागोचरत्वात् । भक्तिविशेषप्रत्यक्षस्याप्रापञ्चित्तानुकूलत्वात् । 'सदा पर्यन्ति सरय' इति श्रुतेः, 'यदि पर्यन्ति मुनयः' ति एव पर्यन्ति' 'पर्यन्ति ते मे' इत्यादिवाक्यैः । एतत्प्रयोजान्तःपाते भक्तानां सगुणधर्मविषयताया अनियार्यत्वात् । अत एवाप्रापञ्चिकत्वं बोधयन् निजैर्भयस्य 'दिप्यं ददामि ते चक्षु'रिति प्रभुरुक्तवान् । नाप्यनुमितिः, अनुकूलतर्काभावात् । न च दृश्यत्वादित्वात्, दृश्यत्वस्य प्रागुक्तप्रकारैर्व्यवस्थापितत्वात् । शब्दस्तु 'जयति देरनुकूलतर्कत्वमिति वाच्यम्, दृश्यत्वस्य प्रागुक्तप्रकारैर्व्यवस्थापितत्वात् । शब्दस्तु 'जयति जननिवासः', 'तद्विष्णोः परमं पदम्', 'मज्जिष्ठं निर्गुणं स्युतम्', 'तं भजन् निर्गुणो भवेत्', 'मुक्तोपस्यप्यपदेशात्', 'मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्त' इत्यादिवाक्यैरनुकूल एव इति नानुपपन्नं किञ्चित् । ननु अस्तु भक्तानां तयात्वम्, तथापि भगवतोऽप्रतिहतज्ञानशक्तेः प्रपञ्चविस्मरणं कथमुपपाद्यत इति चेत्, इत्थम् । भगवान् हि पुष्टिमात्रं अङ्गीकुर्वन् स्वधर्मानपि त्यजति, विपरीतांश्च विदधाति । 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्', 'आत्मारामोऽप्यस्व-गिडतः', 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्', 'न पारयेह'मित्यादिवाक्यैः । एवं सति यत्र निरोधं चिकीर्षुर्भवति प्रभुः, तत्र तदनुकूलस्वरूपमपि सम्पादयतीति तदर्थमङ्गलत्वमपि युक्ततरम् । विधिधानन्तःशक्तिमत्त्वेन तत्र सर्वोपपत्तेः । न च विरोधादङ्गलत्वे सर्वज्ञत्वमनुपपन्नमिति नाप्यम् । निरुद्धविधिपद्मोभारत्वस्य भगवति 'तदेजति तत्रैजति' इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वात् । एतच्च यथा तथा अस्तत्सामिधिनिरूपितं विद्मन्गण्डने । न च अङ्गत्वस्य अधिदानन्यत्वनियमेन भगवति तदभावात् तथात्वमसम्भवीति वाच्यम् । अधिदाया अपि 'अध्या प्रुष्टये'तिवाक्यत्वात् तच्छक्तित्वेन तदधीनत्वात् । न च 'बन्धोऽस्मा-द्विद्यया अनादि'रिति वाक्यादध्यायवत्ये तथा बन्धसम्भव इति वाच्यम् । तस्यास्तेति-

पदेन जीवविषयत्वस्य वाक्ये एवोक्तत्वात् । अत एव श्रीमदाचार्यैर्निरूपितं निबन्धे, 'विषयविधे हरेः शक्ती गाययैव विनिर्मिते, ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशते'ति । तं च धर्मं प्रभुः पुष्टिमार्गं एव आविर्भावयतीति 'मदन्यते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'तिवचनादवसीयते । अत एव निरूपितं केनचित् भगवत्स्वरूपतत्त्वाभिज्ञेन 'संमुष्णन्' इत्यादि । तदेतत् सर्वमाचार्यैर्यथार्थकः स्वप्रतिविम्बविभ्रम' इत्यत्र निरूपितमिति सहृदयैस्तत एव विभावनीयम् ।

अथ किं तस्य कारणमिति चिन्त्यते । न तावन्निरोधो लोक इव वासनया जन्यत इति वक्तुं शक्यम् । तस्या अनुभवजन्यत्वात् । भगवतश्च साक्षात्कारात् प्राक् लौकिकविषयविषयीन्द्रियाविषयत्वेन अनुभवात् । साक्षात्कारे तु दिव्यदृष्टिदानेन तथात्वसम्भवात् । 'दिव्यं ददामि ते चक्षु'रिति वाक्यात्, 'कथित् धीर' इतिश्रुतेश्च । नापि भक्तिः, सा हि द्विधा, मर्यादापुष्टिभेदेन, तत्र न तावदाद्या, तस्या 'भक्त्या त्वनन्यया,' 'विशते पदनन्तरम्,' 'ज्ञानयोगश्च मन्त्रिष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिरक्षणः, द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षण' इत्यादिवाक्यैः सायुर्ज्यमुक्तिफलकत्वेन निरोधानजनकत्वात् । ननु 'भक्त्या सजातया भक्त्ये'त्यादिवाक्यैर्मर्यादाभक्तेः पुष्टिभक्तिफलकत्वेन तस्याश्च निरोधसाधकतया कथं न परम्पर्येतस्या अपि तज्जनकत्वमिति चेत्, न, पुष्टिभक्तेरपि तज्जनकत्वस्य विचार्यत्वेन मर्यादापामप्रसक्तेः । न हि सापि साक्षान्निरोधं साधयति, किन्तु भगवतः साक्षात् तत्साधनत्वे निमित्तमात्रं सा । अन्यथा 'कृष्णेन चोद्धृता' इतिवाक्यं विरुध्येत । न हि निरोधः कदाचिदपि स्वकृतसाधनैः सिध्यति । अत एवोक्तमाचार्यैः 'आसक्तिः प्रेमपूर्थैव प्रेमापि हरिणा कृत'मिति । अत एव प्रजसीमन्तिनीष्वेव निरोधः सिद्धः, नान्येषु, भगवता तत्रैव तथा सम्पादितत्वात् । अत एव श्रीमदाचार्यैर्भक्तिवर्षिण्यां 'यदा स्याद्भ्रमसं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव ही'ति दुर्लभत्वमेवोक्तम् । तर्हि किमाकास्मिकतैवेति चेत्, न, स्वरूपसैवानुग्रहविशेषसहकृतस्य हेतुत्वात् । तद्विशेषश्च सर्वात्मभावसाध्यफलदानेच्छैवेति सद्बोधः । यद्यपि भावनागुणगानादेः साधनता श्रूयते, तथापि फलस्य निःसाधनत्वमद्भिमया योगक्षेपसाधारणं साध्यत्वमादाय सा वक्तव्येति भावः ।

अथ कथं तस्य फलत्वमिति चिन्त्यते । सुखदुःखाभावान्परतत्त्वाभावात् । प्रत्युतासक्तेः स्वविषयाप्राप्त्या दुःखसहकृतत्वाद्येन । अयमर्थः । निरोधो हि प्रथम-विस्मृतिसहिता आसक्तिः, सा च स्वविषयविषयकपि विषयमनोरयजनको भावः, तस्य च स्वरूपत्वेन सुखरूपत्वात् । 'रसं हि एवायं लब्ध्वा आनन्दीभवती'ति श्रुतेः । प्रथम-विस्मृतिरूपत्वेन प्रापञ्चिकदुःखाभावरूपत्वाच्च । किञ्च, फलं पुरुषार्थः, तत्त्वं च तेन स्ववृत्तितयैव्यमानत्वम् । तथा च आसक्तिमप्यपनिहतदुःखस्यापि आकाङ्क्षणीयत्वेन तथा-

त्वम् । 'त्रिपदः सन्तु ताः शश्वत्' इतिवाक्यात् । अन्यथा श्येनादावपि तत्रन्यनरकस्य तदुभयरूपत्वाभावेन फलत्वं न स्यात् । ननु शश्वन्निपत्तिरेव तत्र फलम्, न नरक इति चेत्, न । 'भूयान् मे नरकोऽपि शश्वन्निपत्तयामि'तिपिवा श्येनकरणात् । सुखसाधनं तदिति चेत्, तदा प्रकृतेऽपि दीयतां दृष्टिः । न च सुखप्रमात् प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । नरके सुखप्रमायोगात् । तस्मात् पुरुषार्थस्यैव फलत्वेन दुःखसम्बन्धस्यापि निरोधस्य फलत्वमिति । यस्तुतस्तु दुःखमेव न, किन्तु रसान्तर्गतत्वेन प्रभुप्राकट्य-साक्षाद्देतुतया परमानन्द एव । अत एव श्रीशुकैर्दिया वियोगदुःखानुभवसमयेपि 'रेमिरे जहःसु तविता' इत्युक्तम् । श्रीमदाचार्यैरप्यभिहित'मतो निरोधो महाफल' इति । तस्मान्निरोधः सकलफलमूर्धन्यं फलमिति सिद्धम् ।

ननु कथमत्र निरोधस्य दशमार्थस्य परमफलत्वसिद्धिः । तदुत्तरवर्तिस्कन्धद्वयप्रतिपायलीलाद्वयरूपमुक्त्याश्रययोरन्यतरसाश्रयस्यैव वा तथात्वोक्तयौचित्यादिति चेत्, न । मुक्त्याश्रययोरेतदुपयोगित्वेन स्कन्धद्वयेन प्रतिपादनात् । तथाहि । निरोधे चास्ति प्रकारद्वयम्, सगुणनिर्गुणभेदेन, निर्गुणे त्वन्येव व्यवस्था । सगुणे तु निरुद्धभक्तदेहस्य भौतिकद्वयम्, तया नियतनीयत्वेन भक्तिमार्गप्रकारेण निवर्तनं देहमलौकिकं लीलोपयोगिनं सम्पाद्य स्वान्तःस्थापयित्वा ततो लीलेच्छायां स्वस्थानाद्रिमोचयति, पुनः तदुपरती स्थापितानेव करोतीति लीलाद्वयं सगुणनिरोधोपयोगित्वेन निरूपितमिति न परमफलत्वसिद्धिविरोध इत्यर्थः ।

अतःपरं निरोधरूपपरमफलं निरूपयन्तः तत्साधनं साक्षात्परमभेदेन गौणमुत्पन्नभेदेन वा निरूपयितुं तस्मिन्निरोधकारणभूतयोर्भावभावनगुणगानयोर्मध्ये प्रथमं श्लोकत्रयेण मुख्यं भावभावनं दुर्लभत्वपोषाद्यस्वविषयवर्तयैव प्रार्थनारूपेण निरूपयन्ति यच्च दुःखमिति । निरोधे हि साधनद्वयम्, तद्भावभावनं गुणभावनं वा । तत्र भावनीयभावश्च सर्वोत्तमभावेन निरुद्धानां सुखदुःखात्मको, 'विकलत्वं तथासास्थ'मिति वाक्यात् । तथा च तद्भावनं साधनं निरूपयितुं प्रथमविस्तृतिसम्पादकतया अन्यर्हितं प्रथम भावप्रथमांशं दुःखं प्रार्थयन्ते यच्च दुःखमिति ।

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥

यदिति प्रसिद्धं श्रीभागवतादौ परमार्तिरूपं प्रभुप्राकट्यकारणं युगपदनुभूताखिललीलानुभावकं लोकविलक्षणं प्रमुखरूपालम्कं वस्तुतः फलरूपं चकारात् तत्संबलितसुलक्ष्णचलितमपि दुःखं यशोदाया जज्ञास्त्रीयभक्तायाः सर्वथा दयाधिकरणभूतायाः यावद्भाववद्दयदेशाभिष्टितस्वाविभावोत्तिनिमित्तभूतायाः, तथा नन्दादीनां श्रीनन्दप्रभृतीनामखिलव्रजवासिनां चकारात् तत्सम्बन्धिनामन्येषामपि यद्दुःखं भगवता परमफलदित्सुना दत्तं येनैव कथनं 'मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रवा' इत्यादि, तदपि

गोकुले सर्वथा निरोधस्थाने स्थानस्थितानामेव सम्पादितं दुःखं मम क्वचिदपि स्यादित्य-
ग्रिमेण सम्बन्धः । एवं श्रीयशोदानन्दादिदुःखं भगवतो दानक्रमेण प्रार्थयित्वा अतिदुरारं
गोपिकादुःखं प्रार्थयन्ते गोपिकानां त्विति । तुशब्दः पूर्वस्मादौक्तवैलक्षण्यादि-
योपकः । गोपिकानां प्रजसीमन्तिनीनामात्मत्वभक्तवश्यत्वादिभिर्धर्मैः सर्वथा निरुद्धानां
यत्स्वरूपात्मकं रसात्मकतया प्रसिद्धं श्रीभागवतादी, यस्तुतो भावांशमूततयानन्दरूपं
तदुःखं मम क्वचिदपि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणेषु स्यादिति अभिलाष इत्यर्थः । ननु
व्रजवासिनो हि सर्वेपि सर्वथा सर्वात्मभावेन भगवन्तमानन्दनिधिं प्राप्ताः परमानन्दसमुद्र-
निमग्ना दुःखलेशसम्भावनारहिताः स्वाश्रितश्लोकनिरसनसमर्थाः आनन्दसृष्टिसगुत्वज्ञाः,
तदुःखप्रार्थनसम्भावितमिव भातीति चेदुच्यते । 'रसो वै स' इति धृत्या भगवान् रसात्मक
इत्यविवादम् । स च स्वशास्त्रसिद्धप्रकारक एव तथा भवतीति प्रमोरपि तथा मन्तव्यं
रूपमकामेनापि त्वया । तथा च पूर्वसररीत्या स्वरूपानन्ददानं 'आत्मना प्रथमा लीले'
त्यायुक्तप्रकारेण पञ्चथा देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु जायत इति तेषामतिव्यक्ततया
तत्तिष्ठस्वरूपानन्दस्यापि व्यक्तत्वेन पश्यतां तत्र मुखत्वव्यवहारः, यगोत्तररीत्या रसदानं
तन्मनस्सेवेति तस्मान्प्यक्ततया तत्तिष्ठस्वरूपानन्दस्यापि तत्पात्वेन पक्षिःप्राकट्याभावात् तत्र
दुःखत्वव्यवहार इति तमादाय दुःखमित्युक्तम् । वस्तुतस्तु स महानानन्द इति दशन-
स्कन्धविद्युतावसकृदभिहितमिति सहृदयैः तत एव विभावनीयमिति दिष्टम् ॥ १ ॥

एवं भावनार्थं भावप्रथमांशं दुःखं प्रार्थयित्वा श्रीयशोदानन्दादिस्तुलप्रार्थनस्य रास-
लीभावपूरितविग्रहत्वेन स्वस्वायोग्यतया तदप्रार्थ्यं गोपिकानामेव सुखं भावोत्तरांशमूर्तं
प्रार्थयन्ते गोकुले गोपिकानामिति ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

भगवतो हि स्थानद्वये गोपिकासम्बन्धिनी लीला, सैव ताभिर्विरेहे सर्वदा अनु-
भूयते सङ्गेनेव च तत्र सुखमिति । तत्र प्रथमं गोकुले भगवतो लीलाभिर्वत्सपुच्छाव-
लम्बनहैयङ्गवस्त्रेयनूलगीतपीठकानयनादिभिर्गोपिकानां सर्वथा परिगृहीतानां चकारात्
तद्धारकमन्येषां गोपादीनां शय्यास्त्ररणशरलसमीकरणादिभिरसद्भोचेन सर्वेषां व्रजवासिनां
तत्सम्बन्धिसम्बन्धिनां पश्वादीनां च यत्सुखमनुभूयमानलीलालयसम्पादकमभूत् तत्
किं मे मम तत्सम्बन्धी वा हृदयस्यो भगवान् किं विधास्यति विशेषेण करिष्यति
पोषयिष्यतीति वार्यः । किमिति प्रश्नार्थकान्ययप्रयोगेण एतत्सुखप्राप्तेर्लीलारूपप्रभुप्राकट्या-
धीनतया पूर्वोक्तदुःखासितो दुर्लभत्वं सूचितम् । अन्यत्र तथा करणे सामर्थ्याभावा-
याशङ्कादुः भगवानिति । स हि सर्वत्र सर्वं कर्तुं समर्थः, अतः कृपायामन्यत्रापि तथा
करिष्यतीत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं भावनार्थं भावांशद्वयं प्रार्थयित्वा कदाचिदतिविविरहभावोत्पत्तौ नाशसम्भाव-
नात्तामुद्धवागमनजनितोत्सवोऽपि तथाभावनिर्वाकतम स्फूर्तिविषयो जात इतिभाषान्तः-
पातेपि लीलाजनितसुखविलक्षणत्वादेकदेशभूतं तमप्यंशं प्रार्थयन्ते उद्धवागमन इति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

घृन्दावने गोकुले या तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

उद्धवस्य उत्सवात्मकस्य आगमने जातः प्रकटीभूतो यः सर्वविलक्षणो भगव-
त्स्वरूपावयवदर्शनेन तदीयत्वनिर्घातत्वात् उत्सवः यः स्वार्थदूतप्रेषणामिमत्यात्मको य
उत्सवो ब्रजसीमन्तिनीनां यथा येन प्रकारेण तथा तेनैव प्रकारेण तद्भाषभावनार्थां मे
मम मनसि क्वचित् कदाचिदपि सादित्वभिलाष इत्यर्थः । अयमुत्सवो नन्दादीनां
गोपिकानां च जात इति व्यवस्थया स्थानद्वयं निर्दिशन्ति घृन्दावने गोकुले देति ।
घृन्दावने पुष्टिस्थाने रहसि ब्रजस्त्रीणाम्, गोकुले गोष्ठे नन्दादीनामिति व्यवस्था ।
'गच्छोद्धव ब्रजम्,' 'प्राप्ते नन्दब्रज'मिति सामान्योक्त्यावसीयते । नन्वागमनोत्सवप्रार्थने
प्रन्वागमनसमयोलङ्घनं 'सं विलोक्यगत'मित्यादिनोक्तः स कथं न प्रार्थित इति चेत्, तत्राहुः
सुमहानिति । प्रियागमनोत्सवापेक्षया विरहे तद्भाषमनोत्सवप्रेषिष्टपसादुभवसिद्धतया
विरहरसगोपकत्वेन चायमुत्सवः ततोपि सुतरां महानित्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं अलौकिकसामर्थ्यरूपो मुख्यो निरोधः स्वसंवेति तरसाधननिर्देशः प्रार्थना-
प्याजेन स्वविषयतयैव कृतः, अन्येषां तु भगवान् महापुरुषरूपया तदधिकारादुत्सारेण
सायुष्यं सेवोपयोगिदेहं वा दासतीत्यभिप्रायेण तावत्पर्यन्तं स्वितिप्रकारमाहुः महत्तामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुख्याय हि ॥ ४ ॥

यावत् भगवान् दययिष्यति फलेन्मुखां दयां करिष्यति तावत् कीर्त्य-
मानः कीर्तनविषयीक्यमाणः एव स सुख्यायत्यर्थः । 'महत्से विष्णो सुमतिं भजामहे,
'विना महत्वादरजोभिषेकम्,' 'किरातहृणान्,' 'देवर्षिर्मे प्रियतमः' 'त्वत्पादपोतेन
महत्कृतेन' 'सदनुग्रहो मया'नित्यादिवाक्यैर्भगवतो दयायां च नान्यत्कारणमिति यत्कुमाहुः
महतां कृपयेति । महतां भगवद्भूमिः महत्वमापन्नानां कृपया करणयेत्यर्थः । अन-
वतारदशायां विशेषतो महापुरुषद्वारबोद्धारात् । एतेव इदानीं भक्तिमार्गस्य ते एव निर्वा-
हः इत्युक्तं भवति । ननु कीर्त्यमानेषु भगवति फलपर्यन्तं श्रेमेण कर्मादिविव द्युःप-
भेवेत्याशङ्काहुः आनन्दसन्दोह इति । भगवत आनन्दसमुदायरूपत्वेन तद्गुणानामपि
तदभिन्नतया स्वरूपसमानयोगक्षेपत्वात् साधनदशायामपि तत्कीर्तनेन आनन्द एव भवति,
न कर्मादिभिरिव दुःखमित्यर्थः । अत एव अयगतभगवत्कारणसः परीक्षित एतदर्थकमेव

‘श्रोत्रमनोभिरामा’ इतिगुणानुवादनिशेषणमुक्तान् । इति युक्तोपमर्थे । कीर्तन
निपयम्यानन्दगन्दोहरूपत्वे सुखस्य युक्त्यात् ॥ ४ ॥

ननु कीर्तनं हि सुखसाधनम्, तत्र महता कृपयेति को वायह यथाकथञ्चिदपि
कृतं तत्तथेति प्रश्नेनेत्याह महतां कृपयेति ।

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु श्लिग्धभोजनरुक्षयत् ॥ ५ ॥

यद्यत् यथा महतां महापुरपाणा कृपया करुणया लोकविलक्षणाना भगर
त्मन्निधना कृपया निरुपनिषद्दुःखप्रहाणे उया सदा कालापरिच्छेदेन कीर्तनं सुखदं
तापदयनिवृत्तिपरंपरमानन्ददायकं निरोधजनकं वा तथा लौकिकानां लोकरुम्भ
निना महापुरुषद्वारा अभयान्तरणागतानाम्, अत एव केवलसमासासक्तानां कीर्तनं न
तथेत्यर्थः । वलक्षणं यत्तु लौकिकं दृष्टान्तमाहुः श्लिग्धभोजनरुक्षयदिति । श्लिग्ध
तद्भोजनञ्च श्लिग्धभोजनम्, तत्र रुक्षं च, अर्थात् रुक्षभोजनम्, तयोरेव तद्दित्यर्थः ।
तथा च यथा श्लिग्धभोजनरुक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथा महापुरुषकृपाविशिष्टतद्विशिष्ट
कीर्तनयोस्त्वर्थः । एतेन श्लिग्धभोजनस्य पुष्टिसाधकत्ववत् महापुरुषकृपाविशिष्टकीर्तनस्य
पुष्टिफलसाधकत्वम्, रुक्षस्य तदगाधकत्ववत् लौकिककीर्तनस्य तत्कालात्तापकत्वमुक्तं
मिति भावः । श्लिग्धस्य घृतद्रुतस्त्रादाभोजने रुक्षं प्रीतिरहितत्वस्य भोजनमिवेत्यर्थः ।
यथा कस्यचित् पुराणमिभूतस्य श्लिग्धं यस्तु न रोचते तस्य यथा तद्रसानभिहरसज्ञस्य
प्रतिदिनं क्षीयमाणशरीरस्य न तद्भोजनं पुष्टिफलं, तथा महापुरुषकृपाऽभावरूपदोष
युक्तानां तादृशकीर्तने रुक्षाणां लौकिकानां कीर्तनस्य न पुष्टिफलवमिति भावः । यद्वा,
श्लिग्धं भोजनं यस्य स चार्थात् तद्रुक्षं तयोरेव तद्दित्यर्थः । तथा च यथा
श्लिग्धभोजनरुक्षभोजनयोस्तारतम्यं तथा अलौकिकलौकिककीर्तनकारणत्वार्थः ॥ ५ ॥

ननु सुखसिद्धयै दयापर्यन्तं कीर्तनं कर्तव्यत्वेन निरूपितम्, तत्र ‘तरति
शोकमान्मनित्’ ‘दक्षमभ्योऽमृतत्वमेतौ’त्यादिश्रुतिभिः ज्ञानेनेव दुःखनिवृत्त्या सुखप्राप्ते
ज्ञानावस्थयोरप्येवम् किं गुणगानेन इति चेत्, तत्राहुः गुणगानं इति ।

गुणगानं सुखादासिर्गोविन्दस्य प्रजापतेः ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुलोन्यतः ॥ ६ ॥

यथा गोविन्दस्य गोमोक्तृपतेः साधनाधिपस्य गुणानां गाने स्तुतिबुद्ध्या
कथने शुकादीनां सिद्धज्ञानफलानामपि सुखम्, तथा तेषामेव आत्मनि स्वात्मविषये
जायमानं ब्रह्मगन्धर्वोपेन सुखं न तथेत्यर्थः । यद्वा यथा भक्तैः क्रियमाणे गुणगाने
तद्भ्रमेण गोविन्दस्य प्रभो सुखानासिर्गद्भक्ता यत्र गायन्तीतिवाक्यात् तथा तत्कई-
णामपि शुकादीनां आत्मनि अन्तकरणे नेत्यर्थः । तथा च प्रभोरतिशयिततौप-

हेतुतया ज्ञानमार्गस्थित्यपेक्षया सुखाधिक्याच्च गुणगानेनैव स्यात्तद्व्यमिति भावः । अत एव
 'लोकांश्च लोकानुगतान् पशुश्च हित्वाश्रितास्ते चरणात्पत्रम्,' 'परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-
 पीयूषनिर्घोषितदेहधर्माः,' 'अथ ह वाच तव महिमासूत,' 'यदनुचरित,' 'तव कयामृतम्,'
 'श्रवणादर्शनात्,' 'येऽन्योन्यतो भागवता' इत्यादिवाक्यैर्गुणगानपराणां इतरनैरपेक्ष्यो-
 त्तयापि स्वतःपुरुषार्थत्वं सर्वाधिकफलत्वं चावगम्यते गुणगानस्य । इतोऽपि तदेव कर्तव्य-
 मिति भावः । तदेवाहुः कृतोऽन्यत इति । अन्यतः ज्ञानादिभ्यो विषयादिभ्यो वा
 कृत एतत्सुप्रमित्यर्थः । 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य,' 'निवृत्ततर्पैः,' 'नैभातिदुःसहे'त्यादिवाक्यैः
 श्रीभागवते तथैव निरूपणात् । ननु 'तरति शोकमात्मवित्,' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेती'-
 त्यादिश्रुतेः का गतिरिति चेद्, अत्र वदामः । तस्मात्'श्रद्धाकिमुक्तसे'त्यादिवाक्यैर्भक्तिमतो
 ज्ञानानपेक्षणात् ज्ञानिनस्तु 'नैष्कर्म्यमपी'त्यादिवाक्यैः सर्वथा भक्त्यपेक्षणात् तन्निरपेक्ष-
 भक्तिमार्ग एव सगीचीनः । तथा च मोक्षरूपाक्षयसुखसाधकत्वं ज्ञानस्यापि भक्तिसहकृतस्यै-
 वेति केवलज्ञानस्थितिमपहाय केवलभक्तावेव स्थितिः कर्तव्येत्यर्थः । शुलादिषु ज्ञान-
 फलोक्तिस्तु दुःप्राभाषपर्ययसन्नैव । परमानन्दावाप्तिस्तु भक्त्यैव । हेतुस्तस्तु दुःखाभावोऽ-
 प्येतदधीन एव । 'अनर्घोपशम'नितिवाक्यात् । अत एव आचार्यैरानन्दमयाधिकरणे
 'एव सती'त्यारभ्य 'स्त्रीवत्त्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्ति-
 भवती'ति निर्णीयत इत्यभ्यधापि ॥ ६ ॥

ननु ह्येते गुणगाने किं भवतीत्याशङ्क्य तत्र प्रश्रुत्यर्थं परिचायक फलमाहुः
 ह्यिदममानानिति ।

ह्यिदममानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
 तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्यं निर्गतं वहिः ॥ ७ ॥

गुणगाने तत्स्वरूपस्थित्या तत्प्राप्त्यर्थं ह्यिदममानाननुपपत्तौ जनान् दृष्ट्वा अव-
 लोक्य यदा परीक्षासाधनसम्पत्तौ कृपायुक्तो भवेत् तदा सर्वं सर्वशुभपूर्णं सदानन्दं
 परं प्रसन्नमशोदोत्सङ्गललितं हृदिस्य परमज्योषि प्रादुर्भूतं वहिः प्रकटं भवतीत्यर्थः । अत

१ कर्मादिभ्य इति पाठ । २ सर्वथा दुःखाभावस्य भक्त्यधीनत्वादेवेत्यर्थः । एव सतीत्यादिप्रथम्या-
 यमाशयः । प्रथमिदाश्रिते परंमित्यत्र श्रुती अन्तरमप्रापिद परमप्राप्तिरिति श्रुत्यन्वये । 'नायमा मा प्रयत्नेन
 लभ्य' इति श्रुत्यन्वये च ज्ञानदीनां साधनत्वनिर्घोषत्वं परमस्यैव साधनं न प्रतिपाद्यते । एव सति
 श्रुतिद्वयविरोधपरिहाराय अक्षरमज्ञानेन अविद्याभिरुत्या ह्यद्वयसमाह्वयेन पुद्व्योत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता
 कृपायुक्त इति महाविद्यापीठेति श्रुत्याशयः । एवं ज्योत्स्नास्यत्वात्पि पुद्व्योत्तमप्राप्तिस्तु सादृशज्ञानवतो
 जीवन्म स्त्रीवत्त्वेन वरणे सती भक्तिमन्त्रोत्पत्तामेव भवतीति 'नायमात्मे'ति श्रुत्याशय इति भाष्ये एव
 सतीत्यादिप्रथमेन निर्णीयते । एव च इतिवाचिष्ठानिबन्धनवि पुद्व्योत्तमप्राप्त्यवभाषणमित्यत्र पुं नारीति ।
 तस्मात् सवात्सलना दुःप्राभाषस्तु मत्तर्कवेत्तानां भाष्यमन्वयतुल्यमेवेति भावः ।

एव व्रजसीमन्तिनीना गुणगानेन हृदि प्रादुर्भूय 'तन्मनस्का' इत्यादिना तथाभावसम्पत्तौ कृपया भगवान् प्रादुर्भूत इत्युच्यते । तदेवोक्तमाचार्य 'नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तु-
प्यति कस्यचित् । भक्ताना दैन्यमेवैक हरितोषणसाधन'मिति । सदानन्दहृदिस्थमितिपाठे
सदानन्दस्य भगवतो हृदिस्थं अग्निप्रायादिकं वह्निर्निगतं भवतीत्यर्थः । अयमाशयः ।
'रुद्रु सुस्वर'मित्यादिना गुणगानममय एतादिदैन्यभावे यदा कृपायुक्तो जातस्तदा तत्र
स्वामिप्रायः प्रभुणैव 'मया परोक्ष भजता,' 'न पारयेह'मित्यादिना आभिर्भाषित इत्यन्यत्रापि
गुणगाने क्लेशेन प्रादुर्भूय स्वऋषा ज्ञापयिष्यतीति तदाशया गुणगानमेव कर्तव्यमित्यर्थः ॥७॥

ननु किमिति कृपापेक्षया गुणगानेन ज्ञेयं मयादनीय, ज्ञाननिष्ठया मक्षनिष्ठत्वेन
सम्पाद्यतामिति चेत्, तत्राहुः सर्वानन्दमयस्यापीति ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्जनः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः ह्यारयते जनान् ॥ ८ ॥

'एतस्मानन्दम्यान्यानि भूतानि मात्रामुपवीरन्ती'ति श्रुते सर्वत्र स्थितो य आनन्द
स भगवति प्रादुर्यण वर्तते इति तदाश्रितस्य मानुषानन्दमाभ्यामज्ञानन्द न कस्यापि
दुर्लभतरम्, 'सर्वं मङ्गलियोगेन' इतिवाचन्यादपि, तथापि कृपानन्दः कृपारूपो य
आनन्द, भगवद्भक्तीणा स्वरूपाभिन्नतया आनन्दरूपतरात् । यदा, पुष्टिमार्गप्रवेशाद्
कृतानुग्रहरूपया कृपया य आनन्दो भजनानन्दाख्य स सुतरा दुर्लभः । प्रज्ञानन्दस्यापि
दुर्लभत्वात् । 'सुदुर्लभं प्रज्ञान्तात्मा कोटिपरि महागुण' इतिवाचन्यात् । भजनानन्दस्तु
दुर्लभ एव । सम्भरति साधनमिह किञ्चिदिति चेत्? गुणगानमेवेति पृष्ट्वाण । अत
एव दुर्लभतैव तस्योक्ता श्रीमदाचार्य । 'लोकिकरूपेषु समिद्धस्तद्वारा पुरुषे भवेत्,
ज्ञानन्दस्यापनाशाय योग्यतापि निरूपिता, अतो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधायित'
इत्यादि । एतदर्थन्तु तत्र एव विभाव्यताम्, विस्तरमियात्र न लिख्यते । तथा च
यनेतात्मनुग्रहस्वैतदभिचारिणात् तदानन्दप्राप्तिरित्येतदभिसेन्धायोक्तं कृपानन्दः
सुदुर्लभ इति । श्रीभागवतेपि 'नेम विरिष्य,' 'नाय सुत्पाप,' 'केमा श्रिय'
'आमामहो' इत्यादिराज्यैर्दुर्लभत्वनिरूपणाच्च । कथं दुर्लभ इति आकाङ्क्षाया तन्निरूपक
तत्कार्यमाहुः, हृद्जन इति । हृद्जनः हृदयप्रविष्टः स कृपानन्दः स्वरूपात्मकः स्वगुणान्
गीयमानान् श्रुत्वा पूर्णः प्रतिक्षणं प्रार्थमानो रसपूरुष्यः तन् जनान् जननादिधर्म-
सुत्तानपि प्रापयन्ने न्याभिर्भाषितमग्निन्धी निमज्जनीयर्थः । अत एव 'वह्नीर्पाठे'तिपद्ये
न्यामिनीना हृदि रेणुपग्निसु गद्गाग भासा मरुः प्रभुन्तः प्रविष्टोऽनन्तरा'मित्यादिभिन्न-
द्रवितगुणधरणेन देहेन्द्रियप्रणालान् करणादिषु 'पूर्णं श्रीदामयतामेव सम्पादितग'-
नित्यमिद्विगतम् । अन् एतस्मात्कार्यसुगन्तुगीने 'अन्नं प्रविष्टो भगवान् गुह्याद्बुद्ध्या कर्णयो,
पुनरेवत्यते मन्त्रं तदा भवति सुस्मिन्' इति ॥ ८ ॥

एवं सोपपत्तिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधायोपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥

यस्माद्धेतोः कर्मज्ञानोपासनाभार्यो भक्तिमार्गो निरतिशयितनिजविषयो 'ये
त्विहासक्तमनसः,' 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति,' 'विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः,' 'पूजा-
दिना मल्लोक'मित्यादिवाक्यैः तस्माद्धेतोः सर्वं कर्मज्ञानोपासनादिकं परित्यज्य
सवासनं त्वत्त्वा निरुद्धैर्भगवता स्वीयत्वेन घृतैः अत एव किञ्चिद्विस्मृतप्रपञ्चैः, तदर्थं
साधनानि विदधन्निः, सर्वदा निरन्तरं 'सर्वं मद्भक्तियोगेने'ति वाक्यात् सर्वं ददतीति
सर्वदाः सर्वैष्टदातारो गुणा एव गेया इत्यर्थः । ननु 'वेदमार्गानुसारेण'तिवाक्यात्
तथा भजने कियमाणे तन्मार्गस्य व्याख्यातृभिरन्यथाकृतत्वात् कं पक्षं अवलम्ब्य गुणान्
गायेदित्याशङ्कयामाहुः सदानन्दपरैरिति । सदानन्दः साकारानन्दमयः परः पर-
मात्मा परमकाष्ठापन्नो, न तु पुच्छादिभावापन्नो येषां तादृशैरित्यर्थः । अधिकारिण्ये-
षणमेतत् । अनेन मायावादादिमतमनादत्य ब्रह्मवादे स्थित्या गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम् ।
ब्रह्मवादे एषानन्दमयस्मानन्दमयाधिकरणे परमकाष्ठपन्नत्वोक्तः । ततः किं भवती-
त्याकाङ्क्षयामाहुः सच्चिदानन्दता तत इति । ततस्तेभ्य एव गीयमानेभ्यो
गुणेभ्यो जीवस्य सच्चिदानन्दता गुणत्रयाविर्भावैनाक्षररूपतया सुरुपोत्तमाविर्भावयोन्यता
भवतीत्यर्थः । स्वत इतिपाठे गुणगाने कियमाणे स्वत एव यस्तुस्वभावात्तथात्वम्, न तु
तदर्थं प्रयत्नान्तरापेक्षेत्यर्थः ॥ ९ ॥

एवं निरोधार्यं गीयमाना गुणा निरोधलक्षणलीलासम्बन्धिना एव भवितुं युक्ता
इति तत्स्वरूपज्ञापनाय स्वस्य निरोधविधृतिकर्तृत्वमितियदन्तः फलाप्यभिचारितासिद्धीं
स्वैयामर्थं प्रभुं विज्ञापयन्त इव स्वातुभवनिरूपणेन स्वजनप्रवृत्तिं द्रष्टवन्ति अहं
निरुद्ध इति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

अहं रोधेन सर्वं रोधयति प्रतिवप्राति भगवदतिरिक्तमिति रोधो निरोधलीला-
सन्धानजन्यः सर्वत्र बाधकत्वस्वरूपं आसक्तिधर्मभूतो भावविशेषः, तेन निरुद्धः
प्रपञ्चविस्तृता वदासक्तो, निरोधस्य पदवीं श्रुतिविश्रुत्यां स्वतन्त्रभक्तिरूपां गतः प्राप्त
इत्यर्थः । ननु एतादृशस्य किं निरोधवर्णनप्रयासेनेत्यत आहुः निरुद्धानां त्विति । निरु-
द्धत्वे प्रकारान्तरद्योतनाय तुशब्दः । भगवता शास्त्रानुसारेण महापुरुषद्वारा प्रमेयबलेन
वात्मसात्कृतानां रोधाय निरोधजनकासक्तिधर्मरूपभावविशेषसिद्धयर्थं निरोधं लीलारूपं

मत्सेषु भगवत्कृतं घर्णयामीत्यर्थः । वर्तमानक्रियापदात् स्वस्य सर्वदैतदभिनिवेशः
सूचितः । अत एवातिकरुण इति प्रभुभिः श्रीब्रह्माष्टके विशेषणं निरूपितमाचार्याणाम् ।
स्वेषामर्थे भगवन्तं विज्ञापयन्तः इवाहुः त इति । स्वत्सम्बन्धिना तेषां स्वत्सम्बन्धि-
निरोधं वा । अत उभयस्यापि तवैवायं भार इति भावः ॥ १० ॥

नन्वेतादृशेषु गुणेषु विद्यमानेषु कथमत्र सर्वे न प्रवर्तन्त इत्याशङ्क्य तदभाग्यमेव
हेतुत्वेनाहुः हरिणेति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्व्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

ये इति भाग्यरहिता यतस्ते हरिणा सर्वदुःखद्वर्त्रीपि भगवता विशेषेण नितरां
मुक्ताः सर्वथा त्यक्ताः । उपसर्गद्वयं कथमपि तेषां प्राप्त्यभावाय । 'निबन्धावासुरी
मते'ति प्रयोजनाभिधानात् । 'मामप्राप्यैवे'ति शिरशालनेनार्थनिरूपणे यथाकथञ्चित्
तत्सम्बन्धे सति प्राप्तिस्तु प्रमेयपलेनेतिदिक् । अत एव व्यासोपि श्रीभागवते 'विना
पशुभा'दित्युक्तवान् । ननु तेषां किं फलमिताकाङ्क्षायानाहुः ते मग्ना इति । ते आसुराः
कर्मिणो देवा अपि भयः जन्ममरणप्रवाहः स एव सागरस्तत्र मग्नाः सर्वानुसन्धानरहिता
इत्यर्थः । तस्य सागरत्वं नकादिगिलनसम्भाषणया, तत्र तथा पुनरुन्मज्जनासम्भवः,
एवमथापि कामादिभिर्मांसिनं पुनर्मोक्षमार्गप्रवेशसम्भव इत्येतद्धर्मसाम्येन निरूपितम् ।
निरुद्धानां व्यवस्थानाहुः ये निरुद्धा इति । भगवता ये निरुद्धा महापुरुषद्वारा स्वतो
वा आत्मसात्कृतास्त एवात्र गुणगाने मोदमानन्दमाप्तमन्ताद् पान्ति प्राप्नुवन्ति । एव-
कारेणान्येषामनिरुद्धानां कथञ्चिदपि मोदासम्भव इति निरूपितम् । तेषां गुणेष्वरुचेः ।
तद्दुषिस्तु भगवदनुग्रहेणैव । अत एव नलज्ज्वरमणिश्रीवाभ्यामनुग्रहानन्तरमेव 'वापी
गुणानुकथन' इत्यादि निरूपितम् । उक्तं च तथैवास्मत्प्रभुचरणैर्भक्तिहसे 'तदवित्वस्यैव
वरणकार्यत्वा'दिति । अहर्निशमिति । न तेषां क्षणमपि सांसारिकदुःखसम्भव इत्युक्तम् ।
'मग्नार्तायातयागाना'मितियाज्यात् । याममानमप्येतद्गार्तापरत्वे गृहदेरवन्धकत्वमित्यहर्निशं
तथात्वे किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥

ननु गुणगानं निरोधसाधनतया कर्तव्यमित्युक्तम्, तदिन्द्रियाणां वैमुल्ये न
सम्भवतीति तस्मिन्वर्तकगुणापमाहुः संसारावेशदुष्टानामिति ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।

गृष्णस्य सर्वयस्तृनि भृश ईशम्य योजयेत् ॥ १२ ॥

संसारस्य अहन्ताममनात्मन्य्य प्रपञ्चसक्तिमम्पादकस्य य अप्रेम आममन्ता-
दिन्द्रियेषु प्रवेशन्तेन दुष्टानां भगवद्गुणस्वरूपदोषयुक्तानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां
हिताय भगवत्परतया हितं कर्तुं सर्वयस्तृनि दातागारपुत्रादीनि गृष्णस्य

सदानन्दस्य योजयेद् युक्तं कुर्यादित्यर्थः । कर्मादीनां सम्बन्धमात्रविवक्षायां पठधेवेति
ससम्पर्ये पृष्ठी । ननु कृष्णे सर्ववस्तुसमर्पणेन कथं इन्द्रियाणां दोषनिवृत्तिरिलाशङ्क आहुः
ईशास्येति । स हि समर्थ आधिदैविकतामपि सम्पादयितुं तस्मैन्द्रियमात्रदोषनिवर्तकत्वे
किमाश्चर्यमिति भावः । यद्वा, इन्द्रियाणि स्वतो रिमुत्तान्येव, 'परमि स्थानि व्यनुष-
स्लयम्भूरि'ति श्रुतेः, तेषां हिताय कृष्णस्य भगवतः सम्बन्धीनि सर्ववस्तूनि
लीलासृष्टिस्थानि भावनयेन्द्रियैः सह योजयेदित्यर्थः । एतदे 'वाक्ष्यता'मित्यस्य विवरणे
'भगवता सह संलाप' इत्यादिना निरूपितमिति तत एव निगमनीयम् । नन्वीशत्वेपि
सर्वत्रेन्द्रिपादिषु सम्बन्धाभावे कथं दोषनिवर्तकत्वमित्याशङ्काहुः भूम्न इति । भूमा सर्व-
व्यापकोऽतो ये यया भावयिष्यन्ति तत्र तथा प्रकटीभूय सम्बन्धो भविष्यतीत्यर्थः । यद्वा,
भूम्न इति तादर्थ्ये चतुर्थी । तथा च 'भूमः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयती'ति
वार्तायीकाधिकरणनिरूपितमृगशब्दवाच्यसर्वात्मिभावरूपफलसिद्धये सर्ववस्तुसमर्पणं कर्त-
व्यमित्यर्थः । तत्राधिकरणे 'यो वै भूमा तत्सुख'मित्युक्त्या भूमस्वरूपनिज्ञासायां 'य-
नान्यत्पश्यती'त्यादिना सर्वात्मभावस्वरूपमेव निरूपितम् ॥ १२ ॥

ननु भगवतो दयावधि महतां कृपया गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तम्, सा च पुनर्गुण-
गाने क्रियमाणे कदा भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः गुणेऽप्याविष्टचित्तानामिति ।

गुणेऽप्याविष्टचित्तानां सर्वदा हरिचरिणः ।

संसारविरहहेतौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १३ ॥

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा कूरता मता ॥ १३ ॥

यदा भगवतो गुणेषु ऐश्वर्यादिषु सौन्दर्यादिषु वा सर्वदा अव्यवधानेनाविष्ट-
चित्तानामन्यानुसन्धानरहितान्तःकरणानां 'तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति
ही'त्याचार्यवचनादासक्त्या वर्षमानया संसारे लीकिकेवहन्ताममत्तारूपः विरहहेतौ
भगवद्विरहेण क्लेशश्च ताड्यमौ न स्यातामित्यर्थः । 'शृण्वन् शृण्वन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च महत्तानि ते । क्रियासु यस्त्वचरणरविन्दयोरविष्टचित्तो न भवाय
कल्पते,' 'परस्परं त्वद्गुणवादः,' 'ये योन्यतो भागवताः,' 'तव कथामृत'मित्यादि-
वाक्यैर्गुणाविष्टचित्तानां संसारविरहहेतुत्वमाचोक्तः । अन्यथा सर्वपरित्यागो नियोगे जीवनं
च न सम्भवेत् । यद्वा, संसारलोचनं च यो विरहहेतौ अभिलषितविनाशे तौ न स्याता-
मित्यर्थः । अत एवोक्त श्रीभागवते 'तस्मिन्महन्सुखरिता' इत्यारभ्य 'तत्र सृष्टशम्यशन-
तृद्भयशोकमोहा' इत्यन्तम् । जयवा संसारे भगवत्पहन्ताममत्तारूपस्य विरहेणामावेन
यो क्लेशो अन्यसम्बन्धप्रभ्रमसम्बन्धजन्वी तौ न स्यातामित्यर्थः । गुणाविष्टचित्तले सर्वथा
भगवद्विषयकसंसारोत्पत्तेरन्यसम्बन्धान्मावाव । ननु संसारः सर्वथा हेयः, कथं भगव-
द्विषयकः फलसाधक इति चेत्, न । भगवद्विषयककामादेरिव तस्यापि फलसाधकत्वेन

सतामपेक्षणीयत्वात् । अत एव 'कुर्वन्ति गोवत्सपद'मित्यत्र वत्सपदमात्रकरणोक्त्या 'अहमेतदासो व्यप मम स्वामी'त्येतावान् संसारः स्थापितो मनतीति निरूपितमाचार्यैः । गुणाविष्टचित्तत्वेऽनिष्टनिवृत्तिरेव न, किन्तु इष्टाभिरपीत्याहुः हरिवत्सुखमिति । यथा हरेः सर्वदुःखहर्तुः भगवतः सर्वदेवान्तर्धानदशायामपि भक्तसाहित्येन सुखं पूर्णानन्दत्वाच्च, तथा गुणाविष्टचित्तानामपि अन्तस्त्रदाविर्भावान् सर्वदा प्रमुसाहित्येनान्तरमणेनानन्दपूर्णत्वाच्च, तेषामपि सुखमित्यर्थः । 'सदा सत्सङ्गसुकानामवस्थैयं यदा भवेत्, तदा दयालुता दैन्यदर्शनात् तु हरेर्भवे'दित्याशयेनाहुः तदा भवेद् दयालुत्वमिति । यदा पूर्वोक्तरीत्या गुणगान सिध्यति तदा भगवतो दयालुत्वं प्रादुर्भावहेतुमूलं भवेदित्यर्थः । अन्यथेति । भक्तानामेवंभूतत्वाभावे भगवतोपि भूता अनवेक्षकत्वेन भक्ता सर्वशस्त्रसम्पत्ता इत्यर्थः । अत एव 'नैवात्मन' इति श्लोके भगवत आत्मनः प्रभोर्निजलाभपूर्णस्य विद्वज्जनेपहृतमानाग्रहीतुः करुणया किङ्करनिवेदितानुग्राहकत्वमुच्यते श्रीभागवते । सा च पूर्वोक्तभावेनैव भवतीति सर्वमनवपम् ॥ १३, १३ ॥

ननु कालकर्मस्त्रमावादिभिर्बुद्धिनाशोद्देगादिदोषैः प्रतिपन्धसम्भवे कथं गुणगाननिर्वाह इति चेत्, तत्राहुः याधशङ्कापि नास्त्यत्रेति ।

याधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

भगवद्दर्भसामर्थ्यादिरागो विपये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शात्तु दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

अत्र गुणगाने काठादिवाधशङ्केव न, यतो भगवतैवोक्त श्रीभागवते, 'न कर्हिचिन्मात्सरा शान्तरूपे नक्ष्यन्ति नो निमिषो छेदि हेति'रिति । अन्यत्रापि 'आयुर्हरति वै पुसा उद्यन्नस्त्रानवच्छेदी । तस्मै यः क्षणो नीत उत्तमश्चोक्वार्तये'ति । एव गुणगाने याधामावमुक्त्वा सर्वत्र तदवभासरूप प्रत्युत साधक धर्ममाहुः तदध्यासोपि सिध्यतीति । गुणगाने तस्य भगवत अध्यास सर्वत्रावगास सोप्यवान्तरफलतया सम्यक् सिद्धिविषयो भविष्यतीत्यर्थः । अध्यासपदं घटादिसर्वपदायेषु भगवदवभासरूप भावप्रयुक्तत्वेन वस्तुत आसक्तिग्रमवोपनाय । अन्यथा घटादेः पुरुषोत्तमाभिन्नत्वं स्यात् । न हि घटादि साक्षात् तदभिन्नं, किन्तु परम्परया । तस्याक्षरात्मतया तद्वारा तथात्वात् । अन्यथा तावद्दर्भविशिष्टत्व तेष्यप्यभिदध्यात् । ननुच्यन्त एव ब्रह्मधर्मा सच्चिदानन्दादयस्तेष्विति चेत्, अक्षरगतानामेव तेषां तद्भूतितया व्यपदिश्यमानत्वात् । अन्यथा वर्हापीडत्वादयोपि व्यपदिश्येरन् । न चेष्टपत्ति, तदसाधारण्यवर्माणामन्यत्र कथनसातुचितत्वात् । किञ्च, सर्वेषां धर्माणां साधारणत्वे तद्वत्साधारण्यधर्माभावे लक्षणानावादनिरूप्यत्व सर्वसमत्वं सर्वविशिष्टयेनाभजनीयत्वं च स्यात् । तस्मादभेदसाक्षरसमानाधिकरणत्वेन तद्दर्भव्यपदेश एव, न पुरुषोत्तमधर्मगन्धोपीति लुप्यस्य । नन्वैश्वर्यादयो व्यपदिष्टा

एव, किं न ते पुरुषोत्तमधर्मा इति चेत्, सत्यम्, तद्धर्मा एव, परन्तु अक्षरस्य चरणरूपत्वेन तदमित्ततया तेषां तत्र सद्भावात् । यतो व्यासादिष्वपि तदिच्छयैव तत्सद्भावः । 'युक्तं भगैः स्वैरिति वाक्यात् । एवं सति 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः,' 'पुरुषः स परः पार्थ,' 'भेदव्यप-
देशाच्चे'त्यादिश्रुतिसूत्रमीमांसया अक्षरभेदः पुरुषोत्तमभेद इति भेदामेदादोऽस्माकमिति दिक् । ननु 'निवृत्ततर्पणगीयमाना'दिति वाक्यात् वैराग्यस्य गुणगानाङ्गत्वेन अतिदुर्लभसा-
भावेद्गद्दीनत्वेन कथं फलसिद्धितित्वाद्वा तदप्यनेनैव भविष्यतीति साधनसाधकत्वरूप-
मुत्कर्षमाहुः भगवद्धर्मसामर्थ्यादिति । भगवद्धर्मात्रं गुणगानं, गीयमाना ये भगवतो
धर्मा ऐश्वर्यधीर्यादयः, तस्य तेषां वा सामर्थ्याद्दस्तुशक्तेरेव, विषये भगवदतिरिक्तविषये,
विरागो रागभावः, स्थिरः अन्यापरिभाव्यो भवतीत्यर्थः । 'सा श्रद्धधानस्य निवृद्धगाना
विरक्तिमन्यत्र करोति पुंस' इति वाक्यात् । यद्वा, भगवद्धर्मा लीलादयः, तत्सामर्थ्यादासक्ति-
जननरूपादेव विषयविषयकविरागो भवतीत्यर्थः । अत एवोक्तं श्रीभागवते, 'परिनिष्ठितोपि
नैर्गुण्य उत्तमस्योक्तीलया गृहीतचेताः,' 'इत्वंभूतगुणो हरि'रित्यादि । ननु भगवद्धर्म-
सामर्थ्येन सुखसाधनेषु विषयेषु विरागे गुणगायकानां दुःखं सादित्याशङ्काहुः गुणै-
र्हरिसुखस्पर्शादिति । गुणानां स्वरूपाभिन्नत्वात् तैरेव हरिसुखस्य प्रभुसम्बन्धिसुखस्य
हृदयदेशे स्पर्शात् सम्बन्धाद्विषयविरागेण शीतोष्णक्षुपादिसहनेषु कर्हिपिदपि दुःखं न
भाति, भगवदानन्देन पूर्णत्वादित्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं सौपतिकं गुणगानकर्तव्यतामभिधायोपसंहरन्ति एवं ज्ञात्वेति ।

पर्यं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद्दुत्कर्षं गुणवर्णने ।

अमत्सरैरल्लुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

एवं पूर्वोक्तान् प्रकारेण ज्ञानमार्गाद्गुणवर्णने दुत्कर्षं ज्ञात्वा सर्वापेक्षां
परित्यज्य सदा कालाप्यवधानेन गुणा एव वर्णनीयाः । अत्र पापकद्वयं त्यागार्थमाहुः
अमत्सरैरल्लुब्धैरिति । अमत्सरैरलोभयोरल्लुब्धत्वात्पापकत्वात् त्याज्यत्वम् । 'निर्मत्सराणां
सता'मिति वाक्यात् । लोभश्च लोभिकक्षेत्रादितुल्यतापापकतया पापकः । अत एवोक्तं
मत्किंइति 'वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवलौकिक एवे'त्यादि ॥ १६ ॥

ननु गुणगानं रागतानादिवशीकृतचित्ततया न कार्यं निरोधार्थत्वादिति तत्सिद्धयर्थं
गीयमानलीलाविशिष्टस्वरूपध्यानं साधनमाहुः हरिमूर्तिः सदा ध्येयेति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।

पायोर्मलशान्त्यामेव शेषमार्गं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

हरेः प्रभो. मूर्तिः स्वरूप सदा ध्येया स्मरणीयेत्यर्थः । नन्वदृष्टरूपस्य कथं ध्यानमित्याशङ्क्य तस्यान्याशङ्क्यमनोरथपूर्तेः सर्वथा नि.साधनस्य गजेन्द्रसेव रक्षार्थं भगवाना-
विर्भवतीति न दर्शने दौर्लभ्यमिति ज्ञापयितुं हरीति । ननु योग इव कल्पितमूर्तेरुपास-
नायामिव सम्पादिताध्यस्तक्रियाविशेषप्रयुक्तमूर्तानां ज्ञान इव सोपधानमूर्तेर्ध्यानमिहापि
भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः मूर्तिरिति । भक्त्याभिर्भूतरूपस्यैव ध्यानम्, न त्वन्यथाभूतस्येत्यर्थः ।
अन्यथा कल्पिताकारत्वे यथाऋषिद्विदरिष्येव इत्येव वदेयुः । ध्येयेति कृत्यप्रत्यये-
नाप्रत्ययकस्य घोतितम् । ननु ध्यानसहितगुणगाने किं भवतीत्याशङ्क्य तद्वान्तरफलमाहुः
सङ्कल्पादपीति । ध्यानस्य का कथा, यत सङ्कल्पाद्विचारमानादपि तत्र ध्यानविषय
प्रसुस्वरूपे प्रादुर्भावाद्भवतो दर्शने सर्वव्यवहारलोकनरूपम्, स्पर्शानं चरणादितद्रूपम्,
तथा कृत्तिः शिरसि कराम्बुजधारणादिरूपा, गतिर्विलासरूपा, एतत्सर्वं ध्यानपूर्वक-
गुणगानेन सङ्कल्पमानात् प्रादुर्भूतभगवत्स्वरूपे स्पष्टमनाभितम्, न तु भ्रमप्रतीत्या, प्रति-
क्षणमनुभूतं भवतीत्यर्थः । ननु श्रुतानां पुनः कीर्तनेन स्थिरीकृतानां गुणानां गानं सम्भव-
तीति तदर्थं श्रवणकीर्तने आहुः श्रवणं कीर्तनमिति । श्रवणं हि भगवद्वाचकानां
पदवाक्यानां शक्तित्वात्सर्वनिर्धार, तदनु कीर्तनं श्रुतस्य स्वैर्यसिद्धये पुनः पुनः स्वतः
सर्वत्र कथनम्, एतद्वयमपि सङ्कोचादिकमकृत्वा कर्तव्यम् । अन्यथा श्रवणकीर्तनयोरसम्भा-
वनाविपरीतभावेन स्याताम् । अतएवोक्तं श्रीमदाचार्यं श्रीभामपततत्त्वदीपे 'सर्वथा तद्गुणा-
लाप नामोच्चारणमेव वा, सभायामपि कुर्वति निर्भयो निःस्पृहस्तत' इति । श्रोतृसापेक्षं
कीर्तनम्, तन्निस्पृहं गानमिति तयोर्विवेकः । ननु 'काममयोय पुरुष' इति श्रुते सर्वथा
ध्याने सङ्कल्पानन्तरं यत्किञ्चित् कामगमभवात् गुणगाने कीदृशं कामं कर्तव्यं इति तमाहुः
पुत्रे कृष्णप्रिय इति । पुत्रे सङ्कल्पपुत्रे सङ्कल्पोत्पन्ने कृष्णस्य सदानन्दपुरुषोत्तमस्य
अलौकिके सर्वपरित्यागपूर्वकभक्तिस्वरूपमात्राभिलाषरूपे कामे रतिः प्रीतिः कार्येत्यर्थः । एतेन
सर्वात्मभावभावेन सर्वदा कर्तव्यमित्युक्तं भवति । तत्र भाव्यमानस्य कामस्य शरीरपरि-
वर्तनलक्षणं फलमाहुः पायोरिति । पायोः सर्वशरीरवतमलाविष्टानस्य समलाशमाये-
षैवाखिलशरीरलोक्रिकतापादकस्य सम्बन्धी यो मलांशो लौकिकविषयभोगजन्यस्तस्य
सर्वात्मभावभावेन 'सन्त्यज्य सर्वविषया' नित्यादिवान्त्ये सकारणस्य त्यागेन तन्नौ शरीरे
सा अलंकारिकामरतिः शेषभागं मलरहिताशरूपं भगवत्सम्बन्धव्योक्ततापादकं नयेत्
प्रापयेदित्यर्थः । पुत्र उतिसामान्यपदमस्यार्थस्यातिगोप्यत्वेन परोक्षवादसूचनाय । नन्वे-
तादृशस्यापि 'तादृशस्यापि सतत'मितिवान्याद् दुःसद्भादिना भावनाशसम्भवादुपायमाहुः
यस्येति । यस्य पुनादेरिन्द्रियादेर्या भगवत्कार्यं सेवागुणगानादि स्पष्टं प्रातिकूल्येन न
दृश्यते शिक्षायामपि, तदा सति सामर्थ्यं तस्य विशेषेण भ्रणादिकमकृत्वापि निग्रहः
कर्तव्य इत्यर्थः । अन्यथा सत्या शक्ती तदनिग्रहे 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती'ति न्यायेन

तद्रतौ पुत्रे कृष्णप्रिय इत्यनेन विरोधापत्तिरित्यत आहुः इति निश्चय इति ।
इदमुक्तं भवति । भगवत्कार्यानुकूल्ये रतिः, प्रतिकूल्ये निग्रहः, सर्वथा असम्भवे त्यागः,
शरणभावनं वा कर्तव्यम्, 'प्रतिकूले रूढं सजेत', 'अशक्ये हरिरेवास्त्री' तिवाक्यादिति
भावः ॥ १७, १८, १९ ॥

एवं निरोधे साधनद्वयं निरूप्य सर्वेभ्यः साधनेभ्यः तयोरुत्कर्षं वदन्त उपसंहरन्ति
नातः परतरो मञ्च इति ।

नातः परतरो मञ्चो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मञ्चे हि कामितफलदत्तं देवतावशीकरणं च प्रसिद्धम्, तदथ कामनाप्रसरमनो-
रयान्तफलसिद्ध्या अनिर्बन्धेन प्रभुवशीकरणादतः साधनयुग्माद् मञ्चः परतरः । अवि-
लम्बेन साधकत्वात् कर्मादिभ्य उत्कृष्टत्वेऽपि एतस्मादतिशयेन नोत्कृष्ट इत्यर्थः । ननु
प्रभुप्रसादहेतुतया अनिर्बन्धेन स्वामिवशीकरणाच्च स्वस्त्योत्कृष्टत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः
नातः परतरः स्तव इति । स्तवस्य मन्त्रादिभ्यः प्रसादसाधकतयोत्कृष्टत्वेऽपि प्रभुवशी-
करणाभावादेतस्मादतिशयेन नोत्कर्ष इत्यर्थः । ननु ब्रह्मविद्यायाः 'प्रियो हि ज्ञानिनोत्तर्यमर्हं
स च मम प्रियः' 'ज्ञानी त्वात्मेव मे मत' इत्यादिवाक्यैः प्रभुप्रीतिसाधकतया साक्षात्कार-
हेतुत्वात् सकलपातकभस्मीकाराच्च उत्कृष्टत्वमित्याशङ्क्याहुः नातः परतरा विद्येति ।
विद्या हि पञ्चपर्वा, स्वसिद्धौ साक्षात्कारमात्रं सम्पाद्य तत्र लयं विधाय केवलमनसा मष्टा-
नन्दमनुभावयति । तदुक्तं अस्मदाचार्यैः श्रीभागवततत्त्वदीपे 'प्रह्वानन्दे प्रविष्टानामात्म-
नैव सुखप्रमे'ति, भावभावनगुणगाने स्वस्मिन् प्रभुः प्रादुर्भावं सम्पाद्य देहेन्द्रियप्राणान्तः-
करणादिषु स्वरूपात्मकमानन्दं पुरयित्वा सर्वैरिन्द्रियैरन्तःकरणैरारमणापि तदानन्दमनुभाव-
यत इत्यन्येभ्य उत्कृष्टापि विद्या नैतस्मात् साधनयुग्मादुत्कृष्टत्वर्थः । अखिलपापभस्मी-
कारस्तु 'हुःसहस्रेष्विदरे'तिवाक्याद्वाप्यव्ययन्तन्यः । नन्वेतत्सर्वं चित्तशुद्धौ सम्भवति,
अशुद्धचित्तस्य सर्वसाधनवैफल्यात् तन्लोभकतीर्थाश्रयत्वावश्यकत्वात् तीर्थस्योत्कृष्टता-
माशङ्क्य आहुः तीर्थं नातः परात्परमिति । तीर्थस्य सकलसाधनमूलभूतमनोमार्जक-
तयोत्कृष्टत्वेऽपि गुणगानादेः 'सर्वं च शुष्यत्यचिरेण पुंस' इतिवाक्यादविलम्बेन चित्त-
शोधकत्वात् सर्वतीर्थरूपत्वाच्च सम्प्रतं तेषां दुष्टाचूतत्वेन तिरोहिताधिदेयत्वेन चासाध-
कत्वादेतस्मात् परात् सर्वोत्कृष्टात् साधनयुग्मात् तीर्थं न परं उत्कृष्टमिति स्वसिद्धान्त-
निष्कर्षो निरूपित इति दिक् ॥ २० ॥

स्वाचार्यचरणद्वन्द्वनादरसाधनात् । निरोधलक्षणग्रन्थं विषये हरिदासकः ॥ १ ॥
इति श्रीमसिजाचार्यचरणाभिषेकलक्ष्मणमहाराज्यसुखानुभूतिश्रीहरिदास-
विरचिता निरोधलक्षणविदुषिः समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीवल्लभकृतनिरोधलक्षणविवरणसमेतम् ।

भक्तभावात्मरूपाय तन्मार्गव्यञ्जकाय च । तदानायातदीक्षाय स्वाचार्यप्रभवे नमः ॥ १ ॥
विरागादिन्द्रियाणां वै निग्रहे सति साधनैः । यमादिभिश्च विज्ञाने ज्ञाने भवति सत्फलम् ॥ २ ॥
तदभावेन सर्वेषु प्राकृतांशनिवृत्तितः । भक्तिमार्गे कथं साक्षात् फलं भवति तत्ततः ॥ ३ ॥
निःसाधनाङ्गीकृतस्य स्यात् फलं रोपतो यथा । तदर्धं साधनं रूपं तस्य स्वाध्वनि वर्ण्यते ॥ ४ ॥

प्रथमं दशमार्धनिरूपणे निरोधशब्देन 'निरोधोऽसालुप्तयनमात्मनः सह शक्तिभिः
प्रपथे श्रीडनं हरे' रिति वाक्यात् साक्षाद्भगवत्क्रीडनमुक्तम् । तत्क्रीडनं लीलासुखन्तर्गत-
भक्तानां प्रपञ्चविस्तृतिपूर्वकं सकलेन्द्रियनिरोधे सति भवेदिति दशमस्कन्धे भक्तानां चित्त-
वृत्तिनिरोध उक्तो भक्तिमार्गः । तत्र पुनः प्राकृत्यदशायां तु साक्षादङ्गीकृतानां पुष्टिमार्गीय-
श्रीरुद्रतभावाङ्कुराणां परमभाष्यवतां प्रज्ञसम्बन्धिनां निरोधः स्वरूपेणैव कृतः, साम्प्रतं तत्रा-
कृत्याभावादाधुनिकानां स्वाङ्गीकृतानां स्वमार्गीयतत्साधनाज्ञानात् कदाचिद् ज्ञानरीतिनिरो-
धसाधनेषु प्रवृत्तिर्भवेदिति तदभावार्थं श्रीमदाचार्यचरणाः कृपया ज्ञानमार्गीयसाधननिषेध-
पूर्वकं स्वमार्गीयनिरोधसम्भवे सर्वथा यदपेक्षितं मूलकारणं तन्निरूपयन्ति यञ्चेति ।

यच्च दुःखं यदोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु पद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम कथित् ॥ १ ॥

अत्रेदमाकृतम् । गोकुलं तु विविपविहरणेच्छाजनितसहजकृपया साक्षाद्भगवता
पुष्टिमार्गेङ्गीकृतमतः स्नानन्ददानार्थं लोके प्रकटितमपि तादृशाङ्गीकाररूपधीजस्वभावजनित-
तद्भासनया तदनुसृतोद्भूतभावाङ्कुरमेवासीदिति तद्भावस्वगावाडुःखमपि तत्र स्थितम्, येन
साक्षाद्भगवत्प्राकृत्यमसूद्, अत्रे सुखादिकमपीत्यधुना स्वकीयानामपि तादृशनिरोध-
मार्गीणां तादृशमेव दुःखं तत्तन्निरोधेन तत्राकृत्यसाधकम्, अतस्तदेवैवं स्वस्मिन्सम्भाव-
नया सर्वदा भावनीयमिति स्वकीयान् प्रति उक्षयन्ति । तथा हि । अन्वयार्थस्तु स्पष्ट
एव । यदित्यनिर्यचनीयत्वमुक्तम् । चकारोप्यर्थकः सम्भावनायाम् । तथा च सुखं तु
दुर्लभमेव । दुःखमपि चैत्स्यादिति । एतद्दुःखस्य महानन्दस्यापि तुच्छकर्तृत्वात् सर्वो-
त्कृष्टत्वेनातिदुर्लभाधिकारज्ञापनाय सम्भावनैवोक्तं, न तु श्राप्यनम् । तथापि कथित्

कदापि भविष्यति, यदि भवेत्तदा किं वाच्यमिति सर्वदोषकण्ठापेक्षितेति सूचितम् । एवं सति एतद्भावानुरूपं दुःखमेव निरोधसाधकमिति ज्ञेयम् । दुःखं तु भगवत्प्रादुर्भावात् प्रागपि श्रीमातृचरणानां श्रीनन्दादीनां च पुत्रोत्पत्तितत्कालनक्रीडावलोकनादिविधिवन्नोरधात्मकमासीदेव, तथैव श्रीस्वामिनीनामपि प्रभुप्राकट्याशया तत्तन्मनोरधात्मकं तथा । ततः प्राकट्यानन्तरमपि पाल्ये पूतनादिदर्शनजनितभयेन मूरच्छादिपतनरूपम् । ततः प्रभोरतिचमालखभाषेन गृह्यप्रियरूपं क्रीडासत्तया भोजनादिविलम्बजनितार्तिरूपं च । श्रीस्वामिनीनामपि प्राकट्यानन्तरं क्षुण्णमात्रावलोकनाभावेन स्यातुमशक्त्या प्रातर्पावत्यर्प्यन्तमुक्षिद्रायतविकसद्यमरोजदलसदृशमीक्षणयुगलमुन्मीलयत्यमुष्णवत्तापासद्दिष्युतया 'शिरशिरहे'स्युक्तार्थनहेतुरूपं च । ततो गोचारणमनादिषु प्रातरारभ्य सन्ध्यावधि तददर्शनजनिततत्तन्मनोरधात्मकं च । अग्रे नादनिष्ठापृतपानानन्तरं स्वामिनीनां तु स्पष्टमेव । अग्रेपि रासलीलायां साक्षात् पूर्णरसदानपर्यन्तं तिरोधानजनितविचित्रभावात्मकं च । पुनरग्रे विप्रयोगस्फूर्ती स्पष्टमेव । ततस्तस्य 'संसृत्य संसृत्ये-'स्युक्तत्वात्तल्लीलातुस्मरणकीर्तनादिना सर्वदा तदात्मकत्वात्तदस्फूर्ती दुःखमानामावापया पूर्वमेव प्रभुस्थितिं मन्यमानानां भक्तानां श्रीमदुद्धवोपदेशेन महदुःखार्णवनिमज्जनं चैवादि रूपम्, तथा चेत्तूपे दुःखे जाते एषां निरोधः सिद्धो भवतीति श्रीमदाचार्यैरेतदुःखान्तर्गतानिर्वचनीयमुखातुमबहेतुभावात्मकैः कृपया स्वकीयानामप्येवमेव तदपेक्षितमिति तदेव सम्भावनीयमिति तथोक्तम् ॥ १ ॥

एवं तेषां दुःखं सम्भान्य तत्तदनन्तरजनितमनिर्वचनीयं तत्तत्सुखमपि तदुःखादुभये सम्भावयन्ति गोकुल इति ।

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।
यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

तदुःखहेतुकप्राकट्यानन्तरं महोत्सवादिषाल्यमारभ्य प्रेक्षपर्यङ्गान्दोलनादिरिङ्गनक्रीडादानदधिदुग्धादिचौर्यान्तर्गतपावत्केलिवत्सगोचरणान्तनिलायनप्रभृतिवेषुगीतप्रतनगोवर्धनोत्सवरासान्तं स्वस्वमनोरथपूरकं तथा । तदनन्तरं विप्रयोगे जाते तल्लीलास्मरणे तदात्मकतया दुःखमानामावात् तदस्फूर्त्या यथा पूर्वबुद्ध्या मिश्रितं सर्वविलक्षणं च श्रीस्वामिनीनां तथा सर्वेषां ब्रजवासिनां च श्रीगोकुले यत्सुखं सन्त्यगनिर्वचनीय यद्यप्यतिदुर्लभं तथापि सर्वसामर्थ्यवत्त्वेन पूर्वं यथा स्वयमेव कृतवांश्यापुनापि करिष्यतीति ज्ञापनाय भगवत्पदम् ॥ २ ॥

एवं निरुद्धानां दुःखमुखामितायं स्वस्मिन्निरूप्य पुनस्तादृशमुखानन्तरं विप्रयोग-
जनिते दुःखेऽपि विलक्षणसुखविशेषोत्पादकः कश्चनोत्सवो जायत इति तं सम्भावयन्ति
उद्भवागमन इति ।

उद्भवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

घृन्दायने गोकुले या तथा मे मनसि कथित् ॥ ३ ॥

यथा देशान्तरगते प्रिये तत्रैषितगृहसंवेकागमने तन्मात्रादीनां विशेषतः प्रियायाश्च
प्रियकृतस्वस्मरणजनितौत्सुक्यविशेषेणोत्सवो भवतीति लोकरीतिः, प्रकृते तयोद्भवस्य
भगवद्भावेन सर्वदोत्सवरूपस्य प्रियसन्देशहारकस्य भगवदीयस्यागमने उत्सवः सुत-
मलीकिकत्वेन महान् यथा जातः, सुमहत्पदेन तस्योत्सवस्य तदनुभवैकनेघत्वेनाशक्य-
निर्वचनमुक्तम् । कुत्रेत्याकाहायामाहुः घृन्दायने गोकुले वेति । वेति पार्थे । तेन
घृन्दायने श्रीस्वामिनीनां गोकुले श्रीमानुचरणानामिति विवेकः । तथा मे मनसि कदापि
भविष्यतीति तदापेक्षित इत्यर्थः । उत्सवस्तु मानसोत्साहरूपो मनोधर्म इति मनस्वेवामिताप-
उक्तः । अत्रार्थ भावः । भगवदीयस्य भगवत्सम्बन्धिनि समागते साक्षाद्भगवानेवागत इति
तादृशोत्साहः सर्वदापेक्षितः, नो चेत्, तत्त्वमेव न भवतीति सिद्धान्तः । एते तु सर्वथा
प्रयत्नाः परमभगवदीया इति तेषां सर्वदोत्सवरूपस्योद्भवस्यागमने प्रथमं तत्स्वरूप-
दर्शनेत्र क्षेत्रं भगवद्देशधारीति विस्मयेनोत्कण्ठाकूपोत्सवो जातः, पश्चाद्भगवदीयत्वेन
निर्धारितत्वेऽस्मत्प्रियसम्बन्धी गृहे समागतः, तत्रापि परममक्तो निकटवर्ती ज्ञायते, भदो
महद्भाग्यमसादीर्य पतोऽस्मात् तस्मत्सम्बन्धित्वज्ञानेऽयमप्रागतः प्रेषितो वा, नो चेद्भगव-
दीयस्तदन्यत्र किमर्थं गच्छेत् । तेन प्रभुकृपाप्यस्मात् भविष्यतीत्यपि ज्ञायते, यतस्त-
त्कृपाऽभावे भगवदीयस्यागमनं न सम्भवति । किञ्च, तद्गृहमेव न भवति यत्र भगवदीयो
नायाति, यतस्त्रदागमने भगवानप्यागच्छतीति प्रभुस्नेहभरवशाद्गृहत्वेऽपि तत्सम्बन्धित्व-
जनितनिरुपधिद्वेहावात्सल्येनोत्साहभरवशात्तत्स्वरूपोत्सवो जातः । कश्चि-
दित्येतादृशस्य दुर्लभत्वमुक्तम् । एवमाधुनिकानामपि निरोधमार्गीयाणां तत्सम्बन्धा-
भावजनितदुःखं सर्वदापेक्षितम्, भगवदीयागमने तादृश एवोत्सवोऽप्यपेक्षितः । एवं
सर्वात्मना चित्तादिनिरोधे जाते तेन च साक्षात् प्राकट्येन कृपया सुखमपि दास्यतीति
भावोऽपि ज्ञाप्यत ॥ ३ ॥

मनु ज्ञानमार्गे तु चित्तनिरोधे जाते ध्यानादिना आत्मसुखं भवति, अत्र दुःखेन
चित्तनिरोधेऽपि दुःखमेव तिष्ठतीति क उल्कर्षस्त्रवाहुः महतामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दपयिष्यति ।

तापदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

येषां भगवदीयदर्शनमात्रात् परमानन्दाहुमाचको महानुत्सवो भवति सर्वदा

भगवदावेशात् । स्वयमपि उत्सवरूपा अन्तरद्वास्त्रे भक्ता महान्तः, तेषां कृपया यावद्भग-
वान् दयां करिष्यति, कृपया प्रादुर्भूय स्वरूपानन्दं दास्यति, तावत्तसोद्भूतप्रसुरभाविर्भग-
वदीयैः सह कीर्त्यमानो भगवान् साक्षादन्तःप्रकटीभूय सकलेन्द्रियाणामासक्तिं सास्वरूपे
विधाय सुखाय भवति, न दुःखायेति । हृदयस्य एव तत्तद्विन्द्रियेषु स्वानन्दं पूरयतीत्यर्थः ।
यत् आनन्दसन्दोहरूपः । यथा स्वरूपं तादृशं तथा गुणा अपि, तेन कीर्तनद्वारापि तथा
आनन्ददातेति गुणगानमेव तेन कर्तव्यम्, नान्यदिति ज्ञापितं भवति । अनेन तदुःखमपि
रसभावात्मकमानन्दात्मकम्, न तु लौकिकविषयात्मकम् । यत्र दुःखस्यापि रसानन्दात्म-
कत्वम्, तत्र सुखस्वानन्दरूपत्वोत्कर्षः किं वाच्य इति सूचितम् । किञ्च, अत्र प्रभुदयायां
हेतुत्वेन महत्कृपोक्ता, तेन महच्छन्देन स्वामिन्य एवोक्ता इत्यवगम्यते । यतोयं रसज्ञातामेव,
भगवानपि तदधीन एव रसानुभवं करोतीति तत्कृपाऽभावे प्रभोरपि न दयेति महत्कृपयैव
सर्वं भविष्यतीति सूचितम् । अत एव 'तद्द्वारा पुरुषे भवे'दित्यत्र 'तासामनुग्रहद्वारे'त्युक्तम् ।
अथवा तद्भाषस्वरूपत्वेनात्मसूचकमेव महत्पद दत्तमिति ज्ञायते । तेनाधुनिकानां श्रीमदा-
चार्यकृपयैव प्रभुः कृपां कृत्वा आनन्ददानं करिष्यतीति भावः ॥ ४ ॥

ननु भगवद्गुणगानं सर्वैरेव कियते, तेन च सर्वेषां सुखमेव भवति, निरुद्धानां तु
को विशेषः, तत्राहुः महतामिति ।

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

महतां पूर्वोक्तानां कृपया सभावदानात्मिकया कृत्वा यथा कीर्तनं निरुप-
मार्गीयाणां सदा सुखदं भवति, यतः परस्परगुणानुवादे प्रोच्छितरस्तेन सकलेन्द्रियाणां
स्वरूप एव निरोधेन प्रपञ्चविस्तृतिपूर्वकं तदानन्दमत्रा एव तिष्ठन्तीति पुनस्तद्रसवासना
न गच्छतीति सदेत्युक्तम् । तथा लौकिकानां प्रमाणधर्मनिष्ठानां तारुभावाभाव-
वतां भक्तानां ज्ञानिनामपि तयारूपप्राकट्याभावानात्तत्कीर्तनं तथा सुखदं न भवतीत्यर्थः ।
तत्र दृष्टान्तः स्निग्धभोजनेति । एकं स्निग्धभोजनम्, अन्यद्रूक्षम् । स्निग्धभोजनं
यथा सकलेन्द्रियाणां सुखदमाप्यायकं भवति, न तथा रूक्षम्, लौकिकेषु तद्भावाभावा-
द्रूक्षत्वमेवेति तथा । अत्रैतन्मार्गीयभावाभाववस्तु मत्केषु ज्ञानिषु च लौकिकपदकथनेन
यथा लौकिकालौकिकयोर्वाचितम्यम्, तावत्तत्त्वमेतयोरेपीति ज्ञाप्यते । एवं सति
निरुद्धानां कीर्तने महानेव विशेष उक्तः ॥ ५ ॥

ननु सुखदत्वेपि दुःखं तु सर्वदा तिष्ठत्येवेति क उत्कर्षो गुणगाने, एतदपेक्षया
ज्ञानिनां सकलेन्द्रियादीनामात्मनि लयेऽस्तन्तदुःखसम्भावनारहितात्मसुखानुभवः सर्वोत्कृष्टः
प्रमाणसिद्ध इति चेत्त्राहुः गुणगान इति ।

गुणगाने सुखाचासिर्गोविन्दस्य प्रजापते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कृतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गोकुलेन्द्रस्य रसात्मकलीलाविशिष्टस्य गुणगाने सुखाचासिर्गोविन्दस्य प्रजापतेः । यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कृतोऽन्यतः । अथैतन्निश्चयार्थः । गानद्वारा सुखप्राप्तौ प्रकर्षः साक्षात्स्वरूपप्राक्त्वजनित एवेति ज्ञेयम् । यद्यपि श्रीशुकैरेवेयं लीला वर्णिता, भक्तिरसेनापि ते पूर्णाः, तथाप्येतदानन्दानुभवस्तेषामपि न जात इति मुख्यतया शुकपदमेवादी दत्तम् । एवं सति तत्कल्पयैवायमानन्दः प्राप्यः, नान्यथा । तत्रैतद्दुःखमेव साधकमिति तस्यैव परमपुरुषार्थत्वम्, नान्यसेति । यथात्मसुखापेक्षया तद्दुःखस्यापि सर्वोत्कृष्टत्वम्, तत्र कियुक्त्वप्यः सुखोत्कर्ष इति कैमुतिकन्यायेनापि ज्ञाप्यते ॥ ६ ॥

अनु परमपुरुषार्थत्वेन सर्वदा तेषु दुःखमेव स्वापयति भगवान्, किं वा कदापि वहिः सुखमपि प्रयच्छति, तथाहुः छिद्यमानानिति ।

छिद्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्य निर्गतं वहिः ॥ ७ ॥

एवं छिद्यमानान् साक्षात्स्वरूपसम्बन्धाभिलाषजनितमञ्जुराली प्रतिक्षणमूर्च्छाजागरणाद्यवस्थाभेदेनागिर्गोविन्दस्य सुखानुभवं कुर्वतः स्वीयान् जनान् दृष्ट्वा प्रधुर्यदा कृपायुक्तो भवेत्तदा सर्वं सदानन्दं सर्वांशपूर्णं सदानन्दस्वरूपं तत्तदिन्द्रियेषु भावात्मकतया सर्वांशिनानन्दपोषार्थं हृदिस्यमलौकिककार्मरूपं वा साक्षात्स्वरूपं वहिर्निर्गतं प्रकटं करोति, वहिरानन्ददानार्थं हृदयात् प्रकट्ये भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

एवमयमानन्दः कृपैकसाध्य इत्यतिदुर्लभत्वमाहुः सर्वानन्दमयस्येति ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः स्थावयते जनान् ॥ ८ ॥

ब्रह्मानन्दपर्यन्तं यत्र यत्रानन्दो गणितस्त्वमयस्यापि कृपानन्दः सुतरां दुर्लभः । अथवा सर्वेषां तन्मयस्य स तथा । मुक्त्यादिषु य आनन्दो भवति, सोप्येतदंश एव, परन्तु स साधनैर्भवति, अयं कृपैकसाध्यः, यतो दानं विना न भवति, अतः सुतरां दुर्लभः, न केनापि प्राप्तुं शक्यः । अथवा सुतरां दुःखेन शोभनेन वा लभ्यो लाभो यस्येति । समस्तसाधनासाध्यत्वादन्येषां दुर्लभः, तद्वत्त्वमेव सुलभ इति सूचितम् । तत्राक्षिप्रकारमाहुः हृद्गत इति । तादृशदुःखजनिततापासीं मियो गुणानुवादेन स्वगुणान् श्रुत्वा हृद्गत एव पूर्णः सकलेन्द्रियव्याप्तः, तजनितोच्छित्तरसाब्धिपरोशान्तःपुष्टः सन् वहिः स्वस्वरूपं

प्रकटीकृत्य जनान् सीयान् ह्याचयते, तत्तद्रसान्धितरङ्गेषु तरणं कारयति । यथा यथा सकलेन्द्रियाणां दुःखं जातम्, तथा तथैव तेषु खानन्दं पूरयतीति भावः ॥ ८ ॥

अतः परमेतत्कथनप्रयोजनमाहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम् ॥ ९ ॥

अहं स्वयं साक्षात् प्रमुणा पूर्वं निरुद्धः, निरुद्धानां मार्गोऽङ्गीकृतः, पश्चाद् रोधेन गुणगानद्वारा सकलेन्द्रियाणां रोधेन निरोधस्य पदवीं गतः, फलदशां प्राप्तः । निरुद्धेति पाठे निरुद्धानां पदवीं गतः, तन्मध्यवर्ती सन् तदानन्दानुभवं प्राप्तः । अतस्त्वदाज्ञया निरुद्धानामाधुनिकानां रोधाय तमेव निरोधं वर्णयामि, कथयामि । एतेन मनुक्त-रीतिकरणेन सर्वथा निरोधसिद्धिर्भविष्यतीति ज्ञापितम् । त इति पाठे तुभ्यं त्वदर्थं वर्ण-यामीति कमपि भान्यवन्तं न तु कर्मित्यन्येषामानुपपत्तिकी शिक्षा सूचिता । किञ्च, यतोऽहं प्रमुणा साक्षात् स्वयं निरुद्धः, अतो मम वर्णनशक्तिः, नो चेत्, केन वक्तुं शक्य इत्यपि सूच्यते ॥ ९ ॥

एवं निरोधस्वरूपमुक्त्वा सर्वथा कर्तव्यत्वमाहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गैवाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ १० ॥

यस्मादेवं सर्वोच्छ्रित्वैव पराकाष्ठापन्नः सर्वदुर्लभः श्रूयानन्दः तस्मात् सर्वं परित्यज्यै-
तत्रापकत्वाभावात् सर्वं सवासनं लवत्वा निरुद्धैः उन्नतभावाद्गुरैः सर्वदा गुणा एव
गेयाः, तेषामयमेव सहजो धर्म इति तदभिलाषिभिरपि तदेव कर्तव्यम्, नान्यदिति भावः ।
गुणास्तु तत्तद्धीलात्मका बहुविधा इति कीदृशानां गानं कर्तव्यमित्यपेक्षायां विशेषणमाहुः
सदानन्दपरैरिति । सदानन्दः साक्षात्सात्मकः पुरुषोत्तमः, तत्परैस्तत्रिष्टैः सद्भिः,
न त्वितरस्वरूपनिष्ठैः । रस्वरूपनिष्ठत्वकथनेन गुणा अपि रसात्मका रसादिलीलारूपा
एव गेया इति सूचितम् । सदानन्दपरैस्तादृशैर्भयवदीयैः सद्देति वा योज्यम् । तेन
तादृश्यतिरिक्तैः सह न गेया इत्युक्तं भवति । तत्र कथने सर्वथा हानिरेवेति भावः ।
सर्वदेति क्षणमात्रमन्ययाभावसम्बन्धमन्धामाधार्यम् । ततः सच्चिदानन्दता भवति,
सर्वत्र भगवद्देशतत्त्वरूपात्मकत्वं भवेदिति भावः । यद्यथा सच्चिदानन्दता प्राप्त-
भावसम्पत्तिः, तेनान्तःसाक्षात्पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता भवति, तस्य तदधिष्ठानत्वादिति
सूचितम् । कुत्रापि स्वत इति पाठः । तदा सच्चिदानन्दता भगवद्दर्भरूपता, सा
त्वस्मिन्मार्गे स्वत एवानापासेनैव भवतीत्यानुपपत्तिकत्वमुक्तम् । यत्र ज्ञानमार्गावपरमफल-
मपि गुणगानस्यानुपपत्तिकं फलम्, तत्र साक्षात्फलस्वरूपं किमु भान्यम् ॥ १० ॥

ननु निरुद्धानामेव सर्वपरित्यागपूर्वकमेतदुच्यते, न अन्येषां साधननिष्ठानाम्, तत्किमिति तत्राहुः हरिणेति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्वहर्निशम् ॥ ११ ॥

हरिणा सर्वदुःखद्वारां ये विशेषेण त्यक्ताः, म्यानन्ददानेन दुःखदूरीकरणेच्छाऽभावात् त्यक्ताः, ते तु भवसागरे मग्नाः, साधनान्तरप्रवृत्ता अपि एतदानन्दाभावात् तन्मग्ना एवेति भावः । ये तदानेच्छया निरुद्धाः पुष्टिमार्गाङ्गीकृताः, केवलस्वरूपनिष्ठ-भावैकसाधनाः, त एव तत्कृपया तादृशं मोदमायान्ति, यास्याम्पन्तरं रसपूर्णाः सन्त-स्तदानन्दसमुद्रमग्ना एव तिष्ठन्ति, तदप्यहर्निशम्, क्षणमात्रमपि न तदानन्दविच्छेद इति भावः । अतो निरुद्धानमेवायमानन्दः, न साधननिष्ठानामपीति तदर्धमेवोच्यते इति सर्वं सुखम् ॥ ११ ॥

ननु निरुद्धानामपि पूर्वसितसंसारस्य विद्यमानत्वात् तत्तद्विषयासक्तेन्द्रियाणां तद्विस्मरणमशक्यमिव भाति, तदभावे गुणगानादिप्रवृत्तिरप्यशक्या, तत्राहुः संसारेति ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताप वै ।

कृष्णस्य सर्वेषस्तूनि भूञ्जि द्वादश योजयेत् ॥ १२ ॥

निरोधार्थं केवलपुष्टिमांङ्गीकृतस्य साधनान्तरप्रवृत्तिनिवृत्त्योरप्रयोजकत्वादङ्गीकार-स्वभावेन यथा स्वरूपे रोहात्मिका प्रवृत्तिर्भवति, न तथा विषयेषु, किन्तु तत्सम्बन्धदोषं निवारणीय इति संसारावेशदुष्टानां तत्तद्विषयभोगादिषु अहन्ताममतात्मकावेशेन दुष्टानां तत्रनित्यबन्धेन दुःखज्ञानाभावेन तन्निवर्तकधर्मविमुखानामिन्द्रियाणां हिताप-प्रीतये पूर्वाक्तमेतेन हेतुना कृष्णस्य सदानन्दस्य सर्वेषस्तूनि प्रकरणादेकादशेन्द्रियाणि सम्पूर्णस्वरूपं च, तानि प्रत्येकसमुद्राद्याभ्यां तत्तन्मनोरथात्मकभावनायां भूमीः समस्तस्तेन्द्रिय-विषयाधिष्ठानानि कृत्वा स्वकीयान्यात्मसहितानि द्वादश तत्र योजयेत् । यद्यपि निरुद्धस्य स्नेहस्वभावेनैव भगवत्स्वरूपासक्तिः सकलेन्द्रियेषु भवतीति नियमविधिरप्यस्, तथापि संसा-रावेशिनामतिहेशं वीक्ष्य एतत्सम्बन्धेन मग्नापि क्लेशदुःखमेव भविष्यति, न तु स्नेहासक्तिजं सुखमिति भयेन ततः सांसारिकधर्मैः प्रत्यावर्त्य समलोन्द्रियाणि तत्र योजयेत् । यत्कि-ञ्चित्सम्बन्धेनापि विभो मा भूदिति कर्तव्यविधिरुक्तः । किञ्च, इन्द्रियाणां स्वस्वविषयप्रवृत्तिः सहजा, तथा यानितुच्छ विषयं त्याज्यित्वा परमानन्दरूपविषयेषु तानि योजनीयानि । तथा चोक्तं 'मक्षण्वता'मित्यस्य विवरणे 'इन्द्रिययतामिदमेव फल'मिति, 'भगवता सह संलाप' इत्यारभ्य 'एवं तद्भावनं सदे'त्यन्तम् । अत्र तु द्वादशैव तद्विषया उक्ता इत्यत्रापि तावत्संख्यैवोक्ता । एवं सत्याधुनिकानामपि सांसारिकधर्मैः परावर्त्य तानि भगवति

योजनीयानीति शिक्षा सूचिता । एवं योजनेन तदासक्तौ सत्यां साक्षात्स्वरूपसम्बन्धाभावात्
तद्वृणोष्वेवासक्तिवशादावेशो भवेत्, न त्वन्यथेति भावः ॥ १२ ॥

ननु एवं योजनेपि तत्तदिन्द्रियाणां पूर्वसंसाराध्यासात् तद्विषयेषु यत्किञ्चिदहन्ता-
ममतात्मकः संसारस्तिष्ठेदेवेति तस्यागजनिवृत्तेश्चोऽपि तत्राप्त्यभावाद् भवेदिति कथं
सुखम् ? तत्राहुः गुणेऽप्यिति ।

गुणेऽप्याविष्टचित्तानां सर्वदा मुरचैरिणः ।

संसारचिरहृत्केशौ न स्यातां हरिचत्सुखम् ॥ १३ ॥

एवमासक्त्या गुणगाने क्रियमाणे तत्रैवाविष्टचित्ता भवन्तीति मुरचैरिणस्य प्रति-
पन्धनिवर्तकस्य गुणेऽप्याविष्टचित्तानां तेषां संसारः पूर्वोक्तस्वत्यागजनितक्लेशश्च
तौ न स्याताम् । तेषां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं गुणगानाविष्टत्वेन पूर्वोक्ताध्यास एव नश्यति,
कुतस्वत्यागजक्लेशसम्भावनेति भावः । एतदेवोक्तं वेणुगीते 'श्रीडासनमयता ययु'रिलास्य
विवरणे 'जाग्रत्स्वप्नेषु श्रीडामेव पश्यन्ती'ति । ननु तथापि पूर्ववद्विषयभोगेष्वेव तेषामा-
सक्त्या तत्सुखमपि पूर्वोक्तविषयजन्यसुखसदृशमेवेति चेत्, तत्राहुः हरिचदिति । पूर्वोक्त-
भोगासक्त्या संसार एव । अत्र तु हरिर्यथा सर्वदुःखहर्ता नित्यालौकिकरसात्मकानन्दरूपश्च,
तथा तस्य सुखमप्यत्रे दुःखसम्भावनारहितं संसारनिवर्तकं तादृशमेव, न तु पूर्वसदृशं
भवतीति महद्वैलक्षण्यमुक्तम् ॥ १३ ॥

एवं सर्वेषां विषयवासनाहिततदासक्तौ यद्भवेत्तदाहुः तदेति ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यथा श्रुता मता ।

बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोऽपि सिध्यति ॥ १४ ॥

एवं प्रचुरतापालकभावासक्त्या सकलेन्द्रियाणां प्रपञ्चाध्यासरहितः पूर्णो निरोधः
स्वरूपात्मकारूपो यदा सिष्येत्तदा दयालुत्वं प्रमोर्नचेत्, स्वास्थ्यादिकरणेन
प्रतिपन्धको न भवेदित्यर्थः । अन्यथा तादृशासक्त्यभावे श्रुता निश्चिता । साक्षात्स्वीय-
त्वेनाङ्गीकृतस्य स्वधर्मरूपभगवदभिप्रेताकरणे प्रमोर्नचेत्, स्वास्थ्यादिकरणेन
ननु सर्वत्यागेन गुणगानमात्रप्रवृत्तौ कालहर्मादिकलतबाधः सम्भवेत्तत्राहुः बाधशङ्केति ।
बाधस्य शङ्कापि नास्ति । कुतो बाधः । अत्र गुणगान इत्यर्थः । सकलेन्द्रियेषु भगवत एवा-
निष्टत्वेन स्थितत्वाद्बाधः केन कर्तुं शक्यः, स्वयमपि भगवान् न शक्नोति, तदा कोन्य इति
नैव शङ्कोदयः । एतदेवोक्तं सन्यासनिर्णये 'अत्रास्थे न नाशः सा'दित्युपक्रम्य 'हरित्रे'-
त्यन्तम् । अत्रेति कथनात् तत्तज्ज्ञानमार्गाधिसाधनेषु बहवो विनाः सन्तीत्यपि ज्ञाप्यते ।
ननु तथापि स्वरूपमिलनाभिलाषस्य विद्यमानत्वात् स्वस्य भगवता सह भेदज्ञानं तिष्ठत्येव,
तत्र तदभिमानेन सम्भवति, स च बाधरूप एवेति चेत्तत्राहुः तदध्यास इति । यथा

ज्ञाने 'सोह'मिति स्फुरति, तथा स्वस्मिन् सर्वत्र देहादी तस्य भगवत एवाध्यासः, तद्रूपत्वेनैव भानं 'कृष्णोह'मित्यादिरूपः सिध्यति, न तु स्वस्मिन् भिन्नत्वं स्फुरति । सिध्यति सिद्धिं प्राप्नोतीत्युक्त्या यथा संसारावस्थायां तादृशाध्यासः स्थितः, तथेदानीन्तनावस्थायां सत्यां साक्षाद्भगवत्स्वरूपाध्यास एव भवतीति स्वभावपरावृत्तिर्जायत इति सूच्यते । एत-
देव 'तन्मनस्का' इत्यस्य विवरणे द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

ननु तथापि वैराग्याभावे कथं पूर्वोक्तप्राकृतविषयाध्यासनिवृत्तिहात्राहुः 'भग-
वच्छर्मैति ।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थितः ।

गुणैर्हरेः सुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

भगवतः सकलैश्वर्यादिगुणयुक्तस्य धर्माः गुणगानद्वारान्तःप्रविष्टास्तेषां साम-
र्थ्याद्विषये प्राकृते तद्भावत्वेन भगवत्स्य वा तादृशस्य विरागः स्थितोऽस्ति । स्थिर
इति वा पाठः । विषयत्वेन सर्वत्र वैराग्यमेव, किन्तु तेषां पराकाष्ठापन्नालौकिकानन्दरूपे
साक्षाद्भगवति निरुपधिषेहेन केवलतदीयत्वयुद्धेव तथा प्रपन्नतेति 'सन्त्यज्य सर्वविषया'-
निति निरूपणेन ज्ञायते । अत एव भगवानपि स्वयं कृपया तादृशानन्दमनुभावयतीति
सर्वमवदातम् । तर्हि दुःखं कथं भवति ? तत्राहुः गुणैरिति । हरेः सर्वदुःखहर्तृगुणैः
सुखस्पर्शाच्च कर्हिचिदुःखभानम् । तेषामन्तस्तत्स्वरूपानन्दपूर्णानां सर्वदा तदात्मक-
तया दुःखस्य भानमेव नास्ति, कुतस्तत्सम्भावनेति भावः । तापात्मकं यद् दुःखं दृश्यते
तस्य रसरूपत्वात् सुखरूपत्वमेव, न दुःखरूपत्वमिति ज्ञेयम् ॥ १५ ॥

अतःपरगुणसहरन्ति एवं ज्ञात्वैति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद्दुत्कर्षां गुणवर्णने ।

अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

साक्षाद्भगवदानन्दस्य सर्वेन्द्रियास्त्रायत्वनिरूपणेन तत्साधनरूपगुणगानस्य सुख-
रूपत्वेन च ज्ञानफलस्वाक्षरलयपर्यवसायित्वात् तत्साधनस्य च कष्टसाध्यत्वाच्च ज्ञान-
मार्गाद्गुणवर्णने महोत्कर्षं इति ज्ञात्वा निरुद्धैः साक्षाद्भगवद्भवनरूपाङ्गीकारादारभ्य
सर्वपरित्यागेन गुणा एव वर्णनीयाः, न त्वन्यत् । दृढासक्त्यनन्तरं तत्स्वभावात् स्वयमेव
गुणगानं भविष्यति, साम्प्रतं तदभावात् कर्तव्यविधिरुक्त इति सर्वमनवद्यम् । तत्र
प्रतिबन्धकरूपमान्तर दोषद्वयं सर्वथा त्याज्यमित्याहुः अमत्सरैरिति । मात्सर्यं परो-
त्कर्षासहजं लोभश्च तद्रहितैः कर्तव्यम् । भगवदीयेषु मात्सर्येण सौहार्दाभावे गुणवर्णन-
मशक्यम्, लोभे तु स्वार्थभवेति कुतम्बदावेशः, प्रत्युत सर्वथातुचितत्वाद्भगवद्भक्तानां
सर्वस्वहानिरप्येति सर्वथा दोषद्वयं त्यक्तव्यमिति भावः । सदेति कार्यान्तरव्यासङ्गे भाव-
शैथिल्यामानायोक्तम् ॥ १६ ॥

ननु श्रीमुखायलोकनादीनां भावजनकत्वेन सर्वदा भगवत्स्वरूपसैवैव कर्तव्येति मक्तिसिद्धान्तः, प्रकृते मुख्यतया गुणगानमेवोच्यते तत्कथमित्याशङ्क्य तत्राहुः हरिमूर्तिरिति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
वायुर्मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

अपेदं प्रतिभाति । भगवानुद्धारार्थं मर्यादया सर्वानेवाङ्गीकरोति । तेषां श्लेहरूपा मानसी सेवा फलरूपेति तत्साधनत्वेन मार्गनिष्ठया सेवाकरणमावश्यकम् । येषां साक्षात्पुष्टिमार्गे निःसाधन एवाङ्गीकारस्तेषां तदाद्य एवोद्भूतश्लेहभावाद्गुराणां स्वरूपसम्बन्धाभि-
लाषेण 'भगवता सह संलाप' इत्यादिरूपा भावनेव जायते, भावना तु मनोधर्मः, तद्भावनायां मनसस्तत्पत्ता भवतीति तद्व्या मानसी सेवा जायते इति पूर्वोक्तसेवाया अधुना प्रयोजक-
त्वामावाप्तदार्ढ्यार्थं गुणगानमेव मुख्यमिति तदेवोक्तम् । अत एव भगवद्भरणानन्तरमेवो-
द्भूतभावभिः कुमारिकाभिः पूजादि सर्व विहाय गुणगानमेव कृतमिति 'मूयानन्दमुतः
पति'रित्यत्र विवरणे विवृतम्, साधनमार्गविशरणागतानामपि साधनरूपसेवाकरणेन श्लेहा-
नन्तरमावोत्पत्तौ गुणगानद्वारा तदाढ्यार्थं त्याग एवोक्तो मक्तिवर्धिन्यां 'तादृशसापी'त्यारभ्य
'त्यागं कृत्वे'तीति सर्वमनयचम् । किञ्च, पूर्वोक्तसाधनरूपसेवाकरणेन श्लेहभावजनितं
तापात्मकं दुःखं जायते, तदुःखनिवृत्तिस्तु विरहाद्युभवे गुणगानेनैव भवतीति तदेव मुख्यत्वै-
नोक्तम् । तथा च यत्तज्जादृशपुष्टिमार्गाङ्गीकारस्त्वावोद्भूतश्लेहभावाद्गुरजनितमनोरथप्रकारेण
हरिमूर्तिः सदा ध्येया भावयितुं योग्या भवति, अतस्तज्जनिततापनिवृत्त्यर्थं तदाढ्यार्थं च
गुणगानमेवोक्तमित्यन्वयः । तर्हि ज्ञानमार्गेषु ध्यानमेव कियते, ततो गुणगाने को विशेष-
तत्राहुः सङ्कल्पादिति । सङ्कल्पात्पूर्वोक्तप्रकारकविधिमनोरथकदम्बादपि तत्र भावनायां
साक्षात्प्रकटस्य भगवतो दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टमनुभूतं भवति, तथैव कृति-
सदन्तिके गतिश्च, तथैव श्रवणं तत्कृजितानां, कीर्तनं भगवता सह संलापादिरूपं च
तथा । पूर्वोक्तज्ञानसाधनध्याने तु न तथेति स्पष्टमिद्युक्तम् । तत्र तु प्रत्यक्षेण आत्मनि
न तथायुभवः । गाने तु सङ्कल्पमानादपि स्पष्टमनुभूतं भवतीत्यपिशब्देन चोच्यते । एवं
भावनायां प्रकटीभूय तापात्मकं दुःखं हरतीति ज्ञापनाय हरिमूर्तिरित्युक्तम् ।
ननु भगवदङ्गीकारेण तत्कृपया एतत्सर्वं भवेदिति 'कृपायुक्तो यदा भवे'दित्यनेनोक्तम्,
परन्तु तत्र भगवत्कृपायां महत्कृपा पूर्व हेतुत्वेनोक्तं 'महतां कृपयै'त्यनेनेत्यस्य तदधीनत्वेन
तत्कृपामाये स कथं प्राप्येतेत्यत आहुः पुत्र इति । यतः पूर्वोक्तप्रकास्तु पराकाष्ठापन्न-
रसमेतकारो मात्सर्वादिदोषरहिता भगवत्कृपानिययेषु सहजवत्सलशीला इति तेषां

तादृशे कृष्णप्रिये कृष्णः प्रियो यस्य कृष्णस्य फलदानसमुत्सस्य प्रिये वा पुत्रे पुत्ररूपे रतिः प्रीतिरेव भवति । स्वप्रियप्रीतिहेतुत्वेन कृपया भावदानात्तेषां गुरुत्वात्तस्मिन् पुत्रत्वं सिद्धमेवेति तद्रूपत्वमुक्तम् । तासां गुरुत्व तु सञ्ज्ञासनिर्णये 'कौण्डिन्यो गोपिका' इति स्फुटीकृतम् । किञ्च, यथा पुत्रस्य कामप्यातिं दृष्ट्वा तस्मिन् वात्सल्येन तदुपचारः क्रियते, तथात्रापि तादृशीमार्तिं दृष्ट्वा वात्सल्येन तदानं तैरपि क्रियत इति ज्ञापनाय पुत्ररूप इत्युक्तम् । अन्यच्च, पुत्रे यथा तद्विहितविधिपापराधादपि वत्सलतैव भवति, तथा तादृशे कृपापात्रे प्रीतिहेतोरपि तथोक्तम् । प्रीतिरपि तेषां भावात्मिकैव भवति, न तु तद्रहितेति ज्ञापनाय रतिपदमुक्तम् । रतिर्हासयेति तद्रूपत्व तस्याः स्पष्टम् । एवं सति तेषामपि कृपा तादृशे जायते इति स रसोपि तेन प्राप्यत इति सुसूक्तं तथा । किञ्च, यथा तादृशानां तादृशे भक्ते पुत्रभावस्तथा तस्यापि तादृशेषु भक्तेषु सर्वदा मातृभाव एव स्थापनीय इत्यपि सूचितम् । अथवाऽत्रायमपि गूढाभिसन्धिरनुमीयते । कृष्णप्रियास्तु बहुविधा . परन्तु स्फुरत्कृष्णप्रेमेति श्लोकोक्तरूपं कृष्णस्नानन्दरसात्मकस्य प्रियत्वं श्रीमदाचार्येष्वेव विलसति नान्येषु, तदेतुक साक्षात् श्रीस्वामिनीनामपि प्रियत्वं तादृशवात्सल्येनैतेष्वेव सम्भवति, नान्येषु । यतः श्रीमदाचार्याणामेव तद्भावात्मकत्वं तन्मध्यपातित्वं च निजयते । तथा च कृष्णस्य प्रिये बह्वने मयि पुत्र इव रति-स्तेषां वर्तत इति मदङ्गीकृत्येन्यस्मिन्नपि तादृशे भविष्यतीति भावः । अथवा कृष्णप्रिये मयि रतिर्वर्तत इति कथनात् स्वस्य तद्भावात्मकत्वात्तदन्तर्गतत्वाच्चाधुनिकानां स्वकृपयैव भविष्यतीत्यपि सूचितम् । एष तत्कृपया जगितो रतिरूपो भागो निरिच्छं प्राकृत्यांशं त्याजयित्वा क्रमेणालीकिक साक्षाद्गवदात्मकं तत्तद्विषयमिन्द्रियेषु योजयतीति स-दृष्टान्तं निरूपयन्ति वायुरिति । वायुः सर्वदेहेन्द्रिय-वापी भुक्तगाननिरिच्छवस्तूनां यो मलांशस्तस्य त्यागेनाधोद्वारेण षड्विस्तम्भेण शेषभावः सारांशं तनी नाडीद्वारा तत्तदधिष्ठाने यथा प्रापयति तथायमपि प्राकृत्यांशं त्याजयित्वा शेषभावं सर्वं भगवति नयेदित्यन्वयः । तनाविस्तुपलक्षणम्, किन्तु देहप्राणेन्द्रियादिष्वित्यर्थः । अथवा ज्ञानमार्गांयस्य योगादिधा-रणाया प्राणायामादिकरणेन सकलेन्द्रियाणां तत्तत्प्राकृतनिययग्रहणःदिरूपं मलांशं त्याज-यित्वा वायुः शेषभावभूतं प्राकृततद्विज्ञीभूतं आत्मानं तानि च परमात्मनि यथा योजयति तयारापि स भाव इति शेषम् । भागमिति पाठे स्पष्टमेव । अथवा वायुर्मथा कलुषिन-जलानां यो मलांशमन्वभ्यस्य . पद्मन्मयं त्यागेन शेषभागं मलांशवशिष्टं जलं तनी स्वस्मिन्नपि शेषभावाद्वा शृङ्गानि, तथा स भागोपि प्राकृत्यागत्यागेन शेषभावं मयि तनी स्वदेहादिष्वे प्रभो प्रापयेत्, तदात्मनो भरतीति भावः । अथवा नर्तनं स्वतन्त्रं यत्सर्वं शेषभागं तनुष्वनिरिक्तं मनः प्रभृति तन् सफलं नयेत्, हरिं प्रापयेत्, एतत्स्वरूपात्मनो भरतीति पूर्वम् । एष पूर्णं निरुपलक्षणं भवति ॥ १७, १८ ॥

ननु तद्भावस्वभावात्सत एव भविष्यतीति कर्तव्यविधिः किमर्थमुच्यते ? तद्वाहुः
यस्य वेति ।

यस्य चा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

वेत्यनादरे । यद्यपि तद्भावस्वभावादेव तादृशस्य सर्वं भवति, तथापि लौकिकजना-
गुरोर्भेन यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्यं भगवदावेगेन तत्कृतिरिव कृतिर्यदा स्पष्टं प्रकटं न
दृश्यते तदा लौकिकसर्वपरित्यागेन पूर्णोक्तिः भगवदीयैः सह गुणगानेन तसेन्द्रियस्य
इति निश्चयो ज्ञेय इत्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं पूर्णं निरोधस्वरूपं निरूप्य तत्साधकत्वाद्गुणगानस्य सर्वोत्कृष्टत्वमाहुः नातः
परतर इति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

मन्त्रस्त्वविद्यातीर्थादीनां लोकभेदोक्तफलप्रापकत्वाद्भोके वेदे च महत्त्वं भवतु, न तु
तदतिरिक्ते । गुणगानस्य तदतीतफलप्रापकत्वात्तदतीतसर्वोत्कृष्टत्वमपीत्येतज्ज्ञापनार्थं फल-
सूतिरुक्ता । यद्यपि मन्त्राद्विद्वारा पित्तशुद्ध्या निग्रहादिकं भवति, तथापि महता ह्येतेन,
तत्राप्येतदपेक्षया फलं स्वल्पतरं, गानद्वारा निग्रहादिकमपि सुप्तेन भवति, फलमपि महत्,
सर्वोत्कृष्टमिति गुणगानस्यैव सर्वातिशयवत्त्वं निरूपितम् ॥ २० ॥

श्रीमदाचार्यचरणसरोजसततस्मृतेः ।

ममार्थवगतिर्जाता दुर्बोधेभ्यत्र निश्चितम् ॥ १ ॥

तेन सद्गतमेवाहं मन्येन तदपि स्वतः ।

संशोधयन्तु सुधियः कृपया मयि वत्सलाः ॥ २ ॥

अदनिशंविचारेस्मिन्नेवं निष्ठानि यन्मनः ।

जतो हि लिग्ने नूनं प्रवृत्तमं न चान्यथा ॥ ३ ॥

श्रीविठ्ठलेष्टगपदात्मजुरेणुं सर्वस्वमित्यनिश्चयस्तु मयाभिलाषः ॥

यत्सपश्यतः सपदि देवजने स्वतः श्रीवैश्वानरोक्तपदवीं फलिताखिला सात् ॥ ४ ॥

इतिश्रीनिरोधलक्षणविवरणं श्रीब्रह्मसूत्रं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविद्युतिसमेतम् ।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् स्वीयेषु करुणावतः । निरोधलक्षणमन्थं तदासिध्न्तयत्ययम् ॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सञ्ज्ञासनिर्णये भक्तिमार्गीपत्यागस्य निरहानुभवार्थं कर्तव्यतां गुरुद्वयकथनमिन्द्रकालफलबोधनाभ्यामधिकारिभेदं च सूचयित्वा, तस्य त्यागस्य प्रेमैकसाध्यत्वं, तत्र साधनाकाङ्क्षायां भावनामिन्द्रस्य भावमात्रस्यैव साधनत्वं, ततो विलक्षणाधिकारे गुणानां जीवनहेतुत्वं चोक्तवन्तः । तत्र कीदृशस्याधिकारिणः कीदृश्या भावनाया जातः कीदृशो भावः साधनतां प्राप्नोति, गुणाश्च तत्र पापकत्वेनोक्ता अपि कीदृशाधिकारे केन प्रकारेण जीवनेहेतुतया साधकत्वं प्राप्नुवन्तीत्याकाङ्क्षोत्पद्यते । किञ्च, भक्तिवर्धिन्यां जातभक्तिदृढपीजभावस्य भगवदुक्तस्यविचारितरीत्या भगवानस्य भक्ति-प्रवृद्ध्यर्थं दृष्टत्यागपूर्वकश्रवणकीर्तनरूपां साधनमुक्तवन्तः । अदृढपीजभावस्य तु गृहे स्थित्वा पूजाश्रवणादिभिः श्रेयासक्तिव्यसनपर्यन्तमुपाय तेन कृतार्थतां चोक्त्वा, अग्रे त्यागैकरणादे-राश्रयकत्वमुक्तवन्तः । तत्रापि भक्तिवृद्धेः किं स्वरूपमित्याकाङ्क्षोत्पद्यते । तेषां सेवाफल-विवरणे चाप्यफलाभावे सेवाया अनाधिदैविकीत्य हेतुत्वेनोक्तवन्तः । तत्रापि सेवाया आधिदैविकीत्य कथं स्यादित्याकाङ्क्षोत्पद्यते । एव तत्र तत्राकाङ्क्षोत्पत्तौ तत्रत्यास्ता आकाङ्क्षाः पूरयितुं यथा भगवानवतारदशायां भक्तदृग्गोचराभिर्गुणलीलाभिः प्रपञ्चनिःसृतिपूर्वक-स्वाप्तिकिरूप निरोध ममेष विदधानो जीवानुद्हरति, तथेदानीमनवतारदशायामपि श्रवणकीर्तनादिगोचराभिर्गुणलीलाभिरेव ममेष निरुन्धानो जीवानुद्हरतीति बोधनाय त्यागपूर्वक श्रवणजन्यभावनाया भजता, त्यागपूर्वक कीर्तनेन भजता, गृहे स्थित्वा पूजादिना च भजता, यथाधिकार भक्तिप्रवृद्ध्यालम्बरूपोक्तनिरोधार्थं यतमानेन भाव्यम् । तत्रापि त्यागपूर्वक श्रवणजन्यभावनाया भजता कृपा परीक्षणीया, गुणाश्च गातव्याः, स्वावस्था च परीक्षणीया, स्वाधिकारानुसारेण स्वस्मिन् निरोधोत्पत्तिराशयाविशेषैः परीक्षणीया । कीर्तनेन भजता तु कीर्तनजन्यसुखविशेषैर्मक्तवृद्धिः परीक्षणीया, कृपा च परीक्षणीया । गेहे स्थित्वा

१. तन्मुक्तिजनयोस्तु भावनाश्रयानन्वयमिति भावः । आधिदैविकी सेवा प्रेमद्वारा आगताधिकेति ।

२. सञ्ज्ञासाधनं जलना दृष्ट्याधमं आह । ३. त्यागसञ्ज्ञासोकोर्मदो गीतायाम् । ४. तथा फलस्य प्रवर्तकत्वात् तत्राह । ५. शान्तयेन कृपायानेन कार्यकारणभावः ।

भजता तु सेवाया आधिदेविकीत्वाय श्रवणकीर्तनध्यानांन्यभीष्टां विषेयानीत्युपदेष्टुं निरोधलक्षणग्रन्थमारभन्ते ।

गन्तव्यस्य ग्रन्थस्य सञ्चयासनिर्णयादिशेषत्वेन विचारे किं बीजमिति चेत् ? उच्यते । अत्र ग्रन्थकरणप्रतिज्ञाऽभावेन यत्किमिदं साकाहृत्ये निश्चिते, सञ्चयास-निर्णयस्यभावादेः स्वरूपाकाहोत्यापकत्वात्, गुणानां जीवनहेतुत्वकथनस्य च प्रकाराकाहोत्यापकत्वात्, भक्तिवर्धिनीश्वमक्तिवृद्धिपदस्य च स्वाभिधेयस्वरूपाकाहो-त्यापकत्वान्, सेवाफलविवरणस्यानाधिदेविकीपदस्य चाधिदेविकीकथंभावाकाहोत्यापक-त्वात्, अत्रत्याशंसागुणकीर्तनादिकथनस्य चाकस्मिकतया कैमर्ध्याकाहोत्यापकत्वात्, परस्परकाह्वापकत्वं दयालुत्वादिशुद्धानां तत्रत्यप्रमेयस्यापि प्रत्यभिज्ञानं चेति जानीहि । न च भक्तिवर्धिनीस्यपदप्रत्यभिज्ञाऽभावात् तन्नेपत्याभावः शक्यः । सञ्चयासनिर्णयप्रमेये-णैव तत्रप्रमेयस्यापि श्लोकीकरणोदोषात् । परस्परकाह्वावशादेव श्रीहरिरावैरपि 'श्रीकृष्ण-रत्नविश्लिष्टे'त्यादिश्लोकप्रत्ययस्य स्वतन्त्रत्वेन प्रतीयमानस्यापि जलमेदश्रेष्वमहीकृतान् । तस्मादेवं शेषत्वैकवाक्यव्ययोग्यीकारे न किञ्चिदापक्रमिति तच्छेषत्वेन ध्यास्यापत्ते । तत्र सञ्चयासनिर्णये त्यागिनो भावनाभावसिद्धभावस्यैव साधनत्वेन साधितत्वात्, त्यागिषु प्रथमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य चिरहविषयकानुभवार्थत्वात्, विरहस्य च प्राकट्यतिरोभाव-जनितदुःखात्मकत्वात्, तादृशस्याधिकारिणः कृष्णे भ्रामत्तया दृढमार्तां याचकत्वा-नात्मत्वयोर्भासने कृते, ईषत्प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वतया भगवदामर्तां जातत्वे, व्यसनेन च भगवद्गुणलीलाप्रधान्यं निहाय भगवत्स्वरूपरतायां जातायां, ईदृश्या मति जन्मप्रकर-णौकरीत्या भक्तदुःखस्यैव भगवत्प्रादुर्भावहेतुत्वज्ञानात्, तादृशदुःखाश्रमयोत्पन्न इति । तत्र तादृशदुःखजनकतिशयस्यैव भक्तिवृद्धिरूपस्य, प्रपञ्चविस्मृतिभगवदामर्तयोरपि-प्रथमं तदाहुः यथेत्यादि ।

यद्यद्दुःखं यजोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्वान्मम कथिन् ॥ १ ॥

अत्र दुःखाधारवृत्तानां प्रयाणां कथनेन तेषां भावविषयं द्योतितम् । चकारत्रयेण तत्तत्सजातीयभाववन्तः कमारदेः कालतोऽज्ञानाच्च दुःखभावः मंष्टहीनाः । तदानीं कंसादि-वदिदानीमप्यमुरान्तराणां मभवान् । कालाज्ञानयोगि संभवाच्च । कश्चिदिति अनिर्णीत-देशविशेषोक्त्या तत्र तत्र भगवत्श्रेषु पर्यटितृत्वस्यनेनाधिकारिणस्यागिन्यं योषितम् । एवमश्रेषु ज्ञेयम् । तथा च ये प्राडादिभावे, ये च पौण्ड्यादिभावे, ये च प्रीदादिभावे आसक्ताः, तेषां दुःखं दृष्ट्वा तन्निवृत्त्यर्थं तादृशतादृशरूपैव भगवान् तत्सद्भावाद्युत्तं सुखं दातुं प्रकटीभवतीति भगवत्प्राकट्ये तादृश दुःखमेव साधनमिति स्वस्मिन् तदाशंभोत्वादको

यः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपो निरोधः स एव कृष्णे व्यसनस्य फलम् । तदाशंसैव प्रथमाभिकारिणो भक्तिवृद्धिलक्षणमित्यर्थः । अत्र स्यादित्याशंसासूचकम् । यद्यपि आशंसावचने लिङ्गिति सूत्रेण आशंसावाचिन्युपपद एव लिङ्गं विहितस्तथापि लोक उपपदाभावेपि देवदत्तश्चेदागच्छेद् मत्कार्यं भवेदित्यादिप्रयोगदर्शनात् द्वेषः । यदि च लोकोक्तिर्न प्रमाणमिति प्रार्थनायां वा सम्भारनायां वा लिङ्गिष्यते, तदापि तयोराशंसामूलकत्वादाशंसा न व्यभिचरति, तस्माददोषः ॥ १ ॥

अथ मध्यमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहसामयिकासक्तिप्रमन्यायकभगवद्बुभवार्यत्वात् तस्य भक्तिवृद्धिस्वरूपं तादृगनिरोधलक्षणकथनमुत्प्रेनाहुः गोकुल इत्यादि ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विभास्यति ॥ २ ॥

तुशब्दः पूर्वव्यापृष्यर्थः । एषोऽत्यन्त विप्रयोगेण दुःखित इति रसप्रधान इति प्राकट्यव्रजिका अत्यन्तासक्तिरेव तस्य भक्तिवृद्धिरिति यथाकथञ्चित् दर्शनजन्यसुखाकाङ्क्षा-रूपं कार्यं तद्भक्तिवृद्ध्यास्मकनिरोधलक्षणमिति ज्ञापनाय पूर्वं गोपिकापदोक्तिः । अन्येषां तद्वत् सर्वात्मभावाभावेन ततो न्यूनत्वात् पश्चाद्भक्तिः । किंशब्दो विकल्पोत्तयति । 'विकल्पे किं किमूत ये'ति कोशात् । आशंसायां भविष्यत्काले लृट् ॥ २ ॥

अधोत्तमाधिकारिकृतस्य त्यागस्य विरहानन्तरमात्रिसाक्षात्कारार्थत्वात् तस्य तस्मात्कारोत्तरं यदा पुनर्व्रजस्थानामिव विरहस्तदा तस्य पूर्वानुभूतस्य हीनसुखादिस्मरण-सबलितविरहसामयिकानुभववत्त्वात् तदा भगवतः स्वस्मरणोत्पादको निरोध एव तस्य भक्तिवृद्धिरूप इति तस्य स्वस्मिन्सादभिज्ञापक लक्षणमाहुः उद्धृत्वादि ।

उद्धृत्वागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि कनित् ॥ ३ ॥

अत्रापि पूर्वश्लोकोक्ता स्यादिनि क्रिया अनुपजते । तथा च तादृशस्मरणोत्सवा-दिविषयिणी आशंसैव स्वस्मिन्सात्त्वभक्तिवृद्धिज्ञापक लक्षणमित्यर्थः ।

अत्र निष्पत्ति श्लोकेषु गोकुलादोक्त्या पूर्वोक्तरीतिको भाव श्रीव्रजनाथस्वरूपास-क्तानामेव निरक्षितः, नान्यन्वरूपासक्तानामिति ज्ञापितम् । ते एव परमानुग्रहविषया इति च । तृतीये वृन्दावन्पदोक्तिस्तु तेष्वपि आधिक्यज्ञापनार्थेति बोध्यम् । तेनैतादृशपुष्टिमा-र्गविरिषयक एवाय निश्चयः, न तु सर्वज्ञाभारण इत्यपि बोधितम् । चात्मानं त्वन श्लोकत्रये मुनोपिन्यायुक्तस्य निरोधस्थानस्यभावसूचको मनोरथ एवोच्यते । श्रौतरिरायाणा-मते तु निरोधनिमित्तकारणभूतयोर्भावनयुगमानयोर्मध्ये प्रथम भावनमुच्यते, तत्र दुर्लभत्व-बोधनाय स्वनिषयकतया प्रार्थनामन्त्रेणोच्यते । भगवते त्रिदशमाशंसाय भक्तिवृद्धिज्ञापक-लक्षणतयैवोच्यत इति ततो भेद इति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

एवं त्यागिषु ये श्रवणजन्यभावनामात्रपरास्त्रेषां भक्तिवृद्धिरूपं भावनात्मकं निरोध-
माशंसारूपकार्यमुदेनाभिज्ञानार्थमुक्त्वा, ये त्यागिषु ततोऽधिका गुणगानासक्तस्त्रेषां
भक्तिवृद्ध्यात्मकनिरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणं त्रिभिर्वदन्त प्रथमं गुणगातृषु
प्रथमाधिकारिणः स्वस्मिन्तदभिज्ञापक लक्षणमाहुः महतां कृपयैत्यादि ।

महतां कृपया याचद्भगवान् दययिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

अत्र याचदिति पदयुत्तराभिज्ञापकं तावत्तद च पूर्वार्थेः । महत्तदं च
परोक्ष्येण ब्रजभक्तज्ञापकम् । तथा च तासां कृपया भगवान् याचदययिष्यति
वक्ष्यमाणरीतिकस्त्रैरुक्तानत्वसंपादिकां दयां करिष्यति तावत् ततः पूर्व कीर्त्यमानः
'नामान्यनन्तस्ये'शुक्तीत्या स्मरणपूर्वक यर्थ्यमानः आनन्दसन्दोहः श्रीमद्वन्दा-
वनेन्दुप्रकटितरसिजानन्दस्य यः समूहः लीलारूपः हि निश्चयेन सुखाय भवतीति शेषः ।
अन्ततस्य कीर्त्यमानलीलया सुपजनन व्यसनोत्कर्षरूपस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापक
लक्षणम् । हननपत्नेन प्रपञ्चिस्मृत्याधिक्यादित्यर्थः ॥ ४ ॥

अर्धवर्तुः पूर्वदशात् आधिन्य कीर्तनपरता च पूर्वोक्तमहत्कृपयाधिका भवतीति
तादृशनिरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापक लक्षणमाहुः महतां कृपया गद्ददिलादि ।

महतां कृपया गद्दत् कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु खिग्धभोजनरुक्षयत् ॥ ५ ॥

महतां पूर्वोक्तानां कृपया गद्दत् यथा कीर्तन लौकिकराग्रे निषेधत्वात् भक्तकृतं
लीलानिषयक कीर्तनं सदा सुखदं तथा लौकिकानां न, लौकिककर्तृकं लौकिक-
निषयकं च कीर्तनं न, सुखदं न । अत्रापि भवतीति शेषः । तत्र दृष्टान्तः । खिग्धभोजन-
रुक्षयदिति । खिग्ध भोजन यस्यासी खिग्धभोजन, खिग्धभोजनस्य रुक्षेण तुल्य
भवतीति खिग्धभोजनरुक्षयत् । तथा च लौकिककर्तृकं तद्विषयके च कीर्तने असुखदत्त-
मानपूर्वकगलौकिकनिषयके भक्तकृते कीर्तने यत्सुखदत्त 'कव विना रोमहर्ष द्रपता चेतसा
विना, विनागन्दाश्रुलया शुद्धे गत्तया विनाशय' इत्युक्तधर्मशायमान यत्सुखदत्त तदेव
पूर्वस्माद्दृष्टम्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापक लक्षणमित्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ ततोऽसुखदृष्टाधिकारे पूर्वस्मादधिकस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापक लक्षणमाहुः
गुणगान इत्यादि ।

गुणगाने सुखायासिगोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुक्तादीनां देवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

'महतां कृपये'ति पदद्वयभगवन्पुपञ्जे । अतो महता कृपया गोविन्दस्य गुण-
गाने रागानुशोष्य भगवद्गुणोपवन्धसुकपदवाक्यानां कीर्तने सुखायासिर्था येन

प्रकारेण प्रजायते प्रकर्यांजायते, तथा तेन प्रकारेण शुकादीनां ज्ञानिभक्तानां
आत्मनि हृदये न. अन्यतः कुतः । ज्ञानभक्तिभ्यामेव चेन्न भवति तदा तदतिरिक्ता-
द्देतोः कुतः स्यादित्यर्थः कैमुतिकेनोक्तः । तथा च भगवद्गुणाने तादृशसुखावाप्तिः
पूर्वस्मादुत्कृष्टस्य निरोधस्य स्वस्मिन्नभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । एवं च त्यागकर्तृणां मध्ये
कीर्तयितृषु गुणगातृषु च महत्कृपा हेतुत्वेनापेक्षितेति घोषितम् ॥ ६ ॥

सा कृपा तत्कार्यभूतं गुणकीर्तनादिजन्यं सुखं च कथं स्यादित्यपेक्षार्यां तत्र भगव-
त्कृपारूपं हेतुं प्रकारभेदेनाहुः ह्रिद्यमानानित्यादि ।

ह्रिद्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गमं वहिः ॥ ७ ॥

जनान् जननधर्मयतः स्वकीयान् ह्रिद्यमानान् स्वप्राप्त्यर्थं दुःखितान् दृष्ट्वा
यदा कृपायुक्तो भवेत् भवनुग्रहं कुर्यात् तदा हृदिस्थं सर्वं सदानन्दं वहि-
र्निर्गमं भवेत् । एवांपेक्षा भवनक्रियाऽश्रायणुपपन्नते । तथा च कीर्तयितृणां भगवदप्या
भावनाप्राप्तये दहरविद्योक्तस्यैव मर्यान्तरस्य वहिःप्राकट्येन महतामपि प्राकट्यात्
तत्कृपया स निरोधः फलमुपदधातीत्यर्थः । तेनेदमपि फलोपधायकस्य निरोधस्यैव
लक्षणम् ॥ ७ ॥

अतः परं कीर्तयितृषु ततो विशेषं वक्तुं तथा तमाहुः सर्वेत्यादि ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्राप्नोति जनान् ॥ ८ ॥

उक्तरीत्या सर्वस्य सदानन्दरूपस्य वहिः प्राकट्ये जाता या सदानन्दता, तेन
सर्वानन्दप्रशुभ्यापि कृपाजनितो य आनन्दः सः गुणगं दुर्लभः । कुत इत्याकाङ्क्षायां तस्य
भगवदानहेतुकत्वं स्फुटीकुर्वन्ति हृद्गत इत्यादि । हृदि स्थितो भगवान् कीर्तमानान् स्वगु-
णान् श्रुत्वा पूर्णः बहुधा निविष्टः । कृपापदस्य पूर्णमुक्त्यान् कृपया वा पूर्णः सन् जनान्
सर्वासान् ग्राहयन्ते, अन्यैर्दो म्प्राप्तमानं करोति । अत्र श्रुत्येति पदाद्गुणानां कीर्त-
मानस्यमाधिक्यम् । तथा च तेषु कृपया जनिता या भगवदानन्दः तेन तद्रूपेति, नान्यत
इत्यनो दुर्लभ इत्यर्थः । अत इदं फलमभक्तस्य निरोधस्य लक्षणम् । एव च भक्तिवृद्धेः
स्वरूपमत्र पर्याप्तंति । तेन पूर्वांगेषु त्यागकर्तृषु माधनांशनाभ्येति 'उन्दन उभयापिर्गथा'
दिति न्यायेन यत्र भगवत्स्पर्शकृत्स्नगुणमानकीर्तनयोः अवलोक्यते तेषां गुणगानादीं
प्रवृत्तिः, यत्र च सा न तेषां माननामात्र एव प्रवृत्तिरिति मुग्धाधिकारिषु व्यनशा
पोष्या । एतेन कृपागीक्षणप्रसर उक्तः ॥ ८ ॥

एवं नानाविधस्य निरोधस्य लक्षणाभ्युत्थत्वा तत्र साधनमुपदिशन्ति तस्मादित्यादि ।

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्गंगाः सचिदानन्दता स्वतः ॥ ९ ॥

यस्माद्भावनापेक्षयापि भगवान् गुणगानेन अधिकं प्रसीदति तस्मात् सर्वं परि-
त्यज्य भक्तिमार्गरीत्या प्रेम्णा सर्वं पृष्टादिकं सवासनं त्यक्त्वा निरुद्धैः प्रपद्यविश्रुतिपूर्वक-
भगवदासक्तियुक्तैः सदानन्दपरैः हृदयस्य स्त्रीलाएष्टीकतानैः सर्वदा अमीक्षणं काला-
विच्छेदेन वा गुणाः गंगाः गानविषयीकार्याः । तथावान्तरफलमाहुः सचिदानन्दता
स्वत इति । स्वतो यदुच्छ्रितः गुणगानातिरिक्तसाधने विनैव सचिदानन्दता अक्षरमक्षता
भवति । ततः इति पाठे गुणगानादेवेत्यर्थो बोध्यः । एतेन गुणगातुः स्वावस्थापरीक्षण-
प्रकारश्लोकः । एवं च सिद्धान्तमुक्त्वापत्यां 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मोपधन'मित्यनेन
पदवान्तरफलमुक्तं तदीदृशानामेव भवतीति बोधितम् ॥ ९ ॥

एवं स्यापिपु सुख्याधिकारिणां यादृशनिरोधस्य सिद्धिः तत्स्वरूपमुच्यते तत्र
स्वानुभवमश्रिमसिद्धयर्थं प्रमाणयन्तस्त्रद्वर्णनप्रयोजनमाहुः अहमित्यादि ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवर्धी गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि तम् ॥ १० ॥

अहं निरुद्धः पूर्वोक्तरीत्या भगवदासक्तः रोधेन संसारावेशराहित्यादिन्द्रियनि-
ग्रहेण निरोधपदवर्धी गतः निरोधमार्गं प्राप्तः सन् निरुद्धानां रोधाय संसारावेशरा-
हित्यादयं तं पूर्वोक्तनिरोधं वर्णयामि । तुः प्रयोजनान्तरशङ्कानिरासे । त इति पाठे तु
चतुर्थी । तथा च यः कथं भक्तिवृद्धिरित्यादिकं पूर्वं पृष्टवान् तस्मै तुभ्यं तदर्धमत्रे
वर्णयामीत्यर्थः ॥ १० ॥

एवं मध्यमादयं निरोधवर्णनं प्रतिज्ञायोपपादनपूर्वकं तदुपयोगिनिरोधस्वरूपमाहुः
हरिणेत्यादि ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मद्या भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

विनिर्मुक्ताः विशेषेण स्वकाः, स्त्रीयत्वेन नैकीकृता इति यावत् । अत्रेति
गुणगाने भावनायां च । तथा च संसारावेशस्य भगवदनङ्गीकृतलक्षणत्वात्तद्विरुद्धा या गुण-
गाने भावनायां याहर्निशं मोदयन्ति । ना निरुद्धानां सामान्यलक्षणमित्यर्थः सिध्यति ॥ ११ ॥

एवं लक्षणं निरूप्य भावकापेक्षया गुणगातृषु विद्येयमाहुः गुणेऽप्यित्यादि ।

गुणेऽप्याविष्टचित्तानां मयंदा मुरवैरिणः ।

संसारविरहलंघनां न स्यातां हरिवत्सुण्डम्

सुरधैरिणः जडदोषनिवर्तकस्य गुणेषु गोवर्धनोद्धरणादिषु सर्वदासक्तचित्तानां संसारश्च विरहकेशश्च न स्यातां किन्तु हरिश्च सुखम् । तथा च भावकानां दुःखा-शसया सुखाकाङ्क्षया भगवत्कृतस्मरणाकाङ्क्षया च विरहकृत दुःखमेव बहुलम्, तत एव च शीघ्र लयः । गावृणां तु ससारवेशाभावान्न लौकिक दुःखम्, विरहस्फूर्तावन्तनिष्ठ, पहिरनुभवे च गुणगानम् । अतो भगवत इव सुखमित्यर्थः ॥ १२ ॥

एव भाववितृगानोर्विशेषमुक्त्वा तस्य कृपाहेतुकत्वं निगमयन्ति, मध्यमाधिकारो हेतु तद्व्यवस्था च वदन्ति तदेत्यादि ।

तदा भवेद्दयालुत्वमन्यभाऽऽकूरता मता ।

याधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १३ ॥

यदा पूर्वोक्ता रीति तदा भगवतो दयालुत्वं भवेदिति पूर्वोक्तस्य निगमनम् । अथ मध्यमस्य व्यवस्थोच्यते अन्यथेत्यादि । अन्यथा यदि न गुणाविष्टचित्तता तदा अकूरता भगवत, अघातकता तस्मिन् भक्तिमार्गस्युत्पन्नान्हेतुतेति यावत् । सा मता ससारवेशाभावगुणानिष्टचित्तताभावान्या युक्तिभ्यामनुचिन्तिता । तथा च तेन मध्यमाधि-कार इत्यर्थः । एतद्व्यवस्थामाहु याधेत्यादि । अत्र अकूरताया वा शङ्का भगवद्विषयका-ज्ञानकृता निरोधस्युनिशङ्का, अपिशब्दात् भावनाप्राप्त्यकृतो लयश्च नान्ति, तदध्यास आसक्तिभ्रमन्यायको भगवदध्यासश्च मिष्यति । तेनेय सर्वा मभानप्रकट्यवती मध्यमा धिकारिष्यत्येत्यर्थः । एतदेव कार्यं तन्नमकस्य तादृशनिरोधस्य लक्षण ज्ञेयम् । एतानता भक्तिरधिण्या 'वीजमात्रे दहे तु स्यात् त्यागान्दणकीर्तना'दित्यनेन पदभक्तिदृष्टिमात्र-मुक्त तस्य फलमुपपादित ज्ञेयम् ॥ १३ ॥

अथादधीनभारस्य पूजादिभिर्वर्तमानस्य ममाग वेशसत्त्वान् तस्य व्यवस्था त्रिभि-र्वदन्त तत्कृतसेवाया आधिदैविकीत्वाय पूर्वमुद्वेगनिवर्तक सर्वस्तुममर्पणरूप साधनमाहु संसारावेशेत्यादि ।

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां क्षिनाय च ।

कृष्णस्य सर्वयस्तृनि भुङ्ग ईदाम्य योजयेत् ॥ १४ ॥

भगवद्भ्रममामध्यादिरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुगन्धस्पर्शाद्य दृग्गं भानि कर्त्तव्यत् ॥ १५ ॥

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादृत्कर्षं गुणवर्णने ।

अमत्स्मरंरन्तुच्यैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

तादृगेन हि ससारवेशदुष्टानामिन्द्रियाणि निग्राह्याणि । तानि च निरुद्धमानानि क्षोभ

१ स्वस्वाधोऽप्यत्रावत् गुणेषु । २ सुधीं दुःखनीं इत्यादि तादृशव्यवस्थायां न भवति, तदिन्द्रियाणि तु प्राप्यानि । ३ भवि ५२ ।

जनयन्ति, अतस्तदमाचार्यं तेषां हिताय चै निवृत्तयेन सर्वाणि वस्तूनि स्वीयानि कृष्णस्य भूम्न ईशास्य योजयेत् । समर्थं भगवत्सम्बन्धमिश्रितान्यनुसन्दध्यात् । फलात्मकत्वबोधनाय कृष्णस्येति । अवतारादिवारणाय भूम्न इति । एतावन्मात्रसायनकृत्तपेपि विषयव्यासंगनिवारणसामर्थ्यबोधनाय ईशास्येति । 'तं यथा ययोपासत' इति श्रुत्या तत्कृतुन्यायेन चोक्तधर्मपुरस्कारेण चिन्तनसावश्यकत्वात् पदत्रयकथनम् । तेन फलमुपपादयन्ति भगवदित्यादि । एकादशस्कन्धे 'दारान् सुता'निति प्रबुद्धवाक्ये सर्ववस्तुसमर्पणस्य भगवद्दर्शत्वकथनात्, कविवाक्ये च 'भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति'-रित्यादिश्लोकद्वये विषयवैराग्यस्य फलत्वेन कथनात्, सर्ववस्तुसमर्पणस्य भगवद्दर्शस्य सामर्थ्याद्विषये चिराग स्थिरो भवति । तथा च भक्तिवर्धिन्यां 'खेहाद्रागविनाशः सा'दित्यनेन यस्फलमदृष्टीजभावसा खेहादुक्तम्, तदक्षीर्यकथनेन तज्जनकस्य खेहसा दार्ढ्यंभवनमत्र फलत्वेन बोधितम् । एव सर्वसमर्पणात्मकं योजनमेतादृशस्य निरोधलक्षणमिति च । आसक्तिदार्ढ्याय साधनान्तरमाहुः गुणैरिति । द्वितीयस्कन्धे 'विषयव्यासंगनिवारणोपसादना'दिति शुकवाक्ये कीर्तनप्रणालिकया भगवद्भक्तिं प्राप्नुवतां गतकर्मत्वकथनेन कीर्तनानैर्गुणैः हरिसुखस्पर्शात् लौकिक दुःखं कर्हिचिदपि न भाति, न ज्ञानविषयीभवनीत्यर्थः । अथ सर्ववस्तुयोजनस्य पूर्व कथनेन तस्याधिकाररूपता बोधिता । तेन 'अद्भ्यामृते'त्यारभ्य आत्मनिषेदिनां भक्तिफलबोधकमेकादशस्कन्धीय भगवद्भाव्यजातं स्मारितम् । तेनात्मनिषेदनपूर्वकं क्रियमाणेन गुणगानेन दुःसातुसंभानाभावरूपं फलं सिध्यतीति बोधितम् । एव फलमुपपाद्य दार्ढ्याय तदकृतिमुपदिशन्ति एवमित्यादि । एवं पूर्वोक्तरीत्या गुणवर्णने ज्ञानमार्गादुत्कर्षमरधार्यं, अमत्सरैरन्वृण्वैश्च परोत्कर्षमहनं भस्तरः, खेमो गर्धः, अत्यन्ताभिलाषः, साम्यां दोषान्मां रहितैः, सर्वदा गुणा वर्णनीयाः । उत्कर्ष इति प्रथमान्तपाठे तु गुणैः हरिसुखस्पर्शात् दुःखात्मानं ज्ञात्वा गुणवर्णने ज्ञानमार्गादुत्कर्षं सिध्यतीति शेषेण वाच्यं परणीयम् । तथा चैतदज्ञात्वा गुणवर्णने दुःखात्मानमात्रम् । ज्ञात्वा वर्णने स्वेषु उत्कर्षे इत्युक्तं भवति । तथा चैव गुणवर्णने ते'गामकौ 'तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदाक्षता भवन्ति ही'ति न्यायेन भगवदामगिदार्ढ्यं भक्तिवर्धिन्युक्ता गृह्यारुचिर्दृष्टव्यानां बाधकत्वान्नात्मत्वमानं च दृढीभवतीत्यर्थबलं बोधितम् । एव गुणगानं चासक्तिगतो निरोधलक्षणमित्यपि । अथ ध्यसनदार्ढ्याय भगवति साक्षात् परम्परया च स्वीयेन्द्रियविनियोगादिरूपसाधनान्तरमाहुः भक्तिं हरिमूर्तिमित्यादि ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पपादपि तत्र हि ।
वर्दानं स्पर्शनं स्पर्शं तथा कृतिगती सदा ॥ १७ ॥

अथर्षं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः । पापोर्मलांशल्यागेन
शेषभावं तनौ नयेत् ॥१८॥ यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

योऽदृश्यः व्यसनार्थं यतते, तेन हरेर्भगवतो मूर्तिः स्वयं सेव्यमाना सदाभीष्टं
निरन्तरं वा ध्येया, भगवदभिन्नत्वेन प्यातव्या । हि यतो हेतोः । तत्र मूर्ती संकल्पा-
दभिन्नताविचाराद्दर्शनं स्पर्शनं चक्षुषस्त्वचश्च कार्यं स्पष्टं स्वरूपदर्शनेन तत्स्पर्शनेन
च भगवत्सम्बन्धितया स्फुटम् । पूजाप्रवाहेषु तत्र सन्निधाने उभे अन्तर्यामिमाद्यणो-
क्तन्यायेन, गुणोपसंहारे कार्याख्यानाधिकरणे 'सम्बन्धादेवगन्पशापी'ति सूत्रेऽङ्गीकृते,
निबन्धे च 'तद्रूपं तत्र च स्थित'मित्येतद्वोधिते भगवदावेशे, बहुवचयोगोलकन्यायेन
च भगवत्साक्षात्पश्य चद्भिर्भावात् स्फुटमित्यर्थः । एतदेव हस्तपादयोः कार्येऽतिदिशन्ति
तथा कृतिगती सदेति । उक्तन्यायेन यथा पूर्वोक्तं द्वयं भगवत्सम्बन्धि स्फुटम्,
तथा कृतिगती हस्तपादयोः कार्ये भगवत्सेवायां तदर्थं चलने च सदा भगवत्सम्बन्धिनी
स्पष्टे । पूर्वोक्तं स्पष्टपदमत्र विभक्तिः प्रविपरिणामेन सम्बन्धयते सन्देहात् । श्रोत्रपाद-
कार्ययोस्तथात्वमाहुः अथर्षं कीर्तनं स्पष्टमिति । एतयोः प्रकारान्तरेणापि भगव-
त्सम्बन्धित्वस्य सर्वममृतत्वं बोधयितुं राष्ट्राम्भ्य पुनरुक्तिः । उपस्थे भगवदुपयोगित्वस्या-
स्फुटत्वात् तस्य भगवत्सम्बन्धित्वाय प्रकारमाहुः पुत्रे कृष्णप्रिये रतिरिति । 'कामः
सङ्कल्पः स्मृतः,' 'मङ्गलप्रभवान् कामा'मित्यादिवाक्यैः सङ्कल्पस्य पुत्रे कामे कृष्णस्य
प्रिये सति रतिरुपसर्गकार्यं भगवत्सम्बन्धि भवतीति शेषः । गोपालतापनीये 'यं मां स्मृत्या
निष्कामः सकामो भवती'ति गान्धर्वी प्रति भगवदात्मस्य श्रावणाद्भवद्भ्यानात् तादृश-
सङ्कल्पेन भगवद्विषयककामोत्पत्तौ साधि भवतीत्यर्थः । भगवद्विषयककामाभावे तु यथो-
पसहितं भवति तथा प्रकारस्त्वत्रे वाप्यः । पापोर्मिनिशेषमाहुः पापोर्मित्यादि । पापोः
कार्यं हि विसर्गः, स चात्र मलांशल्यामरूपः, तेन कार्येण तत्रनकस्त्रेन्द्रियस्य तनौ
शेषभावं नयेत् । भगवति विनियोज्यभावे स्वशरीरे तच्छोधनद्वारा गुणभाव प्रापयेत् ।
अत्रायमर्थः । वैशुगीते 'अक्षयवता'मित्यत्र मुनोविनीश्यास्विन्द्रियफलबोधिकासु कारिकासु
यत्रेगोदमरूपं पापुकार्यमुक्तम्, तथा 'एषां तु भाग्यमहिमे'नि प्रथिताध्यायश्लोक-
विवरणे 'शेमायत्सेदौ दृशमकार्यं' मित्युक्तम् । यत्र तुतीयस्कन्धे 'सुयन्भीलदृशाऽशु च'
दृश्यमानन्दाशुमोचनरूपं तत्कार्यमुक्तं, तत् प्रथमाधिकारं न सम्भवति, द्वितीयस्कन्धे
'तद्रश्ममार्ं हृदय'मित्यत्र तथा निर्णयत् । अनोर 'अन्नमशिनं शेषा भवती'त्यादि-
उद्दोगक्षुत्सुकोऽनन्तयोः स्थूलभातुः मूलप्रीपात्मने यथा 'कफः पित्तं मलः क्षेपु प्रम्येदो
गल्लोम च । कर्षविद्रूपिका चेति धातूनां कर्मशो मला' इति वैषकोक्तो मलांशः,
स हि पापुर्नयेन्द्रियेण तत्तरेदृच्छिद्रद्वारा निर्गच्छति । तावत्तत्र तस्त्रेन्द्रियस्य विनियोग
इति गौणत्वेन शेषता । किञ्च, एवं 'मसारावेशदुष्टाना'मितीन्द्रियविशेषणेन मध्ये धामत्सरी-

लुब्धेभ्येति कथनाद्वृणवर्धनकर्तुषु तत्सत्ताधोधनेनान्ते चोक्तपासुकार्यकथनेन चैतेषा जघन्या-
धिकारित्व धोधितम् । तेन ये भक्तिवर्धिन्यामदृवीजमावा उक्तास्तदर्थोयमुपदेश इति
सूचितम् । किञ्च, अत्र मन.प्रभृतीना नवाना विनियोजनप्रकार उक्तः; प्राणरसन
योस्तुविनियोगः कोपि नोक्तः । किञ्च, भगवत्प्रिये कामे उपस्थविनियोगकथनात्
तदभावे तदभावाः सूचितः । तथा सति तेषा भगवदुपयोगाभावे किं कार्यमित्याकाक्षाया-
माहु यस्य चेत्यादि । चेत्यनादरे । यस्येन्द्रियस्य भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न
दृश्यते तदा तस्येन्द्रियस्य विशेषेण निग्रहं सयमं कर्तुमावश्यकं इति निश्चयः ।
तथा च यदि तत्र तेषा निग्रहं न कुर्यात् तदा, नो चेत् 'प्रमत्तमसदिन्द्रियमाजित्वा'
इत्युक्तन्यायेन त्रिषयदस्त्युपु पाते ससारविशेषरूपं महदेवानिष्टं स्यात्, अतस्तदावश्यकमि-
त्यर्थः । एवञ्च जघन्याधिकारिणा यदुक्तोपदेशरीत्या करणं तदपि तदुचितनिरोधस्यैव लक्ष-
णम् । तत्रापि मुद्रासिधेत्, तदा सुतरा तथेति धोष्यन् । एव कारणे उद्वेगनिवृत्त्या क्रमेण
सेवाया आधिदैविकीत्वं सम्पद्यत इत्येतेन जघन्याधिकारिणा सुरय साधननिति सिध्यति ।
एष सर्वमुपदिश्य जघन्याधिकारिणामेतत्प्रवृत्तिमुत्पादयितुं प्रत्यान्तर उपदिष्टेभ्यः
साधनान्तरेभ्य एतस्य साधनस्योत्कर्षं वदन्ति नान इत्यादि ।

नातः परतरो मन्त्रो नान परतर स्तः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नान परात्परम् ॥ २० ॥

जघन्याधिकारिणामतः उक्तान् साधनानान् परतरं उक्तान्तरं मन्त्रोद्यं ।
रादिर्न । तदारतं हि सेवार्थेणाहृतनोक्तम्, अनुकल्पत्वेन च, अतस्तदर्थः । एवमपि
धोष्यम् । स्तत्रं दृष्ट्याद्यदिश्वोत्तरपाठः, गोपि तथा, अनुकल्पनादहत्वाच्च, त्रिविक
धैर्याश्रये तर्धनाहीकारादिति । विद्या उपामना, तीर्थं गङ्गादि, तयोरपि भगवत्स्वभावे
विलम्बेन फलमाधकं मात्, धृता ननतुन्यायादग्नात्, भारते च यज्ञतीर्थयो समान
फलदेवेन कथनात् तयोरत्र पृथगिति । तेन जघन्यानामधिकारिणामत्रोक्तं योजेनादि
साधनत्रयमेवावश्यकम् । तत्र यद्यपि यमनाना क्रमेण पृष्टव्यामोत्तरं पृथाकनिरोधा
त्यक्रमत्ति उद्दिमिन्द्रिरिति लिङ्कः । तत्र गोपिणा श्रीहरिगयाश्च इतिना ये त्रिसुका
इति श्लोकोत्तरं समाराज गुरु पठन्ति नदत्र च 'गुणध्वानिप्रपिताना मित्यादीन्
क्रमेण श्लोकान् पठन्ति ननानाम्नु यत्र क्रमेण पेटु, तेन क्रमेण मया व्याख्यातम् ।
व्याख्यानप्रकाशान्मु मया नसि इति मया न नानदित इति दिहू ॥ २० ॥

आचार्यवदृष्टया इत्यन्वितेन यन् पठेति भगवता ननानायेकेन ॥

सद्गुरुनानामित्यात् पुत्रोत्तमार्थं श्रीनिहलेवचरणांशुतादासदास ॥ १ ॥

वि श्रीगतात्त नाना प्रारुण्य समन विग्विना निनेधलक्षणरणमजिनुरि ।

१ इत्या मया १३३ ३५३ अत्र सचन मनः ३ इह अनुकल्पय युक्त ता माधिवनिति याचयन
मनः ३ अत्र उच्यते ननाना मयापि । २ सद्गुरुनानामित्यात् श्रीनिहलेवचरणांशुतादासदास ॥ १ ॥ व्याख्याने प्रकारद्वयम् ।
भगवदुपुन साधना गत्या ३३ सुबोधकः । तयान् द्विपः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

निरोधलक्षणम् ।

श्रीश्यामलात्मजश्रीब्रजराजकृतविवरणसमेतम् ।

वज्रश्रीहृद्यगिरिषु रोमालियमुनातटे । तदाहुलतिकानुन्दे श्रीङ्गकृष्णो विराजते ॥ १ ॥
गोपीशरतिमार्गोज्ज्वलितेण्डाचार्यसंस्कृतः । मयि श्रीगोपिकापीशनिरोधोऽस्तु महाफलः ॥ २ ॥
स्वाचार्यचरणाम्भोजकृपया तन्निरूपितः । स्वीयसौकर्यबोधाय निरोधः क्रियते स्फुटः ॥ ३ ॥
श्रीविद्वलेशपादाब्जकृपारससुवृष्टिभिः । निरोधकल्पवृक्षो मे सिद्धितः फलितोभवत् ॥ ४ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयेषु कृपया निरोधफलदित्तया निरोधस्वरूपं विवृण्वन्ति ।
तस्य फलात्मकानुशयनरूपस्यासन्न च प्रथमं प्राकट्यमपेक्ष्यत इति यथा प्राकट्यपूर्वकः
सिद्धो भवेत्तथा निरूपयन्ति । यद्येति पूर्वं येन प्रकारेण प्रजे निरोधार्थं प्रभुराविर्भूतः
स मयि नास्तीति तदभायजदैन्येन तस्याप्यर्थं तथा प्रार्थनीयो यथा स भावो भवतीत्याहुः
यच्च दुःखमिति ।

यच्च दुःखं यशोदाया मन्दादीनां च गोकुले ।

गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम कश्चित् ॥ १ ॥

यद्दुःखं यशोदाया मन्दादीनां गोपिकानां गोकुले भगवदाविर्भावपूर्वमभूत्
तद्दुःखं मम कश्चित्सादिति सम्बन्धः । भगवदाविर्भावज्ञाप्यते यत्सर्वेषां तत्रत्यानां तादृशं
दुःखमभूयेन भगवदाविर्भावोऽजनि । अन्यथा भगवान्निःसाधनः दुःखाभावेन प्रकटो
भवेत् । अकारण्येण तत्सम्बन्धिनामपि तादृशदुःखमभूदिति भावो ज्ञाप्यते । अन्यथा
संसर्गतोपि दोषः सात् । कश्चिदिति स्वस्य दैन्याधिक्यार्थमयोन्यत्वज्ञापनाय । गोकुल
इति पदात्सर्वथा तत्रत्यानां निर्दोषत्वं ज्ञापितम् । यत्सन्नानभिज्ञतेति न चातुर्यकापत्या-
दिना दुःखमभूत्, किन्तु साहजिकमेव ॥ १ ॥

एतद्दुःखानन्तरमापि भगवदाविर्भावज्ञं सुखं तत्रत्यानामित्य भवेदिति प्रार्थनीयं
दैन्येनेवेत्याशयेनाहुः गोकुल इति ।

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां ब्रजवासिनाम् ।

यत्सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

गोपिकानां गोकुले इन्द्रियकृते, तु पुनः सर्वेषां ब्रजवासिनां भगवदाविर्भावे जाते

यत्सुखं समभूतत्सुखं भगवान् किं मे विधासति । अत्रायं भावः । गोपिकानामिन्द्रियकुले
 'आत्मानं भूयथाश्चकु'रिति न्यायेन जात आनन्दो भगवान् पद्मजैश्वर्ययुक्तः सर्वं कृत्वा
 सर्वदानसमर्थस्तादृक्स्वरूपं सम्पाद्य तथा दानं करिष्यतीति समग्रो मनोरथः । तस्य
 भावस्यात्यन्तं दुर्लभत्वात्कमेव भविष्यतीति भावः । तु पुनः सर्वेषामेव प्रजवासिनां भगवदा-
 विर्मविजे जाते य आनन्दो जातः, येन वृद्धा बालाश्च उल्लसितहृदयाः नृत्यं छतयन्तस्तादृशं
 मे भगवान् विधासति ॥ २ ॥

ततो भगवन्नित्यखिलात्मकानन्दसुखप्रार्थनामाहुः उद्धवेति ।

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि कश्चित् ॥ ३ ॥

उद्धवागमने जाते वृन्दावने प्रजस्रीषु गोकुले नन्दादिषु यथा सुमहानुत्सवो जात-
 स्त्रथा मे मनसि कश्चिद्भगवान् करिष्यतीति सतापगनोरथः । सुमहानिति पदेन पूर्वोत्सवादि-
 गिष्टत्वं ज्ञाप्यते । तथा हि, उद्धवागमनात्पूर्वं मथुरास्थानां ततो भगवान् प्रापत् इति
 तत्रत्या न भगवदीया इति ज्ञानं भगवतो प्रजनित्यखिलज्ञानेन भवेत्तत्र च श्रीमदुद्धवैरत्र
 नित्यस्थितिर्दृष्टेति तथैव ज्ञानं भविष्यतीति मनस्युत्सवः पूर्वोत्सादिलक्षणो जातस्तथाचार्यः
 श्रीभागवतविभूतौ प्रपञ्चितम् । तादृश उत्सवो मम मनसि कश्चित्सादिति भावः । यद्वा,
 गोकुले वृन्दावने वा उद्धवस्यागमने जाते सति तत्रत्यभक्तदर्शनेन तत्रागमनात्पूर्वं तदरण-
 रजःसम्बन्धयोग्यजन्मप्रार्थनात्मक उत्सवो जातस्तथा मम मनसि सादिति भावः । यद्वा,
 उद्धवो भगवता सर्वात्मभारार्थमत्र प्रेषितस्तेनाप्रत्यभक्तानामाधिक्यं स्वस च नित्यस्थिति-
 शोपिता, तेन तस्यागमने जाते सति य उत्सवो वृन्दावने गोकुले वा जातस्तथेति भावः ।
 यतो सर्वात्मभावस्त्रथैव भवत्येतदेव निरोधत्वात्, तेन तथा दानेच्छा येषु तथैव प्रेष्यन्त
 दशसुखो भवति तदानार्थं वा तथा मे गदुपरि भगवन्मनसि तासां वा सादिति भावः ॥३॥
 नन्वेतावान्मनोरथो भावनीयं, तेन भविष्यत्येवेत्याहुः महतामिति ।

महतां कृपया यावद्भगवान् दपयिष्यति ।

तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानसुखाय हि ॥ ४ ॥

महतां कृपया भगवान् यावत् दपयिष्यति दयां करोति तावदानन्दसन्दोहः
 कृपारूपः कीर्त्यमानसुखाय पूर्वोत्साव स भावो भवतीत्यर्थः । यद्वा, भगवान् यावत् महतां
 कृपां करोति तावदकृपया जीवस्य सतापदैत्यदर्शनेन दयां करिष्यति तदा आनन्दसन्दोहः
 कीर्त्यमानसुखाय सादिति भावः । भगवान् कीर्त्यमानसुखाय यावन्महतां कृपया दपयि-
 ष्यति तावद्वा स्यात् । अयमर्थः । यावत् भगवान् दयां करिष्यति तावत् महतां कृपया
 पूर्वमेव दयातः कीर्त्यमानसुखाय आनन्दसन्दोहः सादिति भावः ॥ ४ ॥

ननु श्रीमदुद्धवागगनजातोत्सवस्य विप्रयोगस्फूर्त्या दुःखमम्भावनरूपत्वात् सुखस्य महत्कृपया ज्ञातेषु तस्मिन् कथं निर्वाह इत्याशङ्गाहर्महतामिति ।

महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा ।

न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरक्षयत् ॥ ५ ॥

महता कृपया सदा कीर्तनं सुखदं भवतीति शेषः । अयं भावः । सदा तस्मिन्नपि समये कीर्तनं तेषामेव कृपया सुखदम्, प्राणनाथाया जीवनार्थं भवतीति भावः । यदन्महत्त्वमित्यर्थः । ननु विप्रयोगे गुणानां जीवनलानुभवासिद्धमित्याशङ्गास्लौकिकत्वात्तथा भवति । लौकिकानां न तथात्वमित्याहुः न नृपेति । तु पुनः लौकिकानां न तथा सुखं भवतीत्यर्थः । तत्र निदर्शनमाहुः स्निग्धभोजनरक्षयदिति । स्निग्धभोजकस्य रूक्षवत्, रूक्षभोजनं यथा न सुखं जनयति तथेत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु ज्ञानस्य दुःखनिवारकत्वं भूयते, न गुणगानसेवाशङ्काहो गुणगान इति ।

गुणगाने सुखायासिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।

यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

गोविन्दस्य गुणगाने यथा सुखायासिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव जायते, अन्यतः कुतः स्यादित्यर्थः । शुकस्य चेद्गुणगानेन सुखं स्यात्तदा स्वानुभूतं स्वमेवावश्यं । कथयेश्च तु स्वानिन्य एव गानं कुर्वन्तीति वदेत् । यद्वा, गुणगाने कृते गोविन्दस्य भगवतोपि यथा सुखायासिः प्रजायते तथा शुकादीनामात्मनि नैव भवतीत्यर्थः । अ-यथा भगवानियं तेषु तद्दुःखदुःखिता भवेयुः । भगवत्सखात्वं 'नणिपर' इति श्लोकादिषु निरूप्यते । यद्वा, गोविन्दस्य गुणगाने या सुखायासिः पुष्टिश्चाना भवति, सा शुकादीनां भगवद्गुणगानानन्दसुखानामपि नेत्यर्थः । अथमर्थः । गोविन्दपदेन प्रजवधूनामिन्द्रियस्य ये गुणास्तद्गुणगानेनैवासा तथा भवति । शुकादीनां सर्वोपतारचरित्रमिश्रगुणगानात्तथात्वं न भवतीति भावः । अत एव निरोधचरित्रकथनप्रस्तावे प्रथमाध्याये सूतोक्ती तदन्तःस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छतीति 'सभगवानय विष्णुरात'मित्यस्मिन्पद्ये निरूपितम् ॥ ६ ॥

गुणगानमात्रेणैव कथं भगवान्निरोधात्मके रूपां कुर्यादित्याशङ्क्य तत्स्वरूपमाहुः क्लिश्यमानानिति ।

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।

तदा सर्वसदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं वहि ॥ ७ ॥

जनान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत्तदा हृदिस्थं सर्वसदानन्दं वहिर्निर्गतं कुर्यादिति सम्बन्धः । अत्रायं भावः । गुणगानस्य विप्रयोगतया जीवनेऽन्वभवात्तत्र चापाप्त्यर्थं भगवदिच्छाकाङ्क्षया तापसहने गुणगाने कृते सति जनान् लौकिकदेहयुक्तान्, यतोऽलौकिकदेहे तापस्त्वानन्दरूप एव भवति, तान् क्लिश्यमानान् दृष्ट्वा, यदेति तस्य

दुर्लभत्वात् कृपायुक्तो भवेत्तदा हृदिसं खहृदिसं सर्वसदानन्दगाधिदेविकशक्तिरूपं
 पहिर्निर्गतं कुर्यादित्यर्थः । गुणगानकर्तृभावात्मकस्वरूपं तद्दृदिसं वहिः प्रकटं कुर्यादिति
 वा ॥ ७ ॥

ननु भगवतः सर्वमेवानन्दरूपमिति गुणा अप्यानन्दरूपाः, तेन गुणगानस्याप्यानन्द-
 रूपत्वात्कृपया भावात्मकानन्दस्य वहिःप्रकटकरणरूपस्य को विशेष इत्याशङ्गाहुः
 सर्वानन्दमयस्यापीति ।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।

हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः ग्लाययते जनान् ॥ ८ ॥

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभ इत्यर्थः । सर्वानन्दमयशब्देन भगवतो गुणा-
 द्योषि भगवद्ग्रा जीवेषु स्वरूपप्रतिपादकपूर्वकरसदात्तार इति ज्ञाप्यते । एतज्ज्ञापनायैव
 मयद्प्रयोगः । मयद् प्रायुर्गे । तेन सर्वमेव भगवदीयमानन्दप्रचुरमित्यर्थः । अत एव
 गुणगानेन रमणं फलप्रकरणान्तर्गतद्वितीयाध्याये निरूपितम् । अपिशब्देन वहिःस्वरूप-
 प्राकट्यात्मककृपानन्दस्य कथनविशेषो ज्ञाप्यते । स च सुमारिकाप्रतापवान्तरफलपरमफल-
 रूप इति भावः । तासां च गुणगानानन्तरं परमफलप्राप्तिसाधैव सर्वत्र नितोधाधिकारिणा-
 मित्याशयः । कृपानन्दस्य दुर्लभत्वोक्त्याऽनुग्रहेकलम्बत्वं ज्ञाप्यते । नन्वनुग्रहेतरासाध्यत्वे
 गुणानामपि तयात्वं सादित्याशङ्गाहुः हृद्गत इति । हृद्गतः स्वगुणान्कृत्वा पूर्णो भूत्वा
 जनान् ग्लाययते ममान् कुरुते । रासान्धाविति श्लेषः । कृपयैव पूर्वमष्टादशाध्यायोक्त्याध्यायेन
 वेशुद्गारा हृद्गतो भवति, ततस्तथैव तद्दर्शनेन स्वयं तत्प्राप्तयुक्तो भवति, एतदेव पूर्णत्वम् ।
 अत एव द्वाविंशाध्यायेऽस्मद्भावप्राप्तनाये'द्वाविंशोऽन्तर्गोपिकाना'नित्यारम्भ 'तेनैव पूर्णानन्द
 इतीर्यत' इत्यन्तं पूर्णत्वं निरूपितं पूर्वतदभावज्ञापकम् । यद्वा, स्वगुणान् तद्दर्शनेन तापका
 न्कृत्वा विप्रयोगदलेनापूर्णत्वात्स्वरूपस्य द्वितीयं दलं प्रकटीकृत्य पूर्णः सन् रसैः ग्लाययत इति
 भावः । स्वगुणोद्भूततापानां स्वस्य तेषां दुःखदरीकरणं युक्तमेवेति भावः । भगवद्गुणानां
 रसात्मकानां स्वरूपतापोद्गोपकता तु 'पूर्णाः पुलिन्य' इत्यादिषु स्फुटमेव निरूपिता । तेन
 गुणगानस्य तत्साधकत्वमिति भावः । गुणानां च भगवद्प्रपत्त्यादनुग्रहेतरकोटिसम्भावना
 न कर्तव्या ॥ ८ ॥

यस्माद्गुणानां तत्साधकत्वं तस्माद्गुणानां स्वरूपज्ञानपूर्वकं कर्तव्यमित्याहुः तस्मा-

दिति । तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।

सदानन्दपरैर्मेघाः सच्चिदानन्दता स्यतः ॥ ९ ॥

यतो गुणास्तत्सापकास्तत्सर्वं परित्यज्य सर्वदा सर्वकालनिरुद्धैस्तद्भावापस्रैर्गुणाः
 मेघा इत्यर्थः । सदानन्दत्वेन पस्त्रिंश्या इति भावः । अर्थं भावः । 'सन्त्यज्य सर्वविषया'निति

तत्सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सहेति शेषः । 'सप्तसखीभ्योन्ववर्णय'न्नितिवत्तेः सद् गुणा गेया इति भावः । गुणान्विशिनष्टि स्वरूपज्ञानार्थम्, सदानन्देन कृष्णेन परिश्रेया इति भावः । अयमर्थः । गुणगानगुणाः प्रभुणैव ज्ञेया येन तान् श्रुत्वा स्वयं तद्ब्रह्म मूला स्वरूपरसदानं करोति । ननु गुणेषु सदानन्दत्वाभावादेतज्ज्ञाने कथं तथ तत्त्वं सादित्याशङ्काहुः सन्धिदानन्देति । स्वतन्त्रेषु सन्धिदानन्दता सिद्धेत्यर्थः । यतस्तेषु स्वतःसन्धिदानन्दता, अतस्त्वया ज्ञात्वा गेया इति भावः ॥ ९ ॥

ननु निरुद्धानां गुणगानं युक्तमिति सिद्धं, फलासाधकानां साधनदशायां कथं गुणगानं सादित्याशङ्क्य स्वानुभवात्मकपूर्वस्वोक्तनिरोधस्वरूपमाहुः अहमिति ।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवर्षी गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

अहं रोधेन निरुद्धः, निरोधपदवर्षी गत इत्यर्थः । अत्रार्थं भावः । भगवता येषु जीवेषु कृपया निरोधो विचार्यते, स च निरुद्धभक्तसंगेनैव सिद्धो भवति, नान्यथेति निरुद्धाना-
ज्ञापयति भुवि प्राकट्यार्थं, तत्संगेन जातो यस्तीव्रतापः सः रोधपदवाच्यो भवति । श्रीमदा-
चार्योशमपि देवजीवभक्तिनिरोधार्थं प्राकट्याद्यभवाज्ञादयकारणात्सङ्गजनिततापस्य रोधत्व-
मिति भावः । एवं च सत्सुकरीत्या तेषां रोधेनानुरोधेन भगवता निरुद्धः निरोधपदवर्षी पुरः
प्रकटरूपेणैव गत इति भावः । निरोधफलस्य विप्रयोगतापानन्तरमावित्वादाचार्योणां
च लीलामध्यपातिस्वरूपस्य विप्रयोगासम्भवाद्भगवता जीवेषु कृपया तदर्थनार्थं तथा
प्राकट्यार्थमाज्ञप्तं, श्रीमदाचार्यैरपि तदर्थनार्थं स्वानुभव एव प्रदर्श्यते । यथा अहं रोधेन
रुद्धस्त्वयाम्बुम् । तथा लौकिके निरुद्धानां रोधार्थं निरोधं कथयामीत्याहुः निरुद्धानां
त्विति । लौकिक इति शेषः । यद्वा, निवेदनेनैतस्वरूपेणैव निरोधयोग्यता भवती-
त्याशयेनाहुः निरुद्धानामिति । निरुद्धानां स्वनिवेदितानां रोधाय भगवत्सुतलौकिका-
सक्त्यभावाय निरोधं वर्णयामीति भावः । ते तवेत्यर्थः । त इलोकवचनेनैतच्छ्रोतुर्दुर्लभत्वं
ज्ञापितम् ॥ १० ॥

एवं प्रतिज्ञाय निरुद्धस्वरूपमेवाहुः हरिणा च इति ।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमापान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते भवसागरे मग्ना भवन्तीत्यर्थः । अत्रार्थं भावः । अकारणं
सर्वदुःखहर्यां तत्साधनमविचार्यं दुःखहरणशीलेन ये विशेषेण निर्मुक्ताः भावात्मकस्वरूपो-
द्घोषरहिताः कृताः, येन च सागरे संसारसागरे मग्ना दुःखमेव प्राप्तुवन्तीत्यर्थः । ये तु अत्र
अस्मिन्नेव जन्मनि भावात्मकस्वरूपेण निरुद्धास्ते अहर्निशं मोदमापान्ति, सन्तोषं प्राप्तु-
वन्तीत्यर्थः । अहर्निशपदेन भावात्मकतया गोपनीयद्रोषपत्र मोदं प्राप्तुवन्तीति व्यज्यते ।
अहनि भ्रजपरविलासिनीवत्, रात्रौ गोपवत् ॥ ११ ॥

ननु तासां तेषां च विप्रयोगहेतुं गुणगानदशासमयः (स) तस्य कथं मोदरूपतेत्या-
शङ्काहुः गुणेऽप्यिति ।

गुणेऽप्याविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारधिरहृद्देशौ न स्यातां हरिवत्सुखम् ॥ १२ ॥

मुरवैरिणः गुणेषु आविष्टचित्तानां सर्वदा संसारविहृद्देशौ न स्यातामिति सम्बन्धः ।
अत्रायं भावः । मुरस्य जलदोषात्मकत्वात्सागरस्थितस्य वैरित्वोक्त्या रससागरदोषनिवारकत्वं
व्यज्यते । तस्य गुणेष्वानन्दमयेषु विरहसामयिकोत्कटतापनिवारकजीवनहेतुभूतैर्ध्वाविष्ट-
चित्तानां तौ न स्यातामिति भावः । चित्ते ह्यवैशोक्त्या न्यावेशाभावो धोष्यते । अत एव
सर्वदेस्युक्तम् । भगवत्सेवार्थव्याघ्रतावपि तत्परत्वार्थम् । यमोक्तं जीवोत्कटतापनिवर्तका-
पार्यर्भक्तिवर्धिन्यां 'ध्यावृत्तोपि हरौ चित्तं ध्रुवणादौ यतेत्तदे' त्यादिना । एवं गुणाविष्टधि-
त्तानां भगवति संसारसाहन्ताममतात्मकस्य विरहामाव इति यावत्, विप्रयोगजः हेतुश्च
तादुभावपि न स्याताम् । अपमर्षः । भगवत्सहन्ताममतात्तद्विनिवृत्तसंयोग एव भवेत्, सुखं
भवेदिति शेषः । तत्र निदर्शनमाहुः हरियत् । हरिवत्तौ न स्यातां, सुखं भवेत् । अत्रायं
भावः । भगवतो जीवेष्वहन्ताममताभावो कदापि यथा न भवति स्वकीयत्वात्तेषां तद्वि-
प्रयोगजहेतुषु तया । 'भवतीनां विद्यो गो मे न हि सर्वात्मने'ति भगवतैवोक्तत्वाद्भावः ।
निवेदानानन्तरं भगवत्स्वरूपात्मकर्तव्यं सिध्यति । एवं सति भगवानिव तौ न स्यातां, सुखं
च सादेवेति भावः ॥ १३ ॥

भगवत् एवं करणे दयादुल्लं हेतुत्वेनाहुः तदेति ।

तदा भवेद्दयास्तुत्यमन्यया कूरता मता ।
पापशङ्कापि नास्त्वत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥ १४ ॥

यदा पूर्वोक्तप्रकारेण सुखं सात्त्वदा भवति दयादुल्लं भवेत् । अन्यथा मर्यादा-
दिप्रवेशेन कूरता मता सम्मता, दुष्टिस्थानामिति शेषः । भगवता एवं करणेभिमाना-
दिपापशङ्का मर्यादावृत्तिभ्रमात्कृतवापो वा भवेदित्याशङ्क्य नेत्याहुः । पापशङ्कापीति ।
अत्र अस्मिन्मार्गे पापशङ्कापि नास्ति । अपिशब्देन तच्छब्दैव नास्ति कुतः पुनर्वाध इति
भावो व्यज्यते । भगवदध्यासस्य ददत्वादेहाध्यासाभावात् पापशङ्केत्याहुः तदिति ।
तस्य भगवतोऽध्यासोऽपि सिध्यतीति भावः । अपिशब्देन भगवतोऽप्येतदध्यासो रसरीत्या
सिध्यतीति बोध्यते ॥ १४ ॥

ननु भगवतो दयादुल्ले सुखोत्पादकता भवतु, परमस्य लौकिकत्वाद्भगवतो-
लौकिकत्वात्कथमेतस्य लौकिकनिरुद्धा नितोपसिद्धिरित्याशङ्काहुः संसारेति ।

संसारव्येशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तुनि भ्रूम ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

संसारवेशेन दुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै निश्चयेन तानि ईशाय योजयेदिति सम्बन्धः । अत्रायमर्थः । संसारावेशेन भगवद्विनियोगप्रतिबन्धः स्यात्, तेन तदावेशो दुष्ट इति तदभावावार्थमिन्द्रियाणां निश्चयेन यथा हितं भवति, तानि भगवदर्थं योजयेत्, तेन तयात्वं भवेत् । नन्वेतत्सामान्याः पूर्वं लौकिको दोषो निरूपित इत्याशङ्क्य तस्य दोषस्य वस्तुस्वरूपज्ञाने स्वरूपतेति वस्तुस्वरूपमाहुः । यतो वस्तुनि सर्वाणि भूयः कृष्णस्य । अतो समर्पिते लौकिकत्वं नाशङ्कनीयमिति भावः । 'श्रीद्वैतार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते' 'श्रीदामाण्डमिदं विश्वं'मित्यादिषु तथैव निरूपितम् । किञ्च, स भूमा समर्थो भवति लौकिकनिवारणपूर्वकमलौकिकत्व(सम्पादकत्व)सम्पादकः, स्वयं च लौकिकरसभोगार्थं स्वस्वरूपमर्थादोल्लङ्घनेनापि स्वमक्तवश्यता स्थित्या तद्भाषानुसारेण तस्य रसादानार्थं रमणं करिष्यतीति भावः । यद्वा, संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां सम्बन्धीनि सर्ववस्तूनि भावात्मकानि वै निश्चयेन कृष्णस्य हिताय रसभोगार्थं योजयेत् । भूय इति विशेषणेन स्वस्यापि रसभोगः सिध्यतीति ज्ञाप्यते । कीदृशाय हिताय ईशाय आधिदैविकायेत्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु संसाराविद्यचिच्छदुष्टानां कथं तत्र विरामेण भगवत्यनुरागपूर्वकं समर्पणं स्यादित्याशङ्क्याहुः भगवद्धर्मसामर्थ्यादिति ।

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विरागो विषये स्थिरः ।

गुणैर्हरिसुखस्पर्शात्तु दुःखं याति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विषये विरागः स्थिरः स्यादित्यर्थः । भगवद्धर्मोणामेतादृशमेव सामर्थ्यं येन तद्धर्मप्रवेशमात्रेणैव लौकिके विषये विरागः स्यात्, तदनन्तरं गुणैः भगवदीयैर्वर्णितैर्लौकिकस्वरूपेण हरिसुखं हरेः सुखस्य स्पर्शं प्राप्नोति । कर्हिचिद्भगवदिच्छया परीक्षाधर्थकृतमपि दुःखं न यातीत्यर्थः । यद्वा, भगवद्धर्मसामर्थ्याद्विषये भगवदीये विशिष्टो रागः स्थिरः स्यात् । किञ्च, गुणैः हरिसुखस्पर्शं याति । अयं भावः । गुणगानेनालौकिकत्वे सम्पन्ने हरेरपि सुखरूपः स्पर्शो यस्य तादृमत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । किञ्च, हृदयतो दुःखं विप्रयोगक्लेशानन्दानुभवत्वेन कर्हिचिदपि न गच्छतीति भावः ॥ १५ ॥

एवं निश्चत्पुद्गं तत्स्वरूपं निरूप्य तत्कर्तव्यप्रकारमाहुः एवमिति ।

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद्दुष्कर्षं गुणवर्णने ।

अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥ १६ ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण ज्ञानमार्गाद्दुष्कर्षो निरूपितस्तं गुणवर्णने ज्ञात्वा अमत्सरैर्मत्सरादिदोषरहितैर्ज्ञानादिषु अलुब्धैः स्वस्य रसभोगेच्छायां भगवदिच्छार्थं गुणाः सदा वर्णनीया इति भावः । सदेति पदेन क्षणमप्यन्यथा न स्वेयमिति ज्ञापितम् । यद्वा, गुणवर्णने य उत्कर्षस्तं ज्ञानमार्गात्सर्वं भगवदर्थमितिरूपाद्भवदुपदिष्टगोप्तुलयाद् (?) ज्ञात्वा सदा अमत्सरैः

सापत्न्यादिदोषरहितैरलुब्धैर्भगवतः स्नामृतग्रहणसमये मानादिदोषरहितैर्गुणा वर्णनीयास्त-
ज्ञानाभ्यर्थं, प्रजविलासिनीवत्स्वसमानशीलेष्विति शेषः ॥ १६ ॥

एवं गुणवर्णनस्वावश्यकत्वं सोपपत्तिकमुपपाय तद्दर्शने क्लेशसहनात्मकं दूषणमुद्राप्य
परिहरन्ति हरिमूर्तिरिति ।

हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि ।

दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथाकृतिगती सदा ॥ १७ ॥

सदा हरिमूर्तिर्ध्येयेति सम्बन्धः । अकारणसर्वदुःखहर्त्री दुःखहरणार्थमेव मूर्तिधारक-
स्तस्य ध्येयेति भावः । हीति युक्तशायमर्थः । स्वस्य तदर्थप्रयोजनतासैव ध्येया । ननु
तद्विज्ञानमात्रेण कथं दुःखनिवृत्तिः सादत आहुः दर्शनमिति । ध्यानेन दर्शनं स्पर्शनं
च स्पष्टमेव भवतीत्यर्थः । ननु दर्शनं स्पर्शनं च योग्यरूपभावे कथं सादित्यत आहुः
तथेति । ध्यानेन तथा आकृतिर्गतिश्च भवेताम् । सदेति नित्यमित्यर्थः । न स भावः
पुनरन्वया भवेत् ॥ १७ ॥

नन्येतत्सर्वं फलदशायां सम्भवति, न साधनदशायामित्याशङ्क्य साधकानां तत्सिद्ध-
धैर्यगुणमाहुः श्रवणमिति ।

श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णमित्रे रतिः ।

पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनी नयेत् ॥ १८ ॥

श्रवणं कीर्तनं तथात्वसम्पादकं साष्टमेव, तस्मात्कर्तव्यं, तत्करणेन तथात्वं स्नादि-
त्यर्थः । तथाभूतस्य दुःसंगवर्जनमाहुः । भगवदप्रियस्य त्यागे निदर्शनमाहुः पायुरिति ।
मलांशत्यागेन यथा पायुर्दृष्टते तथा बहिर्मुखपुत्रादित्यागेन शेषभागं तनी सक्तीयत्वेन
नयेत् ॥ १८ ॥

ननु सर्वेषामात्मा भगवानेवास्ति, तस्मात्कथं लक्षण्याः, स्वान्तरङ्गत्वादपि त्यागो-
नुचित इत्याशङ्क्याहुः यस्येति ।

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

यस्य भगवत्कार्यं स्पष्टं न भवति स न भगवदंशः किन्तु प्रकृत्यंश एव, आन्तरं तथा
भावे चाक्षमपि तथैव भवति, अन्यथा तु पापण्डित्यमेव । अत एव निवन्धेऽस्त्यागेश्वरैः
'कृष्णसेवापर'मिति श्लोकविवरणे सेवापरयुक्त्यादिना तथैव निरूपितम् । विकल्पेन
यस्यार्थं भगवान् स्वकार्यं रसरूपं स्पष्टं करोत्येवं न दृश्यत इति व्यज्यते । तदापि निरूपितो
यो दृष्टाः वामदक्षस्तस्य विधिः कर्तव्यः । अवमर्थः । यथा मलांशत्यागानन्तरं वामदक्षस्य
शुद्धिं विधाय सर्वकार्योपयोगित्वं क्रियते तथा तस्य स्वात्मजत्वात्तत्र स्वांशभगवति निवेदनं
कृत्वा स्वांशं स्वस्मिन्नावेश्य तस्य त्यागो विधेयः । अस्मिन्नर्थे न सन्देह इत्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं निरोधस्वरूपं निरूप्यान्वनिषेधपूर्वकमेतत्करणार्थमस्य सर्वाधिकत्वमुक्त्वोप-
संहरन्ति नात् इति ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।

नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम् ॥ २० ॥

अतः परतरो मघो नास्ति, तेन मघादिषु विश्वासं विहायायमेव ग्रन्थो जाप्यः ।
एतदुक्तप्रकारेण श्रेयमित्यर्थः । अतः परतरोन्यः स्तवो न । तेनैतदुक्तप्रकारेणैव प्रभुः
स्तुत्य इत्यर्थः । अतः परतरा विद्यापि न । या विद्विन्नो न विद्यायां यतप्रस्तावे निरूपिता
सेयमेवेत्यर्थः । अतः परतरं तीर्थमपि न । तीर्थे प्रतिबन्धकपापनिवर्तकत्वमस्ति, न त्वाधि-
दैविकप्रतिबन्धनिवर्तकत्वम्, अस्य चाधिदैविकतन्निवर्तकत्वमस्तीति नातः परतरं तन्निवारक-
मन्यदिति भावः । तस्मात्प्रतिबन्धकापगमार्थमेतदेव स्तोत्रं श्रेय्यमिति भावः ॥ २० ॥

इति श्रीगोपिकाधीशवल्लभाचार्यसूचितः ।

निरोधो विद्वृतस्तेन सदा तुष्यन्तु ते मयि ॥ १ ॥

निरोधसंशयोऽनेन प्रकारेण सदा धुपैः ।

छेत्तव्य इति हि ज्ञात्वा तत्कृपातो विवेचितः ॥ २ ॥

इति श्रीश्यामलारम्भजश्रीवजराजविरचितं निरोधलक्षण-
विवरणं सम्पूर्णम् ॥

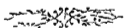
'अथवा त्वनन्याया,' 'विद्यते तदनन्तरम्' 'ज्ञानयोगश्च मन्त्रिणो वैगुण्यो भक्तिलक्षण,' इत्यादिवाक्यै
 पुण्योत्तमानुगुण्यफलरूपेण निरोधजनकत्वान् । 'अनु अन्वया सजातये श्वादिवाक्यैर्मयादाने पुष्टिभ
 विफलत्वात्, सा च निरोध इति कथं न निरोधजनकत्वमिति चेत्, उच्यते, तस्या अनुग्रहसहकारिणेन
 परम्परासाधनत्वात् । अन्यथा 'नोपमितमहत्तमा' इति वाक्य विरुद्धेत् । महदुपासनस्य मयादा
 भक्तिरूपत्वात्, न द्वितीया । तस्याभद्रभित्तत्वात्, न हि स्वमेव स्व प्रति साधन भवति । तदि निमा
 कमित्यनेनेति चेत्, न, तादृशविशेषानुग्रहस्य कारणत्वात्, तादृशस्य गुणगानसदृशत्वं विशेषस्य तथा
 फलदानेऽनेनेति सहेय । वस्तुतस्तु न पुण्यवानादेरपि साधनत्व, नि साधनत्वभंगान्, तथापि योगसेन
 साधारणसाध्यत्वमादाय तथोक्तम् । अथ कथं निरोधस्य फलत्वमिति । सुखदुःखाभावान्यतरभावात् ।
 प्रयुक्तानेके स्वविषयाप्राप्तेरपि दुःखसदृशत्वात्चेति । उच्यते । निरोधो हि प्रपञ्चविरमुनिवहित
 नासक्ति, सा च स्वविषयविषयकविषयमनोरथजनको भाव, तस्य च स्वरूपत्वेन सुखरूपत्वात् ।
 'स्व हि पुण्यस्य लक्षणा मानन्दीभवती'ति श्रुते । प्रपञ्चविरमुनिरूपत्वेन प्रापञ्चिकदुःखाभावरूपत्वात् ।
 किञ्च, फल हि पुण्यार्थं, तस्य च तेन स्ववृत्तितयेष्यमाणत्वम् । तथा च आसक्तिमत्त्वप्रतिपत्तौ तस्य
 भाकाङ्क्षणीवत्त्वेन तथात्वम् । 'विषयं तन्तु ता क्षम'दिति वाक्यात् । अन्यथा इयेनादायपि
 तज्जन्तवकस्य तदनुभवरूपत्वाभावेन फलत्व न स्यात् । 'भूयान् मे शरकं शत्रुविपक्षतामि'ति शिवा
 इयेनकरणात् । सुखसाधन तदिति चेत्, तदा प्रकृतेऽपि दीयता दृष्टि । न च सुखप्रमाणात् प्रवृत्तिरिति
 वाच्यम् । शरके क्षुण्णमावोद्यात् । तस्मात् पुण्यार्थे न च फलम् । वस्तुतस्तु तु स्वमेव न, किन्तु
 परमात्म एव । अत एव धीमुक्ते सर्वान्ते 'रमिरे' इत्युक्तम् । अत एव धीमदाचार्ये 'रतो निरोधो महाफल'
 इत्यभिहितम् । एव सति भक्तिमार्गे निरोधस्यैव फलत्वात् ससाधनतस्मिन् रूपेण कुर्वन्त भीमदाचार्यो तस्य
 दुर्लभापज्ञापनाय प्राथमाक्येण निरूपयन्ति 'तद्यं तु स्व'मिति । निरोधो हि प्रपञ्चविरमुनिपूर्वक
 भावदासक्ति । सा च स्वविषयदर्शनान्या सुखदुःखात्मिका । यदिति वदात् तु स्व च लोकविलक्षण
 स्वरूपात्मकत्वात् कोटिकोत्यानन्तरुप गुण्यसर्वहीलानुभावक भगवदाविर्भावश्च, अतो निरोधस्य
 प्रपञ्चतो दुःख प्रपञ्चविरमुनेर्भावदर्पदुःखसम्बन्धात् । अतो मूलभूतत्वात्पक्षेण फलत्वादन्य
 हितत्वेन प्रथमात्तं तु स्व प्रापयन्ति 'तद्यं तु स्व'मिति । यद्यं तु स्व यतोहासा मन्दादीना चकाराम्भेर्षो
 योऽङ्गि अस्ति तदुत्तं च मम वदितुमि श्वादिनि सम्बन्ध । मन्वेत्तमर्षो निरोधस्य फलत्वे, तदेव तु न,
 सुखसाध्यत्वस्यैव तत्प्रापयन्मन्वादिति चेत् । न, अनाकलमात् । 'मानसो सा परा मता' 'चेतस्यलक्षण
 सेवे'त्यादिमि सिद्धान्तुनायत्तमासाचार्यनिरोधपदार्थस्यैव फलत्वत्वेतावेतेनोत्त'त्वात्, अतो न काचित्
 पक्षेति भाव । मातृपत्न्युत्तं च लीलाभाषतोऽधिकत्वात् प्रथमेति । अनु पूर्वज्ञेन भगवदानन्दतिथि
 प्राप्ता किं हिष्टा एवेति चेत् । अथाय भाव । यथवति मधुरा प्रति प्रस्थिते, तत आरभ्य मातृपत्न्यादी
 ना स्वरूपात्मकविषयगतानेन वे हिष्टा एव, पर स महारसो विलक्षणानन्द । पत्न्येवमेव
 पर्ययनिर्णयदैवमानन्दानुभव, अतस्त्वमनोरथ कुर्वन्ति 'स्वान्धव वधि'दिति ॥ १ ॥ एव यतोहादिदुःखं च
 प्रापयिष्या भक्तिरुप गीतिकानु स्व प्रापयन्ति 'गीतिकानां विव ति । नुसन्त् पूर्वसात्त्विकतावप्रदंशक ।
 गीतिकाना मन्त्रीमन्त्रिनीनां यन् धीमायवतादी निरतितायत्वेन प्रसिद्धं सत्प्राप्तक तत् वदितुमि
 देहेन्द्रियप्रापेण श्वादिनि मनोरथ । यतोहादिमन्दादीनामेतन्मुसस्य स्वस्य रामदीभावपूरितविप्रलयेन
 भयोभवत्तथा भद्रापनीपत्वाद् गीतिकान्दीनामेव गुणांश प्रापयन्ति 'गीतु' गीतिकानां येति ।
 गीतु' मगपतो टीलाभिर्षेणुनादादिरूपाभिगापिवात्, चकारागोपानां सर्वेषा मन्त्रागिनां चापि
 यन्मुसमनुभूयमानलीलावसत्प्रादरमभूत्, तत् किं मे विद्यासति । अन्यत्र तथाकरने सामर्थ्या
 भावमासापत्वाद् 'मगता निनि । स हि सर्वं कर्तुं क्षमम् । अतोऽन्यत्रापि तथा करिष्य'येवेत्यर्थ ॥ १ ॥
 एव तु स्व प्रापयिष्या लीलाभिर्षेणुस तदपि प्रापयिष्या आत्मनिकविप्रयोगदानानन्तरं यन्मुस
 तदपि प्रापयन्ति, उदात्तागमन इति । उदात्तत्वात्तन्ने जाते यथा गीतिकानां मनसि भगवत्प्राप्त्यर्थ

दग्नेनेत्यत्रो वातस्तथा मे मनसि बन्दिदपि न्यादिति सम्बन्धः । वृन्दायने भोक्ते वेति । वागन्द्
 समुच्चयार्थः । यत्र तद्गुणानेव सापन्त्यो व्रजसीमन्तिभ्यः सम्भूय स्थितारत्र वृन्दायने, ताता
 मन्दादीनाञ्च भोक्तेषु च वासव्यः स इति तथेति 'गच्छोदय व्रजे' 'प्राप्तो मन्मथन'मित्यादिसामान्योक्त्या-
 क्तव्यते । नन्वयवः कश्चित् पूर्वतन एव, नं विलोचयामसमित्यादिभिरुक्तः प्रार्थनीय इति चेत्, तत्राहुः
 तुमहानिति । पूर्वस्तु महान् सुरत्यादिभ्यः, भवं तु अत्याहुःपरकार्त्वीनात्याहु सुतरामेव महान्, सुविभि-
 वाः नोयमपीत्यर्थेन इत्यादिभिरुक्तः ॥३॥ अथमलोक्तिप्रसाम्यंरूपो स्वाधिकारानुसारेण सापुन्यं वैकुण्ठादिषु
 भविष्यत्तर्कं प्रापितः । अन्येषां तु भगवान् महापुरुषरूपया स्वाधिकारानुसारेण सापुन्यं वैकुण्ठादिषु
 संशोपयोगिदेहं वा दास्यतीत्यभिप्रायेण सापत्यमेतन् स्थितिप्रकारमाहुः महतामिति । यावत् भगवान्
 फलेगुस्तां वयां करिष्यति तावत् कीर्त्यमानः कीर्तनविषयीयवमाण एव मुखाद्यैत्यर्थः । 'महस्ते विष्णो
 तुमति भगवते', 'विना महत्पादरजोमिनेकम्', 'किरातहृणान्त्र', 'देवधिमे श्रियतमः', 'त्वत्पादपोतेन
 महद्भूतेन', 'सद्गुणमो भवा'मित्यादिवाक्यैर्भगवतो दयाभां च मान्यकारणमिति वक्तुमाहुः महतां
 रूपंवेति । एतेन भक्तिमागंश्च त एव निर्वाहका इत्युक्तं भवति । ननु कीर्त्यमानेपि भगवति फलपर्यन्तं
 भवेत् कर्मादिबन्ध दुःखमेवेत्याहंनयाहुः आनन्दसन्दोह इति । भगवत्कृपात्वेन तद्गुणानामपि
 तदभिमतया स्वरूपममानयोग्येमेत्याहुः साधनइत्यायामपि लकीतेनेनानन्द एव भवतीत्यर्थः । अत एव
 भगवत्भगवत्कृपापरसः परीक्षिदेव तदर्थकमेव 'धोत्रमनोमिरामा'दिति विदोषणमुक्तवान् । हि सुको
 यमर्थः । आनन्दे कीर्त्यमाने सुखस्य पुण्यत्वात् ॥४॥ ननु कीर्तनं हि सुखसाधनम्, तत्र महतां रूपया
 यामहा, यथाकथञ्चिदपि कृतं तस्युत्पत्ताधनमिति प्रभेदेत्याहुः महतां रूपंवेति । यथा महतां रूपया
 अर्लीकिकानां भगवत्कृपाभिर्यां सदा कालपरिच्छेदेन कीर्तनं सापत्तिवारकं भवत्यतः आहुर्भवकं
 स्वयं । तत्र दृष्टान्तमाहुः शिष्यभोजनरूपयदिति । शिष्यस्य पदार्थस्य भोजने रुक्षं । तुष्टान्तो
 मिश्रकरावद्योतनाय । शिष्यस्य पदार्थस्य भोजने रुक्षस्य प्रीतिरहितस्यैवेत्यर्थः । यथा रुक्षस्त्रिभ्यः
 रासमिभूतस्य शिष्यं वस्तु न तीत्यते तस्य यथा तत्रसानमिश्रसत्तस्य प्रतिदिने क्षीयमानस्य स तत्रोपार्जनं
 पुष्टिकरम्, तथा व्रतैपि महापुरुषरूपाभावरूपदोषपुण्यानां तादृशतीत्ये रुक्षानां लौकिकानां कीर्त-
 नेन न पुष्टिकरत्वमिति भावः । ननु, शिष्यं भोजनं यत् स च रुक्षः रुक्षमोक्षं च तयोरेव तद-
 युता भावेनैव दुःखनिवृत्त्या सुखप्राप्तेर्जानापरत्येव स्थेयं, किं गुणगतेनेति चेत्, तत्राहुः युजमान इति ।
 यथा गोविन्दस्य गोभोक्तेषुपत्तेर्गुणानां माने द्युतिपुष्ट्या कथने शुकादीनां पूर्वज्ञानवतामिति सुखं तथा
 तेषामेव मास्मिन् स्वात्मविषये मद्गान्मिष्यहानेन जापमानं यत्र न तदोत्तर्यः । अत एव स्वात्तरयेतर-
 पुराणैर्ज्ञातकथनेत्यपरिणीतः, परितोषञ्च श्रीभागवतकथनेनेति दिष्टं । अत एव 'लोकेश्य लोकाजुगातान्
 पर्युष्टं द्विवाधितकाले चरणात्पत्रम्, परत्यरं त्वहजवाइतीतुकोषु विधायित्तिदेवर्षाः' । 'अय इ वाच तव
 मदिमाश्रित, पदपुञ्जित, तव कण्ठगत, भवनाइर्कनात्, वेत्यन्तो भगवताः' । तत्र अथवाः अन्येषां
 अथवाः विपनादिभ्यो वा अन्यत्र देहादीं कुत इत्यर्थः । सार्वभिमतिकलसित् । 'ज्ञाने प्रयासमुद-
 पार्य, निवृत्तार्थं, वेपानितुःसाहा' इत्यादि वाक्यैः श्रीभागवते तथैव निरूपणात् । ननु तस्मिन् शोकमा-
 र्त्तय, तमेव विदित्वातीत्युत्पत्तेर्लयादिभिरुक्तेः अ गतिरिति चेत्, अत्र पदार्थाः, तत्कारणमनकिमुक्त-
 स्थेति वाचयतादितिमतो ज्ञानान्येकान्यस्युत्पत्तिरनु भिरुक्तमेतत्तीत्यादिवाक्यैर्भगवत्प्रेषणात्परिवेषामक-
 मानं एव सतीनीनः । पुत्र्यादिषु प्रायस्कलोक्तिषु नु क्षामावपदवैतानेव, परमानन्दावाहितु अ-
 पर्येव । सद्गुणस्य दुःखभावेत्येवत्येव एव । अनर्थापेक्षामिति वाचयान् । अत एवाकारितामन्द-
 याधिकरणे म्पुं सतीत्यारभ्य न्वीत्यनेन परये अकथयतामन् तदकारितोप्यतास्यत्या सुखोत्तममादि-
 र्भवेतिनि निर्णीयत इत्यभिप्रायि ॥ ६ ॥ ननु गुणगतेन इत्येति किं भवतीत्याहत्या तत्र प्रकृत्यर्थं
 परिचायकं फलमाहुः द्विदयमानामिति । गुणगतेन तास्वरूपस्युत्वा तत्राहपर्यं क्लिष्टमानान्

उपलपतो जनान् दृष्ट्वा यदा कृपायुक्तो भवेत् तदा सर्वं सर्वात्मकं सदानन्दं परं यदा हृदिस्य परमव्योक्तिं प्रादुर्भूतं बहिः प्रकटं भवतीत्यर्थः । अत एव व्रजसीमन्तिनीनां गुणगानेन हृदि प्रादुर्भूतं तन्मनस्का इत्यादिना तथाभावसम्पत्तौ कृपया भगवान् प्रादुर्भूतं प्रादुष्यते । तद्वैभोक्तमाचार्यं 'वहिः साधनसम्पत्त्या इति स्तुष्यति करवत्पितृ, भक्त्या दैन्यमेवैकं इति तोषणसाधन'मिति । यद्वा, सदानन्दस्य भगवतो हृदिस्य भूमिप्रायादिकं बहिर्निर्गतं भवतीत्यर्थः । अत्रापममित्यर्थः । 'हस्तु सुखर राज' इत्यादिना तादृशभावे यदा कृपायुक्तो जातस्तदा भगवतोमिप्रायं प्रादुर्भूतं मया परोक्षं भगता, न पारोक्षं निरवधसयुजामित्यादिभावनिर्भाषित इति तद्येन्यर्थः ॥ ७ ॥ ननु किमिति कृपापेक्षया गुणगानेन क्लेशसम्पादनीयं, ज्ञानविशेषा ब्रह्मानन्द एव सम्पाद्यतामिति चेत्, तद्वाद्वा 'सर्वानन्दमयस्यापीति' । एतद्वैवानन्दस्यान्वालि भूतानीति श्रुते सर्वत्र स्थितो च आनन्दः स भगवति प्रादुर्भूतवन्त इति तदाभितस्य मानुषानन्दमारण्यं ब्रह्मानन्दो न कस्यापि दुर्लभत्वम्, 'सर्वं ब्रह्मैकियोगेनेति वाक्यात्, तथापि कृपानन्दं कृपाकरो य आनन्दः स भगवद्वर्त्मनां स्वरूपसमानयोगक्षेमात्वात् कृपया प्रायो भजनानन्दास्य स तु सुतरां दुर्लभ एव । ब्रह्मानन्दस्यापि दुर्लभात्वात् । सम्भवति साधनमिह विधिदिति चेत् ? गुणगानमेवेति पृष्टाण । अत एवोक्तमाचार्यं 'लौकिकेक्षीषु सतिह तद्वा रा सुरपे भवेत् । स्वानन्दसाधनार्थं हि योग्यतापि निरूपिता । अतो हि भजनानन्दं क्षीषु सम्पन्नं विचार्यत' इति । एतदर्थंस्तु प्रमुखापेक्षेयं विकृतं । 'भजनानन्दस्य स्वरूपामकरत्वेन रसरूपत्वात् तस्य च स्वदास्यसिद्धयैव तपात्वाद् भगवदतिरिक्तलोकै विवाहयत्तु सुखदसिद्धौ भवति । तत् एतत्कथाभवेनेन तद्वायोदये पुरुषेपि स रसो भवेत्, मान्यमेति क्षीण्येव तत्रमिस्यर्थः इति । तथैव द्वितीयकारिकायै निरूपणे यद्वा, बलदेवे स्वधर्मत्वं निरूपयता भगवता 'गोप्येन्द्रेण पुनर्वोरवि परावृष्टा भी रिति वाक्ये भिवीति पृष्टानिरूपणेन तस्या अपि दुर्लभो यो रसः स प्राप्य गोप्यो धन्या इति वज्रक्षीण्येव स्वानन्दानुभवयोग्यता निरूपिता, मान्येपु गान्यानु पेत्यर्थः । तथा च तद्वैभोक्तमिति कारिकायात् सचेति भाव इत्येतत्सर्वं हृदिस्यलोकं कृपानन्दं सुदुर्लभं इति । 'नाय गुणाव' 'नेम पितृषु' 'एता पर' 'केना क्षिय, नाय धिय' 'भासागदो' इत्यादिवाक्ये भीमागवतेपि तस्य तथाप्यनिरूपणात् । कृपानन्दस्य दुर्लभत्वबोधकं तत्कार्यमाहुः 'इत' इति । इत इत्यपमविति स्वगुणान् श्रुत्या पूर्वं गुणगानेन प्रतिक्षणं कथंमानं, जनान् प्रापयते रतस्मिन्भी निमज्जयतीत्यर्थः । अत एव 'बह्वीपीदे'ति पद्ये स्वामिनीनां सुपादारा भावनात्मकं, प्रयुक्तं प्रविष्टो 'ब्रह्मवता'मित्यादिमिच्छावर्णितगुणभवेनेन पूर्वं भीडामयतामेव सम्पादितवात् । अत एवोक्तं भीमादाचार्यैर्गुणगीते 'अन्तः प्रविष्टो भगवान् सुखसुदुःखं कर्णयो, पुनः भवेदवते सम्पन्नं तदा भवति सुस्थिर' इति । एतद्विरागे पयार्थसंशयास्तानिरुक्तं इति सर्वमनपयम् ॥ ८ ॥ एव सोपपत्तिकं गुणगानं तादृकरूपम् निरूप्य कतम्यत्वेन तदुपसहरमित 'तस्या'दिति । यस्यात्सर्वज्ञानोपासनादिमार्गतो यथिमार्गो निरतिशयितमिन्द्रियेषु 'निष्कर्म्यमपि पूजादिभा ब्रह्मलोक'मित्यादिवाक्यात् तस्यादेतो सर्वं कर्मज्ञानोपासनादिकं परित्यज्य तत्प्राप्त्यै तत्तत्वा निरुद्धैर्भगवता स्वीयत्वेन कृतिरत एव किमिदंस्त्वत्प्रपञ्चसर्वं साधनानि विदधदित्युगा एव सर्वदा सर्वदेहातारस्त्यक्तव्यायेन योया इत्यर्थः । ननु वेदान्तार्थानुसारेणेति वाच्यत्वं तन्मार्गस्य क्यालयात्निर्वैदु विचारत्वात् केवलं स्वगुणान् गायेदिति तद्वापामाहुः सदानन्दं परैरिति । सदानन्दं, आनन्दमप्य परं परमात्मा परमकहापद्यो न तु पुण्यादि चेत् तादृशोऽस्यर्थः । विषया विदितोपमेतत् । अनेन ब्रह्मवादे स्थित्या गुणगानं कर्तव्यमित्युक्तं भवति । तत्र सेष्य एव गुणेषु जीवस्य सच्चिदानन्दता गुणप्रयापिमोक्षणं अक्षररूपतया पुदरोत्तमाक्षरैर्भगवता मन्वीकार्यः । अत इति वादे गुणगाने कियमाये स्वत एव परगुण्वात्तात्प्राप्तयात्वात्, न तु तद्वैभं मन्वात्तरायेनेति तद्येस्य ॥ ९ ॥ एव गुणगानकर्तव्यतामविषया निरोधकज्ञातीत्यर्थेव तपिदिति स्वतः स्वीयार्थेनेव निरोधयितुमित्यर्थः इति च इत तस्य चकारमिच्छातिताज्ञानात् इत्यस्य निरूपयन्तस्तत्र स्वानुभवं प्रमाणमिति, अहं निन्दत् इति । अहं निरोधेन स्वरूपं एतदि आहृणोति तादृगेन गुणेन

तद्येत्थं । अथमर्थः । गुणाविष्टविधाना सर्वत्र संसारेण अहन्तात्मनारूपेण अभिरूपितप्रतिपत्तदमा-
 धान्या य क्लेश यत्र सत्ताराभावेन भगवत्यपि तदभावेन भवति सोपि तद्येत्थं । भगवद्विषयकसंज्ञा
 रस्य सत्तामन्वपेक्षणीयत्वात् । अत एव 'कुर्वन्ति गोवत्सपद्' मित्यत्रास्य गोवत्सपदमात्रकारणेन्या
 अहमेतदसोऽय मम स्वामीत्येतावान् सत्तार स्थापितो भवतीति निरूपितमाचार्यैः । स च क्लेश
 'क्लेशोधिकतरस्तेषा' मित्यादिना भगवता मीतावामेव वर्णित ॥ १३ ॥ ननु गुणाविष्टचित्तव्यप्येष्ट
 निवृत्तिरेव किमित्यापापायान्नाहु 'हरिष सुख'मिति । हरे सर्वेषु सदसुर्भगवतो यथा सर्वदेव भक्तसाहि
 त्येन सुख पूर्णानन्दत्वाद्भगवत्तत्त्वा गुणाविष्टचित्तव्येष्टतत्त्वादिभिर्भावान्भगवत्साहित्येन तथैव सुखमित्यर्थः ।
 'सदा सत्सगुणतानामवस्थेन यदा भवेत् । तदा यथासुता दैव्यदर्शनात् हरेर्भवे' दिव्याभावेनाहु तदा
 भवेद् यथासुखमिति । अन्येति । एव भावाभावे भगवतोपि कूरता अन्कृपासुता अन्वेषकत्वेन
 मत्ताम्यक सम्मतेत्यर्थः । अत एव नैवगमन इति श्लोके भगवत धाम्नन प्रमोर्जिजलाभपूर्णस्य अति
 इज्जनेषुकृतोऽपराप्रदोतु करुणया किङ्करितेनेदितानुग्राहकत्वगुण्यत्वे श्रीभागवते । सा च पूर्वोक्तभावे
 नैव भवतीति सर्वमनवद्यम् । ननु कालकर्मात्मभावादिभिर्गुणानाशयैद्योद्भवादिदोषसम्भवे कथं गुण
 गाननिर्वोह इति चेत्, तत्राहु यथाशुद्धाणि नास्त्येति । अत्र गुणानि कालादिबाधशुद्धि न, यतो
 भगवत्तैवोक्त श्रीभागवते 'न कर्हिचिन्मपरा शान्तरूपे नहुन्मिति नो निमित्तो हेति हेति'रिति । निःप्र
 नात्र भगवतापि बाध कर्तुं शक्य, तत्र के वराका कालादय इत्यथ । अत एवोक्तमाचार्यैर्हरिहर न
 शक्नोति कर्तुं बाधा कृतोपर' इति । ननु सर्वकृतिसमर्थस्य भगवत कथमेतद्बाधबाधकृत्यसमर्थस्य
 मिति चेत् सत्यत्, परन्तु सर्वत्र यतीति श्रुत्या सर्वव्यप्यत्वं भगवतो भवतामवस्थेन सर्वसमर्थस्य अत्र
 भावबाधासमर्थमिति भावः । एवमनिष्टनिवृत्तिगुणत्वा इष्टमात्रिणाहु तदध्यासोपि सिध्यतीति ।
 गुणगानेन तस्य भगवत अध्यास सर्वत्राध्यास सौम्यव्याप्तकलतया सम्बन्ध सिद्धिरप्यो भवतीत्यर्थः ।
 अध्यासपद घटादिषु तदवभासका भावप्राप्तिसुख्येन वस्तुत आसक्तिभ्रमवोपनाय । अध्यास घटादे
 पुरयोक्तमात्रित्वत्वात् स्यात्, नदि घटादि साक्षात्तदमिष, चिन्तु परम्परया । तस्यासत्तामत्तया तद्गुण
 सत्तायात्, अन्वया तावद्दर्शनसिद्धित्वत्वे त्वन्वयमिदंभवात् । नन्वन्वय एव प्रकृत्या सविदानन्दादय
 स्तेषामिति चेत्, अक्षरगतानामेव तेषा तद्वृत्ततया व्यपदिश्यमानत्वात् । अन्यथा बर्हापीडत्वादयोपि व्यप
 दिश्येरन् । १ च इष्टापथि । तदसाधारण्यधर्मोक्तमन्वय कथनत्वानुपितत्वात् । चिद्, सर्वेषा धर्मोणां
 साधारण्ये तद्गुणसाधारण्यधर्मभावे लक्षणाभावात्निरूप्यत्वं श्रीवराहसहस्रभजनोपपन्न स्यात् ।
 तस्यादभेदसाधारण्यधर्मोक्तमन्वय तद्व्यप्येत्तदस एव, न पुरयोक्तमन्वयधर्मोपधीति सुखास्य । नन्वे
 श्वर्यादयो व्यपदिष्टा एव, किं न तै पुरयोक्तमन्वय इति चेत्, सत्सगु, तदानी एव, परत्सहस्रस्य चरण
 रूपत्वेन तद्विषयतया तेषा तत्र सदात्वात् । यतो ज्ञासाद्विषयि तद्विषयतया तदान, सुख भूयै स्वेतिनि
 वाचयात् । एव सति 'इक्षम पुरस्फुल्लव्य' 'भेदव्यपदेशात्'त्यादिसृष्टित्त्वधर्मोक्ततया अक्षरभेद
 पुरयोक्तमभेद इति भेदाभेदाद्योक्तमन्वयमिति दिक् ॥ १४ ॥ ननु वराहस्य गुणगानाज्ञेन तदभावे
 अहङ्गीनत्वेन न सत्सगुणमित्याशाहु तदन्वयेनैव भवतीति साधनतायादककल्पमुक्त्वात्तद्गुण भगवत्स
 र्मसात्म्यार्थापिति । भगवत्सर्वं गुणगत सत्तामन्वयैद्गुणज्ञाने च किञ्चे अगच्छन्निश्चिन्तये विरागो
 रागाभाव स्थिर, अन्यापरिमाग्यो प्रकृतीत्यर्थः । 'सा अर्थानस्य विद्वत्ताना विरक्तिमन्वय
 करोति पुत' इति वाचयात् । यद्वा, भगवत्सर्वं भगवतीत्यादय, सत्तामन्वयैद्व तत्त्वभावादेव निरक्तो
 भवतीत्यर्थः । अत एवोक्तमित्य भूतगुणो हरेरिति ॥ १५ ॥ एव सोपपत्तिक गुणगानकर्मव्यताममि
 धाय तदुपसहस्रमि एव ज्ञातेति । एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण ज्ञानमागोत् गुणयर्थेने वत्कर्मज्ञाया
 सर्वोपेशो परित्यज्य तदा कालाभ्यवधानेन शुद्धा एव चर्मेनीया । अत्र बाधकत्वं त्यागार्थमाहु ।
 अत्रत्यरैरनुपधिर्नि । अत्रत्यरैर्नोपयोरस्यत्त्वत्वात्त्यागत्वात्, निर्मत्तारानां सत्तामिति वा-
 चयात् ॥ १६ ॥ ननु गुणगान रागादनादिप्रतीकृतचित्तपर कार्य इत्याशय्य तापक्षेत्रीगुणगानस्य

पूर्वोक्तगुण्यतिरोधाधिवाररूपत्वात् तदनुगम्य भगवत्परमपूज्यगमात्मनेन साधनमाहुः हरिमूर्तिः
सदा ध्येयेति । एष ह्येते तदेककारणस्य अभ्यासप्रवृत्तलक्षणात्सौम्यस्य सर्वथा । न साधनस्य मत्तेश्वरमेव
रक्षार्थं भगवत्प्राप्तयेनैवतीति ज्ञानमिदं हरिरिति । यत्तु सोम इव हरिपत्तमूर्तिरपासनावाप्तियुक्तं तद्वारित-
प्यन्यनियमितोपयुक्तमूर्तिर्गता इव श्लेषधाममूर्तेर्व्योममिदं विधिव्यसिद्धात्तद्व्याहृतः हरिमूर्ति-
रिति । भगवत्प्राप्तिस्यैव रूपस्यैव ध्यात्तम्, न तदवधानमूलकेश्लेषः । ध्येयेति विध्यर्थेन कृतप्रमाणेन भाव
इत्यत्र सौम्यात् । यत्तु ध्यात्तपूर्वकगुण्यगमात्मनेन वि भगवतीत्याहुः साधनमाहुः सद्गुण्यत्वात् ।
सद्गुण्यत्वात्साधनमाहुः इति तत्र भगवत्प्राप्तौ साधनमाहुः भगवती मूर्तिर्गता इत्यत्र साधनमाहुः ।
गमा इतिः पदाश्लेषेणान्तर्यामि, इतिः विलक्षणम्, नृणां च भगवत्पूर्वकसाधनगुण्यगमात् तिरोधा-
नमवस्थारूपे स्थलमवाप्ति भुक्तौ भवतीत्यर्थः । तिरोधोपयोविराट्प्रमाणान्तराभ्यामाहुः, अथवा धर्तृ-
मितिः । अथवा धीभगवत्प्राप्तौ, धीतेन, नतद्व्यवसि रूपेण, साधोपयवगृह्यात् कर्त्तव्यम् । अथवा
अथवा धीर्नने अतस्भावतद्विपरीतभावेन स्यात्तम्, तथा च भगवते स्यादिति भावः । भोक्तृत्वापेक्षे
धर्तृतेन, तद्विषयेषु सामगिति तयोर्विवेकः । त्रिंशत्तु कृष्णमित्रेण कृष्णस्य मित्रः कृष्णः मित्रे वा न सत्य
तथाभूते इतिः कर्त्तव्यम् । पुत्रे कृष्णमित्र इति अत्रासेन कृष्णमित्रेणैव इति कर्त्तव्यं, न पुत्रत्वेनेति
यापः कृष्णम् । भागः परं साधनमाहुः तदवगन्ति रूपवन्तः साधनपरिवर्तमाना इति कर्त्तव्यं । अथवा
यादुर्गतिः । सपरिकरेण गुण्यगमात् प्रवृत्ते भगवति तत्परणमपरसद्गुण्यत्वाद् स्वधिवरः प्रसिद्धान् साधन-
गमात्साधन शोषणयोग्य शोषयित्वा तदयोः स्वदेशेनेति श्लेषः सः । शोषणमात्रेण च भगवत्प्राप्तौ
सम्भवती साधनः त तयेत् प्रादुर्भात् । तथा सा हि अत्रिभवेन साधि अर्लीप्रित्तवत्तत्तत्त्वा पुत्रयोःसाधन-
पुत्रयोःसत्ता भवतीत्यर्थः । अनेनेतद्विदित्ताधिवरव परिष्कृत्ये न निर्वर्त इत्युक्तम् । पुत्रात्साधन-
मार्तिवृत्तेन न त्वत्ते शिक्षायापि, तदा सति सामर्थ्ये तस्य विज्ञेन अत्रादिवगृह्याति तिम्रः
कर्त्तव्य इत्यर्थः । अथवा सा हि सामर्थ्ये तद्विमिदो 'अर्लीप्रित्तवत्तत्तत्त्वा पुत्रयोःसाधन-
कृष्णमित्रे इतिरित्यनेन तिरोधापरोरित्यत् आहुः इति तिम्रः । सा हि सामर्थ्ये तिम्र एव कर्त्तव्य इति
भावः । इदमुक्तं भवति । कृष्णमित्रेणैव रतिरवद्यमभुक्तवैवरये औदार्येण मार्तिवृत्ते सति सम्भवे
त्यागस्य सेवाप्रतिफलता तिम्रः, अतस्त्वं तु स्वाम कृत्वा भाग्यरभित्तार्थं सर्वेषु इति ॥ १० ॥
॥ १८ ॥ १९ ॥ अत परं साधनरूप निरूपणस्य साधनसत्त्वज्ञानमयोपपत्त्यर्थं वदन्तः मे ।



लासुभद्रकृत 'निर्णयार्णवा'न्तर्गतैतद्ग्रन्थसंक्षयनिरासः ।

संसारानेषाद्युष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै । कृष्णस्य सर्ववस्तुनि भूय ईशस्य योजये'दिति । कृष्णस्य सर्ववस्तुनि कृष्णस्यैव निरूपयसादीनि विषयरूपाणि इन्द्रियाणां हिताय योजयेत् । भगवद्भाष्ये चक्षुरादीनां विनियोगं कार्यो, न त्वन्यथेति कृतितोऽर्थः । ननु जीवानां नानादेशास्थानां भगवद्भाष्यादिदोषं न्यायकस्य विनियोगं स्वादिखायाङ्गाद् भूय इति । व्यापकत्वेत्यर्थः । ननु व्यापकत्वेति तिरोहितत्वादीर्षं च दुर्निवारमित्यायाङ्गाद् 'ईशस्ये'ति । सर्वत्र सर्वरूपेण सर्वकरणसमर्थत्वेत्यर्थः । एव सति सत्त्वादिरूपेण प्रकटल साक्षाद्भगवत्प्राप्तं चक्षुरादिविनियोगस्य शौक्यमिति हतापेता सिद्धेति सामर्थ्यसूचकमीशपदम् ।

अथैव—हरिस्त्विति सदा भ्येयेत्यादि । भ्येयेति । अनेनाऽन्त करणस्य भगवत्पुनःपयोग क्त । दर्शनं स्वर्गमिति चक्षुस्त्वथो । तथा कृतिसमी इति करपादयो । अथवा कीर्तनं स्वर्गमिति धीनवाचो । पुनरे कृष्णप्रिये रतिरिति । कृष्ण प्रियो वस्तु कृष्णस्य प्रिय इति वा विप्रहेण भगवद्भक्त इत्यर्थः । कृष्ण प्रिये पुनरे इत्यत्र 'निमित्ताकर्मेयोग' इति सूत्रेण सप्तमी । रतिरिति कर्मपदम् । अथाहुतेन कर्मस्येति पक्षेण कर्मणोऽभिधानाद्भिहिते रतिरूपे कर्मणि प्रथमा । प्रथमागतेन कर्मवाचकरतिपदेन योगात्पुनरे कृष्णप्रिये इत्यत्र निमित्तमसप्तमी । तथाच कृष्णप्रियपुत्रार्थं रति कर्मस्येत्यर्थो भवति । अनेन स्वभावेन्द्रियस्य परम्परया भगवत्तत्त्वोपयोगो निरूपितः । भगवद्भक्तं पुत्रं जगत्पत्य इति श्रुत्या भोगं कार्यो, न त्वन्यथेति भावः । पुत्रपदेन स्वभावेवामेव जगत्तत्त्व भोगं कार्यो, न स्वात्प्रत्ययेनेत्युक्तम् । पाप्योरिति । तद्वारा भलाशयानो देहं शुक्यो भगवत्त्वेनवापुपयोदपत्य इति पापो परम्परवोपयोगो वेद्यः । यस्य वेति । अन्त करणवद्दि करणानां भ्येये यस्य चक्षुरादेर्देवदा यस्मिन् समये भगवत्कार्यविनि-योगो न दृश्यते, तथा, तस्मिन् समये तस्य विनिग्रहं कर्तव्यो, न तु भगवदितारपदार्थं विनियोग इत्यर्थः । वेचिदय 'यस्य वा भगवत्कार्यं मिलनेन व्यवयैन्द्रियनाशस्य निग्रहं त्रय' इत्याहुः । तत्र । यस्य यदा तस्य तदेत्युक्तयोर्वैकल्यद्वयोर्वैकल्योपपत्ते । अतः साक्षात्परम्परया वा तथावकथञ्चिदपि भगवत्विनियोगं स्वात्प्रत्ययेन्द्रियाणि विनियोजयितव्यान्वयथा नु सर्वत्रैन्द्रियकरणस्य निग्रहं कार्ये इत्येतां चार्थवर्षाणामाशयो, न तु वेचल व्यवयैन्द्रियमन्वयिद्ये तात्पर्यमिति ज्ञातव्यम् ।

ननु तिरोधत्क्षणग्रन्थे 'यद्यं तु स यतोदाया' इत्यादिना धीमदाचार्यवर्षेभगवद्विरहादिनाम विक्रमु खादि स्वयं याचितमेतावता तिरोधस्य चि कृष्ण सिद्धमिति चेत् । श्रुतं । भगवद्विरहे तु सह दुःखं भगवत्प्रयोगे परमात्मादभेदादि कार्यं तिरोधजन्यमेव । यतो निरुदायानेव भगवद्विरहे दुःखं भूयते । सयोगे महात्मानन्दम् । 'योदीनां परमानन्दं भासीद्वेतिन्दुर्दशंते । क्षणं पुनरागतं यानां येन विनाऽभव'दिति वाक्यात् । एव सति तादात्म्यं स्वादेतिरोधकार्यत्वाकार्येण क्षणमयं सुखमाध्यमित्यां कल्प । भगवद्विरहात्माधिकपरमदुःखग्रन्थस्य तिरोधस्य यत्प्रकारयोगात्माधिकपरमानन्दस्यैवकार्यं तिरोधावमित्यादिरुक्षणानि तिरोधस्य क्षिप्यन्ति । तिरोधस्य निबन्धपशुबोधिभ्योर्बुद्ध्या निरूपितस्य परम्परविरहत्तया प्रतीयमानलक्षणस्य सम्पन्नविरोधप्रकारो भवा सुबोधिगीयोजनार्थं विद्युत् इति विरोध विज्ञानार्थो ततोऽर्थेपदम् ।

घषदवाच्य । स च प्रपञ्चप्रतिषेधिविधिः । एव च सुबोधिन्युक्तया टिप्पणीव्युत्पादितया पूर्वोत्तरस्कन्धा-
 सङ्गत्या नवमदशमार्थसङ्गतिविचारे भक्तानां प्रपञ्चप्रलययोः निरोध इत्यायाति । अत एव द्वितीयस्कन्ध-
 सुबोधिन्यां 'भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोध' इत्युक्तेऽपि सुबोधिन्याम् । अतो 'निरोधो भक्तानां प्र-
 पञ्चलेति निरोध' इत्यभाणि । तथा च भक्तानां प्रपञ्चस्य प्रलयनिरोधान् नित्यलीलापथिकवेदावकलको
 जाळ्यात्मकप्रपञ्चभावोत्पत्ति इति यावत् । तदुक्तं सुबोधिन्या 'अतो निरोधो भक्तानां प्रपञ्चलेति निरोध'
 इति । सुतोऽकलक्षणेषु निरोधरूपानि सख्या पदिता, सख्या च 'वैमिथिक प्राकृतिको नित्य भासन्तिको
 लय । 'सत्येति कविभिः प्रोक्तमनुदास्य स्वभावत' इत्यनेन प्रलयरूपा व्याख्याता । अतो निरोध-
 सन्धेन प्रलय उच्यते, 'निरोधोऽस्तुसायन'मित्यस्य सुबोधिन्यामपि शशी सापयिष्या तन्नोमार्थं
 भगवतः सायनमिति व्याख्यातम् । तत्रापि शक्तिशयनाभ्यन्तर शयनकथनेन प्रलय उक्तः । अतो भक्त-
 प्रपञ्चसम्पादिका शशी स्वस्वरूपे तिरोहिता इत्या तिष्ठति, ततो भक्तान् प्रति प्रपञ्चनिरोधमिति, अतो
 भक्तानां प्रपञ्चनिवृत्तिरिति सिध्यति । एतद्विसन्धाधिकमत्र 'गुण सर्वगतो तिष्णु प्रकटयेन्न तद्विरोध',
 चाप्यत्र लीयते सर्वमिति इत्यसमुच्चय' इति । इदमत्र श्रेयम् । स्वच्छन्दलीलाभिर्मंगवाचिरोध्य भक्तानां
 देहादितकलमपये स्वानन्द प्रवेशयन् तिरोहितानन्दमयाभिर्भावयति, ततो भगवदानन्दानुभवयो
 ग्यार्हातिरुद्धेहावमासी जाळ्यादिरूपपूर्वप्रपञ्चभावो लीयते, अयमेव प्रलयपदार्थः । अतो भक्तानां
 प्रपञ्चप्रलयो निरोध इति कल्पति स्म । तथा च प्रपञ्चे शक्तिभिर्मंगवाचिरोधन भक्तानां प्रपञ्चतिष्ठति-
 र्दिका भगवदात्मिकभक्तानां प्रपञ्चाभावश्चेति त्रय निरोधपदवाच्यम् । तत्र भगवत्कीदृशेन करण, भगव
 दात्मविश्वोपार, भक्तानां प्रपञ्चाभावः फलमिति त्रितयरूपे निरोधः स्कन्धाथः । एवमप्येव सिद्धम् ।
 भगवाननेकशक्तिभिः कलरूपनिरोधात्मिका कीदां कुर्वन् प्रपञ्चतिष्ठतिपूर्वकात्मिकरूपनिरोधात्मक
 व्यापारेण प्रपञ्चाभावरूपरसात्मकनिरोधः सेतुकानां स्यादपतीति त्रितयि निरोधपदव्यपहार सुबोधि-
 नीमिथ्यादिपूपलभ्यत इति सर्वमनुदुष्टम् । शिष्ट, 'लौकिकेषु तु भावेषु पदैव द्विविधान । निवर्तते तदे-
 वात्र चहेदीदमथ पदे'ति कारिकायाः फलात्मको निरोधः यथा । तथाहि, लौकिकेषु भावेषु पदार्थेषु
 यत्र यत्र भगवान् प्रविशति, तत्र तत्र विद्वानन्दयोरित्तरोमूलयोरविभाषाचक्षदेव पूर्वस्थितस्वरूप तिरो
 हितानन्दक निवर्तते, प्रपञ्चात्मक भवति, प्रकटसच्चिदानन्दक भवतीति यावत्, तत्र इहान्त, चहेदि-
 त्यादि । चक्षिप्रवेशे दारुणां चक्षिरूपता तद्विरत्यर्थः । एव भक्तानां प्रपञ्चप्रलयो बोध्यः । अन्यथा,
 चक्षिःशयनान्तरपरपञ्चकच्छे अनुपपन्नानन्दे गोप्योर्षोषि विपक्षित, तदनुसारेण स्कन्धारम्भे स्कन्धा
 र्थरूप भगवन्तः त्रयशक्तिः श्रीमदाचार्यचरितेर्लीलाश्रीरतिपरात्मिनः उद्गीतसङ्गतीलाभिः सेष्यमान
 कठानिधिमिथुक्तया रहस्यलीलायां निरोधपदवाच्यत्वं सूचितम् । तदनुसारेण प्रमुक्तलीलादिपञ्चार्थं 'अनु-
 सत्यते अनेने विकरणमुत्पत्ति प्रदस्ये मिगुनुभाषकरण येन स निरोध इत्युक्तया स्वकीयेषु स्वविचर-
 माचोत्पादन यथा लीलायाः कियते, सा निरोधपदवाच्योत्पत्तिकर्तृश्रीलीलायाः स्कन्धाव्यता प्रतिपादितेति
 सिद्धिर्द्विभाषनीयम् । एवम, धीजुकोक्तिमुबोधिन्यीत्यप्यजोपु सर्वत्रानिरोध इत्येकं पृथगावयवपदानां
 पाजुनेवति स्म । तथा सर्वत्र सिद्धम् । देहादेः विद्वानन्दयोः प्राकट्येन जाळ्यादिप्रपञ्चभावप्रलय एव-
 क्तो निरोधः सिद्धः । तस्मिन् शक्ति प्रपञ्चे विद्यमानानामपि भक्तानां कृष्णानन्दानुभवयोग्यदेहस्य
 तिष्ठति । इत्येव भगुनाहते 'मयातु तव शक्तिश्चीतनुनवचमेतावते' इत्येन मार्षित, ततो नित्यलीला-
 प्रवेशः स मुक्तिपदवाच्यः, निरोधलीलायां भक्तानां साधारणमापाजुनादित्तयेति लीलात्मकमनिस्या
 मकावताहमापाजुनावयवत्वेन लौकिकतादृश्यव्यवहाराः पुराणादी, तेषां अन्तःप्रयोगमापाजुनादिपु
 निष्कलीनावयवैराहता मुक्ति, अतो मुक्तिर्लीलायां मुक्तिर्गुणव्यतिरिक्तः । 'मुक्तिर्दिव्यस्वरूप' इति
 वाचयन् । तदुक्तं 'व्याख्यातव्याख्यातम् ।

सेवाफलम्

सविस्तरम्

षतुवंशटीकाभिस्समलंकृतम्

- | | |
|-------------------------|--------------------------|
| १. श्रीकल्याणारायाणाम् | ८. श्रीलालूभट्टाणाम् |
| २. अथा श्रीगोपेशानाम् | ९. श्रीजयगोपालभट्टाणाम् |
| ३. श्रीविश्वकीर्तनानाम् | १०. श्रीलक्ष्मणभट्टाणाम् |
| ४. श्रीहरिरायाणाम् | ११. श्रीमोदुलनाथानाम् |
| ५. श्रीवल्लभानाम् | १२. केवाञ्चित् |
| ६. श्रीपुरुषोत्तमानाम् | १३. केवाञ्चित् |
| ७. श्रीशरकेजानाम् | १४. श्रीजगन्मूषणानाम् |

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-अंशावतंस-गोस्वामिभ्यो-१००८
श्रीगोविन्दराय-महाराजभ्योऽप्येतैः-प्रकाशितम्

श्रीवल्लभाष्टक : ५०३

प्रकाशक :

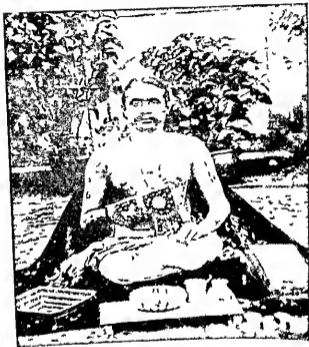
गोस्वामिथी १००८ श्रीगोविन्दरायजी महाराज
गोविन्दनिकेतन, भाटिया बाजार,
पोरबन्दर, गुजरात, ३६०५७५, भारत.

साधारणसंस्करण २००० प्रति
राजसंस्करण १००० प्रति
धीवस्तभान्द : ५०३

ग्रन्थपरिचयलेखक : गोस्वामी इषाम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी, बम्बई, ४०० ००७.



गोस्वामित्री १००८ श्रीजीवनलाएजी महाराज



गोस्वामिथ्री १००८ श्रीरणछोडलज्जी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणरुमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

फल और उसके विवरण की रचना श्रीमहाप्रभुने आगरामे विष्णुदास छोपाके लिए केवदन्तीके अनुसार इसका रचनाकाल वि. स. १५८२ माना जाता है. 'वातमि एक उल्लेख यो मिलता है :

आगरेके पासके गाममे एक छोपाके घरमें प्रकटे. सो बडे भये, बीत वर्पके, तब ते. सो पिता वरुण छाप देय विष्णुदास आगरेमे जाई बेन लाबे. सो ऐसे करत एक आनार्यजी आगरे पपाटे. सो विष्णुदास गुन्दर छोटके पाल ले आगरे गये तब श्रीआचार्यजीने कृष्णदासमे कही—'यह छोपाके पास छोट भाछो है सो तू ले. जो माये सो दे.' तब कृष्णदासने विष्णुदाससे कही—'यह छोटके पाल सगरे हमको दे. याके दाम है सो तू ले.' सो विष्णुदासने श्रीगुनी मोल कहायो. सो कृष्णदासने सगरे र्वैया गिन दिये. और कहे—'और भाछे पाल होई सो ले जाऊ !'

तब विष्णुदास चक्रा होई रहे जो ए तो बडे महापुरुष लौकिक जीव हैं ! जो मोल न कियो, सगरे पाल लिये, ताके दाम दिये ! सो इनको छोट देगी उचित नहीं है. इनकी पैसा मेरे घर भायेगो तो सगरे घर बेरागी होई जायेगो ! तब विष्णुदासने कही—'ये सगरे अपने र्वैया लेऊ. मेरे छोटके पाल केरि देऊ' तब कृष्णदासने कही—'तू बडो मूरख बीसत है ! ते मोल कहायो सो दान दिये अब यह पाल कबहू किरै नाही. तेरे दोटा होई सो और हू र्वैया ले. श्रीगुने तो दाम लिये !'

तब विष्णुदासने कही—'तुम महापुरुष हो ततो तिवारी द्रव्य घरमे आये सगरो घर बेरागी होईयो माते मं तुमको नाही संवत. जो पाल न देहू तो यह र्वैया हू राखी. और पाल हू राखी. परन्तु र्वैया तिवारी मोको पचे नाही' तब कृष्णदासने कही—'यह पालकी श्रीआचार्यजीने श्रीगुलसो सराहना करिके कही—'लेऊ.' सो तू कोटीन उपाय करे तो यह पाल किरै नाही और श्रीआचार्यजी बिना सेवक मोरको कछु लेत नाही...' तब विष्णुदासने कही—'श्रीआचार्यजी कहा है ?'

उपनिषद्में ठीक ही तो कहा है कि परमात्मा न तो प्रवचनसे मिलता है, न मेघामे ओर न बहुभूततासे ही ! परमात्मा कहा है ? किये मिलता है ? उत्तर: परमात्मा किये कोन रहा हो वही परमात्माकी खोज पाता है ! परमात्मा जिससे मिलना चाहता है वही परमात्माने मिल पाता है—'ममेवंप वृणुते तेन लभ्य.' (कठ. १-२-२३).

भारतवर्षकी तीन-तीन परिष्कारात्मके श्रीमहाप्रभु इन्हो विष्णुदासको तो खोज रहे थे तभी तो विष्णुदास भी पूछ सके— “श्रीआचार्यजी कहा है ?”

निरोधलक्षण ग्रन्थमे कहा गया है कि भक्तोंके बीच भगवान्का इस भूतलपर प्रकट होना कारणनिरोध है प्रपञ्चको भूल कर भक्तोंका भगवान्मे आसक्त हो जाना व्यापार-निरोध है इस प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासविके व्यापारद्वारा भक्तके देह-इन्द्रिय-अन्त करण-प्राण आत्मा सभीसे सर्वत्र-सर्वदा भगवान्के स्वरूप या लीला का निरन्तर अनुभव होना (मानसी सेवा) फलनिरोध है तदनुसार विष्णुदासकी छोटपर श्रीमहाप्रभुका रीझना कारण-निरोध या विष्णुदासका— “श्रीआचार्यजी कहा है ?” पूछना व्यापारनिरोध या ओर सेवाके बिना ही विष्णुदासको इस ‘सेवाफल’ का दान फलनिरोध था । “यमेवंप वृणुते तेन लभ्य सस्यैव आत्मा विवृणुते तन् स्वाम् ।”

जीवात्माका बरण कारणनिरोध है और परमात्माद्वारा निजरूपका विवरण फलनिरोध है

वास्तवमें जाता है कि “तब श्रीआचार्यजी श्रीपद्मनाभजीके तीर पधारी विष्णुदासको न्हवार नाम सुनाये ब्रह्मसम्बन्ध कराये विष्णुदासने विनती करी— ‘महाराज ! मैं मूरख ही सो ऐसी कृपा करो जो श्रीभागवत भादि आपके ग्रन्थनमे कछु ज्ञान होई, आपके मारणको सिद्धान्त जाण्यो जाई’ तब श्रीआचार्यजी ‘सेवाफल’ ग्रन्थ करी विष्णुदासको सुनाये सो सुनिके विष्णुदासने विनती करी— ‘महाराज ! ‘सेवाफल’ ग्रन्थके सुनते सगरे शास्त्रपुराणको ज्ञान भयो परन्तु ‘सेवाफल’ ग्रन्थको अभिप्राय समुझियेने नाही आयो तब श्रीआचार्यजी कहें— ‘ग्रन्थ’ ‘सेवाफल’ ऐसो ही कठिन है भली करी से पूछयो !’ पाछे आप ‘सेवाफल’ की टीका करिके सुनाये तब सगरे मारणको सिद्धान्त विष्णुदासके हृदयारूढ भयो सो मगन होई गये सो विष्णुदास धीरो सो कपटा छापें सो आगरे भवि जावें आमे देहनिर्बाह होई और सगरे दिन-रात मानसी सेवा श्रीआचार्यजीके ग्रन्थ श्रीसुबोधिनजीके भावने मगन रहें ।”

यह मानसी सेवा परासेवा है, यह सिद्धान्तमुक्तावलीमे कहा गया था मानसी सेवाकी सिद्धि तनु वित्तना सेवा करनेसे होती है, यह भो वही कहा गया था इस पुष्टिमनिरूपा सेवाके अधिकारी पुष्टिजीव ही होते हैं, सभो नहीं, यह पुष्टिप्रवाहमर्षादामे निरूपित किया गया है सिद्धान्त-रहस्यमे पुष्टिजीवोकी पुष्टिमनिरूपा सेवामे दीक्षित करनेके लिए आत्म-समर्पणका प्रकार समझाया गया है इससे भीयासवित पुष्टि-मनिरूपा याथा पद्वचनेमे असमर्थ बन जाती है नवरत्नमे सेवाको उद्वेगवर्द्धित बनानेके लिए निज्वालागकी बात समझायी गयी है अन्त कारणप्रबोध विवेकरूपवर्षाथय तथा कृष्णार्थय द्वारा इसी पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवामे विष्णुरूप उद्वेग एवम् प्रतिवन्धी से बचनेके उपाय दित्तलामे गये हैं चतुस्तोकीमे इस सेवाका पुष्टिमार्गीय धर्माप्यंनमोसवी पुरषार्थचतुष्टयीम तथा रवान है यह दित्तलामा गया है

भक्तिवर्षनीमें इस सेवाके बीजभावसे लेकर व्यवसयनात्मक होते विकासकी रूपरेखा खींची गयी है. सेवाके अन्वयमें वित्तके भगवत्प्रवण बने रहनेमें कोई व्यवधान न आये एतत्पर्य जलभेद-पञ्चनपद्यानिमें भगवत्कृपाके प्रवण-कीर्तनका स्वरूप समझाया गया है. यह सेवा न निमती हो तो भोगावृत्तिपर काबू पानेके लिए गृहत्याग कर्ष देना चाहिये. यह गृहत्याग व्यवसयनात्मक सिद्ध होनेपर ही करना चाहिये अन्यथा नहीं. संन्यासनिर्णयमें यह सावधानी बरतनेकी सलाह दी गयी है. निरोपलक्षणमें इस सेवाके मानती सेवाके रूपमें विकासके सहायक कारणोको परिभाषित किया गया है. अब सेवाफलमें उक्त तनु-वित्तजा सेवाका फलित रूप फलनिरोध अर्थात् अलौकिक-सामर्थ्यके रूपमें दिखलाया जा रहा है. यह परमात्माके भूमात्मानमें सकल वृत्तियोका योजन है. इसे 'सर्वात्मभाव' भी कहते हैं.

समग्र षोडशग्रन्थोंकी एकवाच्यता या आधारशिलाके जैसी केन्द्रीय धारणा, पुष्टिप्रवाह-मर्यादा ग्रन्थके—“भगवद्भूषणेषु तत्पुष्टिः नान्यथा भवेत्,” वचनमें श्रीमहाप्रभुने स्पष्ट कर दी है. अतएव षोडशग्रन्थके उपसंहाररूप सेवाफलमें पुष्टिभारतीय फलसे भिन्न किसी फलका निरूपण स्वीकारनेपर; अथवा पुष्टिभारतीय भी सेवासे भिन्न किसी कर्तव्य या अवस्था को पुष्पार्थ या फलरूप माननेपर, उपक्रम-उपसंहार आदि तात्पर्यनिर्धारक अंगोंमें परस्पर विसंवाह उपस्थित हो जायेगा. अतएव इस ग्रन्थके उपसंहारमें श्रीमहाप्रभु आशा करते हैं—
“शुश्रूषित्वा वा काश्चिदुत्पद्येत स वै भ्रमः”.

इस ग्रन्थमें सेवाफलके रूपमें वर्णित 'अलौकिक सामर्थ्य,' 'सामुज्य' तथा 'संकुण्डलविषु सेवोपयोगिदेह' को अनेक व्याख्यायें विभिन्न टीकाकारोंद्वारा दी गयी हैं.

यथा :

१) ये तीनों फल पुष्टिसर्गके तीन अवान्तर वर्य पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाह-पुष्टि की त्रिविध कक्षाके धीवर्गे फल हैं

२) तनुवत्स्वरूप अलौकिकसामर्थ्य भगवद्भिरुहकी कलात्मिका अनुभूति है. सामुज्य भगवत्संयोगकी कलात्मिका अनुभूति है. नवतनुत्वस्वरूप सेवोपयोगिदेह उभयताधारण अधि-कारकोटीका फल है.

३) अलौकिक सामर्थ्य पुष्टिमनितका फल है; तथा सामुज्य और सेवोपयोगिदेह मर्यादाभक्तिके फल है.

४) अलौकिकसामर्थ्य सामुज्य और सेवोपयोगिदेह क्रमशः उत्तम मध्यम तथा साधारण कोटीके फल हैं.

५) संयोगानुभूतिरूप सामुज्य परम फल है. विद्योपात्तुभूतिरूप अलौकिकसामर्थ्य तथा सेवोपयोगिदेह अधिकारतिष्ठिरूप अवान्तर फल है.

६) अलौकिक सामर्थ्य और सामुज्य पुष्टिमनितके फल हैं तथा सेवोपयोगिदेह मर्यादाभक्तिका फल है.

७) अलौकिकसामर्थ्य अति-अन्तरंग सेवाका फल है अन्तरंग सेवाके द्विविध सामुज्यरूप फल होते हैं केवल आत्मना अनुभूयमान सामुज्य और अलौकिक-देह-इन्द्रिय-अन्त-करण-आत्मना अनुभूयमान सामुज्य. सेवोपयोगिदेह बहिरूप सेवाका फल है

८) सर्वेन्द्रियोकी भगवत्परता अलौकिकसामर्थ्य है. देहनाशक विगाडभावसे अन्वस्फूर्ति-रहित आन्तर समीप सामुज्य है मानसी सेवाकी सिद्धि होनेपर, वैकुण्ठादि भगवद्पामोमे जैसे देह होते हैं वैसे, सेवोपयोगिदेहकी सिद्धि तृतीय फल है

भगवान्के द्वारा प्रदत्त भावोंके अनुसार भगवदनुभूतिके अनेक प्रकारोंमें भक्तोंकी फल-रूपता प्रतीत होती है. अतः सभी व्याख्याकार अपनी-अपनी फलवहिके अनुसार फलकी व्याख्या करते रहते हैं. इनमें यदि मतभेद दिखलायी पडता है तो वह भी अपनी-अपनी फल-वहिकी मस्तीका मधुर मतभेद है अतः मतभेद भी फलात्मक है !

ग्रन्थके तात्पर्यका जहा तक प्रश्न है तो वह भागवत (३।५।३२-४०) के नौ श्लोकोंकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने सुस्पष्ट किया है. वहा भी सेवाफलकी तरह भक्तिके तीन फल दिलाये गये हैं जीवन्मुक्ति सामुज्य और वैकुण्ठलोकप्राप्ति अतः अलौकिकसामर्थ्य और जीवन्मुक्ति की एकरूप मानना चाहिये, तथा वैकुण्ठादिपु सेवोपयोगिदेह और वैकुण्ठलोक-प्राप्ति की एकरूप मानना चाहिये, उभयत्र सामुज्य तो समान है ही. इस एकरूपताकी निर्धारित करनेके बाद सुबोधिनीमें जो विस्तृत विवरण फलत्रयका दिया है तदनुसार सेवाफल प्रत्येक निश्चित फलत्रयका भी स्वरूपनिर्धारण सुकर हो जाता है

अलौकिकसामर्थ्य प्रकट होता है, इस मूलपर भगवत्सेवा करते हुये, सकल इन्द्रियोसे भगवदनुभूतिके रूपमें, यही पुष्टिमार्गीय जीवन्मुक्ति है इसे 'फलनिरोध', 'सर्वोत्पभाव', 'व्यसनोत्तर-कृतार्थता', 'तनुनदरव' या 'मानसीसेवा' कुछ भी कहो, एक ही अवस्थाके विभिन्न पहलुओंका निरूपण है स्पष्ट दृष्टिके शब्दार्थ भिन्न भिन्न है पर पदार्थ सर्वत्र एक ही है

भागवतके दशम स्कन्धका षण्ण-विषय निरोध है. एकादश स्कन्धका षण्ण-विषय मुक्ति है द्वादश स्कन्धका षण्ण-विषय आश्रय-ब्रह्मभावार्पित है इस स्कन्धश्रीके विषयक्रम तथा श्रीमहाप्रभुके—'एवं भेदत्रय निरूपित सामुज्य वैकुण्ठ जीवन्मुक्तिश्चेति' (सुबो ३।२५।४०) वचन की एववाच्यताकी दृष्टिगत करनेपर यहा सेवाफलप्रत्येक वर्णित फलत्रयका रूप स्पष्ट-तया निर्धारित हो जाता है अलौकिकसामर्थ्य फलनिरोध है, इस मूलपर पडित होनेवाली भक्तोंकी जीवन्मुक्तिकी तरह, जो दशम स्कन्धके भक्तोंके जैसी भगवदनुभूतिकी एक अलौकिक प्रकार है सामुज्य परमात्मामे लय है, विदेहमुक्तिकी तरह, जो एकादश स्कन्धका षण्ण-विषय है. वैकुण्ठादिपु-सेवोपयोगिदेह आश्रय-ब्रह्मभावार्पित है, वैकुण्ठादि दिव्य भगवद्पामोमे दिव्य देह प्राप्त करके पुनः भगवद्भजनके सुअवसरकी प्राप्ति है, जो भागवतके द्वादश स्कन्धका षण्ण-विषय है

इस तरह तीनोंकी एववाच्यता निर्धारित हो जानेपर निरापलक्षण ग्रन्थके बाद सेवाफल

ग्रन्थकी क्रमसंगति भी स्पष्ट हो जाती है. निरोधकी साधनाइत्यादी निरूपण निरोधलक्षणमें अभिलक्षित है तथा निरोधकी कलावस्थाका निरूपण यहा सेवाफलमें. जैसे सेवाकी साधनावस्था सिद्धान्तमुक्तावली तथा सिद्धान्तरहस्य में विवक्षित है और सेवाकी कलावस्था यहा सेवाफलमें.

विभिन्न व्याख्याकारोंके इस फलविचारके बारेमें इतने जादा मतभेदका कारण एक मधुर कलह है. पुष्टिभक्तिमें भगवान्की सयोगानुभूति परमफल है कि विरहानुभूति. इस प्रश्नका उत्तर देते समय विभिन्न व्याख्याकार अपनी-अपनी भावस्थिके विषय उलझ जाते हैं. अतः सेवाफल ग्रन्थके अध्ययनमें पूर्व एतद्विषयक श्रीमहाप्रभु-श्रीप्रभुचरणके मन्तव्योंका अध्ययन उपकारक होगा.

तीर्त्तरीयोगनियममें ब्रह्मको 'आनन्दमय' (२।५) कहा गया है और 'आनन्द' (३।६) भी. इसी तरह यही (२।७में) ब्रह्म को 'रस' भी कहा गया है—'रसो वै स.' ब्रह्मसूत्रके—'आनन्दमयोम्यासात्' सूत्रमें दो बातें निर्धारित की गयी हैं. एक तो 'आनन्द' शब्दके साथ 'मय (इ)' प्रत्यय प्रचुरताके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है अतः 'आनन्दमय' का अर्थ होता है: प्रचुर आनन्दरूप. दूसरे 'आनन्दमय' शब्द परमात्माका वाचक है. इन गारौ बातोंको लक्ष्यगत करनेपर दो प्रश्न उठते हैं :

१) क्या 'आनन्द' और 'आनन्दमय' शब्द वयविभाषी होनेपर भी अर्थसाध्याके भेदके कारण ब्रह्मके किन्हीं दो रूपोंका निरूपण करते है या नहीं ?

२) यदि करते ही तो "रसो वै सः" शब्द द्वारा ब्रह्मके कितने रूपोंको, क्या आनन्दरूपको अथवा आनन्दमयरूपको, 'रस' कहा जा रहा है ?

निश्चयेन कहा जा सकता कि द्युक्तिका भार परमात्माकी ररूपतापर अधिक है क्योंकि स्पष्टतया यही कहा गया है—'रसो वै स रस इवाम लब्ध्वा आत्मनी भवती.'

इस विषयमें श्रीहरिरामचरणकी धारणा है कि परमात्माके वहिःप्रकट साहृति रूपको 'आनन्दमय' कहना चाहिये और अन्तर्के हृदयमें प्रकट होती परमात्माके प्रति स्नेहानुभूति या प्रीति की 'आनन्द' कहना चाहिये.

रसशास्त्रमें रति अर्थात् प्रीति को 'रस' एवम् 'स्वादिभाव' कहा जाता है. जिस व्यक्तिके बारेमें रति या प्रीति होती है उस व्यक्तिके रसशास्त्रमें 'मालम्बनविभाव' कहा जाता है. रसशास्त्रका प्रमुख विवेच्य विषय हृदयमें प्रचुर मनोभाव, उनके विषय, उद्दीपक, अनुभावक एवम् समूह अस्थायी मनोभावों के स्वस्वकोषा निर्धारण है. अतः रस अर्थात् स्वायी मनोभाव को रसशास्त्रमें धर्मो माना जाता है; और इन प्रीति मय कोष उल्लाह निर्वेद जैसे मनोभावोंके विषय उद्दीपक आदि अन्य सभी वर्गोंको धर्म माना जाता है.

तदनुसार श्रीहरिरामचरणकी धारणा है कि वहिःप्रकट परमात्माका रूप, क्योंकि प्रकटके स्नेहमय स्वायी भावका ही मालम्बनविभावके रूपमें हृदयके बाह्य प्रकटध है अतः उसे

धर्मसहित धर्म मानना चाहिये. इसके विपरीत भक्तके हृदयमें प्रकट स्वाधीभाव, त्रितकी स्पष्ट अनुभूति विरहदशामें ही सम्भव है, उसे केवलधर्म मानना चाहिए. "एतावान्पर विशेषो यद् बहिः प्रकट रूपं रसधर्मसहितम् 'आनन्दमय' शब्देनोच्यते, धर्ममात्र केवल भाव रूपम् 'आनन्द' शब्देन इति" (प्रमुप्रादुर्भावविचार). अतः केवल धर्मको उपनिषद्में 'रस' कहा गया है. श्रीहरिरायचरणके अनुसार 'आनन्द' और 'रस' पर्यायवाची शब्द हैं, और 'आनन्दमय' का अर्थ होता है: रसधर्म-आलम्बनविभावसहित स्वाधिभाव. 'आनन्दमय' और 'रस' पर्यायवाची नहीं है.

अणुभाष्यमें परन्तु भाष्यकार किञ्चित् भिन्न प्रकार दिखलाते हैं— "अथे 'रसो वै तः' इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्य च स्वाधिभावात्प्रकटात् तस्यैव आनन्दमयत्वान्च" (अणुभा. ३।३।१५). महा 'आनन्दमय' और 'रस' को पर्यायवाची माना गया है.

ब्रह्मको आनन्दरूप माना गया है— "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्". ब्रह्म अपरिच्छिन्न-अनन्त-पूर्ण आनन्द है, पर भक्तके हृदयमें जब उस परमात्माके लिए प्रीति प्रकट होती है तो उसके अनुभवका सुख, ब्रह्मको केवल तत्त्वानुभूतिसे कही अधिक पूर्णतर-प्रबुद्ध होनेके कारण, 'आनन्दमय' कहलाता है अतः भाष्यकारके मनमें 'रस' का पर्यायवाची शब्द 'आनन्दमय' है तैत्तिरीयोपनिषद् (२।५) में अतएव विमानमयकोसके भीतर आनन्दमयकी उपस्थिति दिखलायी गयी है इतः आनन्दमयकी आत्मा आनन्द है यह— "आनन्द आत्मा" (यही) कह कर-दिखलाया गया है

ऐसी स्थितिमें आनन्दको धर्म मानना चाहिये कि आनन्दमयको ? यदि आनन्दको धर्म मानते हैं तो आनन्दमय धर्म बनेगा और यदि आनन्दको धर्म मानते हैं तो आनन्दमयको धर्म मानना पड़ेगा

हमने देखा कि रसशास्त्र प्रेमको धर्म मानता है और प्रियतम आदिको धर्म क्योंकि रसशास्त्र भाष्यविवेचना है और प्रेम एक भाव है. अतः अपने पारिभाषिक अर्थमें प्रियतम रसशास्त्रके लिए धर्म बन जाता है क्योंकि प्रियतमके स्वरूप गुणधर्म या विभिन्न प्रकारों का विवेचन, रसशास्त्रकी, प्रेमके जनक और प्रेमके आलम्बन-विषय के रूपमें अभीष्ट है—स्वतन्त्र-तथा नहीं. भागवतमें भगवान्के भिन्न किसी लौकिक चरित्रके रसशास्त्र वर्णनका कोई स्थान नहीं है. ऐसे ही ब्रह्मके शुद्ध तात्त्विक विवेचनमें भी भागवत प्रस्तुत नहीं है भागवत भगवान्के रस-त्मक रूप एवम् लीला के वर्णनार्थ प्रस्तुत हुये हैं अतएव कभी रसशास्त्रोप परिभाषाओंके सहारे भगवान्के स्वरूप एवम् लीला का वर्णन होता है जो कभी ब्रह्मशास्त्रोप परिभाषाओंके सहारे भी. कभी भक्तकी मन्त्रिके अगके रूपमें भगवान्का वर्णन होता है, तो कभी भगवत्लीलाके अगके रूपमें भक्त और उनकी भगवद्भक्ति का वर्णन होता है कभी अतएव भक्तिको धर्म मान कर तदंगभूत भगवान्का धर्मके रूपमें वर्णन होता है (यह रसशास्त्रीय विवेचनपैली है) और कभी भगवान्को धर्म मान कर उनकी लीलाके अंगभूत भक्ति और भक्तों का

धर्मरूपेण निरूपण होता है (यह ब्रह्मात्मवीच्य विवेचनशील है)। इनमेंसे किसी एकतर परि-
गाथाके अनुसार विवेचनाना हठाग्रह सरल तो हो सकता है पर सर्वांगीण नहीं।

अतएव भागवतानुसारी भगवान्के रसात्मक रूपके निरूपणमें दोनों वर्णनवीकृतिका
ब्यापक उपयोग अभीष्ट होता है, भक्तोंके श्रेष्ठतम भगवान्को सभी 'धर्मों' कहा जाता है
और उनके स्वरूप गुण एवम् लीला के आरपणके कारण प्रकट होती प्रीतिको 'धर्म'।

सुबोधिनी (१११९।१६) में श्रीमद्भागवतमें यह समाप्ता है : "स्नेह एक विलक्षण धर्म
है, स्नेहके आधार और विषय दोनों ही भगवान् ही होते हैं जितना-जितना कोई भगवान्के
निष्कट पहुंचता जाता है, उतना उतने भगवान्के आनन्द-देवके आदि गुणोंका सम्पूर्ण भागित
होने लगता है, जैसे अग्निमें विषक विषय वस्तुओंके उष्णतासनात्र होती है, इसी तरह
जितनी जितनी निष्कटता भगवान्के साथ हमारी रहती जाती है, उतनी-उतनी मात्रामें भग-
वत्तम प्रीति भी हमारे भीतर रहती पकी जाती है"। प्रीति भगवान्का आत्मरतिरूप धर्म
है, पर भगवान्के निष्कट होनेपर यह हमारे भीतर भी प्रकट होने लगता है अतएव श्रीमद्भा-
गवत् कहते हैं—'प्रीतिस्तु भगवत्तमम्' (सुभां २।१।७)। यह ब्रह्मात्मवीच्य विवेचनशील है।

प्रेम, श्रेष्ठतमके कारण, प्रेमीके हृदयमें प्रकट होता है प्रेमके अति गाढ होनेपर, श्रेष्ठतम-
की अनुपस्थितिमें भी आगन्तिसम्भावनाके, उस प्रेमके कारण श्रेष्ठतम भी सभी प्रकट हो
जाता है श्रेष्ठतमके प्रकट होनेके रूपमें प्रेम धर्म तथा श्रेष्ठतम धर्म माना जाता है, पर प्रगाढ़
अवस्थामें प्रेमके कारण श्रेष्ठतमके प्रकट होनेपर, प्रेम धर्म और श्रेष्ठतम धर्म बंध जाता है,
अतः प्रेम और श्रेष्ठतम का भेद क्या लीला है—'विरहभावे तु ज्ञानादित्यतिरोधानेन
अधिरसत्तानुभवो न भविष्यतीति स्वयमेव (आत्मस्वयमिभाव एव) तदनुभवात्मको भवतीति
ज्ञापनाय विज्ञापनरूपानुभवमे तदनुभवविषय आनन्दमेव इति तत्स्वरूपमुच्यते,
तत्र निरवधिप्रीतिरेव मुमुक्षा नाम्नादिति ज्ञापनाय श्रेष्ठतम प्रघातात्मकमुच्यते, स्वादिभाव-
रूपेण स्वात्मादात्मत्वमुच्यते, यत्र तत्तएव (स्वादिभावान्देव) विष्णोर्वादि विदिय-
भावीत्येति' (अनुभा-१।१।११) प्रेम ही जब प्रगाढ़ बन कर श्रेष्ठतमके रूपमें बाहर
प्रकट हो जाता है तो अति प्रकट रूपको 'आनन्दमय' कहा जाता है और अतः श्रेष्ठतम प्रेमको
'आनन्द', अन्वया श्रेष्ठतम भगवान् आनन्द है और भगवत्स्वयमेव आनन्दमय।

अनुभाष्य (२।२।१०) में यह कहा गया है कि जैसे तन्मूर्तिमें आत्मान-वितान बूने जानेपर
जो पद प्रकट होता है वह तन्मूर्तिमें निश्च नहीं होता, इसी तरह आत्मस्वयम विभाव (स्वयम्
भगवान्) उदीचन विभाव (श्रेष्ठतम आदि) अनुभाव (श्रेष्ठतम आदि) तथा तत्स्वयमिभाव-
(आनन्द-
देव्यादि) के परस्पर आत्मानवितानमें जिस स्वादिभाव (भगवत्स्वयमेव) का प्रारंभ होता है
यह स्वयम् भगवान्के निश्च नहीं होता, अतः आनन्द और आनन्दमय का भेद वस्तुवत् न
होकर विवेचनगत होता है।

अवतारकालमें भगवान् अपनी लीलाओंके द्वारा भक्तोंके हृदयमें अनेक प्रकारके स्नेह प्रकट करते हैं। ऐसे स्नेही भवन जब भगवद्बिग्रहमें भगवान्के गुणगानमें तल्लीन हो जाते हैं तब हृदयस्थित स्नेह भगवद्बिषयक विविध मनोरथोंके साधनेमें ढलकर स्वयम् भगवान् एवम् उनकी लीलाओं का रूप धारण कर लेता है। अवतारकालमें इसी तरह सेव्य-स्वरूप सेवानुत्तरे हृदयमें स्नेह प्रकट करते हैं। यह स्नेह भगवत्कृपाके श्रवण-कीर्तन-कालमें भक्तके हृदयमें भगवत्स्वरूपानुभूतिवा रूप भी धारण कर लेता है।

तामस-प्रमेय-प्रकरणकी सुचोधिनीमें अतएव भगवान्का स्वरूप 'नटवरवपु'के रूपमें वर्णित हुआ है :

“रसानुभूतिके दो प्रकार सम्भव हैं प्रथम प्रकार होता है जहा प्रेम (स्वाधिभाव-धर्म) और प्रियतम (आलम्बनविभाव-धर्म) दोनोंकी अनुभूति हो द्वितीय प्रकार होता है : प्रियतम (आलम्बनविभाव-धर्म) अनुपस्थित हो, पर प्रेम (स्वाधिभाव धर्म) की अनुभूति हो रही हो नाट्यमें, द्वितीय प्रकारसे, केवल रति या प्रेम की ही वास्तविक अनुभूति होती है। प्रियतम-आलम्बनविभावके रूपका तो केवल नाटन ही होता है, साक्षात् उपस्थिति नहीं। सद्योगमें आलम्बनविभाव और स्वाधिभाव दोनों ही उपस्थित रहते हैं। नैत्रोंके समक्ष बाहर आलम्बनविभावस्वरूप भगवान् उपस्थित होते हैं और हृदयके भीतर स्वाधिभावस्वरूप भगवद्ब्रति भी अवस्थित होनी है सद्योग-लीलामें अतएव 'चर' की तरह प्रत्यक्षभोग भागा जाता है; और निरपेक्षलीलामें गाढ़ स्नेहयुक्त 'आसक्तिभ्रम'की तरह अनुभूत होती भगवदुपस्थिति 'नट' की तरह केवल नाटन मात्र है अतः नटवत् और चरवत् लीला करनेवाले भगवान्के स्वरूपका 'नटय' 'पु' कहा जाता है क्योंकि भृगुरत्सके अनुसार प्रत्यक्ष-साक्षात् सम्भोग जैसे चर-पतिका कार्य है, वैसे ही नाट्यमें सम्भोगका नाटन नट-अभिनेताका कार्य होता है भगवान् एककालावच्छेदेन उभयविधकार्य सम्पन्न करते हैं बाह्यमें प्रकट होकर रसानुभव प्रदान करनेका, तथा हृदयमें तीव्र आसक्तिवश प्रकट होती अनुभूतिमें रसाभिनेय करनेका भी

शान्तिपौडाप उपासनाय कल्पित रूप हृदयमें अनुभवमुख्य प्रदान कर सकता है पर भक्तोंके लिए तो उनके द्वारा भाविन रूपको धारण कर भगवान् बाहर भी प्रकट होते हैं सभी इन्द्रियाते अनुभूत होनेका मुख भक्तको प्रदान करते हैं इस वृद्धि प्रकट भावित रूपको भाविक कल्पित, या देहदेहिमात्रव्यापके परमात्माके वास्तविक स्वरूपको आवृत्त करनेवाला कोई भिन्न रूप नहीं माना जा सकता है यह भावित-वृद्धि प्रकट रूप उतना ही पारमाधिक होता है जितने कि स्वयम् परमात्मा” (मुवा १०।१२।५)।

इस प्रसंगमें रसशास्त्रीय रीतिके अनुसार निरुपय किया गया है अतएव भगवद्ब्रतियों तुलनामें भगवान्को धर्म-रूपमें वर्णित किया गया है फिरभी लक्ष्यमें रत्नमें लायक वाच यहा पाठ है कि वृन्दावनमें प्रत्यक्षभोगके रूपमें, तथा व्रजकी गोपिकाओंके हृदयमें वृन्दावन

को आन्तर लीलानुभूतिके दानद्वारा, रूप एवम् लीला वा नाटक करते हुये, अपना उभयविध (नटवत् और बरवत्) रूप भगवान्ने एककालावच्छेदेन प्रकट किया है भगवान् स्वयम्बो वहि प्रकट न करे तो शानियो और भक्तोके मुखमे कोई तारतम्य नही रह जाता है. प्रत्युत भक्तोके लिए वैवल हृदयमे भगवान्का अनुभूत होना तो एक दुःखरसे दान बन जाती है ! (हृद्येव प्राकटये तु मनोभावभोग्यत्वम्. वहि प्राणटये सर्वेन्द्रियभोग्यत्वम्. एव सति यक्षु-राद्यविषयत्वे त्रिषपदास्यैव मनोमात्रविषयत्व दुःखदमित्यनुभवसिद्धमतो भवताये तपेति ननु स भगवान् एव तथा आत्मभिन्नवपुषो मर्ता इत्यर्वाः. सुबो टिप्प. १०११८५).

यदि आनन्दको स्थायिभावात्मक आत्मस्थानीय धर्म माना जाये तो यहि प्रकट आनन्दमय स्वरूप अर्थात् आत्मम्यनविभावरूप नपु उस स्थायिभावसे भिन्न नही होता. इसी तरह यदि आनन्दको आत्मम्यनविभावरूप धर्म माना जाये तो भी प्रत्ययभोक्ता 'भर' के रूपसे केवल-रसरूप आनन्दमय धर्म 'नट' रूप भगवान् भिन्न नही होते.

"यत्रैकाग्रता तथाविशेषात्" (४।१।११) ब्रह्मसूत्रके भाष्यमे यह कहा गया है कि "जिन भक्तोको अन्तरि भगवदनुभूति होती है या जिन भक्तोको बाल भगवदनुभूति होती है उनके भाव या अनुभूयमान भगवत्स्वरूप मे किसी भी प्रकारका तारतम्य नही होता." आन्तर-सद्योगमे भक्तहृदयस्थित भाव भगवदाकार ग्रहण कर लेता है, तथा बाह्यसद्योगमे भगवान् भक्तके हृदयमे भावाकार ग्रहण करते बने जाते हैं दोनो ही तरह समानता है.

पुरुषोत्तमकी अनुभूतिसे पूर्व अविद्यार्थ सर्वात्मभाव, अतएव, विद्योगकी तरह भक्त-भगवान्के सद्योगमे भी स्वीकारा गया है. वैष्णवोकी मुबोधिनीमे तबल इन्द्रियोके भगवान्मे विनियोगको सर्वात्मभाव कहा गया है नापीसे भगवान्के साथ सलाप, मन्तोसे दर्शन, बाह्योसे भगवान्का आलिंगन, हाथोसे सेवा, त्वचासे स्पर्श, रतनामे मध्यामृतपात्र, कानीसे वैष्णुजलका श्रवण, नासिकासे भगवद्बुधबवा आध्याप, बरणासे भगवान्के निकट बसन, अन्त करणसे भगवत्स्वरूपकी भावना, पादुपस्थेन्द्रियोमे रोमोद्बन्ध और भोग को वैष्णुगीतमे इन्द्रियबानीका परमफल माना गया है सकल इन्द्रियोके भगवान्मे ऐसे विनियोगकी तुलनामे मुक्ति तो भक्तोकी अपनी सर्वविध सम्पूर्ण निष्कलता ही प्रतीत होती है जैसे किसी नयन-वानकी सदा-सर्वदाके लिए अ-भूषणमे घबेल देना या उसे नयनोमे मन्त्रित कर देना दोनोमे कोई विशेष अन्तर नही होता है जायतिक विषयोमे अनुरागके मरट होनेपर तथा तावर्तमावर्षे सम्पन्न होनेपर भक्तको सकल इन्द्रियो द्वारा भगवत्स्वरूपानन्दकी अनुभूति मिलती है—“वापकाना परिहयाने सापकाना न तद् भवेत्” (वैष्णुगीत सुबो कारिका)

इन कारिकाओमे सद्योगकालीन सर्वात्मभावका वर्णन है श्रीप्रभुचरण उल्लिखित 'वापक' का अर्थ प्रापञ्चिक विषयोमे अनुशास्य, तथा 'सापक' का अर्थ सर्वात्मभावपूर्वक भजन करते हैं सर्वभाव निन्द होनेपर ही भक्त सामुज्यमुक्ति (भगवान्मे लीन होने)से बन सकता है अर्थात् प्रस्तुत सेवाफल विवरणमे विवक्षित प्रपगफल 'मलात्रिक सामर्थ्य' के सिद्ध होनेपर भक्त, द्वितीयफल 'सामुज्य'से बच सकता है

तृतीयस्कन्ध-सुबोधिनीके एतद्विषयक विचारोसे एकवाक्यता करनेपर सामुज्य वाद पुन नूतन अलौकिक देहकी प्राप्तिका भी एक प्रकार मान्य किया गया है अत अलौकिक सामर्थ्यके वाद सीधे सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सामुज्योपरान्त सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सामुज्य ही के लक्ष्य, यो फलानुभूतिसे अनेक प्रकार सम्भव है परन्तु यह निश्चित है कि इन्द्रियवानोका मुख्य फल तो सर्वात्मभाव या अलौकिकसामर्थ्य ही है, अन्यथा तृतीयस्कन्धके—“हृतात्मनो हृतप्राणाश्च भवितरनिच्छतो वसिमथ्यो प्रयुक्ते” वचनसे निरूपित गौणफलरूप सामुज्य मिलता है, इन्द्रियादिसे रहित होकर भगवान्के दर्शन-स्पर्शन-श्रवणादिके सुखसे वञ्चित होना इन्द्रियवान् भक्तोके लिए एक विदम्बना है।

ध्रमरगीतके “सर्वात्मभावोधिष्ठितो भवतीनामयोधजे” (१०।४४।२७) वचनसे विप्रयोग-कालीन सर्वात्मभावका वर्णन है और वेणुगीतमें सयोगकालीन.

महा यह अवधेय है कि रससास्त्रीय दृष्टिसे कथनविप्रयोग और शृंगारविप्रयोग में, एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यही है कि जहा पुनर्गमन निश्चित हो, वहा विप्रयोग शृंगाररसात्मक माना जाता है, पर जहा पुनर्गमन असम्भव हो अथवा अन्तर्गतमें सम्भव होती ऐसी विप्रयोग शृंगाररस न रहकर कथनरस बन जाता है “पुनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तर पुनरलम्बे विमलायते ददैकस्तदा भवेत्कथनविप्रलम्भाय ” (साहित्यदर्पण ३।२०९) “शोकस्थापितया भिक्षी विप्रलम्भाय रस, विप्रलम्बे रति. रथायी पुन सम्भोगहेतुक ” (सा ६ १।२२६)

परमफल सयोगको मानना चाहिये कि विप्रयोगको, इस विवादमें अतिशुद्धी दृष्टिकोण अपनाने पर, या तो अचूरे शृंगारकी महत्ता माननी पड़ती है या शृंगारविप्रयोग और कथन-विप्रयोग के भौतिक भेदकी उपेक्षा ही जाती है क्योंकि रससास्त्रमें यह माना गया है कि विप्रयोगसे बिना केवल सयोगानुभूतिमें वह चमत्कृति नहीं आती है. अतएव पूर्वरागीतर मानोत्तर और प्रवामीत्तर सयोगसे विशेष चमत्कृतिका हेतु पूर्वराग, मान या प्रवास जनित विप्रयागकी ही माना गण है—‘न बिना विप्रलम्बेन सम्भोग पुष्टिमश्नुते वधायिते द्वि यम्वादी भूयान् रागो विनर्धते’

श्रीमहाप्रभु भी अतएव जैस—“वाह्याभावे तु अन्तरस्य व्यर्थता” का विधान करते हैं वैसे ही—“आन्तर तु पर फलम्” भी स्वीकारते ही हैं श्रीप्रभुचरणसे भी अतएव स्पष्ट शब्दीय इतना सुलासा—“न रसस्तु सयोगविप्रयोगाभ्यादेव पूर्णो भवत्वनुभूतो जैवतरेण ” (अणु ४।२।१) यह कर दिया है

केवल विप्रयोग अथवा केवल सयोग को परमफल मानना भगवान्के ‘नटवरवपु’ रूपकी अस्वीकृति है विप्रयोगम भक्तके हृदयमें भगवान्की आन्तर अनुभूति होती है नटवत्; और सयोगमें भक्तके नेत्र आदि इन्द्रियोद्गारा भगवान्की बाहर अनुभूति होती है, वरवत्, श्रीमहा-प्रभु किन्तु केवल नटवत् या केवल वरवत् रूपकी फल न मानकर ‘नटवर वपु’ के रूपमें भगवान्का—‘ददमेवेन्द्रियवता फलम्’ स्वीकारते हैं

लौकिक धृगारमें विप्रयोगकासीन आन्तर संयोगनी अनुभूतिनी आतन्वितवशा पैदा होती नैवल भ्रान्ति ही माना गया है क्योंकि नायक अथवा नायिका की अनुपस्थितिमें उनकी अनुभूति वास्तविक नहीं हो सकती है किसी भी देश अथवा काल में परन्तु सर्वव्यापी तनातन परमात्माका अनुपस्थित होना अकल्पनीय बात है. अनुभूत होते ही या नहीं पर, हृदयमें और हृदयके बाहर, सर्वत्र-सर्वदा भगवान् तो विद्यमान हैं ही. अतः भगवदनुभूतिपर भ्रान्तिकी परिभाषा लागू ही नहीं हो पाती है ।

भक्तिके घटक तत्त्व दो माने गये हैं एक माहात्म्यज्ञान और दूसरा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह. यह माहात्म्य भगवान्का ही हो सकता है कि वे बाहर अपकट होनेपर भी भक्तके हृदयमें मावात्मना प्रविष्ट होकर भक्तिको करुणरस होनेसे बना लेते हैं. इसी तरह सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहमें भी यह सामर्थ्य स्वीकारना पड़ता है कि उसके वशीभूत होकर भगवान्की भक्तके मनोरथोंके अनुरूप बाहर प्रकट होना पड़ता है

इस विषयमें श्रीप्रभुचरणकी यह उक्ति मन्नीय है कि— “भगवद्विरहस्य सर्वसाधारण-त्वेपि स्वायिमावात्मकरतरुपभगवत्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति तस्यैव तत्प्रमाप्तिजः तापः तदनन्तरं निवसतः तत्प्राप्तिरथ भवति” (अधु. ४।२।११).

भक्तवर्धनीके भक्तिकी चार अवस्था स्वीकारी गयी हैं .

- (१) बीजभाज
- (२) प्रेम
- (३) आसक्ति
- (४) व्यसन

“भाबैरकुरित” कारिका और उसके व्याख्यानमें, अवतारकासीन सुदृढ़ सर्वतोधिक भगवद्विधि, जी बिना किसी प्रकारके माहात्म्यज्ञानके ही शजभक्तोंमें प्रकट हो गयी थी, की चारके वक्ष्य सात अवस्थाओंका वर्णन श्रीप्रभुचरण तथा श्रीहृदिरायजी ने किया है : (१) भाव (२) प्रेम (३) प्रणय (४) स्नेह (५) राम (६) मनुष्य (७) व्यसन—

भाबैरकुरित महीभूदुत्तमानल्पमासिञ्चिषत्तम्
 प्रेम्णा कन्दलित मनोरथयै वाष्वाचतै सम्भुतम्
 श्रीर्यै चल्लवित मुदा कुसुमितं प्रत्यागया पुणितम्
 लीलाभि फलित भजे व्रजवनीश्वारकल्पदम् ॥

(श्रीमत्प्रभुचरण)

भाव प्रेमप्रणय स्नेहो रायानुरागव्यसनानि ।

अंकुरकन्दलशाखापल्लवकलिकाप्रसूनफलासीति ॥

(श्रीहृदिरायचरण)

यह रसशास्त्र और भगवत्शास्त्र के समन्वयपर अवलम्बित भक्तिशास्त्रीय विवेचन है. अथवा केवल रसशास्त्रके अनुसार रतिको दस अवस्थायें स्वीकारी गयी हैं : (१) कशूराय

(२) मन सग (३) सकल्प (४) जागर (५) तनुता (६) विषयद्वेष (७) लज्जात्याग
(८) उन्माद (९) मूर्छा (१०) मरण इन्हें भक्तिवधिनीमे वगित चार अवस्थाओम
वाट कर देखना हो तो इस तरह देखा जा सकता है:

- (१) बीजभाव—(क) चक्षुराय (ख) मन सग (ग) सकल्प
(२) प्रेम—(क) जागर (ख) तनुता
(३) भासक्ति—(क) विषयद्वेष (ख) लज्जात्याग
(४) व्यसन—(क) उन्माद (ख) मूर्छा (ग) मरण

यहा अवघेय यह है कि व्यसनदशामे उन्माद एवम् मूर्छा तक तो बाह्य या आन्तर सवी-
गकी अनुभूति सम्भव है अतएव इन्हें निरोधलीलाके अन्तर्भूत माना जा सकता है क्योंकि
निरोध जब भगवत्स्वरूप एवम् भगवदगुण उभयकृत होता है तो वह स्वयम् कलात्मक होनेसे
अगीरुण माना जाता है अन्यथा केवल भगवद्गुणकृत निरोध एकादश द्वादशस्कन्धमे वर्ण्य
मुक्तिलीला और आश्रयभावापत्ति की लीलाका अंग होनेसे 'साधनकृत्स्नता' रूप माना गया
है. मुक्ति या आश्रय लीलाके अग्ररूप निरोधवासी व्यसनदशामे स्नेहकी दसवी अवस्था मरण
सम्भव हो जाती है भक्त इस भीतिके देहको छोडकर या तो भगवान्मे लीन हो जाता है या
फिर मूलन अर्थात्तिक सच्चिदानन्दरूप दिव्य देहव्यापिकण्ठ-नित्यलीलाम प्राप्त कर लेता
है—'ब्राह्मण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवत्तैव स्वभोगानुकरतया सम्पादितेन सत्यज्ञाना-
नन्दारमकेन शरीरेण पूर्वोक्तान् अश्नुते' (अथु ४।४।५).

इस दिव्य देहान्तरमे लम्ब पुन सयोगकी भगवच्छास्त्रीय दृष्टिके बड़ी महत्ता है,
मुक्तिके रूपमें रससास्त्रीय दृष्टिके किन्तु देहान्तरलम्ब सयोग भ्रूगाररसकी भवदासै बहिर्भूत
या विपरीत है अतएव भक्तिशास्त्रमें एमे सयोगकी कलरूपता गौण मानी गयी है—'भग-
वानेव हि फल स मयादिभनेद् मुनि' (पु प्र म) बचनमें भूतलपर ही आविर्भूत भगवान्की
पुष्टिफल मानकर अतएव भक्तको मुक्ति या आश्रय लीलाकी ओर हठात् ले जानेवाली
भक्तिका वर्णन स्वयम् भगवान्ने इन शब्दोंम किया है—'प्रविच्छतो गतिमग्नी प्रयुक्ते'
भ्रगरणीतपर टिप्पणीमें श्रीप्रभुचरण ऐसी भगवल्लीलाका —'अस्मदधिकारविरुद्धा
कहते हैं

सहायमें (१) अलौकिकसामर्थ्य सर्वात्मभावरूप होनेके कारण सयोग या त्रियोग दोनों अव-
स्थाओंमे फलनिरोधरूप है इस तमनवत्त्व' या 'मानसी सेवा' भी कहा जा सकता है पुष्टि-
भक्तोने लिए यह बीवन्मुक्तिके जैसी अनुभूति है (२) सायुज्य विदेहमुक्ति है पुरुषोत्तममें
लीन हो जाना (३) वैकुण्ठ आदि स्तानोंमे सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति नवतनुत्व है इसे 'ब्रह्म-
भावापत्ति' या 'आश्रयभावापत्ति' भी कहा जाता है

समस्त साहस्यप्रणय प्रस्तुत सावाकउ ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने स्वयन्त विवरणक वाच्युद
अति क्लिष्ट और सूत्रात्मक भाषाम निम्ना गया ग्रन्थ है छन्दशास्त्री दृष्टिम बँते तो इस
ग्रन्थम साह सात बारिकामें है पर शान्ताश्रयवापना दृष्टिह वाक्यविमर्श करनेपर इसम पर-

रह सूत्रात्मक वाक्य दृष्टिमोचर होते हैं, वाणिज्योपयोगी तरह बहुधा इनमें भी—“सूत्रोपदृष्ट पद सूत्रान्तराद्युपवर्तनीय सर्वत्र” नियम लागू होता दिखलाई देता है तदनुसार उन्हें पृथक् पृथक् करके देखनेवा प्रयास अब हम करना है इसमें दो तीन तरह मार्गदर्शक मानने परसे उदाहरणतया पूर्ववाक्यके रिती अर्थात् उत्तरवाक्य पूर्ण होता हो तो उसे पूर्ण कर लेना चाहिये सेवाकलविवरणमें स्वयम् श्रीमहाप्रभुने जिस अस्पष्ट वाक्यवा जो अर्थ दिया हो उसे कोष्ठकमें रखकर उस अर्थको स्पष्ट या पूर्ण कर लेना चाहिये कभीसाक्षात् पदीरो आराधना-पूर्तिके लिए कोष्ठकमें सम्बन्धपटव सवनामादिपदीरा विन्यास भी विभा जा सपता है। तदनुसार प्रथम वाक्य तो एवदम स्पष्ट हो मिल जाता है

१) यादृशी सेवना प्रोक्ता तस्मिन्नी फलमुच्यते

सिद्धान्तप्रकृत्यालोने—“शृण्वन्तवा सदा वार्त्ता मानसी सा परा गता, वेतस्तत्प्रवण सेवा तस्मिन्नी तनुवित्तजा’ यत्नम्, चतुदलोरीने— “सर्वदासर्वभावेन भजनोपो प्रजाधिप स्वस्यापमेव धर्मो हि नाय वशापि वदापन” वचनमें, तथा भक्तिवधिनोने—“बीजदादर्प-प्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मत अद्यावत्तो भजेःशृण्व पूजया श्रवणादिभि” वचनमें सेवना जो स्वरूप समझाया गया उसमें प्रथम हावर सेवानी फलरूपताया स्वरूप यहा समझाया जा रहा है

२) अस्तीकिकरय दाने हि पाद्य, सिद्धेऽमनोरथ

आद्य ग्रन्थ समुदायके सातवद्वारमें यलित— यथास्तु तव सन्निधी तनुनवरवमेतायता न दुर्लभामा रतिभूररिपो मुकुण्डप्रिये’ प्रागनाम न्यतन हूवे मनोरथकी सिद्धि, जब भगवान् अस्तीकिकरामर्षका दान करते है तभी सम्भव है अन्यथा अस्तीकिकरामर्षके दानने अभावम भगवत्सेवापरायण भवत या गो पुण्योत्तममें लीन हो जाता है, या फिर वैकुण्ठ मादि भगवत्सामोर्षमें, भौतिक देहव छूट जानेके बाद अस्तीकिक दिव्य सेवोपयोगिदेह प्राप्त कर लेता है

३) अत्र (सेवाया) फल (अस्तीकिकरामर्ष) वा, अतिकारी (सायुज्य सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु) वा (भवतु) काल नियामक न (भवति)

पुष्टिप्रवाहमर्षादा प्रथममें यह कहा गया था कि पुष्टि जीवोको उनका फल भगवत्स्वरूपसे ही मिलता है— कश्चिन्तु फल पुष्टी पट्टी यह भी कहा गया था कि ‘भगवानेव हि फल स यथाविभवेद् भुवि, गुणस्वरूपभेदेन तथा सेवा फल भजेत अर्थात् यथाधिकार हृदयमें भगवद्-गुणोवा अथवा नयनोने समस्त साक्षात् भगवत्स्वरूपा इत भूतलपर प्रकट होना पुष्टिजीवोकी फलानुभूति है भगवान् ही जब फल हैं, और ये यदि बाल-जर्म-कर्ता यत्र द्रव्य देश स्वभाव आदि हेतुओं अथवा साधनों के अंगीन न हो तो पुष्टिमागोंव फलात्मिका सेवा अथवा अधिकारात्मिका सेवा वा नियामन बाल जर्म ही पायेगा ?

अस्तीकिकरामर्ष या तनुवत्त्व ने साथ भगवत्सेवा सम्पन्न हो पाती हो तो वह सवानी फलरूपता है अन्यथा वह न होनेपर सेवने कारण पुण्योत्तमम सायुज्य या वैकुण्ठ मादि

भगवद्दामोमे सेवोपयोगी नूतन दिव्य देह प्राप्त होता है, भगवत्सेवा करनेवाले भक्तके भौतिक देहके छूटनेके बाद, अतः ऐसी भगवत्सेवा फलरूपा न होकर अधिकाररूपा मानी जाती है। फल हो या अधिकार, पुष्टिभावितमे भगवान् ही नियामक है, काल-कर्म-स्वभावादि नहीं।

४) (सेवाया) बाधकं तु उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोषो वा त्वात्, भगवतः अकर्तव्य चेद्.

काल-कर्म-स्वभाव यद्यपि फल या अधिकार मे नियामक नहीं है, फिर भी, फलदान या अधिकारसम्पादन की भगवद्विच्छाके न होनेपर भगवत्सेवामे उद्वेग प्रतिबन्ध अथवा भोग बाधक बन सकते हैं

जैसे फल तीन माने गये हैं, सेवामे, ऐसे ही विघ्न भी तीन ही माने गये हैं। इनमे उद्वेग के अनेक रूप नवरत्न एवम् त्रिवेकधर्म्याश्रय मे दितलामे गये हैं। वहा आश्रयभावकी दृढ़ताके लिए अष्टाधरका उच्चारण तथा लोलाभावना की बात समझायी गयी है अतएव उद्वेग और उससे बचनेके उपायके बारेमे अब पुनः वहा किसी निरुत्थणकी आवश्यकता नहीं है अतः इस सेवाफलके विवरणमे प्रतिबन्ध एवम् भोग रूप विघ्नोका विचार होगा।

प्रतिबन्ध दो प्रकारके होते हैं एक साधारण और दूसरा भगवत्कृत. साधारण प्रतिबन्धोका निवारण लोकचातुरीसे करना चाहिये.

श्रीब्रह्मचरणने अपने आरमजोको लिले एक पत्रमे ऐसी लोकचातुरीका उपदेश दिया है "अन्यच्च गवनादयो ठाकुरद्वारे अगच्छन्ति यथापूर्वं भावणमिलनप्रसादादिक कार्यम् यद्यपि हार्दं न भवति, बाह्यतोपि कार्यम्" ऐसी लोकचातुरीका प्रयोजन निविघ्न भगवत्सेवाका निर्बाह ही होना चाहिये. आरमसम्मानको खोकर सरकारी अफसरोंकी चापलुसीका नहीं. अतएव इसी पत्रमें सावधान भी किया गया है—“सावधाने सहरस्परस्नेहे अवहिदुष्टितेवकपरे स्तंभम्”

भगवत्कृत प्रतिबन्धका निवारण जीवके सामर्थ्यके सहार होता है अतः उसका विचार वाचमे किया जायेगा इसी तरह द्विविध भोगका विचार भो जाने किया जायेगा

५) भगवतः सर्वथा अकर्तव्य चेद् (भगवत्कृतचेत् प्रतिबन्ध तदा) गति न हि (भगवान् फल न दास्यतीति मन्तव्य, तदा अन्यसेवापि व्यर्था, तदा) यथा वा तत्स्वनिर्धार (आमुरीय जीव इति) विवेक (तदा ज्ञानमार्गेण स्वातन्त्र्यमिति, अन्यथा) बाधकानां (नपाणा नाथन -) परित्याग (कर्तव्य इति) साधन मत्तम् .

पुष्टिमार्गीय जीव देवी होनेके कारण कभी प्रवाहमार्गीय या आमुरी सृष्टिका हो नहीं सकता फिर भी यह सम्भव है कि उसने देह इन्द्रिय-ग्रन्थ-अन्तःकरणमे किसी समय या किसी जन्ममे आमुदभावोका आदेश हो जाये अतएव पुष्टिप्रवाहमर्गादा ग्रन्थमे—“आसन्ती भगवत्सेव पाप दापयति बबन्धित्” के द्वारा पुष्टिजीवोमे आमुरावेदानके कारणरूपमे भगवद्विच्छाकी माग्य किया गया है मुबोधिनी (३।२५।३२) म—“ये वा देव्या सम्पदि जाता सेवामपि (इन्द्रियाणि) देवकपाणि भवन्ति आमुराण्यपि भवन्ति” कहा गया है. वही यह भी कहा गया है कि “भक्तिद्वैरेव भवति नामुदं” अतः जिस जन्ममें पुष्टिभवनके देहन्द्रियादिमें देवी

गुणोंका आवेग प्रबल नहीं होता, उस जन्ममें पुष्टिप्रभु उस जोसरी फलारिपवा सेवा लेना नहीं चाहेते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये ऐसी स्थितिमें अथ कोई रह नहीं जाता, जिसका आश्रय या भजन से भगवत्सेवामें पैदा होनेवाले विघ्न दूर हो पायें, या अथ कोई उपाय शक्य बन पाये अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं—'तदा अग्न्येवापि स्यात्'।

भगवन्मार्गमें भगवद्विच्छासे दिना कोई विघ्न आ नहीं सक्ते और भगवद्विच्छाका कारण आये हूये विघ्नाको कोई दूर नहीं कर सकता है नवरत्नभ अतएव कहा गया है कि "अज्ञानाद्यथा ज्ञानात्तृप्तमात्मविदेद न कृष्णहास्तुतत्रार्थं सेवा का परिदेयता।" अतः पुष्टिजीवको जब प्रभु सत्सारासहितमें फलामे रखना चाहते होता अन्याय या अग्न्यभजन से कुछ भी प्राप्त हो नहीं पायेगा।

सत्त्वदीपनिबन्धमें वास्तव्यप्रकारणम् 'वृष्णवदेन दार्ढ्यजननेन मूस्मयितं निरुपितं' को वेद निहित गृह्याम' इति तु ज्ञानमार्गं" (कारिका १३) कहा गया है। भागवतामं प्रकरणम् भी भगवद्वक्तारकालीन भजनका विवृत्य ज्ञान माना गया है—'पुरयाणा तथा म्नीणा राजी च दिवसे तथा ज्ञान भक्तिवत् सतत चक्रत् परिश्रते" (१०।१११-११३) भक्तिवधिनी(४) में भी 'ध्यायुतांति इरो चित्त स्वयंपादो न्यतेःसदा" कहा है इसी तरह 'सेवाया या कथाया वा " कारिकामें 'सेवा और कथा' को उत्तमरूप माना गया है, तथा 'सेवा या कथा' को गौणरूप माना गया है अणुभाष्य (४।१।८) में—'एव बहि प्राकट्यपुनरथा आन्तर तदाह भावनीकटपदज्ञाया ध्वभिवारिभावात्मन सततस्मृतिरूपध्यानादपि हृदि प्रकट सम्भाषीना भवतीत्यर्थं' कहा गया है।

इन सभी उद्धरणोंपर लक्ष्यपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्त्वजनम वर्जित 'ज्ञानमार्ग' मयादिगामीय ज्ञानयाता नहीं है, किन्तु पुष्टिमार्गीय ज्ञानका लेकर ही महा 'ज्ञानमार्ग' धर्म प्रमुखतः हुआ है। पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवा भक्ति है तथा भगवद्गुणगान या भगवत्कथा ज्ञान है भगवद्गुणानुयायनी प्रणालीय हृदयम सतत चक्रत्समान या भगवत्स्मृति को बनाये रखना 'ज्ञान' कहलाता है निरीपलक्षणम्— वृष्णवद्विष्टविघ्नाना सदा गुरवैरिण सत्सारविहृत्केशी न स्यात्त हृदिस्वयम्' कहा गया है अतः भगवान्के गुणानुयायने 'गौराभाव' सिद्ध होता है यह पुष्टिमार्गीय विवेक है।

त्रिनसे यह कथामौल्य भक्ति भी न मिलती है उनके तिस विवेकधर्मोध्य तथा वृष्णाश्रय में प्रपत्तिमार्गीय निरूपण विद्या गया है— अतीवृत्तम सिद्धी लक्षणा कारण हृदि, एव चित्त सदा भाव्य भावा च परिकीर्तयेत् (विदे १३) इसी तरह अज्ञानिकादिदोषाभा नासनी-नुभवे स्थित आदिताम्बिलमाहात्म्य कृष्ण एव गतीमम विवेकधर्मभजनया दिरहितस्य दिवेषत् गायामकतस्य दोनेस्य वृष्ण एव गतिमम (कृष्णा ७ और ९) कहा गया है।

पूर्वभक्तिने दो अर्थ माने गये हैं एक बाह्य जगत्साहाय्यज्ञान और दूसरा आन्तर अथ सुदृढ सर्वताधिक स्नेह अथ मुदृढ नवतीर्थिक स्नेहने विद्या सेवा कथाका निरहि शक्य नहीं होता फिरभी साहाय्यज्ञानपर अवलम्बित शरणागति—आश्रय—प्रपत्तिरूप उपाय शक्य है ता

उसे अपनाता चाहिये। अतएव माहात्म्यमानमूलक होनेके कारण प्रपत्तिमार्गको भी पुष्टि-मार्गमे ज्ञान माना जाता है-

प्रतिबन्ध जो भगवत्कृत प्रतीत न होने हो पर हमें पुष्टिभरतोचित विवेक या धर्म से वञ्चित करते हो तो, उनसे बचनेके अनेक उपाय नवरत्न तथा विवेकधर्मधाय में दिसलाये गये हैं। गया-धार्मनात्याग, अभिमानत्याग, इष्टत्याग, अनाग्रह, महिष्णुता, असामर्थ्यभावना, भगवत्श्रीगभावना, मनबाणीसे सतत धारणभावना, अन्यायप्रत्याग, दृढ विश्वास तथा प्राप्त सुख-दुःखको समताद्वेष-रहित स्वीकृति आदि।

उद्वेगने हेतुओं, साधारणप्रतिबन्धने हेतुओं तथा लौकिक भोगके हेतुओं का त्याग करनेपर सेवाका निविष्टन निर्वाह सुकर बन जाता है। उद्वेग और उद्वेगे विभिन्न हेतुओं के निवारणका उपाय नवरत्न ग्रन्थमे समझाया गया। साधारण प्रतिबन्ध तथा उद्वेगके हेतुओंके निवारणका उपाय विवेकधर्मधाय ग्रन्थमें समझाया गया है। भव लौकिक क्षुद्र भोग और अलौकिक महान् भोग का प्रभेद तथा अन्व भी तत्सम्बन्धी विवेचन आये किया जायेगा।

६) भोगे अथि वापकानां परित्याग एव साधनं मतम्।

भोग दो तरहके सम्बन्ध है: एक लौकिक भोग और दूसरा अलौकिक भोग लौकिक भोग त्याग्य होता है भगवान्को असमर्पित-अनिवेदित वस्तुओंका उपभोग भगवत्सेवामें बाधक बनता है। यह सिद्धान्तरहस्य (कारि ४) में—“अथवा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन, असमर्पित-वस्तुना तस्माद् वर्जितमाचरेत्” कह कर समझाया गया है, अत असमर्पित-अनिवेदित वस्तुओंका उपभोग बाधक है और उनका परित्याग हमारे लिये एक साधनके रूपमें बसंध्य है।

७) तथा भोगे परं निष्प्रत्यहं साधनम् अविमर्तं (पत.) महान् (अलौकिकवस्तु) भोग (पलायन मध्ये) प्रथमे सदा विमर्ते (प्रविमर्ति)।

सिद्धान्तरहस्य प्रथम जैसे असमर्पितके त्यागकी बात समझायी है, वही तरह समर्पितके उपभोगकी आवश्यकता भी दिसलायी गयी है—“निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वे कुर्वादिभिः...नेव-काला प्रया लोके व्यवहारं प्रविमर्तयति तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः” भगवान्को समर्पित भगवत्प्रसादरूप स्पर्श गन्ध रस अलकार अन्व बृह तथा परिच्यारिक जन, सात्त्विक मोहके नहीं, किन्तु भगवद्भावके वर्धक होने हैं ब्रह्मका समर्पित सभी कुछ ब्रह्मालम्ब हो जाता है जैसे गदी नालीका जल मधामें मिल कर गन्धजल बन जाता है अणुनाथ्य (३।३।३९) में अतएव कहा गया है—“सर्वनिवेदनपूर्वकं गृहेषु भगवत्सेवां कुर्वता तदुपयोगिण्येन तेनैव मूर्ति मवतीत्यर्थं एतादृशानां गृहा भगवद्गृहा एव आदिपदेन स्त्रीपुत्रपत्न्याद्य सप्रहपन्ते एतेन जानादिमार्गादुत्कट उक्ती भवति वापकानामपि साधकरवात्” अन्वभागमें भोगक साधन अन्ववस्त्वगृहपरिवार आदि बाधक माने जाते हैं, पुष्टिमार्गमे भगवत्सेवाके अग जन जानेपर, इन्हें साधक माना जाता है क्योंकि वे लौकिक आसक्तिको बढ़ानेके पयाय धर्म धर्म हम अलौकिकसामर्थ्य अथवा सर्वेन्द्रियोंकी भगवत्परताकी ओर ही ले जानेवाले बनते हैं। निरीधलक्षण ग्रन्थमें इन्हें—“ससारावेसकुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय च कृष्णस्य

सर्ववस्तुनि भूम्न ईशस्य योजयेत्" ब्रह्म है.

भगवद्विषेदित वस्तुका भगवत्प्रसादके रूपमें उपभोग, सेवाके प्रथम फल अलोपिका-
तामर्थ्यको प्राप्त करनेकी दिशामें अपसर होना है. अतः वह अलौकिक भोग होनेसे निष्पत्सुह-
निर्दुष्ट है, महान् है.

८) सविद्य अल्पो (भोग) बलात् घातक. स्यात्.

"यो वे भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" (छान्द ५ ७।२५।१) इस श्रुतिमें
मर्त्यत्वेन लिखित अल्पभोगका परिहार भगवत्सम्पत्तिके उपभोगसे संभव बन जाता है. अतएव
छात्रोप्योपनिषद्के इसी प्रकरणमें— "आहारशुद्धी सत्वशुद्धि सत्वशुद्धीः धृवा स्मृति.
स्मृतिलम्भे सर्वज्ञपीना विमोक्ष (७।२६।२) बचनद्वारा आहारशुद्धिके उपलक्षणसे प्रत्येक
भोगकी शुद्धिकी आवश्यकता दिखलायी गयी है, मर्त्य—अल्प—क्षुद्र लौकिक भोग कभी
शोकमोहसे रहित नहीं होता है. अतः अनेकविध शोकमोहरूप विघ्नोत्ते युक्त अन्य भोग
स्वयम् मर्त्य होनेपर भी शारक होता है. भगवत्सेवोचित भावना नलजान् घातक हीवा है
अतः लौकिक भोग त्याग्य है

९) बलात् पत्नी (प्रतिवन्धकी) सदा मती

मन्त्रितवधिनी (९) में कहा ही गया है कि "तादृशस्यापि सतत मेहस्थान विनाशानम्"
अतः लौकिक भोग और भगवत्सुत प्रतिवन्ध मन्त्रितवधामें ब्रह्म बलवान् प्रतिवन्धक सदा
होते हैं इनमें लौकिक भोगका त्याग ही राक्षस है पर भगवत्सुत प्रतिवन्धका निवारण शक्य
नहीं है यह सब आगे कहा जायेगा

१०) द्वितीये (भगवत्सुत-प्रतिवन्धे जानन्निश्चयभावे च) सत्तरनिष्कपान् विन्ता सर्वथा त्याज्या
सर्वनिर्गम-प्रकरण (कारिका २५७) में यह दिखलाया गया है कि किन्-विन् विपत्तियोगे
भगवत्सेवा छोड़ देनी चाहिये यथा—

क) आधुरानेयके कारण हमारी इन्द्रियोकी भगवत्सेवामें स्वतः प्रवृत्ति सम्भव न लगती
हो तो हठपूर्वक उन्हें भगवत्सेवामें लयावधर विधोष उत्पन्न हो जाता है ऐसी स्थितिमें सेवा
कीज देनी चाहिये.

ख) अलिवांगण्य या शारीरिक व्याधिमा के कारण किसी स्थितिमें भगवत्सेवासे अशक्त
पानित न रह जाती हो तो सेवा छोड़ देनी चाहिये

ग) पारिवारिक सामाजिक या राजनीतिक दृष्टिसे जिनके अधीन होनेके कारण हम
विनयतया भगवत्सेवा न कर पाते हैं तो यह भी एक प्रतिवन्ध सेवाग सम्भव है

घ) सेवा करते रहनेपर भी निरन्तर भित्तमें अन्यव्यस्तय या व्यग्रता बनी ही रहनी हो
तो भगवत्सेवोचित भावना हृदयमें बदापि प्रकट नहीं हो पाती

ङ) अन्य पारिवारिक अथ भगवत्सेवासे अवैधित भावनामें रहित हो, या भगवत्सेवामें प्रति-
बन्ध हो, पर वे हृवार द्वारा भी आली भगवत्सेवामें लौकिक हनुजोये वल सर्वयोग देनेको
आहित होते हैं तो, उन्हें वह सेवा पीछाजनक प्रतीत होती ऐसी परवीदाजनक भगवत्सेवा

नहीं करनी चाहिये.

श्रीमहाप्रभु स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा करते हैं कि इन स्थितियोंमें सेवा छोड़ देनी चाहिये. सेवा छोड़ देनेपर उसका अनुकूल्य जगत्कल्याण माना गया है कथानुष्ठान पुष्टिमागमें भक्तिकी ज्ञानगाम्यसे जुड़ी हुई सीमाकी तरह है परन्तु यहाँ इस सीमाके भीतर भी रहना जो शक्य न हो तो माहात्म्यज्ञानमूलक प्रपत्तिमागमें अवस्थित होना चाहिये. एतत्पर्य विवेक धर्म और आश्रय को अपनानेकी बात समझायी गयी है. पर जब वह भी शक्य न हो तो समझ लेना चाहिये कि इस जन्ममें प्रभु हमें ससारावेशयसे छुटकारा देना नहीं चाहते हैं

विवेकधर्मार्थप्रथम ग्रन्थमें अतएव—“अज्ञाने वा मुद्रावशे वा सर्वथा शरणहरिः” कहकर तथा नवरत्न ग्रन्थमें—“चित्तोद्वेग विधायापि हरि वदत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्ता द्रुत त्यजेत्, तस्मात्सर्वरिभना नित्य श्रोतृषु शरणमम वदद्भिरेव सतत स्वैगमित्येव मे मति” (८-९) के उद्देशके अनुसार चिन्ताका त्याग कर शरणभावना करनी चाहिये

११) नाथे (आषफलाभावे) तु (भगवत आधिदैविकसेवा—) दातृता नास्ति

सेवा निरन्तर करते रहनेपर भी अलौकिकसामर्थ्यके प्रकट होनेके कोई विशुद्ध दिलसायी न पड़ते हों तो सेवाकी न्यूनता नहीं मान लेनी चाहिये किन्तु भगवान्की आधिदैविकी सेवामें सुखदानकी इच्छा नहीं है, ऐसे समझना चाहिये आधिदैविकसेवा-सुखकी पात्रता भगवान्की दातृतापर अवलम्बित है यह तो नहीं ही गया है कि पुष्टिमाग्यीय फल या अधिकार की प्राप्ति भगवान्के देनेपर ही होती है, साधनाभिमानमें नहीं.

१२) तूलीये (बीजाभाव-सिद्धाभावे) तु गृह बाधकम्

स्वगृहमें निरन्तर सेवा करते रहनेपर भी बीजाभाव यदि सिद्ध न होता ही तो गार्हस्थ्य-गृहका ही बाधक समझना चाहिये अतएव भक्तिवर्षिणी और मन्वासरिणीय शब्दोंमें, ऐसी स्थितिमें, कथाश्रवण परिष्कार या गृहत्याग के अनुकूल्यको अपनानेकी बात समझायी गयी है

१३) द्रय (भगवतो दातृता) अवशया सदा भाव्या अन्वयसत्त्वं मनोभ्रम, तदीश्वरपि सत् (दातृताभावन) कार्य (यतो भगवान्) पुष्टी नैव विलम्बयेत्

नवरत्न ग्रन्थमें कहा गया था कि आत्मनिवेदन करनेवाले पुष्टिभवतकी कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि पुष्टिप्रभु भगवान्, किसी एकदा जन्ममें लौकिक स्थिति जैसी स्थिति पुष्टिजीवकी करते भी हूँ, परन्तु मति कभी लौकिक या प्रावाहिकी नहीं करके अत भविष्यके मलीभाति निर्वाह न होनेकी स्थितिमें अन्य पुष्टिमाग्यीय भगवदीयोंके साथ बैठकर अपने आत्मनिवेदनका स्मरण-भावना करना चाहिये “भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकी च मति, निवेदन तु स्मरन्त्य सर्वथा तादृशी जने सर्वैश्वर्येण सर्वैःमा निजेच्छात करिष्यति” (१-२)

होता बड़ी ही जो भगवदिच्छा होती है मिलता बड़ी ही वा भगवान् हम देना चाहते हैं भगवान्की फलदातेच्छा किसी कवचकी बात नहीं है वह ‘अवस्था’ है. उसपर किसीका जोर नहीं चलाता है भगवान् परन्तु दयालु भी है वे केवल स्वयंसे ही नहीं अपितु सर्वैःमा भी

है, अतः जिस जीवका पुष्टिभारमें वरण भगवान्‌ने कर लिया हो उसे पुष्टिभक्तिके दानमें अधिक विलम्ब नहीं करेंगे, इस तरह भगवान्‌के पुष्टिफलदाता होनेकी भावना सदा करनी चाहिये.

साथ ही साथ निरोधलक्षण ग्रन्थमें यह भी कहा गया था कि "महतां कृपया वाच्यं भगवान् दपयिष्यति, तावदानन्दसन्दोहं कीर्त्यमानः सुखाय हि" अतः जिनसे सेवा आदि न निभ पाती हो ऐसे दयनीय पुष्टिजीवोंके प्रति अन्य भगवदीयोंका भी यह कर्तव्य है कि वे भगवान्‌के ऐसे गुणों एवम् परिणों का कीर्तन करें कि जिससे सामारण पुष्टिजीवोंके हृदय और बुद्धि में भगवान्‌के पुष्टिफलदाता होनेकी आस्था एवम् धारणा दृढ़ हो जाये, यह जिससे सेवा-वचामय आदर्श जीवन निभ पाता हो ऐसे एक पुष्टिजीवका दूसरे, जिससे गृही निभ पाता, उसके प्रति कर्तव्य है, बालबोध ग्रन्थने उपदेशद्वारा श्रीमहाप्रभुअतएव भगवत्सेवाय अममयं जीवोमें तदीयता और तदाश्रय के भावोंको उद्बोधित करना चाहतं है.

जलभेद और पशुपद्यानि ग्रन्थमें अतएव यकता एवम् श्रोता श्री उत्तम-मध्यम-निम्न वक्षामे समझायो गयी है उनके भलीभांति ज्ञात हो जानेपर जिस पुष्टिजीवसे सेवादिभवा भक्ति नहीं निभ पाती वह भी कथा-श्रवण-कीर्तन-स्मरण आदिकी प्रक्रियाके द्वारा अपने पुष्टि-भाषाके बोधनमें सक्षम हो पाता है

१४) गुणशोभे अत्र एतदेव दृष्टव्यम् इति मे वति

भक्तिव्यधिनी ग्रन्थमें यह दिसलगा ही गया है कि स्वगृहमें भगवत्सेवावचामय जीवन-यापन सभी पुष्टिजीवोंके लिए आवश्यक नहीं होता, इससे अनुकूलरूप गृहत्यागके लिये आवश्यक भक्तिवा व्यसनद्वारामे विकास भी अतएव बहुत दुर्लभ बात है गृहत्यागका विरल्य किसी भगवदीयकी मत्सगतिमें रहकर भगवत्परिचर्या करना और भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तनमें मन्मिलित होना दिसलगा गया है परन्तु जिस भगवदीयका हस्तग हन करना चाहते ही उसमें मानक-स्वभाव-गुलभ दोषदर्शन होनेपर भक्तिभावमें बाधा पहुंचनेकी भावना उठी थी इसके परिहारायं एकान्तवासके भोक्तृका भी वही विचार किया गया था एवास्तवासके वजाय भगवदीयकी सगतिमें 'अदूरे-निग्रयमें' की नीति बरतनेका मुझाव दिया गया था, क्योंकि अपरिपक्व सिद्धांतबोधकी स्थितिमें एवास्तवास बरतेपर कभी अपनिष्ठाण्णोंके स्वाध्यायकी सम्भावना रहती है

स्वमागीम सिद्धान्त अतः स्वमागीय वक्ताके मुखसे सुननेका आग्रह रखना चाहिये " भक्त्यानादोषदेनासंनानावापयनिरूपण " श्रीमहाप्रभुके प्रयोगोंका ही स्वाध्याय करना चाहिये नारे गुणशोभ इससे शान्त हो जायगे, ऐसा श्रीमहाप्रभुका आशवासन है

१५) अत्र सुसुष्टि वा काचिदुत्पद्यते स धे भगः

पौष्ट्यग्रन्थके उपक्रमरूप समुदायक-ध- "मवास्तु तत्र सद्रिपो तनुनवरवम् " यह वर भगवत्सेवाय अर्पित देहकी नूतनताकी प्राप्तिके द्वारा भगवत्सेवाकी महत्ता दिखलायी गयी है पाठ्यग्रन्थके उपसंहाररूप सैवापन्न ग्रन्थका नामाभिधान 'भक्तिपाल' 'कदाफल' 'स्वागतक'

'निरोधफल' या 'प्रपत्तिफल' न कह कर 'सेवाफल' करना; तथा अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें सेवाका फल पुनः सेवाकी ही मांगना भी, पुष्टिमागमें सेवाकी महत्ताका ही प्रमाण है।

मिदान्तमुक्तावली, पुष्टिप्रवाहमर्षादा, सिद्धान्तरहस्य, 'भक्तिवर्धनी तथा निरोध-लक्षण ग्रन्थोमे शब्दना; तथा अन्य प्रथोमे तात्पर्यंशः सेवाके महत्त्वके पुनःपुनः उल्लेख द्वारा जो अभ्यास किया गया है, उसके आधारपर भी पुष्टिमागमें सेवाकी असाधारण महत्ता सिद्ध होती है।

चतुरल्लोकीमें—“सर्वदा सर्वभावेन भजनोयां ज्ञनाधिप. स्वत्यायमेव धर्मो हि नाप्य. स्वापि कदाचन” द्वारा की गयी कृष्णसेवाकी प्रगप्ता, तथा निरोधलक्षणमें की गयी—“नात. परतरौ मन्त्र. नात. परतर स्तव. नात. परतरा विद्या तीर्य नातः परात्परम्” वचन द्वारा अन्य उपायोकी निन्दा, द्वारा अर्पणादेने विचारसे भी भगवत्सेवाकी महत्ता सिद्ध होती है।

श्रीमहाप्रभुके अन्य ग्रन्थोंमें भी यथा निवन्ध भाष्य या गुणोपिनी में सेवाका उल्लेख मिलता है, परन्तु भगवत्सेवाका सागोपाग-सपरिकर स्वरूप जैसा प्रहा वर्णित हुआ है, यह अन्यत्र सुलभ नहीं है. सेवाका अन्तरग्रूप भाव-भावना है. सेवाके वहिरुपरूपमें आत्मसमर्पण, तनुवितजा सेवा, गृहस्थित वस्तु एवम् परिजनो का भगवत्सेवामें विनियोग; तथा अन्य भी नवधा भक्त्यगभूत ध्वज-कीर्तनादि उपाय माने गये हैं. इन सारी बातोंका जैसा स्पष्ट एवम् सुसगत विचार, अपूर्वतया यहा षोडशग्रन्थोमे हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

पुष्टिमागमें भगवत्सेवा द्वारा किसी फलकी कामना नहीं जाती है क्योंकि सेवाका फल सेवा ही होती है. अतएव विवरणमें—“सेवाया. फलत्रयम्” न कह कर ‘सेवाया फलत्रयम्’ कहा गया है. अत तीनों ही फलभावस्था षोडशग्रन्थोमे मुख्यतया प्रतिपाद्य सेवाके अन्तर्भूत ही हैं. इस फलसकीर्तनसे भी षोडशग्रन्थोका सारसर्वे भगवत्सेवोपदेशम ही सर्ववसित होता है।

अन्तिम तात्पर्यनिर्धारक लिंग उपपत्ति माना गया है अन्य प्रमाणोसे किसी एक बातको सङ्घटित होना सम्भव नहीं है, इस तरहका निरूपण करना ‘उपपत्ति’ कहलाता है. अतएव श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि इन सोलह ग्रन्थोमे मुख्यतया प्रतिपाद्य भगवत्सेवाके स्वरूपकी अन्यान्य साधनोकी तुलनामें गौण बनायेवालेको पुष्टिकी सुन्दर सुष्टिमें कुसुष्टिरूप ही सम-जाना चाहिये—“कुसुष्टिरत्र वा कश्चिदुत्सवेत स वै भय.” ऐसे ही धर्मोके निवारणार्थ अन्त करणप्रबोध दिखा गया है।

इस तरह उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अर्पणाद, अपूर्वता, फल और उपपत्ति रूप छोड़ो तात्पर्यनिर्धारक लिंगोके द्वारा यह निःसन्देहतया सिद्ध होता है कि पुष्टिजीवोके लिये स्वगृहम श्रीकृष्णके पुष्टिस्वरूपकी सेवा, ब्रजभक्तोके मार्गका भावनात्मक अनुसरण करते हुवे, निजतन-मन-पनका भगवानुमे विनियोग; तथा उसने अनुवसरमे एतद्भाववधिकी भगवत्सेवाका ध्वज-स्मरण-कीर्तन करना प्रथम एवम् चरम कर्तव्य है यहा यहा ‘मेटकनेवाले नितकी सभी वृत्तियोका निरोध भगवत्सेवा और भगवत्सेवा न होना चाहिये क्योंकि ‘ये निरुद्धान्त एवाव मोदमापान्यहनिताम् ।’ का नियम भुव और अकाट्य है।

सेवाफल ग्रन्थका प्रस्तुत संस्करण वि. म १९७३ म प्रकाशित संस्करणका ऑफोटे प्रसित द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है उस प्रथम संस्करणमें प्रकाशित न हो पातेके कारण सेवाफलकी जो तीन टीकायें जलमेदके साथ प्रकाशित हुई थी, उन टीकायाको हमने यथास्थान यहाँ निविष्ट कर दिया है इसके अलावा सेवाफलकी मूल चारिका तथा विवरण वहाँ पृथक्-पृथक् छपे थे, उन्हे यथास्थिति हमने ऊपर नीचे योजित किया है

प्रथम संस्करणमें श्रीपुरुषोत्तमजीके बाद जिस "तदनुसारिणा" की टीका मुद्रित हुई थी, नामनिर्देशरहित, उस टीकाके लेखकका नाम हम कोटयाग्राम मिल गया श्रीमन्मधुरापीठ मन्दिरके हस्तलिखित ग्रन्थगारकी रजिस्टर सख्या (२१०/३) की हस्तलिखित प्रतिमें इस टीकाक 'श्रीमधुराणाधारमज द्वाराकेञ्जुत सेवाफल विवृति प्रकाश' नामका उल्लेख उपलब्ध होता है कान रोलीवाले महाराजश्रीके पास इन श्रीद्वारवैजजीके पुषके हस्ताक्षरोम लिखित एक प्रति विद्यमान है एसा ग्रन्थपरिचय-लेखकको लिखे एवं पत्रमें गोस्वामी श्रीवज्रशुमार (राकरोली) सूचित करते हैं श्रीवस्तुभवसायुधमें इन श्रीमधुराणाधारमजश्री द्वारवैजजीका उल्लेख या मिलना है (प्रथम / २ गृह जन्म वि. स १८५२) इतने अलावा राकरोली— विद्याविभागमें स्थित श्रीवज्रभूषणजी (द्वितीय) की विद्वन्मण्डन टीकाका मंगलाचरण तथा यहा १४ वें क्रमम मुद्रित सेवाफलविवृतिप्रकाश टीकाका मंगलाचरण समान होनेसे, यह टीका श्रीवज्रभूषणजी विरचित है, एसा गोस्वामी श्रीवज्रशुमार महाराजश्रीका अनुमान है

सेवाफल और सुवोपिनो की एकवच्यतामें प्रदर्शक (मुख्य ३।२५।१२-४०) अशको हम नूतनतया यहा पाठश्रीके सुविषय प्रकाशित कर रहे हैं

प्रथम संस्करणमें सम्पादक श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तलीवाला तथा श्रीवीरजलाल प्रज-दास सौनलिया थे प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग गोस्वामी श्री १००८ श्रीजीवनलालश्री महाराज (पौरखदर) ने दिया था इन सभी महानुभावोका इस पुन प्रकाशनमें अवसरपर हम हार्दिक कृतज्ञतामें साथ स्मरण करते हैं श्रीकृष्णापंचमस्तु

Editors' Note.

Sevaphala is the last and the most important of the famous Sixteen small Sacred Books of Shri Vallabhacharya. It clearly states the three sorts of realisations, according to one's 'adhikara,' viz., (1) spiritual power, which, going beyond the world, obtains a vision of God, and enjoys indescribable bliss with Him, or (2) Sayujya with Parushottama or the last (3) a body fit for service of God in Vaikuntha, Gokula etc. A detailed description of all these, and also of hindrances in their way will be found in the Sanskrit introduction and the commentaries.

It gives us very much pleasure to note that we have been able to collect all the rare commentaries yet known on this important work,—we hope the last one is of Shri Vrajanathaji, and to publish them all together. Moreover, we have secured several copies of many commentaries, and it gives us great satisfaction to find that our printed texts have become much better than the oldest manuscripts in our possession, on account of comparisons with and necessary corrections from other manuscripts of the same texts. Elsewhere we have noted various extra passages which we found in some Mss, after the text was printed, we have noted only those readings which gave quite different meanings and we have refrained from adding unnecessary 'other' readings.

We sincerely thank all who have kindly supplied us with these extremely rare Mss. The first among these is Pandit Gattulalaji's Library from which we got a large collection and we are highly obliged to Sheth Tribhuvandas Varjivandas and Mr Kashidas Dalal who allowed us the use of the same. Next Dr S K Belvalkar M A., Ph D favoured us with a loan of several Mss, including the extremely rare one of Jayagopalji Bhatta from the Govt collection in the Deccan College. Shri Vallabhalaji and his Shastri Madhavji also supplied us with several Mss. Mr Urvilal Sanalehand also gave us one rare commentary and Mr Tansukhram Survaram also gave us some Mss. Mr Lalubhai Chhagaonal gave us the use of his block of the photograph of Shrimad acharyaji. To all these, we offer our heartfelt thanks. H H Shri Jivanlalaji Maharaja of Porbander has put us under a deep debt of gratitude by supplying us with the necessary zeal and funds, without which this work could not have been published. We are also indebted to the manager of the N S Press for printing this work within eight weeks. With feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love, at the Lotus Feet of Lord Krishna.

Bombay }
19th December 1916 }

M T Telvala
D V Sankhala

ग्रन्थसङ्ग्रहपरिचयः ।

१ धीमदाधारकृत सेवाफल विवरण च यावत्प्राप्तटीकाया सर्वा रूपा मुद्रितमिति । तत्र विद्यमाना पाठभेदा श्लोकमभेदाश्चास्मात्सिद्धयैव दर्शिता ।

२ श्रीकल्याणरायकृतसेवाफलटीकाया पुस्तकद्रव्यमस्मात्परिचलन्धम् । प्रथम भा मा वे भ प गङ्गालसप्रहस्यम् । तत्र प्रथम प्राचीनम्, प्राय शुद्धम् । द्वितीय 'इन्दनकोलेज' इत्युक्तिवित्त समस्य प्रायोद्भूत तथापि पाठादिसोपनार्थं क्वचित् क्वचिदस्त्वन्मुपयोगि ।

३ पाथाधीगोपेनटीकाया पुस्तकद्रव्य प्राप्तम् । तत्र पुस्तकद्रव्य प गङ्गालसप्रहस्यम् । अन्यद् 'दक्षनकोलेजसप्रहस्यम्' । इदं पुस्तकप्रथमपि प्राय शुद्ध प्राचीन च । एतटीकाया मुद्रणानन्तर मेकमन्वध्याचीन पुस्तक प्राप्तम्, तत्र विद्यमाना पाठभेदा परिशिष्टे दर्शिता ।

४ श्रीदेवपीनन्वनट्टटीकाया पुस्तकद्रव्य प गङ्गालसप्रहस्यम् । तत्रैक प्राचीनमन्वधूप नूतनम् । तत्र प्राचीनपुस्तकमवलम्ब्य यावत्पर्यन्त ससोप्य मुद्रितमस्माभि ।

५ श्रीहरिराजकृतटीकाया पुस्तकद्रव्य मितितम् । इदं शुद्ध प्राचीन च । एक केनपिन्देन पापुदेवेन स्वपठनार्थं लिखितमिति । इदं पुस्तकद्रव्य प गङ्गालसप्रहस्यम् ।

६ श्रीबलभट्टनटीकाया एक पुस्तक मितित प गङ्गालसप्रहस्यम् । इदं प्राय शुद्ध प्राचीन च । एतदपि यावत्पर्यन्त ससोप्य मुद्रितमस्माभि । एतद्ग्रन्थमुद्रणानन्तरमस्मात् क्वचिदुक्तक मितितम् । तत्र सेवाफलविवरणानुसारेण श्लोकमभेदाद्यैव टीका पुनर्लिखितेति प्रतिभाति । तत्र विद्यमाना उपयोगिपाठभेदा परिशिष्टे दर्शिता ।

७ श्रीपुरपोषमहत्तटीकाया पुस्तकद्रव्यमुपलब्धम् । तत्र पुस्तकद्रव्य प गङ्गालसप्रहस्यम् । नृवीय दक्षनकोलेजसप्रहस्यम् । एतपुस्तक शुद्ध शुद्ध पूर्व लिखित श्रीपुरपोषमै । परन्तु तस्सेवाफल टीका श्रीपुरपोषमै सविस्तर पुनर्लिखितेति प गङ्गालसप्रहस्यार्थोद्भवदर्शनैनाहितया निश्चीयते । प गङ्गालसप्रहस्यार्थोद्भव समबलम्ब्य एतद्विवरण मुद्रितमस्माभि । एतन्मुद्रणानन्तरमेकमति शुद्ध प्राचीन पुस्तकमेतद्विवरणस्य मितितम् । तत्रलोपयोगिपाठभेदा परिशिष्ट दर्शिता ।

८ एतपुस्तक प गङ्गालसप्रहस्यम् । अस् कर्तृनाम न विद्यते । यथादृष्टमेव मुद्रितमस्माभि । इदं श्रीपुरपोषमविवरणानुसारीविवरणम् ।

९ लालभट्टकृतविष्णुया पुस्तकद्रव्यमुपलब्धमस्माभि । एक दक्षनकोलेजसप्रहस्यम्, द्वितीय प गङ्गालसप्रहस्यम् । प्रथम प्राचीन प्राय शुद्धम्, द्वितीयमपि सर्वथ परन्तु नूतनमिति प्रतिभाति ।

१० जयगोपालभट्टकृतटीकाया एकमेव पुस्तक दक्षनकोलेजसप्रहस्यार्थमुपलब्धम् । अस्मिन्पुस्तके भेदं तत्र पर तु न मिलति । इदं पुस्तक ग्रन्थवृत्तौ मूलमेवेति प्रतिभाति । तत्र एकवार विवरण समाप्य परमत्संश्लेषनाय २० पत्राणि पश्चादनेन लिखितानि । किं तस्य मत्त तन्तु पूर्व तेन स्वटीकायामेव दर्शितम् ।

११ लक्ष्मणभट्टकृतटीकाया एक पुस्तक श्रीगोकुलेश्वरप्रभुपरामापुराणि त्रसवहाल साकल्य 'द' इत्यनेन दत्तम् । इदं पुस्तक ग्रन्थकृता स्वमेव लिखितमिति प्रतिभाति ।

१२ अस् विवरणस्य कर्तृनाम न विद्यते । अस् पुस्तकमेक गङ्गालसप्रहस्यम् । प्राय शुद्धम् । परन्तु क्वचित्तिद्वयम् । यथादृष्टमेव मुद्रितमस्माभि ।

भूमिनुलकतयये ५ गह्लाससत्याया 'कार्योपस काशीदास नागयणदास दहाल वकील, हाईकोर्ट, मुल्यव्रदी श्रेष्ठ त्रिगुपनदास' इत्येषां महत्पुपकृति । 'दा० देलवलकर' इत्येतेषां महत्पुपकृति पुलकप्रदानतोऽभूत् । भयाभिमयोत्सवहालसावि तथैवोपकृति । पतुपंपचमपीडापीडर-गोष्ठाभिधीवहभलाहानी माधवशाकिणभ दहाडिहितपुदपुलकप्रदानतो महत्पुपकृति, परन्तु मुदणानन्तर तपुलकानी प्राहावहपुपयोधिपाडा तत्र विद्यमाना परिशिष्टे निवेदिता ।

विवरणकृतां परिचयः ।

- १ तत्रादी श्रीमद्वहभाषार्यप्रकटित सेवाकल द्वादशदीनभ्युत समुद्रयते । तत्र प्रथम सेवाफल-विवरण तु श्रीमदाचार्यकृतिरेव । श्रीवावनुगृहीतुकामे श्रीमदाचार्यपरिणतत्वं पक्कीकृतमिति ।
२. द्वितीय मुद्रित विवरण श्रीमत्कल्याणरावाणाम् । इमे श्रीकल्याणरावा श्रीमदाचार्यदीवज-भाषीश्रद्धीयकुमारश्रीमद्विहलेषरप्रभुचरणद्वितीयसुधीमश्रीगिन्द्ररावाणा सुतव । मार्गशीर्षकृष्ण सप्तम्यां १९१५ वर्षे प्रातुभूता । श्रीमद्विरावाणा चित्तचरणा अपि ते एव । तेषामनेकग्रन्था सूदमा अपि श्रीदान्तमर्मबोधका सरलाय समित । निबन्धोपरि टिप्पणी तेषा प्राचीनतमा, अयुनापि द्वा डिश्रितग्रन्थाकारेण विराजते । स्वसवनिर्णयका अपि केचिद्ग्रन्थास्ते भादुमांजिता मयतगोपरीभभवित । श्रीदशग्रन्थोपरि तेषां स्वात्पवानानि द्दवपन्त भव्यान्वपि ।
३. तृतीय स्वात्पवान चाचाभीरोपेक्षानाम् । इमे श्रीगोपेशा श्रीमप्रभुचरणविहलेकराणां सप्तमपुत्रभीषनद्वयामाणां सुतव, चाचा वा चाचा वैतिप्रसिदा । श्रीदशग्रन्थोपरि बहुचक्षेना टीका विद्यमाना द्दवपन्ते । भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १९५२ वर्षे प्रातुभूता ।
४. चतुर्थं स्वात्पवान श्रीमद्वकीनन्दनानाम् । के इमे देवकीनन्दनालक नि सकतया निधेयु वष प्रातुम् । तेषापि श्रीदुरवोत्तमकृततद्विवरणोपन्यासाग्रहणते एतं ते श्रीपुरहोचनानां प्राञ्ज । श्रीमद्विहलेषरप्रभुचरणवज्रमपुत्रभीरायुनायाणा सुतव श्रीदेवकीनन्दना मार्गशीर्षकृष्णसप्तम्यां १९२७ वर्षे प्रातुभूता । कदाचित् त एव एते, परन्तु तस्युध्वीरयुनाधकृततलोत्रे तत्कृतग्रन्थानां प्राप रसाधिकार्यवालकोपप्रकाशादिसर्वेषामपि नामानि गृहीतानि, तत्रास्य स्वात्पवानस्य नामादौ नास्त्यन्वेद । श्रीदेवकीनन्दनानां पोत्रा अपि श्रीदेवकीनन्दना चतुर्षु । तेषि १९६५ भाषणशुष्णार्णे मार्गशीर्षकृष्णसप्तम्यां प्राञ्ज । कदाचित् तेषु एव प्रजेतार एषु ।
५. पञ्चमं स्वात्पवान श्रीमद्वीरचरणानाम् । श्रीद्वीररावा इति प्रसिदा हि ते । तेषां प्रातुभूतं परन्तु भाद्रपदकृष्णपञ्चम्यां १९७० वर्षे । एषां प्रहसम्बन्धसरकारेषु श्रीविहलेषराणां चतुर्थकाले श्रीवहमै श्रीगोकुलनायेतिप्रसिद्धैस्ते कृत । श्रीद्वीररावाणामसत्पत्ता सूदमाग्रन्था द्दवपन्ते । श्रीमद्वीरचरणग्रन्थरूपे तु शुद्धपुलिमार्गीय कलामक रसाभक विभवोपात्मक साशरिण्य मूर्तिमत् प्रातुभूतमनुभूयते । तेषां स्वात्पवानानि सर्वानपि भववतुपुनानि । नि साधनगीवानतुगृहीतुमेव तेषां प्राकल्पमिति प्रतिभाति । अत एवात्र मुद्रित तेषां सेवाकल्पस्वात्पवान भववतुपुण सरल मकि निह्नवतुपुग्रहाय विराजते ।
६. षष्ठं श्रीविहलेषराणां सुतना श्रीवहभानाम् । काकाश्रीवहभजीतिप्रसिदा हि ते श्रावण कृष्णपशुर्षवा १९०२ वर्षे श्रीमत्प्रभुचरणश्रेष्ठपुत्रभीनिदिपत्त पुरपत्तमयया दुनीवसत्या निभूयवन्त श्रीदहा । श्रीसुपोषिनीलेलकारा अथेते एव । श्रीदशग्रन्थोपरि तेषामन्वानि स्वात्पवानानि द्दवपन्ते । निरोपलक्षणविदुषिधोषमसा'सविधे एतते । इमे श्रीवहभना श्रीदेवकीन-द्वनन्दना, १९०२ माघ

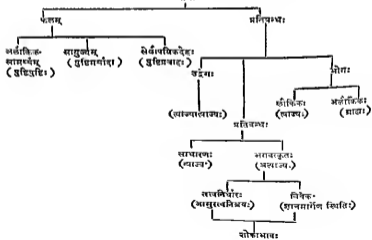
सेवाफलतात्पर्यम् ।

—२०८—

श्रीकृष्णं वरमुन्दरे मधुरिमामूनि तदास्यप्रभृन् । सेवायां मकरन्दपागमधुषी लोकोचरो तामुती ॥
मया तानखिलान् निगूढदृशान् सेवारसास्वादकान् । स्थापयामासि तिलोचन तानि निवृत्ति तन्दोहस्यो वते

निःसाधनजनोद्धारप्रकटिततनुभिः श्रीमदाचार्यवर्यैर्निजजनाः स्वल्पेनैव प्रयासेन सर्व-
सिद्धान्तं जानीशुरितिक्रमया षोडशग्रन्थाः प्रकटीकृताः । यद्यपि तं तमधिकारिणमुद्दिश्य
आचार्यैरेते ग्रन्थाः प्रणीतास्तथाप्याचार्याणां यावन्स्य उक्तयस्तासां न्यायरूपत्वात् तत्ता-
त्पर्यं सर्वथा सर्वदा त्रिकालाद्याप्यमपरिच्छिन्नमिति तु निर्विवादं तद्वन्धाध्येतृणाम् । यथा
नवरत्नो देवश्रीगोविन्दमुद्दिश्य प्रकटीकृतस्तथैव सेवाफलं श्रीविष्णुदासमुद्दिश्य प्रकटितम् ।
षोडशग्रन्थेषु सेवाफलग्रन्थस्त्वन्ते वर्तते । अस्य ग्रन्थस्य निगूढार्थत्वात् सकलपुरुषार्थ-
पर्यवसानप्रतिपादकत्वात् स्वयमेवाचार्यास्तं विगृह्यन्तः । विवरणसहित एव सेवाफलग्रन्थो
महातुमवैस्वैस्त्रैयोस्वामिभिर्भेदैश्च यथाशक्ति यथामति विवृतः । तत्र मिलितानां द्वादशविवर-
णानां संग्रहोत्र कृतः । यद्यप्येतासां टीकानां विषयोयं ग्रन्थस्तथाप्यस्य गूढार्थत्वं तु नैवापैति ।
आदौ तावद्यथा षालशोधोस्वामिः पूर्वं पुष्टिभक्तिमुधायां प्रस्तरेण स्पष्टीकृतस्तथैव-
ममपि ग्रन्थं प्रस्तरेण स्पष्टीकरिष्यामः, एतेनास्य ग्रन्थसाशयो विशेषतः सुगमो भविष्यतीति ।

सेवा



सेवा—नृणामात्यन्तिकनिःश्रेयससिद्धयर्थं श्रीमदाचार्यैः पूजामार्गाक्षिप्तः सेवामार्गः
 रोहप्रधानः प्रवर्तितः । अस्मिन् मार्गे रोहस्य प्राधान्यं न विधेः । सेवासन्दर्भः श्रीमदा-
 चार्यैः सर्वनिर्णयेषु दर्शितः । 'भक्तिश्चन्द्रस्य पाल्यर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमेति' । अर्थमूला-
 हन्ताममताया नाशं विना चित्तस्य प्रवणं भगवति न भवतीत्येतदर्थं प्रथमं तनुजचित्तज-
 सेवोपदिश्यते श्रीमदाचार्यैः । अहन्तारूपस्य देहस्य ममत्वारूपस्य चित्तस्य विनियोगो
 यदा भगवति सर्वशेन भवति तदा तादृश्यहन्ताममताया विपरिणामो भवति, चित्तस्य
 सर्वतः सन्बन्धे निवृत्ते तस्य भगवति स्थितिर्भवति । भगवदीयस्य तदाहन्ताममतापि
 भगवदीया भवति । सा तु न चाधिका, प्रत्युत परमफलसाधिका । देहचित्तस्य भगवति
 विनियोगः साक्षान्मूर्तिमूर्तोपीजनवत्सोपदिष्टप्रकारेण महाप्रतिज्ञारूपसर्वस्वसमर्पणद्वारा
 श्रीमदाचार्यैः स्वशरणगतजीवानां कृतः । तदेव ते जीवा भगवदीया भूत्वा ज्ञाननिष्ठजीवानां
 परमकष्टेनासाध्यं जीवनमुक्तिमक्षावयोधरूपमवान्तरफलमनायासेन प्राप्तवन्तः । एतादृक्
 प्रकारेण चित्तप्रवणद्वारा यदा भगवदीयस्य सेवा मानसी आर्षिदेविकी भवति, तदा सा
 स्वतःफलरूपा भवति । तादृशां विरलभक्तानां तु सेवां विना न किमप्येक्षितम् । एत-
 देवोक्तं श्रीभागवते 'मधुद्विदसेवानुरक्तमनसामभयोपि फलम्' इति । ईदृशी स्वतःफलरूपा
 सेवा केवलभगवदनुग्रहैकलभ्या । अतोस्मिन् ग्रन्थे यत्फलमुच्यते तत्पुष्टिमार्गीयसेवाया एव,
 न केवलमर्षादानमार्गीयाया वा केवलप्रसाहमार्गीयाया वा । अत्र श्रीहरिराया वा श्रीमदाचार्यैः
 केवलाया मानसा एव फलमुच्यते इति विचार्य तस्याः फलत्रयमुक्तवन्तः । श्रीपुरोत्तमाः
 तनुजचित्तजसहितमानसीसेवायाः फलमुच्यते इति विचार्य तस्याः फलमुक्तवन्तः ।
 केचित्पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्षादापुष्टिप्रवाहसेवायाः क्रमेण फलत्रयमुक्तमार्चार्यैरिति वदन्ति । सर्वैरपि
 सिद्धान्तमुक्तावलीप्रोक्ता सेवोपन्यस्यते । श्रीमदाचार्याणां वाचा निगूढार्थत्वात् विचरण-
 कारणां भिन्नभिन्नाधिकारवत्त्वात् यादृशोधिकारस्तादृशी स्फूर्तिरिति सर्वेषां मतानामाचार्या-
 शयानिबद्धत्वात् सर्वेषामतिरोपस्तु सिद्ध एव । अयं सेवामार्गस्तु केवलप्रेमप्रधानः,
 नैवान क्वियाया वा ज्ञानस्य प्राधान्यम् । भगवन्भावता सर्वेषामत्राधिकारः । एतादृशी-
 पुष्टिमार्गीयसेवायाः फलत्रयमुच्यते, उत्तममध्यमसाधारणभेदक्रमेण । ततोत्तमायाः फलम-
 लौकिकसामर्थ्यं पुष्टिपुष्टे' । सायुज्य मध्यमायाः पुष्टिमर्षादायाः । सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठा-
 दिषु साधारणयाः पुष्टिप्रवाहाया' । जयगोपालभट्टास्तु एतत्क्रमं नैवागीकुर्यन्ति । तेषां
 मते तु सायुज्यमेव परम फलम्, अलौकिकसामर्थ्यादि गौण फलम् । लक्ष्मणभट्टास्तु
 अत्यन्तरगान्तरगग्रहिरगानां सेवानां क्रमेण फल दर्शयन्ति ।

अलौकिकसामर्थ्यम्,—भगवता सहस्रगामादिसामर्थ्यं मुखाचामिर्नतिश्रीरूपाण-
 राया । अलौकिकभजनानन्दानुभवयै स्वरूपयोरर्थवैति श्रीयोगेशा । श्रीमद्भक्त्याचरन्त्या इतर-
 प्रमाणागोचरमितरसाधनाप्राप्य सर्वस्वभावेकलभ्यभजनानन्दानुभवरलक्षणमिति श्रीदेवकी-

द्वयसहस्रं प्रादुर्भूता इति केपाक्षिमत समामवगारखधीमदनमोहनलाळमन्दिरखधीमुबोधिनी-
 छेतेतिधीतो निरद्वाराशैवासाक प्राद्वम् । भाषासम्भवेनापि मिधीयते एष धीमुबोधिनीलेखत्रि
 रैवेय टीका डिनितेति । तेवारछल तेपा धीमुबोधिन्नुसारिग्याप्यन तदेव श्रावयति । एतेव
 गीतातरवदीपिकावारा धीवत्तमा धीदेववीनन्दननन्दना एष स्युरिति । पञ्चमपूढे द्वी धीवत्तमी
 तरवदीपिकाकारा धीवत्तमा धीदेववीनन्दननन्दना एष स्युरिति । पञ्चमपूढे द्वी धीवत्तमी
 प्रादुर्भूती । तयोरेक श्रीदेववीनन्दननन्दन १९०३ मार्गशीर्षपुष्यसहस्रं प्रादुर्भूत । अन्वय
 धीविह्वलरायपुत्रः १०२९ कार्तिककृष्णद्वादश्यां प्रादुर्भूतः । स तु धीपुटपोत्तमदवांवीन इति
 न स लेखकः । जामनगरखधीमदनमोहनलाळमन्दिरखधीमुबोधिनीलेतेतिधीतो श्रावते यदपि
 धीवत्तमा काकाधीवत्तमभीतिप्रसिद्धा धीविह्वलेशानुभव । तत्र धीपुटपोत्तमात् प्राद्वकालीन
 धीविह्वलेशानुवर्त्त कोपि धीवत्तम पञ्चमपूढे प्रादुर्भूत । तस्मात् धीपुटपोत्तमात् प्राद्वकालीन
 धीवत्तमस्य लेखकत्वं नैव समीचीनम् ।

७ सप्तम धीमदपुटपोत्तमानाम् । धीमदाधार्यत पुटपपजनया सप्तमी सप्त्यां विभूयन्तो
 भाद्रपदपुष्यदशम्यामेकादश्यां वा १०२४ वर्षे प्रोद्भूता । तेषां विवरण याक्षीयमाचार्योत्तमस्य
 रचयति प्रतिभति । विदोपतक्षेपां चरित्रजिज्ञासुमि पुष्टिभक्तिमुपेतिमासिकपत्रिकाया पञ्चमवर्ष
 तृतीयको दृश्य । पावज्याय भाद्रमास्य वा तेषां चरित्राङ्कमसाहित्यैव विधेक्षितमिति मात्र
 पुनरुच्यते ।

८ अष्टम व्याख्यान केपाक्षिरोस्वामिनाम् । एद व्याख्यान धीपुटपोत्तमात्तारिडोकान्धव
 मनुसरति ।

९ नवम व्याख्यान काळभट्टानाम् । केविद्याधंशातिजनामैलनदेसीया विद्वांसो प्राज्ञा
 धीमद्विह्वलेश्वरमनुचरिणोक्तुले समानीता । स एव धीमदपुत्ररणी कन्यादानव्यवहारी रक्षित ।
 पुनाटोपु प्राज्ञेषु द्वी भातरी योनिन्दकृष्णभट्टी बभूवन्तु यथाभंगिनी धीरुमिणी धीमदपुत्ररणी
 स्वपक्षियेन स्वीकृता । आत्रेयापक्षान्विधनायत पुत्रो हि एतौ । विधनायभट्टवश्येण कश्चिन्मपुत्र
 भट्टे बभूव । तस्य मनुसूदनभट्टस्य सूनव एते स्वसुभट्टोपनामवात्कृष्णदीक्षिता । सप्तमस्यार्ध
 जयसिंहस्यभिता । सवार्धे जयसिंहस्य सवत् १९८८ वर्षे प्रादुर्भूत, १०२८ वर्षे पञ्चम वात् ।
 नतोभिनसमेवे काळभट्टा विधायना जामन् । प्राय धीमदोस्वामिना दुहितृती वश्या भद्रा शयुष्यन्ते ।
 काळभट्टा अपि तथैव । तास्वामिनीविरिधारिणा सिन्वा । तेषामनेकपुत्रा एसाञ्जिता उच्यन्ते ।
 तथा लेखनशैली तु सरल पठते । तस्मात्तवमशिक्षन् स्वस्ययानेपि प्रवृत्तभवति । अनुभाष्यविपुलायै
 प्रकाशिकाधीमुबाधिनीवोजनानिवन्पयोजनासेवाकमुदीनिबधायनवप्रमदरत्नाणवयोऽशाप्रभविवरणादयो
 पद्यो ग्रन्थानया प्रकाशकत्वेन मनीक्षते ।

१० दशम व्याख्यान मठपताजयगोपालभट्टानाम् । एते चित्तममिदीक्षितस्य सुतव । ते
 धीमदपुत्ररणीधीविह्वलेश्वरद्वितीयकुमारधीमोनिन्दरावज्येष्ठपुत्रधीकल्याणरायाणा सिन्वा । स्वकृत
 तैलवीयभाष्ये यद्विमुक्तमुपनयने च स्वपरिचयमेव वारयन्ति । प्रणमामि हरिं धीमद्वत्तभाषावेत्तपिणम्,
 धीविह्वलेश्वरप्याज्य प्रभून् स्वाभीष्टसिद्धये । धीमदोक्तुनाथान् धीमदकल्याणरायगुरुवरणात् ।
 नामनिवेदनदात्र प्रणमामि हस्तुहस्तु प्रमथा । तैलवदन्वचिन्तामणिलक्ष्मणो मठपतिचचित्पात् ।
 जयगोपाल उपानयनस्य चित्तनाय तैलवीयाथाम् ३, धीमद्वत्तमविह्वलेश्वरद्वितीयोक्तुनाथम् । तथा
 अनिपथप्रचारवपुरान् धीकल्याणरायान् सुकृन् । जयभ्रातृपदभ्युजातपुत्रकल्याण च सर्वोत्त कुर्वे
 प्रणमद वद्विमुक्तमुपनयनाञ्चि केजवा । 'तैलवदन्वचिन्तामणिलक्ष्मणो मठपतिचचित्पात् । जयगोपाल

कृता कृतिरेषा चन्द्रतार्कं जयतात् ।' भट्टेषु ह्ये काल्दमहानामपि प्राज्ञः । अद्यापिपर्यन्तमहातपूर्वा हि
 से । पं. गङ्गाकलेखेऽपि तेषां न किमपि विद्यते । परन्तु एतेषां वैदुष्यं तु निर्विवादम् । बहयोपि
 कृतपक्षेयानुपलभ्यन्ते । ऐतिहीयनाप्यवदिर्गुणमुत्सर्गसहित्यमंगलकृतकृष्णकर्णाभृतटीकाशुद्धपुष्टि-
 मार्गापसेवाद्यः प्रबन्धात्तेषां नयनयोधरीभवन्ति । सर्वस्वतिष्ठतर्षगीतसूयटीकायाः परद्रव्यं सममुत्तरा-
 मैजुंजरातीपप्रदीपावर्ष्ये संयत् १९७० वर्षे मुद्रितम् । अक्षिर्वर्षिभ्या स्वकृतटीकाया उपन्यासोन्मि-
 शेव सेवाफलम्याकषाने नैः कियते । मुष्टदोषनिषङ्गाप्यमपि तैः कृतमिति सम्भाव्यते इति वाक्य-
 तैत्तिरीयभाष्याज्जायते । सेवाफलम्याकषान्यपि तेषामतिरलिकं वर्तते । एतैरस्य व्याख्यानस्यान्तिम-
 पध्यामि स्वकृतविवरणमेकवारं समाप्य पुन धीहरिराषादिमतसङ्गनाथ पञ्चाष्टितितामि । तेषा परमत
 सङ्घर्षं नास्माक सन्तोषप्रदम् । एतदमे रपष्टीकरिष्यते ।

११. एकादशं प्यारवानं महेजालदम्यमहानाम् । ह्ये लदमणमहा- महेषाधीनायभट्टपुययोपी-
 नायभट्टसूत्रव । ह्ये तु सर्वेषा भजातपूर्व । कथपि प्रथ्यन्ते तेषां धाम न विद्यते तथापि तत्पुस्तकोपरि
 'धीनायभट्टस्य पुत्रधीयोगीनायभट्टस्य पुत्रलदमणमहेश्वर'मिति दृश्यते । एतेषामन्येषु ग्रन्था. प. गङ्-
 कादहमल्लिशितसंमदे दृश्यन्ते । तथापि ग्रन्थान्ते इतिथी समाया ।

१२ अथ विवरणस्य कर्तृनाम न विद्यते । अथ एषामामिन्ते मुद्रितम् । जयगोपालकृततदुपन्या-
 सार्दिने केपि प्राचीना इति निश्चीयते । प्रतिदासु सेवाफलटीकासु धीमजनायकृता टीका नास्माभिरव-
 लम्बा । जामनगरे श्रीमद्वनमोहणलालमन्दिरस्यपुस्तकसंग्रहे तस्या पुनश्चत्रय विद्यते, परन्तु तन्म-
 न्दिराविद्यान्धीमनिरुद्राना कृपाभावात् सा टीका नास्माकं मिलिता । तेषु पत्रद्वयमपि प्रेषित परन्तु
 चारदुभावापि तेषामवकाशो न मिलित इति प्रयुत्तराभावाद्गुन्नीयते ।

अस्मिन्पुत्रके त एव पाठो रक्षिता ये केपुषिदपि आर्द्धसंपुलकेषु विद्यन्ते । कुत्राप्यार्द्धपुलकेऽनु-
 पलम्बमान पाठस्तु, यत्रापि आर्द्धो विद्यमान पाठोऽस्माकमसमीचीनो भात, तथापि नैव निषेधित .
 यतन्मैव करणे ऋषिभ्यमहानर्था भवति । केनचित् कुत्राप्यार्द्धसंपुलकेऽविद्यमान सात्रमहपादनिवेशने-
 नाशुक्त कश्चित्. पाठो विवेधित, टीकाकारान् प्रति महामन्यावम इत । प्राधेयामदे क सात्रदाधिक-
 ग्रन्थसूत्राकर्तार प्राचीनार्द्धो विद्यमानैव पाठान् मुद्रणे रक्षन्तु, न तु स्वमन कश्चितान्, यतो
 य पाठोऽस्माकमसुद्ध प्रतिभाति स अप्येपामलन्तवसीचीनो यतीति ।

अथ यानामाप्यटीकासमैतयेकावृत्तग्रन्थ मुद्रणस्यैवो गोस्वामिपर्यधीनीवनलाले महर्षे कृत
 इति तेषामुपकृति तय सलितव अराम , प्राथम्यमदे धान्येपि गोस्वामिन धीमन्तो विष्णवात्र पुनाननु-
 कुपुंति । एतेषा गोस्वामिपर्याना कुपयैव सेवाफल द्वारदाविवरणपुत मुद्रित सात्रदाविकाता मुगम
 भविष्यतीति ।

मार्गदीर्घकृष्णनगी,
 धाम, प्रमुचरण, कल्यो मव

}

मूलचन्द्र तेलीवाला ।
 वैश्याल सांकलीया ।

नन्दनाः । भगवतः कोटिसूर्याभिरूपस्यालन्तिकफलदित्सायां सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रभो-
 हृदयप्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यमिति श्रीहरिधनचरणाः । सर्वाभोग्यसुधेतिश्रीवल्लभाः । पर-
 प्राप्तिविवरणश्रुत्युक्तमभगवत्स्वरूपानुभवे 'प्रदीपवदानेश' इतिसूत्रोक्तरीतिकभगवदवेशजा
 योग्यता यया रसात्मकस्य भगवतः पूर्णस्वरूपानन्दानुभव इति श्रीपुरुषोत्तमाः । तदनु-
 सारिणश्चानुक्तत्वात् तथैव । साक्षात् श्रीवृन्दावनादौ श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनस्पर्शनादिकृति-
 क्षमत्वमितिलात्प्रमत्ताः । कस्यचिदेतत्सहाते कस्यचिदेतदेहपातोत्तरं वृन्दावनादिष्वलीकिक-
 सहातेन प्रियतमभगवत्सङ्गम इति जयगोपालमहाः । भगवत इवालीकिकमेव ज्ञान-
 कियाम्यां सामर्थ्यं जगद्ध्यापारवर्जमिति लक्ष्मणमहाः । साक्षाद्भगवत्सम्बन्धरूपम्, हीन-
 जीवस्योत्तमभगवता सह साम्येन रती रसोद्बोधश्चेतिविवृतितिष्पणीकाराः ।

इदं त्ववधेयम् । अत्र सर्वेषां टीकाकाराणां मतानि प्रायो भिन्नानीत्यतोनुमीयते
 यद्वाचार्यैर्न किमपीदमिदयतया विवक्ष्यते । जयगोपालमहं विना सर्वेपि टीकाकारा
 अलीकिकसामर्थ्यमुत्तमफलत्वेन मन्यन्ते । नैवेदं फलं जीवकृतिसाध्यम्, परन्तु केवल-
 भगवदनुग्रहैकसाध्यम् । प्रधानन्दात् समुद्भूत्येदं फलं भगवता घृतेषु विशेषरूपया दीयते ।
 कीदृशं तद्वानं तद्विश्वेत् नैव शक्यते, भगवदिच्छाधीनत्वात् तस्य । एतत्फलं तु गोपवधू-
 सत्सखतमग्रेमात्यकोक्तमक्त्या परमसंतुष्टेन भगवता विशेषानुग्रहस्यापमाय क्वचिद्
 दीयते । कोटिस्रष्टाण्डादीनामखिलनियामकः सन्नप्यत्र खेच्छया भक्तमनोरथपूरणाय
 भगवान् तद्वदयो भवति । अखिलं जगत् खेच्छया लीलया नतैयन्नपि परमाद्रीर्द्रो भूत्वा
 भक्तमनोरथानुसारेण तद्वशः सन् स्वयं नृत्यति भगवान् । सर्वज्ञो भूत्वापि यशोदायाः
 सन्निधौ महासुगन्धवत् तिष्ठति । भक्तमन्थरीयं स्वयं रक्षन्नपि भक्तापराधक्षमाकरणाय
 स्वसाशक्तिं कपयन् दुर्वाससं प्रति भक्तवश्यतां प्रकटयति । अखिलं विश्वं स्वमायया
 पन्धयन्नपि श्रीमन्मातृचरणानां भक्त्यतिशयेन खेदातिशयेन तद्वशः सन् स्वयं श्रीमद्यशोदया

१ ननु शिष्ये भगवानेतावत्तदा बन्धनरूपो जात इति चेत् तदाह एवमिति । एवमपकारिणि
 लोके स्वकीयवमात्राभिमानेनापि एतावतीमभूत्पूर्वां कृपां करोतीति स्वस्य भक्तवश्यता प्रदर्शिता । प्रदर्शन-
 स्त्वापि प्रबोधनमाह इतिनेति । स हि सर्वदुःखतो तत्प्रतिश्रयैतत्सम्बन्धेन दुःखहर्तृर्येतिप्रतीमान् सत्सार-
 चित्तं स्मारिति सम्बन्धार्थेकृपात्तौ प्रदर्शयति । कृपा च सर्वपरमपर्मिभ्यो बलिष्ठेति यत्तु भक्तवश्यता-
 धर्मेनैवोक्ता । ननु भक्त्या वेदार्थपर्मिणासुपमदं क्वचित् तदा स्वरूपस्य प्रत्युत्पत्तात् फलाभावात् प्रदर्शन-
 मपि स्वयं स्मारित्वासायहाह स्वयंजातीयि । स हि स्ववच एव, न केनप्युपमदं । धर्मेन फलतापवश्य-
 मुक्तम् । परत्परावसाह इत्येनेति । ननुवेदं कृते अन्यो महान् प्रज्ञादिने मस्यते, ततो माहात्म्यस्य
 न्यूनभावात् तथा फलत्वमित्याद्यपयाह यत्वेदं शेषं च इति । तत्तदभित्यादुदेवतादहितं सर्वं मया
 जगत् वदते । अतो मान्यभावनं केनचिदपि कर्तुं शक्यमिति म्यात् । नेम शिरोको न भवो न धीरप्ययंशयया
 प्रयादं सेमिरे गोपी वत्प्रापय विमुक्तिदाह । एव समनोरथे शिदे- ।

दासा षडो भवति । ईदृशं किञ्चित्प्रकारकं सामर्थ्यं यत्र मत्तपतिशयेन प्रेमातिशयेन भगवान् भक्तवश्यः सन् तत्कामान् पूरयति तत्र प्रकटीभवति । इदमेवोत्तमं फलं श्रीमदाचार्याणामभिप्रेतमिति नाना संशयः । श्रीमद्रोकुलनाथानां श्रीमत्पुरुषोत्तमानामप्ययमेवामिप्रायः । 'सोक्षुते' श्रुतिरपि भक्तस्य निविधरसभोगचतुरेण रसेश्वरेण भगवता सह भोगं निरूपयन्ती भक्तस्य प्राधान्य भगवतो गौणत्वं स्पष्टमेव कथयति । प्राप्तं फलं यावत्पर्यन्तं स्वाधीनं न भवति तावत्पर्यन्तं तस्य फलत्वमपि न प्रकटीभवति । रसशास्त्रेण रसाधिक्ये पुंसावः प्रतिपाद्यते । अर्थाद्भगवतो गौणत्वं भक्तस्य प्राधान्यं यत्र भवति तदैवातीक्रिसामर्थ्यं प्रकटीभवति । स्वस्य स्वातन्त्र्यं पालयन् भक्ताधीनो भूत्वा तन्मनोरथान् पूरयन् स्वस्य निरुद्धधर्माश्रयत्वं महामाहात्म्यं च प्रकटीकुर्यन् भगवान् श्रीकृष्ण एव परमफलरूपोऽतीक्रिसामर्थ्यरूपः श्रीमदाचार्याणां हृदयशेषे नित्यं रमते स्म । यद्विरपि श्रीमदाचार्याणां सद्भिषो अस्मिन्नीलाविशिष्टो भगवान् कृष्णो रममाणः प्रकटतया भक्तवश्यतां प्रदर्शयन् निरन्तरं स्वदन्विषयो भवति । एतादृशं भगवतः परम फल याच्नसामोचर सत् शब्देः कथं प्रतिपादयितुं शक्यते । अनुभवैक्येयत्वात् तस्य । अत एवाचार्यैः तादृशनिगूढत्वप्रदर्शनाय 'अतीक्रिसामर्थ्य'- इति परमनिगूढशब्दप्रयोगः कृत इति प्रतिभाति । अत्रापि सर्वेषां टीकाकाराणामिति निरोधस्तु अनुक्तसिद्ध एव । सर्वेषां भिन्नाधिकार्यत्वात् भगवतः सततच्छेष्टत्वाच्च कीदृशं दानं भगवान् करिष्यति तत्र ज्ञातुं शक्यं इति । श्रीपुरुषोत्तमचरणैस्तु अनिरोधप्रकारो- तिसुन्दरतया प्रतिपादितः, अतस्त्वं आस्माभिरत्रानूयते । एतत्सर्वं भगवतो नानाविध- प्रवेशहेतुकत्वाद्भवन्निच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वाद्गुणसमिति ।

सायुज्यम्.—सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो धारः सायुज्यम्, सहभावः गोदाना- मितेति श्रीकृत्याणरायाः । भक्त्या मामभिजानातीत्युक्तो भगवत्स्वरूपे लय इति श्रीगोपेश- श्रीदेवकीनन्दनश्रीपुरुषोत्तमा. लल्लभद्राश्च । निवृत्तिदिष्णणीकारा अपि तथैव । संयोगानु- भवसामर्थ्यम्, भगवता सह सततस्मिन्निरेण सार्वदिकसयोगरसातुभव इति श्रीहरिधन- चरणाः । मोक्षुत इति श्रुत्युक्तमहमात्रेण भगवता सह भोग इति श्रीनरहाराः । शुद्धपुष्टिमार्गस्य भेदगम्यन्वयघटित केवलेन हि भावेनेत्यादिवाच्यैरत्युत्तमकृपया मयभाजज्ञानवेरागयतिरपेक्ष- प्रेमासक्तिव्यसनरूपकेनलभाननिभगवत्सहचारनिगिष्टमार्गकालिकमर्ककामभोगरूपमिति जयगोपालभद्राः । उभयनिधमपि सायुज्यमितिलक्ष्मणभद्राः । तथा चान द्विविध सायु- ज्यम् । रूढार्थकं योगिकार्थकं च । तत्रार्थं ज्ञानमिश्रितानामेकत्वरूपम्, अभेदरूप भेदात्यन्ताभावरूपमात्मनैक्यम् । शुद्धभक्तानामपरम्, भेदवत्सदसत्सत्सत्सत्त्वदानन्दातु- मवात् । पूर्वं देहेन्द्रियप्राणान्त.कण्ठानि विहायेह स्वात्मनैव केवलेन तदानन्दानुभवः,

अपरत्र सदैव तैरिति सार्थकतैयाम्, अन्यत्र नेति । अथापि पूर्ववदविरोधस्तु सिद्ध एव ।
 व्याख्यानस्य प्रकारद्वयम् । एक शास्त्रीयम्, अपर भक्तिमार्गीयम् । श्रीहरिरायादयो
 भक्तिसरणीमनुसृत्य यौगिकार्थक सायुज्यमङ्गीकुर्वन्ति । श्रीपुरुषोत्तमादयः शास्त्रीयसरणी-
 मनुसरन्तो रूढार्थक सायुज्यमङ्गीकुर्वन्ति, तथापि यौगिकार्थसायुज्यग्रहणे नैव तेषां
 प्रद्वेष, प्रत्युत सम्मतिरपि वर्तते, यत तैरपि निबन्धे 'आदिमूर्ति, कृष्ण एव सेव्य-
 सायुज्यकाम्ये'त्यत्र तथैव सायुज्यशब्दो यौगिकार्थे व्याख्यात । श्रीपुरुषोत्तमरीत्या
 विचार्यमाणे इदं सायुज्य पुष्टिमर्यादाया फलं भवति । श्रीहरिरायरीत्या विचारिते तु
 इदमपि फलं मानसा शुद्धपुष्टेरेवेति भेदः । अत्रेदमपि ध्येयम्, शास्त्रीया जीवस्य
 प्राप्यफलस्य विचार्यमाणे सायुज्यपर्यन्तं शुद्धिरारोहति, तदतीते अलौकिकसामर्थ्ये तु न ।
 अत एवाचार्या प्रायः सर्वत्र फलं निरूपयन्त सायुज्यशब्दं प्रयुञ्जन्ति । स्वस्मिन् लयं
 कारयित्वा अनुग्रहविशेषेण पृथगाविर्भावयित्वा यदा फलं दातुं प्रभुरिच्छति, तदा भक्तस्य
 तदनुभवोपि नैव स्वरूपेण, परन्तु भगवत्कृततत्प्रवेशहेतुकं, प्रभुरेव तस्मानुभवात्मा तदैव
 भवति । तस्याभवस्यापि यत्र सर्वोपि व्यवहारो भगवदीय एव, आत्मत एव इदं सर्वम्,
 तत्र द्वैतद्वैतयोः प्रश्नो नैवोत्तिष्ठति । तथापि भेदेनानुभवं विना भक्तिरसस्यानुभवो सम्मा-
 न्यतो न भवतीति विचार्य श्रीगोकुलनाथश्रीहरिरायादिभिर्द्वैतविशिष्टाद्वैतपक्षं कश्चिदुप-
 न्यस्तः । वास्तव श्रीमदाचार्यप्रतिपादितं शुद्धाद्वैतमेवाखण्डितं तेषां मते भवति ।
 तथापि तत्पक्षमनुसृत्य तैः सायुज्यशब्दस्तथैव यौगिकार्थे व्याख्यातः । अतो न कुत्रापि
 विरोधः । अत्र जयगोपालमहास्तु श्रीहरिरायवत् सायुज्यशब्दं यौगिकार्थकमङ्गीकुर्वन्त-
 सायुज्यमेव परमफलमलौकिकसामर्थ्यादि गौणफलमिति मन्यन्ते, तत्रैवास्माकं मन-
 सायाति । विप्रयोगस्य परमफलत्वं सयोगस्य मध्यमफलत्वं यन्श्रीहरिधनचरणौ प्रोक्तं तदपि
 परमाग्रहेण खण्डयन्ति । परन्तु तत्रापि दृष्टिभेदत एव विचारवैषम्यं भासते । श्रीहरि-
 रायादयः विप्रयोगमेव परमफलत्वेन मन्यन्ते, सयोगादयस्तेषां मते व्यभिचारिभावाः,
 विप्रयोगस्तु स्थायिभावः । श्रीमत्पुत्रचरणाः सयोगं परमफलत्वेन मन्यन्ते, तत्र सयोग-
 स्थायिभावः, विप्रयोगादयः व्यभिचारिभावाः । आचार्यास्तु 'आन्तरं तु महाफलं'मित्यत्र
 विप्रयोगस्य महाफलत्वं दर्शयन्ति । अत्र निरोधस्तु नैवाशुरपि । आचार्याणां
 विप्रयोगरूपत्वात् श्रीमत्पुत्रचरणानां सयोगरूपत्वादुभयरूपेण प्रभुफलरूपेण उभय-
 द्वारा प्रकटीभवन् स्वीयानां मनोरथान् पूरयिष्यन् निष्ठा तुषा यर्षयिष्यति कथं हेति
 न ज्ञातुं शक्यते । अतः सर्वत्र प्रतिक्षणनूतनत्वात् रमणीयमेव । क्रिय, रसरूपं प्रभुरेव
 परमं फलम् । रसस्योभयदलत्रिंशद्विहारात् सयोगरूपेण विप्रयोगरूपेण वा फलत्वं तस्य
 नैव व्यभिचरति । यम् निष्ठा विप्रयोगे भवति स तं प्रधानीकृत्य सयोगं मध्यमफलत्वेन
 मन्यते, यथा श्रीहरिरायादयः । यम् निष्ठा सयोगे भवति स तं प्रधानीकृत्य विप्रयोग

मध्यमफलत्वेन मन्यते, यथा जयगोपालादयः । श्रीमदाचार्यास्तु भयदलविशिष्टमपि प्रभुस्वरूप परमफलरूप मन्याना विप्रयोगस्य कचित्प्राधान्य दर्शयन्ति, क्वचित्तयोगस्य । उभयस्य परमफलत्वे तु नैव सन्देहः, तथापि वाटञ्च भगवता दानं तादृशी रुचिरत्पद्यते । अतो भगवतो रसरूपत्वात् तस्य च भावनिभावानुभावे पुष्टत्वात्, स्वपूर्णप्राकट्यकरणार्थेन वात्र विविधमतप्रदर्शनं भगवता स्ववृत्तभगवन्दीयद्वारा कृतमिति प्रतिभातीति सर्वं समञ्जसम् ।

सेवोपयिकदेहो वैकुण्ठादिषु,—सेवाया क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात् सेवानुपयोगे अन्ये तादृशसाक्षाद्रमानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायाम् सेवाया उपसमीपे योग सम्बन्ध तद्वत्पक्ष्यादिशरीरप्राप्तिरिति श्रीहरिधनचरणा । देहेन्द्रिया सुहीनं पुरुषस्त्रीपशुपक्षिवृक्षायाकृति सञ्चानविशेष इति श्रीपुरुषोत्तमचरणा । व्यापि-वैकुण्ठादौ पार्षदादिदेहप्राप्तिरिति लालम्भः । 'गोकुलं च न वैकुण्ठमिति कृष्णोपनिषदुक्ते प्रपञ्चातीतभगवन्न्यासस्यान व्यापिवैकुण्ठान्तर्गतं गृहद्वन नन्दीश्वरं चोच्यते । आदिपदेन श्रीवृन्दायनश्रीमद्रोवर्धनादि च । तत्र सायुज्यफलादानेपिकारं सेवोपयिकदेहरूपो पायवा भवतीत्यर्थः । वैकुण्ठान्तरस्य शुद्धपुष्टिमार्गाविकलरूपभगवत्लोकस्वामावाद् गोकुलस्यैव तादृशभगवत्लोकत्वाद् वैकुण्ठपदेन श्रीगोकुलम्, आदिपदेन वृन्दावनादिकं चामि प्रेतमिति जयगोपालभट्टः । अप्राकृतभूतभोक्तिकतृणलतीपभिक्षुपशुपक्ष्यादिदेहं अपि कारात्मा, तत्र सेवोपयोगी शोध्यं, वैकुण्ठपदेन मुख्येऽमुख्ये च । आदिपदेन स्वर्गादिषु निष्णो सानेष्वपि तथेतिलक्ष्मणभट्टः । अलौकिकदेहयोगुणादिकमिति विवृतिटिप्पणी कारा । रमाप्रार्थितवैकुण्ठक्षीरोदश्वेतद्वीपेषु भगवत्सेवायोग्यदेहप्राप्तिरिति श्रीगोपेशः । तथैव श्रीदेवकीनन्दना । आदिपदेन श्रीमधुरावृन्दायनादिकं प्राज्ञमिति श्रीवल्लभा । आदिपदेन मूलोक्ते उद्धवादीनामिव गवादीनामिषेति वा सेवोपयोगिदेहप्राप्तिरिति श्रीकल्याणराया । अत्रेदं ज्ञेयम् । श्रीगोपेशः श्रीदेवकीनन्दना क्रमेण मर्यादाभक्ते प्रावाहिकभक्ते फलं वदन्ति, अन्ये तु पुष्टिभक्ते साधारणभक्तेर्वा फलं वदन्तीति दृष्टिभेदतस्मात्सम्पत् ।

उद्देग —सेवाया क्रियमाणायामन्यत्र मननेच्छादिरिति श्रीकल्याणराया । मनसः सेवाया क्रियमाणायामुत्कृष्टे वेगः, सर्वथा तनास्त्रिता वादिर्गुह्यमिति श्रीहरिधनचरणा । मनसोऽन्यपरतेति श्रीवल्लभा । उच्चैर्भयं चलनं वा, सेवाया क्रियमाणायाम् दुष्टादिभ्यो मनसो भयं पापादिना बुद्धेशान्प्रत्यमिति द्विप्रकारकमुद्देगः श्रीपुरुषोत्तमा आहुः । भगवत्सेवासमये चित्तक्लेशप्रदक्षान्चत्पविशेष इतिलालम्भः । अन्ये तु विशेषं न कथनाहुः । अयमुद्देगः सेनाया प्रतिबन्धरूपत्वात् त्याज्यः । आचार्या प्रथममुद्देगादित्रयं ससाधनं त्याज्यत्वेनोक्त्याग्रे तस्यान्यत्वात्त्याज्यत्वनिर्माणं च कृत्वा पश्चाद्भयो साधारणप्रतिबन्ध-लीकिकभोगयो त्याज्यत्वं निरूपितवन्तो न उद्देगस्यापि, अत उद्देगस्य कश्चिद्विन्न एव प्रकारोभिमत इति निचार्यं श्रीपुरुषोत्तमान्त्वस्या अनुक्ते कारणं दर्शयन्त उद्देगस्यानुकाशेन अत्याज्यत्वमपि सूचयन्ति ।

प्रतिबन्धः—सेवासमये लौकिकवैदिककार्यान्तरासक्तिरन्यकृतान्तरायादिव्येति श्री-
कल्याणरायाः श्रीहरिरायाश्च । वेदनिन्दा म्लेच्छलिप्यदिर्गुखजनितोपद्रवश्चेति श्रीगोपेशः ।
कायस्थान्यपरतेति श्रीवल्लभाः । तत्प्रतिकूलो निग्रह इति श्रीपुरुषोत्तमाः । सेवायां रुचौ
सत्यामपि तत्समये लौकिकवैदिककायिकादिकार्यासक्तिरूप इति श्रीपुरुषोत्तमास्तदनुसारि-
णश्च । प्रतिबन्धकं तूदासीनं दुःखसुखे प्रयच्छतीति लालुभट्टाः । अयं प्रतिबन्धो द्विविधः ।
साधारणो भगवत्कृतश्च । साधारणो बुद्ध्या लाज्यः । भगवत्कृतस्तु न । भगवत्कृत-
प्रतिबन्धे तत्त्वनिर्धारविवेकौ साधनरूपौ, तेन फलं शोकाभावः, न मुक्तिः । विशेषस्तु
स्पष्टः, टीकासु दर्शितत्वादत्रानुपयोगित्वाद् विस्तरभयाच्च नानूयते । तत्त्वनिर्धाररूप
आयुरत्वनिश्चयः, भगवान् फलं न दास्यतीति विवेकश्च स्पष्टतया टीकाकारैरनूदितौ ।

भोगः—लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधः । लौकिकस्त्याज्यः । लौकिकभोगस्तु गृह-
त्यागं विना न सिध्यतीत्यतो 'भोगाभावस्तदेव सिध्यति यदा गृहपरित्याग' इत्याचार्यै-
रुक्तम् । अलौकिकभोगस्तु प्राद्यः । भगवन्निवेदितानां भोगोऽलौकिकभोगः । अलौकिक-
सामर्थ्यमिति प्रायः सर्वे वदन्ति, श्रीवल्लभास्तु प्रथमफलं सेयोपयोगिदेह इति वदन्ति ।
भगवत्स्मरणसहितकृतभोगस्तु नैव चाधकः ।

एवं सेवायाः फलं धाधकं चोक्त्वा आचार्याः स्वोक्तेः सर्वदा भावनगुण-
दिशन्ति । यद्यपीयं भावना न स्वकृतिसाध्या तथापि कर्तव्येति तथैव सर्वैरनूयते ।
गुणक्षोभेपि तद्भावनमेव कर्तव्यम्, अन्यत् सर्वं मनोभ्रमः । गुणक्षोभशब्दस्तु टीका-
कारैर्दिष्टा सामान्यतो व्याख्यातः । केचिदधुपुलकादिक्षोभ इति वदन्ति, अन्ये तु
सत्त्वरजस्रमसां क्षोभ इति वदन्ति । उभयथापि भगवच्छरणभावनमेवाचार्याणां स्पष्टम-
भिमतमिति तु नैव सन्देहः । तदीयेरपि तदेव कर्तव्यम्, फलाविलम्बाय, यतोऽपुना
जीवानां पुष्टिमर्यादायामेवाङ्गीकारः । यथाहुः श्रीहरिधनचरणाः 'साम्प्रतं तु पुष्टिमर्या-
दायामेवापुनिकानामङ्गीकाराद्भजनसिद्धिविलम्पसद्भावेन तावत्पर्यन्तं प्रोषितभर्तृकाया इव
फलप्रतिबन्धमावन सर्वदा कार्यमिति । अत्राचार्यैरुक्तं 'अवश्येयं सदा भाव्या सर्व-
मन्यन्मनोभ्रमः' इति वाक्यं पुष्टिमार्गीयसाधुनिकस्य कीदृशं कर्तव्यमिति स्पष्टतया ज्ञाप-
यति । सर्वप्रमाणातीतो चाश्विनसागोचरः सर्वैतच्चस्वतन्धो भगवान् केनचित्साधनेन प्राप्यते
इति तु नैव यत्तु शक्यम् । अत एव भगवत्प्रापकत्वेन किञ्चित्साधनं भगवदतिरिक्तं पुष्टिमार्गे
वर्तते इत्यपि तु यत्तु नैव शक्यम् । साम्प्रतं वेदमार्गस्य प्राय उस्तद्व्यात् सोऽपि भक्ति-
मार्गस्य पुष्टिमार्गस्याहत्वेनानेव प्रतिशक्ति । अतः पुष्टिस्थितौ भगवान् मर्यादास्थितसाध-
नैर्नैव प्राप्तुं शक्यते, अत एवोभयथा पुष्टिमार्गस्य निःसाधनत्वं स्पष्टं प्रतीयते । तथापीदं
विचारणीयम् । श्रीहरिरायश्रीपुरुषोत्तमादिभिरपुनानवताम्भना प्रचलन्तीनि प्राप्तायते,
मात्रत जीवानां पुष्टिमार्गीयानामङ्गीकारोपि पुष्टिमर्यादायामेव भवतीत्यपि तैरेवोच्यते ।

तेन यद्यपि जीर्णभगवत्प्रेरणं विना किमपि कर्तुं स्वयमेव नैव शक्यते, तथापि भगवत्प्रेरणया भगवद्भलेन यच्छक्यं भवति तदवश्यं कर्तव्यम्, स्वनिर्वाहय प्रोषित-भर्तृकावत् । यद्यपि एतत्फलरूप भावनं भगवत्कर्तृकमेव तथापि एतदेव भगवच्छरण-भावनं कर्तव्यं न तु तूष्णीं श्लेषम् । पुष्टिमार्गस्य भगवद्रूपस्याद्रगवतो निरुद्धधर्माश्रयवत्त्वात् तस्मापि तथात्वादस्मिन् मार्गे भासमानो निरोधोपि निरोधाभास इवालंकाररूप एव । साधन-फलरूपो भगवानेव । तथाहुः श्रीमत्प्रभुचरणा निवन्वे 'भक्तिमार्गे तु भगवान् स्वत एव यदा भक्तेषु सर्वं सम्पादयति स्वीयत्वेन, तदा भक्तः स्वाह्वीकारं सर्वात्मना ज्ञात्वा स्तुत्या-दिषु स्वाधिकारं जानाति ततः सतीति । अथवा सर्वात्मना स्वांगीकारज्ञानेनान्तरानन्दे पूर्णं चहिरपि सर्वेन्द्रियेषु प्राकृत्यसमये वाचि स निर्गच्छन् स्तुतिरूपो भवती'ति । यावन्ति साधनानि तानि न भगवत्प्रापकाणि, तेषां स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वात् । विशेषस्तु स्वलसकोचाद् गुजरानुवादे प्रतिपादयिष्यत इति ।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

मार्गशीर्षवृश्चिकमास, } मूलचन्द्र तैलीवाला ।
 भीमत्प्रभुचरणप्रान्थोत्तप } धैर्यलाठ सांरुलीया ।

३८ तमे पृष्ठे प्रकाशितसेवाफलविभूतिव्याहयामान्ते अधोलिखितो-
 शोऽधिक उपलभ्यते श्रीमन्मथुराधीशप्रख्यागारे (२१०/३) कमाकित
 राग्दभंसूच्याम् -

"भगवद्विष्णुभावनमात्रं तु श्रीगोपीजनवल्लभो अस्मत्प्रभु पुष्पायगीहृतात्मना स्वयमेवोद्देशादिक् नियार्थं यथाधिकारमनद्वयन्याक्ताफल दान्यति इति मिष्टम् ।

श्रीवल्लभप्रभोर्नामोच्चारणात्प्राप्तपुष्टिना ।

विचारिता यथाप्येषा पूर्वटीकानुसारत ॥

इति श्रीगोस्वामिमथुरानायात्मजद्वारिकेजन वृत्त. शेषाङ्कविभूतिप्रकाश. समाप्त

॥ श्रीगोपीजनवल्लभार्पणम् ॥

मिति कार्तिक शुदि ४ सवत्सर १९३५ ।

पुस्तक मथुरादास नो निखन कियो इरियात ।

मन्दिर श्रीमथुरेश ना दडोतिसिला पास ॥

॥ सेवाफलं सविवरणम् ॥

पादुशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धी फलमुच्यते ।
 भलीकिकस्य दाने हि चाद्यः सिद्ध्येन्मनोरथः ॥१॥
 फलं वा ह्यधिकारो वा न कालीत नियामकः ।

सेवाना फलत्रयम् अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्य सेवोपयोगिदेहो' संकुण्डादिषु.

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात् फलकम् ॥२॥
 अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्नैहि ।
 यथा वा तद्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥३॥
 बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम् ।
 निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रपमे विहाते तदा ॥४॥

सेवाना प्रतिबन्धकत्रयम् उद्वेगः प्रतिबन्धो भोगो वा, त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः भोगो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्च. तत्र लौकिकस्त्रयाज्य एव, अलौकिकस्तु फलानां मध्ये प्रपमे प्रविशति, प्रतिबन्धोपि द्विविधः साधारणी भगवत्कृतश्च, तत्र भाषो बुद्ध्या रयाज्यः, भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धः तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्, तदा अग्यसेवापि व्यर्था, तदा आसुरोप जीव इति 'निर्धारः', तदा ज्ञान-मार्गेण स्यात्तव्यं शोकाभानायेति 'विवेकः'.

ननु साधारणो भोगः कर्म द्यवतन्व्य इत्याकाशायागाह-

सविघ्नोऽल्पो घातकः स्याद् कलावेत्तो तदा भूतो ।

'सविघ्नो अल्पो घातकः स्याद्' इति सविघ्नत्वाद् अल्पत्वाद् भोगस्त्रयाज्यः-
 'एतो' प्रतिबन्धकी.

द्वितीये सर्वेषां चिन्ता श्याम्या सप्तारनिरवमात् ॥५॥

द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्ध ज्ञानस्थित्यभावे निन्ताभावार्थमाह 'द्वितीय' इति
नत्वाद्ये बाहुता नास्ति

आपफलाभावे भगवतो दासुत्व नास्ति उदा सेना नाधिर्द्विकी इत्युक्तं भवति
तृतीये बाधक गृह्यते ।

भोगाभावस्तर्केन सिध्यति यदा गृह्यश्रियाग

अवश्येय सदा भावया सर्वमन्वन्मनोभ्रम ॥६॥

तरीयरदि सत कामं पुष्टी नंष विलम्बयेत् ।

गुणयोर्भेदि दृष्टभ्यमेतदवेति भे मति ॥७॥

कुमुदिदरज वा वाचिदुत्पद्येत स र्धं भ्रम ।

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्यपरमहंसविरचिते सविस्तरण सभाफल ॥

॥ समाप्तम् ॥



॥ सुबोधिन्येकवाक्यतया सेवाफलस्वरूपनिर्णयः ॥

सुबोधिन्यां सेवनास्वरूपम्:

एकमनस गुरुपस्य सर्वेन्द्रियाणां सत्त्वमूर्तो भगवति या स्वाभाविकी वृत्ति सा भक्ति इति. ये देव्या सपदि जाता तेषामपि देवरूपाणि (इन्द्रियाणि) भवन्ति आमुराण्यपि भवन्ति एवस्मिन्नेव मोलके उभयमपि तिष्ठति मानि पुनर्निषिद्धे लौकिके च रज्यन्ते तानि वलाद् विहिते प्रवर्तमानान्यपि न परितुष्टानि भवन्ति इत्यामुराणि तत्र भक्ति देवैरेव भवति नागुरे किञ्च तान्यपि कर्मयोगतानादिवहुरूपे वैदिके कर्मणि प्रवर्तमानानि पूर्ववासनायाऽभ्यासात् भवन्ति तेषामपि यदि फलावस्था भवति तदा सत्त्व एव शुद्धसत्त्वरूपे भगवत्स्वरूपे प्रवर्तमानानि स्वभावतो भवन्ति यस्तुत-
स्तु गुणातीते भगवति स्वाभाविकी वृत्तिरिति भगवच्छास्त्रम्, "मधिष्ठ निर्गुण स्मृतम्" इत्यादिवार्ये सर्वा भगवत सामग्री निर्गुणा मगोपि द्विविध देवा-
मुरविभक्तं तत्रामुर मकल्पविवरूपात्मक मानाभावापन्न मनतात्मकमेव .. मनसा तु द्वितीयेन न भाग्यमेव तयामति इन्द्रियाणां पूर्वानता वृत्ति न स्यात्, अत ए-
स्वभावापन्न मनो यस्य तत्त्वं भक्ति . जन्मया तु यथाकथञ्चिन् विद्यमाना भगवति यण्डको वृत्तिरक्षयत्वात् बहुभिर्जन्मभि पुष्टि यता अस्मिन्मज्जमणि भक्तिरूपा वृत्ति जनधिष्यति इति न काश्चिन्नुपपत्ति वृत्ति त्रिभिष्टना नतु ग्रहणमात्रम् फलरूपे जन्मनि सा अनिमित्ता भवति स्वतन्त्रा, भगवन्निमित्ता वा, भगवत सेवायात् फलानि निमित्तानि. या अनिमित्ता सा भक्ति भवतीत्युक्तेरेण सम्बन्ध, किञ्च सा चेद् भागवती भवति, एताद् भगवन्त विषयीकरोति भगवद्भावा वा बहुगुणरूपता-
मापद्यत नुवतेस्तामुजयादपि इय भक्ति परिच्छा (सुबो. १।२५।३२-३३)

सुबोधिन्याम् अलौकिकतामर्थ्यस्वरूपम्:

सादृशभक्तानां शान्तिनामिवाप्रिमहृत्त्यमाह प्रकारद्वयेन. तत्र प्रथममाह त्रिभिर्नेका-
त्मतामित्यादिभिः, जीवता साधनावस्था पत्ररूपा तथा परा सायुज्य च तृतीय
स्यादती नोत्तान्तिप्रापय तत्र प्रथम भक्तानां साधनावस्थाभाह-

मंहात्मतां ये हृदयानि केचित्
मत्पादसेवाभिरता मदीहा ।
यन्वीज्यतो भगवता प्रथम्य
समाज्यन्ते मम पीरवानि ॥

इय फलरूपा भक्तिज्ञातिरूपा, ते भक्ता यावज्जीवन्ति च तावत्फलरूपां भक्तिं कुर्वन्तीत्यर्थं. फलरूपता तदैव भवति यदा भजनादसोऽभिभ्यस्तो भवती तस्या अभि-
 व्यक्ते निदर्शनं भगवत एकात्मता सापुण्यरूप फल न स्पृहयन्ति प्रार्थना तु दूरे
 ते भक्तेषु विरता प्रसंगाभिरूप्यन्ते केचिदिति दुर्लभा तेषा कायवाद्भवतीवृत्ति
 स्वभावत एव भगवति भवतीत्येवाह मत्सादेत्यादिना भग पादसेवागामेव अभिरति-
 र्मनोवृत्तियेषाम्. सर्वतो गत्या भगवत्कार्यं कर्तव्यमिति पद्भ्यां सेवेत्यर्थं अन्यत्
 सुख गमनानन्तरसाध्यम्. इय मनोवृत्तिरूपिता, कायिकीमाह मदीहा इति.
 मत्सम्बन्धिष्येव ईहा चेष्टा येषाम्. तेषा वाचनिकीमाह अन्योग्यत इति ----

तेषा फलावस्थामाह-

परयन्ति ते मे हृषिरावतस-
 प्रसन्नवज्जाराणसोषणानि ।
 रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
 साक वाच स्पृहणीयां वरन्ति ॥

ते मे रूपाणि परयन्ति निरन्तर भगवत्साक्षात्कारो भवति. यथा मिलंस्सह पीडति
 प्रथमत परयन्ति भगवतो रूपाणि वर्णयति हृषिराणवतससनि कर्णाभरणानि येषाम्
 जगन्नुन्दावगाथी भगवत्साक्षात्कारो भवतीत्युक्तम्. प्रसन्नानि वरप्रदानि अर्थानि सोष-
 मानि येषामिति -- रूपाणीति परमोपासकानामेक रूप कदाचित् साक्षात्कृत भवति
 तेषा तु यदूनि, तानि च दिव्यानि लौकिकभूदद्या न गृहीतानि. अलौकिकभाव वा प्रकट-
 यन्ति. सांप्रत्येव प्रकटाणीति तेषा सति नातिप्रसक्ति तेषामन्यदीयभ्यापूरणार्थं
 निदर्शनान्तरमाह वरप्रदानीति न ह्यन्यत्र वर दातु शक्यते. प्रसन्नरूपादेतेषा
 वेलक्षण्यमाह साक वाचनि. जीवन्त एतेत एतस्मिन्नेव लोक भगवता सह स्पृहणीया
 वाच वदन्ति. यथा मिलंस्सह द्रष्टासाया विद्यन्ते (सुबो ३१२५।३४-३५)

सुबोधिण्या सापुण्यस्वरूपम्:

तत्सौम्य सामान्यम्-

सैर्दंशनीयां च वेदवार-
 विलासहरासायात वापसुक्ते ।
 हुतात्मनी हुतप्रणोरच भक्ति.
 अनिबद्धतो यतिभक्तो प्रसुक्ते ॥

तौ पूर्वोक्तरूपे अनुभवसमय एव आनन्दजनने दर्शनीया अवयवा येषाम् उदारो विलासः, हासपूर्वकमीक्षित वाम मनीहर सूक्त वाक्य च येषाम्, तं हृतान्त-करणता वशीकृतैन्द्रियाणां च सा पूर्वोक्ता भवति, तामनिच्छतोप्यन्दी गति सायुज्य प्रापयति भक्तस्य चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं चतुरूपत्व च साध्यते तत्र, दर्शनीया अवयवा यामपूरवा, उदारो विलास अयंजनक, हासपूर्वकमीक्षित धर्मजनकम्, वामसूक्तानि मोक्षजनकानि. कामो हि विषयगोन्दर्येण अन्तःशक्त्या च सिध्यति, अतो दत्तं नीयेति विशेषण वहिरलौकिकसौन्दर्यार्थम् विलासो हि अयंस्य नानाप्रकारकत्वाय, उदारत्वं तस्य सर्वोपकारकत्वाय, भगवतो हि लीला सर्वेषां सर्वपुरुषार्थदायिनीति भगवत्त्वम् हासो देहादौ अध्यासजनक अन्यथा निरन्तर धर्मो न सिध्येत् हासपूर्वक च ज्ञान धर्मजनकमेव सूक्त हितकारी अविद्यानाशकम् वाम परमानन्ददायकमिति सूक्त्या हि गतिरेकरूपानन्दरूपता, रूपाणि च अनन्तानन्दरूपाणि, अतएवानिच्छा, अतएवान्त करणैन्द्रियाणां च तैराकर्षणं सर्वैन्द्रियसुखरूपत्वात् स भगवान् स्वगृह गच्छन् तानपि त्यजति, ते तु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति, भक्तिस्तु फलाशयमाविनी कालादिनामप्यगम्यम् अतिसूदममेव भगवदारण्यक फल प्रयच्छति (सुबो. ३।२५।१६)

सुयोधिनां वैकुण्ठादिव्य सेवोपयोगिदेहस्वरूपम् :

एव सायुज्यरूप फलमुक्त्वा तानोपवादिह्य फलमाह—

अथो विभूति मम मायाविनस्ता—
 मरुदयमष्टांगमनुप्रविष्टाम् ।
 धिय भाववती वाऽस्पृहयन्ति भद्रां
 परस्य ते मेऽनुवृते नु लोके ॥

अथो इति. सा चद् भक्तिर्मध्यमा भवत्, सतोय विभप्रक्रम. अथो मम मायाविनो विभति पुत्रधनादिरूपा स्वर्गादिरूपा च, न तत्र भोग्यमस्तीति मायाविन इत्युक्तम्, स्वस्वार्थि विषयस्य भगवदीयानां भगवदधीनत्वाय यच्छी तामितमलौ-
 निकी सर्वलोकसिद्धा वा एवमप्यणिमादि, अष्टायाति मस्वेति सर्वैश्वर्यप्राप्ति. भगवद्भजनमनु भगवन्तमनु प्रविष्टा धिय सर्वमिव सम्पति मोक्षपर्यन्तान्, भागवती च भगवत्प्रेतसम्पति च वल्यमादर, सर्वमेव वा अ स्पृहयन्ति, भद्रा मोक्षसम्पतिमपि मध्यमा भवति परमपरम प्रयच्छति इति, यद्यन्त्र तेषां भोगो न रोचत तदा वैकुण्ठ एव तस्यो भोग प्रयच्छतीत्याह परस्य मे तेऽनुवृते नु लोके इति, परस्य वासावराचन, सोऽो व्यापिर्वैकुण्ठे, सर्वमैश्वर्यादिकमनुवृते (सुबो ३।२५।१७)

सुयोधिण्यां फलाधिकारयोः कालानियम्यत्वरूपम् :

ननु लोनाना कालमयस्य विद्यमानत्वात् 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विद्यन्ति'
इति स्वस्थानस्यागात् किं वैकुण्ठलोके विषयानुभावेन इत्याशयदाह-

न कश्चिन्मत्परा शान्तरूपे
नश्यन्ति नो भेदनिमित्तो लोके हेति ।
येवामह प्रिय धारया मुतरव
सथा पुत्र सुहृदो देवमिष्टम ॥

शान्त रूप मस्मेति सर्वदोषविपरिजिते वैकुण्ठे वा अहमेव परो येषा ते न
नश्यन्ति, क्षीणपुण्या नश्यन्ति पतन्ति वा न वा हेति कालचक्र तान् भक्षयति
तत्र हेतु - कालस्य यत्र विषयस्तत्र प्रवर्तते. तस्याष्टौ विषया - विषया, देह, पुत्रा,
मित्राणि, गुरुव, सम्बन्धिन्, इष्टदेवता कामश्चेति तस्मिन् लोके मते सन्ति
किन्चेतेषा पार्यमहमेव करोमि अतएव तेषामहमेवाष्टविध. नहि कालो मा
विषयी करोति तेषा मदस्य शोधि नास्ति बहोवि. प्रियो हि विषयो भवति,
वैकुण्ठस्तु मद्रूप इति तत्राहमेव विषय साक्ष्यस्य च प्राप्तरत्वात् देहोप्यहमेव,
देहेन विषयेषु भुज्यमानेषु प्रकृति सूयत इति सुता भवन्ति, तत्र विषयभोगेनापि
अहमेव भवामि, पुत्रलोहस्तत्रैव मध्यव क्रियत तत्र बाह्योपि सथा अहमेव,
सत्तरयानां पुत्रपाणा मद्रूपत्वात् एत चत्वार एहिका पारतीविकाश्चत्वार
गुरुपदेष्ठा वैकुण्ठे स्वहमेव. गुरोरुपदेशानन्तर ये तत्र हितार्थं यतन्ते ते वाग्धया
सुहृद, सुहृत्कार्यं तु तत्तर्त्यरेव क्रियत इति देव देवता, पूज्य, फलदाने स प्रयोजक.
फन च इष्टम् अत तेषा नाशाभाव उचित एव (सुबो ३।२५।३८)

सुयोधिण्या फलनिष्कर्ष.

एव मदस्य निरूपित सामुज्य वैकुण्ठ जीवन्मुक्तिश्चरति
(सुबो. ३।२५।३९-४०)

॥ इति श्रीमद्बल्लभाचार्यचरण-विरचित - सुयोधिण्यरुनाकथयतया तेषाफल-
स्वरूप-निर्णय ॥

॥ समाप्त ॥

धीहृष्टाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीकल्याणरायविरचितसेवाफलोक्तिविवृतिसमेतम् ।

श्रीमदाचार्यमार्गेण सेव्यमानोऽस्मदीश्वरः ।
निवारयतु नैसापान् सुखसन्दोहसिद्धये ॥ १ ॥

श्रीमद्ब्रह्माचार्यमार्गोक्तप्रकारेण सेव्यमानो भगवानितोपिकं किञ्चित् फलं
दासति मुक्तिमेव वेति सन्दिग्धचेतसां समाधानार्थं श्रीमद्ब्रह्माचार्याः सेवासिद्धौ फलं
निरूपयन्ति यादृशी सेवनेति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

भक्तिमार्गे सेवा मया यादृशी प्रकर्षणोक्ता 'चेतस्त्रयवर्णं सेवे'ति तत्सिद्धौ सत्यां
यत् फलं भवति तदुच्यते ।

अस्य ग्रन्थस्य गूढार्थत्वादिवरणमपि श्रीमदाचार्याः कृतवन्तः ।

सेव्यमानो भगवान् प्रसादादुसारेणोत्तममध्यमसाधारणप्रकारेण फलं प्रयच्छतीति
त्रैविध्यादिवरणे सेवायां फलत्रयमित्युक्तम् ।

तत्रोत्तमं फलमाहुः अलौकिकसामर्थ्यमिति । भगवता सह गानादौ सामर्थ्यं,
गुल्फानामिव । मध्यमं फलमाहुः सायुज्यमिति । सह युनक्तिति सयुक्तं, सहजो भावः
सायुज्यं सहभावः, गोपानामिव । साधारणं फलमाहुः सेवोपयोगी देहो वैकुण्ठा-
दिष्विति । आदिपदाद्भूलोके उद्धवादीनामिव ।

सेवासिद्धौ मत्सां यदि भगवानलौकिकं देहादिकं सम्पादयति तदा फलविषयको
मनोरथोऽपि सिध्यतीत्याहुः अलौकिकस्येति ।

अलौकिकस्य दाने हि चाप्यः सिध्यन्मनोरथः ॥ १ ॥

अलौकिकस्य योग्यस्य शरीरादेर्दने सति अधिकारसम्पत्तौ सत्यां पूर्वोक्तं फलं
प्राप्नोतीत्यर्थः । हीति सुक्तभाष्यमर्थः । एतत् फलं साधनानां साधनासाध्यत्वात् । चोप्यर्थे ।

१ मत्सापानिति पाठः । २ सेवाफलसिद्धिमिति पाठः । ३ भूलोकेषु गानादीनामिवेति पाठः ।

चाल्प इतिपाठे साधारणहीनमध्यमयोः कथयित्सिद्धावपि भगवदानं विनोत्तमं फलं न सिध्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

कालकर्मवशाददं कदाचिद्भवेदित्याशंक्याहुः फलं चेति ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न फालोत्र नियामकः ।

भजनानन्दलक्षणफले तदधिकारयोः कालो नियामको दाता प्रतिबन्धको वा न भवतीत्यर्थः ।

सेवासिद्धौ व्यवसया फलमुक्त्वा सेवासाधनदशायां बाधकान्याहुः उद्वेग इति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

सेवायां क्रियमाणायामन्यत्र गमनेच्छादिउद्वेगः । सेवासमये लौकिकवैदिककार्यान्तरासक्तिः अन्यकृतान्तरायादिश्च प्रतिबन्धः । भोगो विषयाणाम् ।

एते त्रयः प्रत्येकं बाधकाः । तेनैतेषां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । लौकिकोऽलौकिकश्च । लौकिको लोकसिद्धः । यदा लोकाः स्वार्थ-मुच्चावचान् पदार्थानानीय भोगं कुर्वन्ति स लौकिको बुद्ध्या त्याज्यः । एतेन श्रुतिस्मृतिपुराणादिसिद्धो भोगो व्यावर्तितः । अलौकिको भगवत्तः जम्परीपादेरिव । स तु साधारणमध्यमोत्तमफलेषु प्रथमफले प्रविशति, यदा सेवोपयोगिदेहं दत्त्वा सेवां कारयित्वा प्रसादत्वेन दत्तानां भोगं कारयति भगवान् स अलौकिकभोगो न ह्याज्यः । प्रतिबन्धोपि द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्र साधारणः पूर्वमुक्तः । स बुद्ध्या त्याज्यः । यस्य यत्साधनस्य च प्रतीकारो न सम्भवति स भगवत्कृतः । स यदा भवति तदा भगवान् फलं न दास्यतीति ज्ञातव्यम् ॥ २ ॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

अकर्तव्यं भगवतः । अस्य श्लोकस्य विवरणं भगवत्कृतश्चेदित्यारभ्य विवेक इत्यन्तम् । तदान्यसेवापि व्यर्थेति । महादेवनारदादीनां भक्तिदातृत्वश्रवणान्महादेवा-दिसेवया सेवातत्फलसिद्धिर्भविष्यतीत्याशया कृता महादेवादिसेवापि व्यर्था, नैतत्फलसा-पिवेत्यर्थः । तदेति । तदा आसुरः आसुरावेशवान् आसुरभाववान् पापं जीव इति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः । जीवस्यासुरत्वे सेवायां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तदा कथं ममैवं भवतीति शोकाभावापि भगवानीश्वरः खेच्छया सर्वं ददाति मम प्रायेण मुक्तिमेव दास्यतीति ज्ञात्वा ज्ञानमार्गेण श्रवणमनननिदिध्यासनानि कुर्वता श्रेयमित्यर्थः । यथा तत्त्वनिर्धारो भवति तथाम् विवेको वा साधने इत्यर्थः । अत्रापि भावः । दुःसंसाद् पाहिर्मुत्प्ले भक्तापरारथे वा भगवान् प्रतिबन्ध करोति तदा अन्यसेवया स्वतो वा मुत्स्यं फलं न भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु साधारणो लौकिको भोगः किमर्थं त्याज्यः, भोगेनैव सेवा कर्तव्येत्याशङ्क्याहुः
सविमोल्पो घातक इति ।

सविमोल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ४ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगेष्वेकं तथा परम् ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ५ ॥

सधिभ्रत्वात् सर्वथा न सिध्यति । जायमानोऽप्यल्पसुखजनको भवति, भावघातकोपि भवति, अतस्त्याज्यः । ननु सावधानतया स्थितेर्न भोगप्रतिबन्धकयोर्बाधकत्वमित्यत आहुः सावधानेपि भोगप्रतिबन्धौ वस्तुतामर्थादेव प्रतिबन्धकौ सम्मतावित्यर्थः । बाधकानामिति श्लोक एवं योजनीयः । बाधकानां परित्यागः कर्तव्यः । भोगेष्वेकं पर्युत्कृष्टमेकं भोगं निहाय तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । यतो निःप्रत्यूहं यथा स्यात्तथा मदान् भोगः प्रथमे प्रविशति । पूर्वं व्याख्यानमतत् । ज्ञानस्थिरतीति । ज्ञानमार्गेण स्थितावपि प्रतिबन्धे या चिन्ता तैदन्नापार्थमित्यर्थः । अत्रत्वं भावः । पूर्वं ज्ञानमार्गेण स्नात-
प्यमित्युक्तम् । अहुना श्रीकृष्णप्रसादाभावान्मुक्तिरपि न भवतीति स्वहा संसारनिश्चयात् फलार्थं चिन्ता न कर्तव्येत्यर्थः । ननु पूर्वकृतसेवायाः सत्त्वात् फलं कर्षं न भवेदित्याशङ्क्याहुः आद्येति । आद्येन भगवता भगवत्कृतप्रतिबन्धेन फलाभावे कायवाग्मनोभिसा-
स्परतया कृतत्वामावात् सा सेवा नाधिदैविकी, कायवाग्मनोभिसास्परतया कृतत्वेपि भक्तापराधादिना भगवांश्चेत्सां न गन्येत् तदा सा सेवा नाधिदैविकी भवति, भगवद्भक्तिर्न भवति । नाधिदैविक्या एवैतत्फलसाधकत्वान् । भोगेति । गृहपरित्यागः गृहासक्तिपरित्याग इत्यर्थः । द्वितीय इति । द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्धस्तस्मिन् सति फलं कथं स्यादिति चिन्ता संसारनिश्चयान् सर्वथा त्याज्येत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

ननु प्रतिबन्धसाधारणभोगयोः सत्त्वेति साधनकरणे फलं सादित्याशङ्क्याहुः न त्वाद्ये इति ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

आद्ये भगवत्कृतप्रतिबन्धे भगवतो दातृता नास्ति । तृतीये साधारणभोगे गृहासक्तिर्बाधिकेत्यर्थः । अवश्येयमिति । इयं रीतिस्त्वस्या, कर्तुमशक्यापि फलार्थं सदा कर्तव्यत्वेन भाव्या । अन्यत् सर्वसाधन मनोभ्रमः म्वान्तर्भ्रान्तिरित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु भगवदीयानां स्वत एवैतत्फलं भविष्यति किमर्थं पूर्वोक्तं कार्यमित्याशङ्क्याहुः तदीयैरिति ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

भगवदीयैरपि पूर्वोक्तसाधनं कार्यम् । मर्यादायापंगीकारात् । ननु मक्तिमार्गप्रवेश-
मात्रेण क्वचित् फलं दृश्यत इत्यत आहुः पुष्टाविति । पुष्टमंगीकारे तु भगवान् विलम्बं
नैव कुर्यात्, तेन शीघ्रं फलसिद्धिरित्यर्थः ।

रजस्तमोन्यां मनसः क्षोभेपि एतदेव साधनं कर्तव्यत्वेन द्रष्टव्यमित्याहुः गुण-
क्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

मम निश्चय एतावानेवेत्याहुः मे मतिरिति ॥ ७ ॥

ननु साधनानां यद्गुणां सत्त्वात् किमिति एतदेव साधनमित्यत आहुः कुसृष्टिरत्रेति ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

अत्रास्मिन्फले कुसृष्टिः कुत्सितानां साधनानां वा वृष्टिः कल्पना उत्पन्ना स्यात्
सा भ्रम एव इत्यर्थः ॥ ७ ॥

सेवाफलोक्तिविद्युतेः स्वाचार्याणां ययामति ।

श्रुता कल्याणरायेण विद्युतिः स्वसुखाय च ॥ १ ॥

इति श्रीबह्मभचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता सेवाफलोक्ति-
विद्युतिः समाप्ता ।

श्रीरूपाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सेवाफलम् ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृतिटिप्पणीसमेतम् ।

स्वामार्गोक्ततनुवित्तजायाः सेवाया मानसीसेवाफलमिति सिद्धान्तमुक्तावत्यां श्रीमदाचार्यचरणोक्तेर्निघन्ते तु मक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोप्यत इत्युक्तेः सन्दिहान् स्वानुपदिशन्ति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी यत्प्रकारिका सेवना सेवा प्रोक्ता स्वग्रन्थेषु पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादामर्यादाभेदेभ्यो विविच्योक्ता तत्सिद्धौ तस्यां स्वफलजननस्वरूपयोग्यतायां सत्यां तद्व्यकारकं फलमुच्यत इत्यर्थः ।

तत्र प्रथम भगवदर्थं निरुपसिर्ष्यस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते यन्मुह्यं फलं भवति तदाहुः ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिद्ध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

अलौकिकस्य स्वरूपानन्दस्य, दाने वितरणे, हि निश्चिते सति, तथा च भगवत्प्रतिकीर्षिते सतीत्याशयः । आद्यः स्वरूपानन्दानुभवात् प्रथममुत्तमो मनोरथः 'यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले गोपिकानां तु' इत्यादिना निरूपितस्वरूपो लिप्ताविशेषः सिद्ध्येत् तद्विषयकः सादित्यर्थः । इत्यथ प्रेमोत्पत्त्या सिद्ध्येत् तद्विषयकः सादित्यर्थः । चेति मनोरथश्च सात् सिद्धश्च सादित्याशयः । इत्यथ प्रेमोत्पत्त्यनन्तरं भगवतः स्वरूपानन्ददित्सायां फलरूपस्वविषयसहितस्य मनोत्पत्त्यस्योत्पत्तिः । दित्साया अभावे तु तदनुत्पत्तौ पूर्वोक्तप्रेमान्तसेवायाः पुरुषोत्तमसायुज्यं फलं भवतीति ध्येयम् । वक्ष्यन्ति चेममर्थं न त्वाद्ये दातृता नास्तीत्यनेन ॥ १ ॥

एवं पुष्टिपुष्टिजनस्य फलमुक्त्वा पुष्टिमर्यादामर्यादाभजनयोः फलमाहुः ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

फलं पुष्टिपुरुषोत्तमसायुज्यं पुष्टिमर्यादामजनफलमित्यर्थः । चेलनादरे । अधिकारो

रमाप्रार्थितवैकुण्ठक्षीरोदश्वेतद्वीपेषु भगवत्सेवायोग्यदेहप्राप्तिं मर्यादांमजनफलमित्यर्थः ।
नेति । अत्र फलत्रये कालो न प्रतिबन्धक इत्यर्थः ।

विपृतीं सेवायां फलत्रयमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवौपयिकदेहो
वैकुण्ठादिपितृत्वेन नियामक इत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । अलौकिकसामर्थ्यं
मलौकिकमजनानन्दातुभवे स्वरूपयोग्यतेत्यर्थः ।

मूले सेवाया प्रतिबन्धकान्यपराण्याद् ।

उद्वेग प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

उद्वेगः श्रवणे क्रीतने भगवद्दर्शनसेवाया च जराव्याधिजनितापाटयेन स्वतो
प्रवर्तमानानामिन्द्रियाणां प्रसन्न प्रवर्तनादिक्षेप इत्यर्थः । प्रतिबन्धो वेदनिन्दा म्लेच्छन
लिष्टपहिर्मुखजनितोपद्रवश्च, साधारणो भगवत्कृतो पाहिर्मुख्यरूपश्चेति द्विविधो
पीत्यर्थः । भोगो रूपरसगन्धशब्दस्पर्शानां लौकिकविषयाणामत्यासक्त्या सेवनमित्यर्थः ।
त्यति । एतन्नय तु प्रतिबन्धक भवेदेव । कालस्तु न सादित्यर्थः ।

विपृतीं सेवाया प्रतिबन्धकत्रयं उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वेलेनेन
बाधकमित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः ॥ २ ॥

मूले प्रतीकारमाहु बाधकानामिति ।

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येक तथा परम् ।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विद्यते सदा ॥ ३ ॥

बाधकानामुद्वेगसाधारणप्रतिबन्धलौकिकभोगसाधनानां परित्यागः कर्तव्य
इत्यर्थः । तत्र उद्वेगसाधनं प्रसङ्गेन्द्रिययोजनम् । वेदनिन्दाया म्लेच्छकृतोपद्रवश्च
पलिष्टपहिर्मुखजनितोपद्रवश्च य जननात् साधारणप्रतिबन्धसाधनं स्वस्मिन् भक्तत्वस्कृतिं
निषयनो हृष्टगर्वविशेषः । लौकिकभोगसाधनं रूपरसगन्धस्पर्शशब्दा । तथा च
तत्साधनत्रयं लजेदित्यर्थः । लौकिकलौकिकसाधनयोर्लौकिकभोगसाधनस्य त्याग
कर्तव्यो न त्वलौकिकभोगसाधनस्येत्याहुः भोग इति । भोगे यत्साधनद्वयं तत्रैकं
तथा तादृशं लौकिकभोगरूपं प्रतिबन्धजननात् त्यक्तव्यमित्यर्थः । परं द्वितीयं साधनं पूर्वोक्तप्र
मान्तसेवारूपं निष्प्रत्यूहं निर्गतं प्रत्यूहं प्रतिरूपो भोगो यस्मात्तथा । एवञ्च त्यागहेतो
प्रतिबन्धसाधननात् त्यक्तव्यमित्यर्थः । ननु भोग प्रतिबन्ध इत्युक्तम् । तथा च तज्जननात्
कथं न त्यक्तव्यमत आहुः महानिति । पूर्वोक्तप्रमान्तसेवालक्षणं साधनं कारयित्वा
भगवता दत्तो ह्युखनिशेषमुखविशेषानुभवदृष्टानो 'यत्र हु ख' मित्यादिना निरूपितस्य मनो
रयस्य विषयताभापञ्चो भोगो महान् खेष्टतम एवेत्यर्थः । कथमिष्टतमत्वमत आहुः प्रथम

इति । प्रथमे उत्तमफले विशते प्रविष्टे भवति । तथा च फलरूपः । अत एव न प्रतिबन्धरूप इति । तत्साधनं न त्यक्तव्यमिति भावः । रसिकानुभवाद्देवमान्तरं तु महाफलमिति श्रीमदाचार्यचरणोक्तिरवातुसन्धेयेति दिक् । भोगेपीत्यविशन्दात् प्रतिबन्धेय्येकमेव त्यक्तव्यम् । द्वितीयस्य तु भगवत्कृतत्वेन तत्यागस्य शशविषाणायमानत्वादिति ध्येयम् ।

विवृतौ श्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्राद्यो बुद्ध्या व्याज्यः । अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीत्यनेन विशत इत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । श्रयाणां साधनेति साधनपरित्यागान्मूलोच्छेदो भवेदतः पुनरुद्योगे न सादित्याशयः । तथा च यत्रैतद्विषयस्य त्याग उच्यते तत्र साधनसहितस्य त्यागो ज्ञेय इत्यभिप्रायः । त्याज्य एवेति । लौकिकभोगस्तु असन्दिग्धं त्याज्य एव, परन्तु अलौकिको न त्याज्य इत्याशयः । तत्राद्य इति । साधनसहितत्याज्यः । तथा च साधारणप्रतिबन्धसाधनस्य गर्भविशेषस्य बुद्ध्या त्यागात् साधनस्यापि तस्य त्याग इत्यर्थः ॥ ३ ॥

मूले भगवत्कृतप्रतिबन्धे यत् कर्तव्यं तदाहुः ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

हि निश्चयेन सर्वथा सर्वप्रकारैर्भगवतः सर्वसमर्थस्यापि चेदकर्तव्यं फलदानं न विकीर्षितं चेदित्यर्थः । ननु भगवदीयकुलोत्पन्नस्य पित्रादिशिक्षया बाल्ये कृतभगवत्सेवाकस्यानवरतमसञ्चास्यास्यासादाविर्भूतवाहिर्मुख्यस्यापि 'श्रेयाद् साधर्मो विगुणः परधर्मात्सन्नुद्धिता'दितिवचनात् सेवामेव निर्वन्धेन हृष्टेन कुर्वतः किं स्यादत आहुः गतिर्न हीति । प्रतिबन्धस्य जागरूकत्वात्वावत्फलाभाव इत्यर्थः ।

विवृतौ भगवत्कृतत्वेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम्, तदान्यसेवापि व्यर्षेत्तन्तेन 'नही'त्यन्तो ग्रन्थो व्याख्यातः । तथाचोक्तं निबन्धे 'सर्वथा चेद्भिरकृपा न भविष्यति यस्य हि । तस्य सर्वमशक्यं सान्मार्गैस्सिन्धुतरामपी'ति मूलमुक्त्वा स्वयमेव व्याचक्षिरे 'परमं न सर्वेषां मुख्यफलाधिकारः, किन्तु येषु भगवत्कृपा । कृपापरिज्ञानं च मार्गैरुच्यते निश्चीयत' इत्यनेन । इत्यन्तैतन्मार्गैरुचिरेव भगवत्कृतप्रतिबन्धः । इदमेव वाहिर्मुख्यमिति विभावनीयम् । 'बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदस्व'ति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेरेव छेव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीपति एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमयो निनीपती'ति श्रुतेश्च भगवानेवासञ्चास्यप्रवर्तनेनासुरावेशं सम्प्राप्य वाहिर्मुख्यरूपं प्रतिबन्धं करोतीत्यप्यनवरतं निरन्तरमनुसन्धेयम् ।

तदान्येति । यदा पाहिर्मुख्यमाविर्भूतं तदा कृता तु व्यर्थव । किन्त्वन्या वात्से कृता साति व्यर्था निःफलेत्यर्थः ।

मूढे अतः परं तेन किं विधेयमत आहुः ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

यथा यत्प्रकारको वा विकल्पेन तत्त्वनिर्धारस्तज्जीवनिष्ठसासुरत्वस्य निश्चयः । तथा च आवेशसासुरत्वनैसर्गिकासुरत्वयोर्पाट्यासासुरत्वप्रकारको निश्चयस्तस्मिन् सति विवेको ज्ञानं साधनं शोकातुल्यत्वात् कारणं मतं सर्वप्रमाणसम्मतमित्यर्थः । येति विकल्पवाचकमप्ययं देहलीदीपन्यायेनोभयप्रान्थेति । तथा च तत्त्वनिर्धारोपि वैकल्पिकः, साधनमपि वैकल्पिकमेव । इत्यन्वावेशसासुरत्वप्रकारको यदि निश्चयः तदा संसृतिरेवेतिभावः । वक्ष्यन्ति चेममर्थं द्वितीये सर्वथेत्तनेन ।

विद्युतौ तदा आसुरोऽयं जीव इतिनिर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तद्व्यं शोकाभावाद्येतिविवेक इत्यनेन मतमित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । तदेति । यदा पाहिर्मुख्यमाविर्भूतं तदैवेत्यर्थः । विवेकः साधनमिति न्यायक्षते । तदा ज्ञानेनेति । यदावेशसासुरत्वनिर्धारस्तदा ज्ञानमार्गेण ज्ञानजनकोपायेन स्यात्तद्व्यं वर्तितव्यम् । शोकाभावाय शोकातुल्यत्वा इति । अस्मिन्नर्थे विवेकः साधनं भवतीत्यर्थः । तथा च सल्लोकसितिरक्षणान्दो वा नास्य फलमिति भावः । यदप्येवंविधदुर्भगः स्वमार्गं पाहिर्मुखोन्धतमः प्रेषितां, का क्षतिः ? तथापि स्वमार्गीयममवद्भक्तरेतो जन्तुरपमिति तदुद्भवदयर्द्र-हृदयाः श्रीमदाचार्यचरणासारशेष्युपदिशन्तीति ध्येयम् ॥ ४ ॥

मूढे लौकिकभोगस्य साधारणप्रतिबन्धस्य च त्यागे प्रयोजकं रूपमाहुः ।

सविभ्रोल्लपो घातकः स्याद्दलादेतौ सदा मताौ ।

सविभ्र आधिन्याधिलक्षणप्रैत्यूहसहितः । अल्प आशुतरविनाशीत्यर्थः । साधारण इति । साधारणो वेदनिन्दादिः । साधारणप्रतिबन्धस्य तदाहुः घातेति । घातकः घातजनकः । यत्नात् सामर्थ्यात् । स्यात् भवेत् । तथा च साधारणप्रतिबन्धो यत्नवत्घातकः सादित्यर्थः । तथा हि वेदनिन्दात्वस्य यत्नात् हीनेषु जन्मरूपं घातं करोति । म्लेच्छवर्हिर्मुखकृतोपद्रवादस्य सर्वस्वहानिं शरीरपातं च यत्नादेव कुर्वते । अतो हेतोः साधारणप्रतिबन्धोत्पत्त्यात् सविभ्रत्वाद्य भोगः सदा निरन्तरमेतौ प्रतिबन्धकौ मताौ साधनसहितौ त्याग्यत्वेन सम्प्रताविति भावः ।

निवृत्तौ साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायाभरह सविभ्रोल्लपो घातकः न्यादिति । सविभ्रत्वाद्ल्पत्वाद्भोगस्त्याज्यः । ९ ।

सदा प्रतिबन्धकावित्यनेन मत्तावित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । साधारण इति । साधारणो वेदनिन्दादिः साधारणप्रतिबन्धः भोगो लौकिकरूपरसादिसेवनं कर्षं कुतो हेतोरित्यर्थः । सविम्रत्वादिति । ह्याम्यामाभ्यां हेतुभ्यां भोगस्त्वाज्यः । शिष्टाद् घातकत्वरूपाद्धेतोः साधारणः प्रतिबन्धस्त्याज्य इत्याशयः । ननु सविम्रत्वमत्पत्वं च भोगाकर्षजनकम्, न तु सेवायाः । तथा साधारणप्रतिबन्धनिष्ठं घातकत्वं चतुर्थ्यं स्वापकारजनकम्, न तु विशिष्यं सेवाया एवेति किमनयोः त्यागप्रयोजकं रूपमित्याशं-
कायामाहुः पृताविति । प्रतिबन्धकत्वमेव त्यागप्रयोजकम् । सविम्रत्वादिकथनं तु भोगसाधारणप्रतिबन्धस्वदोषोद्घाटनार्थम् । तथा च सेवाप्रतिबन्धकत्वाद् त्याग्यावेव । निरसंगदुष्टत्वादपि त्याग्यावित्याशयोनुरन्धेयः ।

आवेशासुरस्य विवेकताधनमिति प्रागुक्तमिदानीं नैसर्गिकासुरस्य का गतिरित्याकां-
क्षायामाहुः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता ह्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

अश्लोत्पतिकाल एव भगवताऽसुरत्वसम्पादनान्नैसर्गिकासुरः । तथा च भगवान् तस्मिन् तदानीमेव स्वमार्गात् सर्वप्रामाणिकमार्गेभ्यश्च बाहिर्मुख्यवृत्तप्रतिबन्धं कृतवान् । इत्थं वेदनिन्दादिसाधारणप्रतिबन्धाद् द्वितीये भगवत्कृते एवंविधप्रतिबन्धे निर्धारिते सतीत्यर्थः । चिन्ता जन्ममरणदुःखनिवृत्तिर्मम केन प्रकारेण स्यादिति विचारः सर्वथा सर्वप्रकारेण प्रमाणैर्युक्तिभिश्चेति यावत् । सा ह्याज्या न कर्तव्या । तत्र हेतुः । संसार-
निश्चयात् । संसृतेष्वर्थमायस्य निश्चितत्वादित्यर्थः । तथा च 'द्विती सम्पद्धिमोक्षाय'
'निषन्धायासुरी मता' इत्यादिप्रमाणैस्तस्मादपरिहार्यं न त्वं शोचितुमर्हसीत्यादिप्रामा-
णिकयुक्तिभिर्वाधेः समाधिः सम्पादनीय इति भावः ।

निवृत्तौ ज्ञानस्वित्यभावे चिन्ताऽभावात्समाह द्वितीय इति । द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इत्यनेन निश्चयादित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । ज्ञानेति । 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा' इति भगवद्ब्रह्मनात् सहजासुराणां ज्ञानमार्गेषु स्थितिर्न भवतीत्याशयः ॥ ५ ॥

मूढे 'अलौकिकस्य दाते ही'त्यनेन भगवतः स्वरूपानन्ददित्सायां मनोरथः सफले भवेदित्युक्तम् । यदि स न सिध्येत् तदा का गतिरित्याकांक्षायामाहुः ।

न त्वाये दातृता नास्ति तृतीये यापकं गृहम् ।

नाये त्वित्यन्धः । तथा चाद्याभावे त्वित्यर्थः । इत्थं तत्फलमनोरथाभावे तु भगवतो भजनानन्ददित्सा नास्तीति भावः ।

विद्युती आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति तदा सेवा नाधिदैविकीत्युक्तं भवतीत्यनेन नास्तीत्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । न त्वद्य इति मूलमाद्यफलाभाव इत्यनेन व्याख्याय दातृता नास्तीति मूलं व्याचक्षते भगवतो दातृत्वं नास्तीति । फलितार्थमाहुः तदेति । यदा फलसहितस्य मनोरथस्याभावस्तदाधिदैविकीसेवाभजनानन्दो न भवेदिति । अयमर्थो न त्वद्ये दातृता नास्तीति मूलेन कथितोस्तीत्यर्थः । इत्यथ प्रेमान्तसेवया पुरुषोत्तमसायुज्यं भवतीति भावः ।

मूले याचकानां परित्यागइत्यनेन तत्साधनलागपूर्वकस्तत्प्रतिबन्धकत्व्याग उक्तः । तत्र लौकिकभोगसाधनीभूतरूपरसगन्धस्पर्शशब्दानां लागे प्रतिबन्धकमाहुः तृतीये याचकं गृह्यम् । भोगस्य तृतीयप्रतिबन्धकत्वात् तत्साधनमपि तृतीयं साधनं तत्परित्यागोपि तृतीयः परित्यागः । तथा च तस्मिन् गृहं प्रतिबन्धकमित्यर्थः । इत्यथ रूपादित्यागो गृहत्यागाधीन इति भावः ।

विद्युती भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इत्यनेन गृह-
मित्यन्तग्रन्थो व्याख्यातः । भोगेति । भोगाभावः ससाधनभोगपरित्याग इत्यर्थः ।

मूले पुष्टिपुष्टिपुष्टिमर्यादामर्यादामजनानां फलं प्रतिबन्धकं तत्प्रतीकारं शोच्या व्याख्याय चेदानीं सेवागुपदिशन्ति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।

अवश्यया स्वस्य वर्या न । तथा च स्वकृत्वसाध्या भगवदनुग्रहैकसम्पायेति यावत् । इयं श्रीमदाचार्याणां हृदि अनवरतमुत्पद्यमानत्वात् साक्षात्कृतस्वरूपा भावनारूपा मानसी सेवा, सदा निरन्तरं, भाव्या सम्पादनीयेत्यर्थः । तथा च स्वरूपानन्दसाधनी-
भूतभावविशेषसिध्यर्थमनवरत भावना कर्तव्येत्याशयः । इदमेव मनसः प्रधानं कार्यमित्याहुः सर्वमिति । मनसा यदन्वत् क्वचित् प्रभारूपमपि कार्यं जन्यते तत् सर्वमपि भजना-
नन्दापर्यवसायित्वाद् भ्रम एवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

तर्हि चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः किं सम्पादनीयमित्याकांक्षायामाहुः ।

तदीपरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव चित्तम्बपेत ।

मनसोतुर्चैश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैस्तत्कार्यं मनःकार्यमेव सम्पादनीयम् । तथा च श्रीमदाचार्यमार्गपक्षपातादविरतं सेव्यस्वरूपेष्वाविर्गुतस्य संकल्पप्रतिभातस्य चा भगवतो दर्शनसेवादिना स्वस्वव्यापारेण मनःकार्यरूपा भावनारूपा मानसी सेवा सम्पादनीयेति-
भावः । इत्यथ चक्षुरादिसर्वेन्द्रियैरपि स्वस्वव्यापारो भगवति सम्पादनीयो, 'भगवता सद् संलाप' इत्याहुक्तप्रकारेणेति ध्येयम् । ननु कियच्चिरमेवंकृतितरताहुः पुष्टाविति ।

पुष्टिर्भावः तस्मिन् सिद्धे सति स्वरूपानन्दः सत्वरमेव भवेन्न तु विलम्बं कुर्यादित्यर्थः ।
तथा च भावोत्तिपर्यन्तमेवंकृतिरितिभावः ।

पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इतिन्यायात् कदाचित् कमपि प्रतिपन्धकमाशङ्क्य
तत्प्रतीकारमाहुः ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणाः प्राकृतसत्वरजस्तमांसि, तत्कृतक्षोभो मार्गान्तररुचिः, लौकिकविषयलोभैत-
न्मार्गारुचय इत्यर्थः । एतदेवास्मदुक्त 'भवश्येयं सदे' तिपद्यमेव द्रष्टव्यम् । तथा चैतत्पद्योक्त-
साधनेनैव सर्वप्रतिपन्धनिवृत्तिरितिभावः । ननु सत्सु प्राकृतगुणेषु निरन्तरक्रियमाणायामपि
भावनायां भावो नोत्पत्स्यत इति चेत् ? सत्यम् । यावत्कार्त्तं मनस्वाविर्भूय भगवानन्तःकर-
णसम्बद्धो न भवति तावदविद्याया विद्यमानत्वाद् शुभा अपि सन्ति । तथा चानिश्चमेवं-
कृतौ कृपालुर्भगवानाविर्भूयान्तःकरणसम्बद्धः सन् भविद्यामेव नाशयेत्, तदा सुतरां
गुणनाशः, ततो निरन्तराया भावोत्तिरितिध्येयम् ॥ ७ ॥

सोक्तप्रमेये निःसन्दिहानेनैव शेषमिति स्वानुपदिशति ।

कुष्ठष्टिरत्र वा काचिद्दुत्पद्येत स वै भ्रमः ।

कुष्ठष्टिः दूषणमासः, अत्रास्मदुक्तौ, चेलवादरे, वस्तुतस्तु नोत्पत्स्यत एव-
त्याशयः । काचिद्दुःसंगेन भगवदस्मरणनिपन्धनक्षणिकासुरभावेन वा काचिद्दुत्पद्येत
जायेत चेद्, वै निश्चयेन, स तु भ्रम एव भ्रान्तिरेवेत्यर्थः । तथाचोत्तरक्षणोत्पत्स्यमान-
विशेषदर्शननाशयत्त्वादकिञ्चित्करेतिभावः ॥ ७॥ ॥

इति श्रीविष्टिलेश्वरात्मजश्रीचनश्यामतनयश्रीगोपेशगोस्वामिविरचिता
सेवाफलविष्टितिष्टिष्ण्णी सम्पूर्णा ॥

धीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीदेवकीनन्दनविरचितविद्युतिटिप्पणीसमेतम् ।

करुणाचार्यचरणवरुणं शरणं मम । यत्पथे सुकथे सेवाफलं कृष्णः प्रयच्छति ॥ १ ॥

ननु स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणसेवायाः फलान्तरकथनं कथमुपपद्यत इति चेत् । इत्यम् । यावद्जीवं तथा क्रियमाणसेवया देहावसाने जीवस्य या गतिर्भवति सात्र फलपदेनोच्यते । तत्र फलमाधुनिकमज्जनानुस्यूतसर्वात्मभावप्राप्यविशिष्टमज्जनानन्दात्मकमेवेति न तस्य सेवातिरिक्तत्वमायाति येन फलान्तरत्वमुच्येत । 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवर'मिति भगवद्बचनादन्ते या मतिः सा गतिरिति न्यायाच्च सेवाफलं सेवेवेति नोक्तविरोधः शंकनीयः । तत् कीदृशं किमिति जिज्ञासायामाचार्याः किञ्चित् स्वमतसिद्धं तत् सार्धैः सप्तभिः धोर्कैरिदं रूप्यं सुगमत्साय स्वयमेव विवृण्वन्ति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी सेवनेति । प्रोक्षेति । मयेत्यप्याहार्यम् । तेन स्वसिद्धान्ते यादृशी सेवना मया प्रोक्ता, तादृशी सेवना विवरणे यक्ष्यमाणफलप्राप्तिका भवति, न तु प्रमाणा-न्तरसिद्धा, मतान्तरसिद्धा वा तथा । अन्यथा तत्र तत्र कचिदुक्ता प्रसिद्धा भवेत् । अप्र तु साक्षादाचार्योक्तत्वाद्गुणवसाक्षिकत्वाच्च न काचिदसंभावेनेति ज्ञाप्यते । सापि याव-जीवमविच्छेदेन कृता, साफलदानं तु क्रियत्कालं कृत्वा, परित्यक्तापीत्याहुः तत्सिद्धा-विति । सिद्धिरत्र यावद्जीवं निर्वाहः । तदुक्तमाचार्यचरणैः 'सेवायां वा कथायां वे'ति । फलमिति । एकवचनं वितयाभिप्रायेणेत्याहुः सेवायां फलधर्यमिति । अत्रायं भावः । भक्तिमार्गे पुष्टिमर्यादाप्रवाहमेदेन जीवेषु भगवदंगीकारः त्रिविधः । तेनाधिकारिभेदेन सेवा त्रिविधा, ततः फलमपि त्रिविधं क्रमेणोक्तम् । तत्रादौ पुष्टिसेवाफलमाहुः अलौकिक-सामर्थ्यमिति । अत्रायमाशयः । श्रीमदन्नजस्रोक्तरीत्या सर्वात्मभावकैलभ्यभजनानन्दा-गुणवलक्षणं फलमलौकिकमुच्यते । तस्येतरप्रमाणानुचरत्वमितरसाधनाप्राप्यत्वमलौकि-कत्वम् । तदनुभवयोग्यतालक्षणोधिकारश्च सामर्थ्यपदेनोक्तः । तस्मात्तिसोप्यत्वाय तथोक्तिः । द्वितीयफलं सायुज्यम् । तदत्र पुरुषोत्तमे वेदितव्यम्, न त्वक्षरे । अक्षर-सायुज्यं तु केवलमर्यादायां ज्ञानादिनापि भवतीति ततः पुष्टिभेदकथनावश्यकत्वात् । सायुज्यानन्तरमपि पुष्टया कदाचिदाद्यमलौकिकं फलमपि भगवान् प्रयच्छेदित्यपि ज्ञेयम् ।

अन्यथा पुष्टिसेवाफलं सायुज्यमायं न वदेषुः । भक्ती तद्वासनाया अभावात् । 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति भगवन्नियमाश्च । तेन पुष्टिमयीदायामादी सायुज्यम्, मध्ये भजनानन्दानुभवः, अग्रे पुनः पूर्वसायुज्यमित्युक्तं भवति । अतो मध्यमफलत्वम् । तृतीयं फलं वैकुण्ठादिदेहः । आदिपदेन भूमावपि तथा भावनायां तादृशदेहप्राप्तिरुक्ता । तत्राप्युचनीचदेशभेदा पहुवचनेनोक्ताः । व्यापिवैकुण्ठस्य सायुज्यापेक्षया दुर्लभत्वेन साधारणफलत्वकथनस्या-
युक्तत्वाद्भ्रमाप्रार्थित एव स इत्यवगम्यते । तत्र कदाचिन्नायफलसंभावनेति साधारण-
फलत्वम् । अत एव वैष्णवमतानामेकादश्यादीनां फलत्वेन स्मृतिपुराणेषु स एवोच्यते ।

ननु सायुज्यवैकुण्ठयोः प्रमाणसिद्धत्वेन तदर्थं जीवप्रयत्नः संभवति, आयफलस्य तु लोकवेदातीतत्वेन प्रमाणाद्यगोचरत्वाच्च स्वकृतिसाप्यत्वम्, यत् पुनः तत्साधनं तस्यापि तथात्वम्, अतः कथमायमनोरथः सिध्येदित्यत आहुः अलौकिकस्य दान इति ।

अलौकिकस्य दाने हि चायाः सिध्येन्मनोरथः ॥१॥ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

अलौकिकमायफलं तस्य दाने, अर्धाङ्गमवता कृते सति तन्मनोरथः सिध्येत्, न त्वन्यथापीत्यर्थः । आय इति । सायुज्यवैकुण्ठमनोरथापेक्षया स आय इत्यर्थः । अरूप इति पाठे यद्यपि लीलात्मयपातिभक्तास्तुभवैक्येयफलसंबन्धिमनोरथो जीवस्य साधनतः स्वरूपतश्चास्य एव । अप्यर्थे चकारः । तथा चाल्पोपि तदापि स्वतः प्रभुदानेन तत्सिद्धिः । सिध्येदिति प्रार्थने लिङ् । आचार्यप्रार्थनया प्रभुः संपादयेदेषेति भावः । आयफलस्य स्वरूपैकसाध्यत्वे प्रसिद्धिमाह द्विसन्धः । ननु भगवानपि तादृशाधिकाराभावे मनोरथं कथं पूजयेदित्यत आहुः न काल इति । अत्र फले इत्यधिकारे वा ॥ १॥ ॥

अग्रे प्रतिपन्थकत्रयोक्तिरिह साधनदशाममेव । तदुक्तं मूले वाचकानां परित्यागेति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु वाचकम् ॥ २ ॥

वाचकानां परित्यागो भोगेष्वेकं तथा परम् ।

निःप्रत्युहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ३ ॥

तद्विवरणं त्रयाणां सामनपरित्याग इति । साधने सति स्वरूपतः सक्रम-
शम्यत्वात् । भोगेष्वेकमित्यादि विशते सदेतन्तविवरणं भोगो द्विविध
इत्यारम्य प्रविशतीत्यन्तेन । तदनुसारेण मूलमेवं योजनायम् । त्वजेदिति क्रियापद-
मध्याह्वार्यम् । यथा प्रतिपन्थद्वये एकस्याज्योपरो न, तथा भोगेषु एकं लौकिकं भोगं
त्यजेदपरमलौकिकं न । यतो निःप्रत्युहमनन्तरायमूलम् । तत्र हेतुः । महानिति । अलौ-
किकभोगः स्वरूपतो लौकिकत्वादाल्पोपि फलतो महान्, अलौकिकत्वात् । अतो न
त्याज्य इति भावः । अलौकिकत्वे निमित्तमाहुः प्रथम इति । प्रथमे आधुनिकमजने सदा
निरन्तरं विशते, मजननिर्वाहकत्वेन तदंगतां प्राप्नोतीत्यर्थः । एतदेव विवरणे स्फुटीकृतम् ।

अलौकिकभोगस्तु फलानां सेवाफलांगमूतवस्तूनां मध्ये प्रथममङ्गं प्रतिबन्धा-
भावस्तत्र विशतीति न तत्यागः । तथा चोपपादितमेकादशस्कन्धे । 'कायेन वाचे'ति
श्लोकविवरणे ॥ ३ ॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

अकर्तव्यं भगवत इति श्लोकविवरणं भगवत्कृतश्चेत्यारभ्य विवेक इत्य-
न्तेन । अयमर्थः । आसुरस्यापि देवाद्भगवदीयसंगे जाते सेवायां प्रवृत्तिर्भवति । तेन केन-
चित्प्रकोणानिवार्यप्रतिबन्धे जाते स भगवत्कृत इति ज्ञातव्यम् । तेनाग्रे फलामावक्ष ।
तेनान्यकृतापि सेवा प्रतिबन्धात् पूर्वं कृता सापि व्यर्गा । तस्मात्सुरत्वनिर्धारश्च । तदा
तद्वनितशोकाभावाय ज्ञानमार्गेण सर्वं तत्त्वं बुद्ध्वा स्थितिः विवेकः साधनम् । यद्यप्यासुर-
प्रसंगोऽत्र न वक्तव्यः, तथापि कश्चिदेव भगवदीयेष्वपि इत्येत चेत्तदा तथा भावनीयम्, न तु
स्वीयस्य भगवानेषं करोतीति प्रभौ दोषारोपः कर्तव्य इति ज्ञापयितुं तदुक्तिरिति ज्ञायते ॥४॥

सविभ्रोलपो घातकः स्याद् फलादेतौ सदा मतौ ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

न त्याये दातृता नास्ति तृतीये पापकं गृहम् ।

सविभ्रोलप इत्यस्य विवरणे सविभ्रत्वाद्दल्पत्वादिनि । साधारणभोगः
सविभ्रो विभ्रसहितः । तादृशोऽल्पः, स्वरूपतः फलतश्च । सोऽपि न त्यज्यते चेत्तदा
घातकः सेवाप्रतिबन्धकः स्यात् । अतः सर्वथा त्याज्यत्वाद्द्विषादाग्रहादपि एतौ
साधारणभोगप्रतिबन्धकौ मतौ, त्याज्याविति शेषः । तदुक्त विवरणे सदा प्रति-
बन्धकाविति । द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्धः । तत्र ज्ञानमार्गेण
स्यात्तन्व्यमिति चिन्तानिवृत्तिसाधनं पूर्वमुक्तम् । तदसमवे साधनान्तरमाहुः द्वितीये
सर्वथेति श्लोकार्थेन । तदाभासो ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताभावार्थमाहेति ।
तत्प्रतीकोऽग्रे द्वितीय इति । विवरणमाद्यफलाभाव इत्यादि भवतीत्यन्तम् ।
आद्यफल जीवस्य दैवत्व, तदभावे भगवत्तो दातृता नास्ति, तदा आधि-
दैविकी फलसम्बन्धिनी सेवापि नेत्यर्थादुक्तं भवति । तत्सर्वं द्वितीयप्रतिबन्धे जाते
ज्ञात्वा सर्वथोक्तफलविषयिणी चिन्ता त्याज्या । तत्र साधारणो हेतुः । संसारनिश्चया-
दिति । 'तानह द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्' इति भगवदुक्तसंसारस्य निश्चया-
दन्यथा न भवतीति सर्वथेत्युक्तम् । न त्याज्य इति । आद्ये पुत्रोक्तसाधारणप्रतिबन्धे
दातृता भगवतो नास्तीति न, किन्तु वर्तते, अत तन्निरवृत्तये चिन्ता कर्तव्या, न तु
द्वितीय इव सर्वथा त्याज्येति भावः । एवमाद्यद्वितीययोर्व्यवस्थामुन्त्वा तृतीयः साधारण-

भोगकृतः प्रतिबन्धस्तत्र कर्तव्यमाहुः । तृतीये बाधकं गृह्णमिति । अलौकिकभोगेन साधारणभोगपरित्याग आनुपंगिकः पूर्वमुक्तः । अन्यथा अलौकिकभोगो न स्यात् । उभयो रेकाधिकरणत्वाभावात् । यदि साधारणभोगं लक्ष्णं न शक्नुयात् तदा सेवाप्रतिबन्धकत्वेन तन्मूलमूर्तं गृहं सजेदित्याशयेन तद्विवरणं भोगाभायस्तदेत्यादि ।

ननु त्यागतः प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रेण सेवाया असम्भवे तदधिकारिणां कथं तत्फल-
प्राप्तिः । तदभावे च द्वितीयतुल्यता स्यात् । जीवस्य देवत्वमपि व्यर्थं भवेत् । तस्मादत्र
त्यागोक्तितात्पर्यं किमिति न बुध्यत इति चेत्, इदमाभाति । सेवाधिकारिणां मध्ये येषां
गृहमनुकूलम्, तेयामन्यतः प्रतिबन्धः साधारणः, तेन तन्निवृत्तिः कर्तुं शक्या । ततः सेवया
तत्फलप्राप्तिः । भोगस्य तेयामप्रतिबन्धहेतुरलौकिकत्वादिति पूर्वमुक्तम् । येषां पुनः
गृहमेव प्रतिबन्धकम्, तेषां तत्परित्यागादेव लौकिकभोगनिवृत्तिः । त्यागोपि सव्यासनिर्ण-
योक्तप्रकारेण भक्तिमार्गीयो ज्ञेयः, न तु कर्ममार्गीयो ज्ञानमार्गीयो वा । एवं सति तत्फल-
प्राप्तिरपि तेयामपीतिमत्ने तु नोक्तविरोधः शंकनीयः ॥ ५॥ ॥

अग्रिमश्लोकद्वयस्य विवरणमावादेवं योजना ।

अयश्चेयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

कुसृष्टिरत्र वा काचिवृत्तयेत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

इयमुक्तरीतिः । अयस्या स्वतो भावयितुमशक्यापि महुक्तत्वात् सदा
भाव्या । अवश्यं भाव्येति वा । यत्र यथा दृश्येत तत्र तथा भाव्येत्यर्थः । ततः किमि-
त्यत आहुः सर्वमिति । उक्तरीतितोन्यत् सर्वं मनोभ्रम इति ज्ञायत इत्यर्थः ।
सर्वः कथमेवं नांगीक्रियत इत्याशंक्याहुः तदीयैरिति । भ्रमसंपन्निभिराहुरैस्मात् कार्यं
कर्तव्यमित्यर्थः । भक्तिमार्गीयैस्तु महुक्तिभावनायां विलम्बो न कर्तव्य इत्याहुः पुष्टौ
नैवेति । कदाचिदासुरस्वार्थि सेवाप्रतिबन्धे जातेषु भगवद्गुणश्रवणादिना प्रेमलक्षणं
पुलकादि दृश्येत तत्र किं भावनीयमित्यत आहुः गुणक्षोभेपीति । क्षोभोऽपुलकादिः, स
तु गुणवस्तुस्वभावादसुरस्वार्थि भवतीति गुणमाहात्म्यमेव । अत एतत्पुष्टौकमेव तत्रापि
द्रष्टव्यं भावनीयमित्यर्थः । उक्तविश्वासार्थमाहुः मे मतिरिति । मतिः सम्मतिः ।
भ्रमस्वरूपमाहुः कुसृष्टिरिति ॥ ७॥ ॥

ययामति कृता सेवाफलोक्तिविरुद्धी मया । टिप्पणी पर्वणीवेन्दुः प्रकाशयतु सर्वतः ॥ १ ॥

यदत्रानुचितं किमिदलेखि मतिमन्वतः । क्षम्यतां तद्वहस्यार्थः शिशी धीर्तमिपेक्षितम् २

इतिश्रीदेवीनन्दनकृता सेवाफलोक्तिविरुद्धीटिप्पणी समाप्ता ॥

श्रीरूप्याय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीहरिरायकृतसेवाफलोक्तिविवृत्तिसमेतम् ।

श्रीकृष्णं कुलदैवतं तदनु च श्रीवल्लभाख्यान् निजान् ।

आचार्यानय विट्टलेश्वरमहं नत्वा प्रभुं सर्वया ॥

श्रीगोविन्दमतीवभावविवशं तातं स्वमर्यादया ।

ख्यातं मत्फलजातहेतुमधुना किञ्चिद्दाम्यक्षमः ॥ १ ॥

अथ श्रीभदाचार्याः स्त्रीयानां यदुलग्रन्यायलोकनप्रयासमसदमानाः संक्षेपेणैव स्वमा-
गीयसेवाफलप्रतिपन्धसाधनानि निरूपयन्तः प्रथमं फलं निरूपयन्ति यादृशी सेवनेति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्तिसिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी यादृक्प्रकारिका स्वतःपुरुषार्थत्वेन कालपरिच्छेदेनापश्यकर्तव्यत्वेना-
करणे प्रत्यवायजनकत्वज्ञानेन क्रियमाणस्वसाधनमूत्रतनुवित्तयुतरेवाद्द्वययुतमानससेवना भा-
वरूपा सदानन्दसेवा मया प्रकर्षेण मुख्यतया फलरूपतया प्रोक्ता निरूपिता सिद्धान्त-
मुक्तावत्यां 'वैतस्तत्प्रवर्णं सेवे'ति । तस्याः सिद्धौ यावज्जीवनिर्वाहेण प्रपञ्चविस्तृतिमु-
त्तदासक्त्या व्यसनरूपत्वसिद्धौ यत्फलं तदुत्पाद्यं फलत्वेनाभिमतम्, तदुच्यते
निरूपयत इत्यर्थः । ननु सेवायाः सर्वत्र ग्रन्थेषु फलरूपत्वोक्तस्तत्फलोक्तिरनुपपत्तेत्यार्थ-
पथाद्दुर्विवरणे सेवायां फलत्रयमिति । सेवायामेव क्रियमाणायामेतन्नयं भवतीति ।
तदुत्तरमपि सेवासत्त्वेन तन्मध्यपत्तितया न तस्याः स्वतःपुरुषार्थत्वहानिरित्यर्थः । अत
एव सेवायामित्यत्र पष्ठीमनादस्य सप्तमी विभक्तिरुक्ता । तत्रयमेवाहुः अलौकिसामर्थ्यं
सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति । तत्रालौकिकसामर्थ्यं हि भगवतः
कोटिसर्वाभिरूपसात्वन्तिकफलदित्सायां सर्वलीलाविशिष्टस्य प्रमोहैदयप्रवेशे तदनुभव-
सामर्थ्यम् । तत्र न शरीरान्तरे सम्भवतीति तादृशसामर्थ्यवच्छरीरप्राप्तिसृष्ट्या । सा च
प्रभुणैवापारकरुणेनैव सम्पाद्यत इति प्रभुसंपादितालौकिकशरीरनिष्ठस्वरूपानुभवक्षमसामर्थ्य-
मेव प्रमाणानुरोधप्रमेयसाध्यं मुख्यं फलमित्यर्थः । अत एवोक्तं प्रभुभिः श्रीयमुनां प्रति
प्रार्थयद्भिर्भमास्तु तव सन्निधौ तनु नवत्वमिति । नवत्वं च तादृक् सामर्थ्यमेव । अत एव
तनुनवत्वमेवोक्तं न तु नवतनुत्वमिति । तथा च यथा व्रजरथानां सर्वदा लीलासुखमनु-

भवतामन्ते तादृक् सामर्थ्यमेव सम्पादित येन खदत्तस्वरूपाभयो निष्प्रत्यूह भवति नान्यावस्था । तयान्यत्रापि तदनुग्रहत परमानुरागेण तथा फलदित्साया पूर्वदेह स्ववियोगाग्निना शुद्ध विधाय तस्यैवालौकिकत्व सम्पाद्य तत्र तादृक् सामर्थ्यं प्रकटयती ललौकिकसामर्थ्यमेव मुख्य फलमितिभाव ।

प्रमाणानुरोधिप्रमेयसाध्य मध्यम फलमाहु सायुज्यमिति । सह युनक्तीति सयुक् तस्य भावस्तत्त्वम् । भगवता सह सततस्वित्तरेय सार्वदिकसयोगरसानुभव इति यावत् । तथा च लक्ष्मीवदन्तर्यहगोपिकामद्रा भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपदखिलपुण्यपापक्षयद्वारा पाश्चमौतिकदेह निवर्त्तलौकिक दत्त्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य स्वलीलानुभव प्रशुकारितो मध्यम फलमिति भाव मध्यमत्व चास्य विप्रयोगरसानुभवमपेक्ष्य तदुत्कर्षस्य सहदयानुभवसाक्षिकत्वात् ।

उभयसाधारणमधिकाररूप तृतीय फलमाहु सेयोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति । सेवाया क्रियमाणायामेवानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात् सेवानुपयोगे अन्यै तादृशसाक्षाद्रसानुभवकर्तृभि क्रियमाणायाम् सेवाया उप समीपे योग, तद्रत्नक्षयादिशरीरप्राप्तिस्तृतीय फलमित्यर्थ । तस्य चान्तररमणानुग्रहत्वात् फलत्वम्, यदि साक्षात् सम्बन्धमाभावादधिकाररूपत्वमित्यर्थ । अत एव 'प्रायो दत्ताग्ने'स्य मुनीना पद्मादिशरीरप्राप्त्या साधिकारानुसारेण सेवा तद्रसानुभवयोन्यता चेति निरूपितम् ।

एव फलत्रय निरूप्य धायफलस्य दुर्लभत्व निरूपयन्त फलत्रैविध्ये हेतु च समर्थयन्तो दानदानसाध्यत्व प्रथमफलस्य निरूपयन्ति अलौकिकस्येति ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

अलौकिकस्य स्वविरहानुभवसमसामर्थ्यस्य दाने भगवता स्वाग्रहेण इ एतन् भवरूपतया तदनिच्छायामपि तथा सम्पादने, चकारात् तदेहेन्द्रियादिषु स्वस्वरूपस्थापने सति आद्यः प्रथमफलविषयक संस्काररूपसमर्पणसमयक्रियमाणो मनोरथस्ताप हेतुशान्दप्राप्तिरूप सिध्येदित्यर्थ । हीति युक्तोपमर्थ । यतो लीलासितेष्वपि केषांश्चिदेव रासमण्डलमण्डनयमानानां तदानम् । अत एवान्तर्यहगतानां प्रतिबन्ध इत्यत केवलप्रमुदानैकसाध्यत्वमिति भाव ॥ १ ॥

अत पर सायुज्यसेवोपयोगिदेहाप्तिरूपयो फलतदधिकाररूपमध्यमानन्तरफलयो पूर्वफलवदनियतत्वाभावात् कदाचित् कालसाध्यत्व ज्ञानादीनामिवाशययेत तदभावार्थमाहु फल वा ह्यधिकारोयेति ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोद्य नियामक ।

फलं सायुज्यम् । अधिकारः सेवोपयोगिदेहाप्ति । अत्रेतदुभयो फलयो

फालो न नियामकः सत्यादिरूपः फलदः कठिरूपः प्रतिबन्धको वा नेत्यर्थः । एतेन कालानियम्यत्वेनेतत्फलस्य नित्यत्वमपि सूचितम् । अत एव कपिलदेवैरपि 'नो निमित्तो लेखि हेतिरि'ति निरूपितम् । अत्र वासुदेवद्वयमधिकारस्यापि फलरूपतया तत्समकशल-
योधनाय ।

एवं सोपपत्तिकं फलत्रयं विविच्य प्रतिबन्धकत्रयं विवेचयितुं निरूपयन्ति उद्वेग इत्यादि ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

मूले बाधकमित्येकवचनेन मिलितानामेव बाधकत्वेत्याशङ्क्याहुः विवरणे सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति । उद्वेगो नाम मनसः सेवायां क्रियमाणामाप्तुकृष्टो वेगः सर्वथा तत्रस्थिरता याहिर्मुख्यमिति यावत् । स च सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकतया प्रतिबन्धकः । तस्मिन् सति क्रियमाणसेवायाः केवलकार्यिकीत्वान्मानसीत्वाभावेन प्रतिबन्धेनानाधिदैविकीत्वात् । एवमुद्वेगं निरूप्य प्रतिबन्धभोगौ निरूपयन्तः प्रथमं प्रतिबन्धस्यानियार्थत्वेन पाठक्रममनपेक्ष्यार्थक्रमेण भोगं निरूपयन्ति भोगो द्विविध इति । भोगे द्विविधं लौकिकालौकिकभेदेनेति तदाहुः लौकिकोऽलौकिकश्चेति । तत्र लौकिको लौकिकपदार्थानां भगवत्सम्बन्धरहितानां स्वत आसत्त्या भोगः । अलौकिकस्तु प्रभुसम्बन्धी । स तु प्रतिबन्धक एव न भवति । तस्य फलानां मुख्यमध्यमसाधारणानां मध्ये प्रथमफलेऽलौकिकसामर्थ्येन प्रभुसारूपानुभवरूपसमभोगे प्रवेशात् । यतः सर्वेन्द्रि-
यैस्सम्बन्धिपदार्थेष्वनुभूयमानेषु तत्र तत्र स्थितो रसात्मा प्रभुरेवानुभूयत इति भावः । एवं भोगं निरूप्य प्रतिबन्धं निरूपयन्ति प्रतिबन्धोपीति । साधारणः सर्वसाधारणः, सेवायां लौकिकवैदिककार्यान्तरव्यासक्तिः । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्यासुरमाप्रविषयत्वेना-
साधारणत्वादनिवर्त्यत्वेनावक्तव्यत्वाच्च त्रय एव बाधका उद्वेगलौकिकभोगसाधारणप्र-
तिबन्धा इत्यर्थः । ननु कथमेतेषां सिद्धानां त्याग इत्याशङ्क्याहुः अग्राणामिति । उद्वेग-
लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धकानां त्रयाणां साधनं तजजनहेतुमूर्तं तस्य परित्यागः कर्तव्यः,
हेतुच्छेदे पुरुषध्यापारात् । सिद्धस्य स्वरूपलभे त्यागानर्हत्वात् । नहि केनापि स्वसामग्रीसम्पादितं सुखदुःखादि किञ्चिदपि स्वयन्नशतेनापि स्वतुं शक्यते । ननु साधा-
रणप्रतिबन्धे सेवायां लौकिकवैदिककार्यापत्तिरूपे साधनस्य लोकभेदसिद्धतयाऽशक्यत्वा-
गत्वात् कथं तत्याग इत्याशङ्क्य तदुपायमाहुः तत्राप्य इति । तत्र साधारणभगवत्कृत-
प्रतिबन्धयोरारभ्यः साधारणः बुद्ध्या उपायचातुर्येण ह्याज्य इत्यर्थः । बुद्धिस्तु सेवायां प्रतिबन्धत्वेन यदापतति लौकिकं वैदिकं तस्य पूर्वमेव सेवानवसरसमयमवेक्ष्य निर्धारो विधेयो यथा न सेवां प्रतिबन्धाति । तथा च पुत्रविवाहदेहस्यैव रुग्णादि विधारणीयम्

१ फलेषु प्रथमफले सर्वविविधसामर्थ्ये उद्वेगस्य बाधकत्वात् प्रवेद्यथानीतिकसामर्थ्येन प्रभुसारूपानु-
भवस्य स्वभोगरूपतादिति पाठान्तरम् । २ सामर्थ्येति सूचीयन्तः पाठः ।

यथा न सेवाप्रतिबन्धः । परोपकारादेस्तु धर्मस्य यौगधर्मत्वज्ञानेन त्यागः । कालान्तरे वा करणम् । एवमन्यत्रापि सर्वत्र द्वन्द्वरत्नरतिप्रतिबन्धविमलजनी शुद्धिसुसन्धेया । यद्वा । कदाचिदावश्यकलौकिकवैदिककार्यापाते तत्प्रयत्नसम्भवेन त्यागः कथं शक्यत इत्यत आहुः शुद्धेति । शरीरादिना तत्कार्यकरणेति तत्र युक्तिर्न स्यात्पेत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं साधारणप्रतिबन्धं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धं निरूपयन्ति ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

अकर्तव्यमिति मूले । विवृत्तौ भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध इति । भगवतः सर्वसमर्थस्यापि स्वतचेच्छतया यस्मिन्न किञ्चिदपि कुतियिषयः सर्वथा सर्वप्रकारेण प्रार्थनायामपि तदा गतिर्निस्तारो न सर्वथा फलाभाव इत्यर्थः । हीति युक्तोपमर्थः । सर्वमार्गफलदातुः प्रभोः प्रातिकृत्ये केनापि मार्गेण फलासिद्धेः । अत्रायमाशयः । भक्तिमार्गे विशिष्टेच्छायाः कारणत्वात् सामान्येच्छारूपमूलेच्छया सर्वोदया वा फलसिद्धिः प्रतिबन्धो वा । किन्तु स्वपंगीकृत्य यस्मिन् जीवे प्रसुर्यदा यथेच्छति, तदा तत्र तथा करोतीति वस्तुस्थितिः । तथा च भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य निरन्तरं सेवां कुर्वतोपि कदाचिद्दुःसंगादिनाऽतिपक्षपातिप्रभु-प्रियशब्देण तद्गोहे प्रमोदति कोपेन प्रार्थनयापि क्षमामम्भावनाहितेन तस्मिन् प्रभुः फलप्रतिबन्धं करोतीति स भगवत्कृतप्रतिबन्धः । तस्मिन् सति सर्वथा सर्वमार्गफलाभाव इत्यर्थः । ननु भगवत्कृतप्रतिबन्धेऽप्यन्येषां फलदातृणां सेवया फलान्तरं भविष्यतीत्यार्षक्याहुः तदान्यसेवेति । यदा 'फलमत उपपत्तेरिति न्यायेन सर्वत्र फलदातुः प्रभोः प्रातिकृत्यं तदान्येषामपि तदधीनानां फलदानुत्तमानायात् तत्सेवापि फलासाधकत्वाद् व्यर्थेत्यर्थः । ननु सर्वथा फलाभाव आसुरेष्वेवेति कथं दैवस्य भगवत्कृतप्रतिबन्धे तयात्वमित्याहुः तदा-सुरोपमिति । जीवानां हि दृष्टपादावपि 'निबन्धायासुरी मते'ति वाक्येन भगवत्कृतप्रतिबन्धादेवासुरत्वम् । यत्र यदा प्रभुः कर्तुमिच्छति तदैव भवतीति तदा तस्मिन्नेव समयेऽयं यस्मिन्नेवप्रतिबन्धः स जीव आसुरः सेवाददिना दैवत्वेन प्रतीतोपि आसुर एवेति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः । एतेनैतत्प्रतिबन्धस्वरूपविज्ञिः सर्वथा दुःसंगादिषु साधनानैः सेवमित्युक्तं भवति ।

ननु तादृशस्य पश्चात्तापे शोकोत्पत्त्या पूर्वं भक्तिमार्गाव इति तदभावार्थं तत्त्वनिर्धारोपायमूलं विवेकरूपं साधनमाहुः यथा वेति ।

यथा या तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

याशब्दोनादरे । येनैव प्रकारेण । नायाग्रहः । एतत्त्वनिर्धारस्य शोकाभावमा-
त्रार्थत्वाच्चोपनिषज्ज्ञानमपेक्षितम्, किन्तु यथाकथञ्चित् सांख्ययोगेनाप्येन वा भाषाप्रबन्धा-
दिनोवायेन तत्त्वनिर्धारं विधाय शोकाभावार्थं विवेकः सम्पादनीय इत्यर्थः । विवेकस्तु

ममैतदेव प्रभुणा कृतं सर्वं ब्रह्मात्मकं कोहं किञ्च साधनं किं फलं को दाता को वा भोक्तेत्यादिरूपः । तमेव च तत्त्वनिर्धारोपायं विवृती विशदयन्ति ज्ञानमार्गणेति । ज्ञानमार्गेण ज्ञानसाधनोपायेन स्यात्तद्व्यमित्यर्थः । किञ्च ज्ञानस्थित्यापि न तन्मार्गीया मुक्तिः, किन्तु शोकाभाव एवेत्याशयेनाहुः शोकाभावायेति ॥ ३ ॥

अतः परं यदर्थमेपां निरूपणं बाधकानां तत्प्रयोजनमाहुः बाधकानामिति ।

बाधकानां परित्यागो भोगेष्वेकं तथा परम् ।

निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

बाधकानामुद्देशगोगप्रतिबन्धानां परित्यागः परितस्सागः कर्तव्य इत्यर्थः । भोगस्य बाधकत्वेन त्याज्यत्वमुक्तत्वाऽऽलौकिके तदभावमाहुः भोगेपीति । भोगेष्वेकमलौकिक-भोगरूपं फलप्रविष्टतया तथा तेनैव प्रकारेण, परं प्रतिबन्धयोः परं भगवत्कृतप्रति-बन्धलक्षणमशक्यत्वात्तत्वेन विहाय तथेत्यर्थः । ननु भोगयोरपि तुल्यतामाशङ्क्य तस्मिन्नलौ-किके वैलक्षण्यमाहुः निष्प्रत्यूहमिति । अलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रथमफले भगवत्स्वरूप-नन्दाहुभवरूपे भोगे क्रियमाणे प्रत्यूहोन्तरायः केनापि कालादिनापि न कर्तुं शक्यत इति निष्प्रत्यूहं स एव सिध्यति । लौकिके तु सर्वथा तदभाव इति महद्वैलक्षण्यमित्यर्थः । अत एवोक्तं प्रभुभिः सद्यसासनिर्णये 'हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं पाधां कुतोपर' इति । केच महानिति । स्वरूपतः फलतः साधनतश्च महान् । विषयानन्दब्रह्मानन्दविषया-ज्ञानानन्दस्य महत्वादित्यर्थः । अत एव फलेष्वपि प्रथमफल एवालौकिकसामर्थ्यरूपे-रूपेण प्रविशते प्रविशतीत्यर्थः । किञ्च सदेति । त्रैकालिकाबाधनिषयत्वादित्यर्थः ॥४॥

एवमलौकिकभोगे वैलक्षण्यं निरूप्य लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धावेकीकृत्य तद-भनिरूपणपुरःसरं वैलक्षण्यं निरूपयन्ति सविभ्रोल्लपो घातकः स्यादिति ।

सविभ्रोल्लपो घातकः स्याद्दलादेतौ सदा भती ।

लौकिको हि भोगः सविभ्रो विभ्रसहितः, कर्मकालादिभिस्तत्र विप्रसम्भवात् । अल्पश्च । स्वरूपतः फलतः साधनतश्च परिच्छिन्नत्वादित्यर्थः । साधारणप्रतिबन्धो हि घातकः । सेवाकालोपरोधकतया तदातकः । एतौ भोगसाधारणप्रतिबन्धौ सविभ्रत्वाल्प-त्वपातकत्वादिभिर्धर्महेतुभूतैस्सागम्यैर्हत इत्याशयेनाहुर्विश्रुती ननु कथमित्यारभ्य घा-तकः स्यादित्यन्तम् । सविभ्रत्वादल्पत्वाम्भोगः प्रतिबन्धश्च घातकत्वाच्च त्याज्य इत्यर्थः ।

एवं लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धयोस्सागदेतुभूत धर्मशुक्तत्वा भगवत्कृतप्रतिबन्धे-त्यागसम्भवेन ज्ञानमार्गस्थित्यानधिकारिणो मन्दभक्तेः फलचिन्तया शोको भयतीति तदभावाय चिन्ता न कर्तव्येत्याहुः द्वितीय इति ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे सर्वथा सर्वप्रकारेणान्यतोपि फलसम्बन्धाभावाच्चिन्ता फलविपयिणी त्याज्येत्यर्थः । तत्र हेतुमाहुः संसारनिश्चयादिति । संसारोऽहन्ता-ममतात्मा सर्वानर्थमूलं प्रवाह्यभफलरूपः, तस्य निययाद्भगवत्कृतप्रतिबन्धे संसार एव, न फलान्तरमितिनिश्चयादित्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रतिबन्धविचारमतिविचार्यत्वेन विभावोद्देशरूपप्रथमप्रतिबन्धेन फलाभावे भगवतो दानृत्वाभावं हेतुत्वेन निरूपयन्ति नन्वाच्यइति मूले विवृतावाच्यफलेति ।

नन्वाच्ये दानृता नास्ति तृतीये पापकं गृहम् ।

आद्येन प्रतिबन्धेन फलाभाव इत्यर्थः । नन्विति विरोधोक्तौ । आच्ये उद्देशरूपप्र-तिबन्धे भगवतः सर्वसमर्थस्याप्यन्तःकरणिकसम्बन्धितया तद्विशेषरूपोद्देशे क्रियमाणे सेवाया अमानसीत्वेन भगवत्सम्बन्धाभावाद्नाधिदैविकीत्वे तत्प्रयुक्तः प्रभोः फलदानृत्वाभाव इत्यर्थः । अन्यथा सर्वदोषनिवारकस्य फलदानृत्वाभावो न घटेत् । एतदेव विवृतौ विशदयन्ति तदा सेवेत्यादि । एवमुद्देशेगवाधकमुक्त्वा भोगपापकं विवृण्वन्ति तृतीय इति । तृतीये लीकिकभोगे गृहमेव पापकमित्यर्थः । अत्रायमाशयः । भोगो हि सर्वथा पापकः, भगवद्भैरुस्यसम्पादकत्वादिन्द्रियादीनां वैकल्यापादकत्वाच्च । स च पापकत्वात्तत्र स्थितापशतोपि यज्ञेनापि निवर्त्यमानो न निवर्तते । गृहस्य सर्वथा पापकत्वात्तत्र स्थितापशतोपि भोगसम्भवाद्गृहपरित्यागः । कृष्णार्थप्रयोगेव तदासक्तिपरित्यागो वा भोगाभावाच्च विषेय इत्यर्थः । एतदेव च विवृतौ विवृतं भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्याग इति । अत एवास्मदाचार्यैर्निबन्धे निरूपितं भगवद्भैरुवाचरूपेण 'गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुजीत कृष्णः संसारमोचक' इति ।

एवं फलत्रयं प्रतिबन्धत्रयं च निरूप्य निजान् प्रत्येतद्विचारमेवाहर्निशं कर्तव्यत्वेन वस्तुमुगसंहरन्ति अवश्येयमिति ।

अवश्येयं सदा भाज्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

इयं फलत्रयी प्रतिबन्धत्रयी चावश्यया, न स्वशक्या । भक्तिमार्गेण फलप्रतिबन्धप्राप्ति-निवृत्त्योः केवलभगवदधीनत्वात् । तथापि सदा निरन्तरं भाज्या कर्तव्यत्वेन विचारणीया, विचारे हि भावनायाः साधनत्वात् कदापित् फलसिद्धिः, प्रतिबन्धतश्च सावधानतया स्थिति-सिद्धिरित्यर्थः । ननु फलान्तरं प्रतिबन्धान्तरं वा भक्तिमार्गेण किञ्चिद्भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः सर्व-मन्यदिति । एतत्फलत्रयं प्रतिबन्धत्रयं चापहायान्यतरसर्वं फलप्रतिबन्धादिकल्पनं मनो-भ्रमः स्वान्तर्प्रान्तिरित्यर्थः । अत्रेदमुक्तं भवति । भक्तिमार्गेण सेवाया उत्तममध्यमसाधारणाधि-कारकमेव एतत्फलत्रयमेव, न मोक्षादिः । प्रतिबन्धकं चोद्देशादिकमेव, न पापादिकमिति ।

‘सापादमूलं भजत’ इति वान्मयात् । तथा चैतत्फलनिहितांशैरेतत्प्रतिबन्धसावधानैरन्यतो निश्चिन्तैः सर्वैः सेवैव विधेयेति भावः ॥ ६ ॥

गन्वेतःफलप्रतिबन्धकादिनिरूपणं तदाश्रितान्प्रति पठते तदीयदेहादेरामत्वात्, तदीयानां तु देहेन्द्रियादेः साक्षात्पुरुषोत्तमसमर्पितत्वेन फलरूपप्रभुसम्बन्धात् प्राप्तफल- तथा तान्प्रति फलप्रतिबन्धनिरूपणं व्यर्थमित्याशंस्य आहुः तदीयैरपीति ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

तदीयैः कृतात्मसमर्पणैरपि तत्फलप्रतिबन्धकादिभावनं कार्यमवश्यकर्तव्यम् । पुष्टिमर्यादायामंगीकारेण फलविलम्बाद्भजनं कारयित्वाैव फलदानात् । अविलम्बस्तु केवल- पुष्टावेवेत्याहुः पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति । पुष्टौ केवलपुष्टौ मर्यादाऽभावेन साक्षा- दंगीकारात्त विलम्बः । साम्प्रतं तु पुष्टिमर्यादायामेवाधुनिकानामंगीकाराद्भजनसिद्धिविल- म्बसद्भावेन तावत्पर्यन्तं प्रोषितभर्तृका इव फलप्रतिबन्धभावनं सर्वदा कार्यमित्यर्थः ।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्यतिदिसन्ति गुणक्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

तदीयानां गुणक्षोभोपि विलम्बादेव निमित्ताद् देशान्तरस्थपतिकाया इव भवति । तत्राप्येतदेव फलप्रतिबन्धकादिभावनं साधनत्वेन द्रष्टव्यम् । एतद्विचारेण चित्तस्य प्रभु- परतया गुणक्षोभोपि न भविष्यतीत्यर्थः । ननु गुणक्षोभनिवर्तकानि साधनान्तराणि भविष्य- न्तीत्याशंक्याहुः मे मतिरिति । विचारे क्रियमाणेऽस्मन्मतेरथैव पर्यवसानान्नान्यत्साधन- मित्यर्थः ॥ ७ ॥

गन्वत्र काचित् कुसृष्टिरूपयते, तदीयत्वे नियमेन फलसम्भवात्, तदवैयर्थ्यापत्ति- मिया प्रतिबन्धासम्भवाच्च, तदीयत्वे ह्युभयाभावादेवं न निरूपणमुचितमित्याशंक्याहुः कुसृष्टिरिति ।

कुसृष्टिरत्र वा कान्चिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

अत्रास्मिन्नर्थे वाशब्दोवधारणार्थः । अथैव वा कुसृष्टिरुत्पद्यते सा सर्वथा दोषा- मावाद्भ्रम एवेत्यर्थः । अनुपपत्तिपरिहारस्तु पुरैव प्रभोः स्वतन्त्रेच्छत्वनिरूपणेन कृत इति तत् एव विभावनीयमिति दिष्ट् ॥ ७ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणान्जदासानुदासश्रीहरिरायधिरचिता
सेवाफलविवृतिटिप्पणी सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीवल्लभविरचितटीकासमेतम् ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

अलौकिकस्य दाने हि चाप्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

यादृशी यत्प्रकारिका 'चेतस्तत्प्रवण'मित्यारभ्य 'कृष्णमेव विचिन्तये'दित्यन्ते-
नोक्ता । तत्सिद्धाविति । तस्याः सेवायाः मानवीत्वरूपफलावस्थासिद्धौ फलमुच्यते
फलं निरूप्यत इत्यर्थः । कुप्रेत्याकांक्षायाणाहुः टीकायां सेवायामिति । फलत्रयमिति ।
फलतावच्छेदकत्रयमित्यर्थः । यथा स्वर्गस्य फलत्वं तदवच्छेदकं चासृत्पानादिकं तथा मान-
सेवायाः फलत्वं तदवच्छेदकं चेदं फलत्रयम् । सेवायां फलत्रयमित्यनेन पूर्वार्थार्थ
उक्तः । उत्तरार्थार्थेणाहुः अलौकिकसामर्थ्यमिति । मूलेऽलौकिकस्येत्थलौकिकस्य
सामर्थ्यस्य । अलौकिकसामर्थ्यं सर्वामोक्षसुधा । तस्या दाने । आद्य इति ।
आद्यो मनोरथो 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चैत्यादिभिरुक्तः पूर्वोक्तसुधा-
भोगरूपः सिध्येत् पूर्णो भवतीत्यर्थः । अनेन शृंगाररसस्य पूर्वदलानुभव उक्तः । यका-
रादलौकिकसामर्थ्येनैव तदुत्तरदलानुभवोपि भवति । स तु परितो गलनरूपवर्णनेनामि-
रमणात्मको ज्ञेयः । एतेन दीयमाना सुधा साधनं भुज्यमाना सुधैव तु फलमिति सूचि-
तम् । वैशुगीते 'वर्णनार्थां मुखे समागच्छन्ती मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोती'ति निरूपितम् ।
'वर्णयन्त्योधिरेभिर' इत्युत्तरदलानुभवोपि सुधापूर्णैव निरूपितस्तस्मत्तिसूचनाय हि-
शब्दः ॥ १ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

फलं वा ह्यधिकारो नैवसार्थमाहुः सायुज्यमित्यादिना । मूले फलं चेति ।
सायुज्यस्य सोऽधुतइत्यादिश्रुती फलत्वेनैव प्रसिद्ध्या फलपदं सायुज्यवाचकम् । तथा च
द्वितीयं फलं सायुज्यमित्यर्थः । तृतीयं फलमाहुः अधिकार इति । एतदर्थेणाहुः टीकायां
सेवोपयोगिदेहो वैकृष्ण्टादिष्विति । जत्र आदिशब्देन श्रीमधुराश्रीशृन्दावनादिकं
आह्वयम् । मूले न काल इति । अत्र सेवोपयोगिदेहे कालो न प्रेरकः । यथा लीलासृष्टिश्चा
आम्रवृक्षादयो न कालप्रेर्याः, किन्तु भगवदिच्छयैव पुष्पयन्ति फलन्ति च, एवं जंगमा
अपि सेवोपयोगिनो देहाः भगवदिच्छयैव अवयवादिस्मर्त्ति लभन्ते ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

उद्वेग इति । श्लोकार्यमाहुः सेवायामिति । उद्वेग इति । मनसोन्यपरता उद्वेगः । कायसान्यपरता प्रतिबन्धः । इन्द्रियाणामन्यपरता भोगः । इदं प्रयं बाधकम् । तनुवित्तजसेवायां फलजननसामर्थ्यस्य भक्तिरहस्यमजनस्य बाधजनकं विसामप्रतिहेतुः प्रतिबन्धकमिति मूलार्थः ॥ २ ॥

अकर्तव्यमित्यारभ्य विशते सदेत्यन्तस्वार्थमाहुर्विवरणे त्रयाणामित्यारभ्य चिवेक इत्यन्तेन । त्रयाणामिति । उद्वेगसाधारणप्रतिबन्धकौकिकभोगानामित्यर्थः । साधनेति । एतत्रयाणामेव बाधकत्वात् । ननु कथमेतन्न्यस्यैव बाधकत्वं न तु पश्चानामित्यतो व्यवस्थामाहुः भोग इत्यादिना । लौकिक इति । अनिवेदितपदार्याणां समर्पणं विना विपयासक्त्योपभोगो लौकिको भोगः । अलौकिक इति । निवेदितानामर्षाणां भगवद्भोगार्थं धिनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरलौकिको भोगः । तत्राद्य इति । आद्यो लोककृतः साधारणः । युद्ध्या इति । विभावनयेत्यर्थः । फलानां मध्ये इति । यस्य फलप्रयमपि भवति तस्य सेवोपयोगिदेहरूपे प्रथमे फले प्रविशति सम्बन्धो भवतीत्यर्थः । एतद्भोगस्यैतत्फलसाधकत्वेन पूर्वं फलसम्बन्धः । तदुत्तरं च दासपर्मत्वेनैतत्करणदुत्तरं सम्बन्धः । इदमत्र पूर्वोत्तरमपि फले व्याप्तो भवतीति प्रोपसर्गार्थः । अयं मूले सदेत्यव्ययार्थो ज्ञेयः । निःप्रत्युहमिति हेतुगर्भम् । यतोयमदृष्टादिकृतविघ्नाभावान्निःप्रत्युहं सिध्यत्यतो महानित्यर्थः । यद्यपि पाठकमेण सेवोपयोगिदेहस्य तृतीयफलत्वम्, तथाप्यनुष्मानुरोधात् तस्य प्रायम्यमेव सिध्यति । किञ्चित्स्थाधिकारत्वेन निरूपणादपि तथा । भगवत्कृतप्रतिबन्धश्चेदिति । श्रवणकीर्तनादिना हरिक्षेष्टदये निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति । तस्या अम्यासे तस्यां भक्तिरहस्यमजनरूपं सामर्थ्यं सिध्यति । क्रियमाणेपि श्रवणकीर्तनादौ हरिक्षेत्रे निविशेत तदाभ्यासो न भवति । तेन जाता तनोरन्यपरता या स भगवत्कृतप्रतिबन्धः । तदा भगवत्कृतप्रतिबन्धे अन्यसेवा महापुरुषादिसेवा व्यर्था निःफलेत्यर्थः । अपिना भगवत्सेवापि तथेति ज्ञेयम् । क्रियमाणेपि श्रवणादौ चेन्न हरिनिवेशस्तदेत्यर्थः । पूर्वमेव ज्ञानादिमार्गप्रवृत्तौ तु नासुरत्वमिति बोध्यम् । नन्वासुरत्वे श्रवणादौ प्रवृत्तिरेव कथमित्यत आहुः । जीव इति । स जीव आसुरस्त्वान्तःकरणं तु देवमतः प्रवृत्तिरिति भावः । ननु तर्हि किमासुरेण कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः तदा ज्ञानमार्गणेति । अन्तःकरणस्य देवत्वे इत्यर्थः । अन्तःकरणसासुरत्वे तु संसारनिश्चयान्श्लोकामाव वक्ष्यन्तीति ज्ञेयम् । श्लोकामावसाधककंसोपदिष्टज्ञानमार्गणेत्यर्थः । चिवेक इति । आद्यो युद्ध्या त्वान्यः द्वितीये त्वासुरज्ञानमार्गेण श्लेषमिति द्वयोः प्रतिबन्धयोर्विवेकः इत्यर्थः ।

भगवत्कृतश्लोदित्यारभ्य विवेक इत्यन्तेनाकर्तव्यमित्यस्य विवरणं ज्ञेयम् । इत्य-
थोक्तत्रयाणामेवात्र बाधकत्वम् । अलौकिकभोगस्य प्रथमे प्रवेशात् बाधकत्वम् । भगव-
त्कृतप्रतिबन्धेषु सामर्थ्यानुत्पाद एव न तु जातस्य बाधोत्पत्त्यापि न बाधकत्वम् ।
प्रतिबन्धकत्वं तु भवत्येव । प्रतिबन्धो विसामग्रीतद्धेतुः, प्रतिबन्धक इत्यत्र विसामग्री-
पदस्य सामग्रीवाधालयन्ताभावोभयवाचकत्वादिति बोध्यम् ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा या तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगेष्येकं तथापरम् ।

निःप्रत्युहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

मूले श्लोकद्वययोजना । भगवतः सर्वथा सेवायां सामर्थ्यं अकर्तव्यं चेत् तदा
गतिः फलं न हि न भवतीत्यर्थः । ननु तदा तस्य किं साधनं शोकाभावापेक्षत आहुः
यथा चेति । येनात्मतत्त्वनिर्धारो भवति तादृशो विवेकः आत्मानात्मविवेकः शोकाभाव-
साधनं मतमित्यर्थः । 'तस्माद्भद्रे स्तनवान् मया न्यापादितानपि मानु शोचे'त्यत्र तस्य
ज्ञानस्य शोकाभावहेतुत्वकथनान्गतमित्युक्तम् । भोगेष्येकमिति । ज्ञानमिप्रापेणैकवचनम् ।
अपरमिति । न परमपरम्, हीनम्, बाधकशाल्याज्जमित्यर्थः । ननु कथं न द्वितीयो
बाधकस्तत्राहुः निःप्रत्युहमिति । निर्विग्रहम् । हेतुगर्भमिदम् । यतो निर्विग्रहं यथा भवति
तथा सिध्यति, अदृष्टदेर्बाधकत्वाभावात् । अतो महान् । एतादृशो भोगः प्रथमे फले
सेवोपयोगिदेहे सदा विशते, पूर्वमुत्तरं च सम्बद्धं भवतीत्यर्थः । पाठ्यमं दृष्ट्वा अलौकिकसामर्थ्यं
प्राथम्यं मन्वानस्य ग्रमनिरासाय टीकायां फलानां मध्य इत्युक्तम् । यस्य फलत्रयमपि
भवति तस्य यत्प्रथमं फलं सेवोपयोगिदेह इत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥

सविमोल्पो धानकः स्याद् चन्दादेतौ सदा भवौ ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

सविम्व इत्यत्र टीकायां सविप्रत्यादिति । अत्रापि सविम्वपदं हेतुगर्भम् ।
तथाचायमर्थः । धानको लौकिकभोगः, यतः सविम्वः, अतोल्पः स्यादिति हेतोस्त्याज्य
इति । एताविति । साधारणभगवत्कृतौ यत्प्रद्वेतोः सदा प्रतिबन्धकं भवति । मनस
इन्द्रियाणां चान्यपरतारूपानुद्वेगभोगां सामर्थ्यबाधकौ । नन्वन्यपरतारूपविमो तु
कारणमैव बाधकौ । तदुजसैवैवान्यस्य भवत्यतो चलिष्ठत्वात् प्रतिबन्धनामकार्थं
जातावित्यर्थः । ज्ञानस्थित्यभाव इति । पूर्वोक्तासुज्ञाने स्थित्यभावे । द्वितीय
इतीति । द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे जाते । मूले संसारनिश्चयादिति । अत्र संसारपदं
देहादिपरम्, तथा च 'विरोधनोक्तदेह एव मध्य' इत्यादिरूपनिश्चयादित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु सेवोपयोगिदेहस्य कथमविकारत्वम्, अविकारतो वा कथं फलत्वमित्यत आहुः
मन्वाद्य इति ।

नन्वाप्ये दातृता नास्ति तृतीये पायकं गृहम् ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

नन्विति क्रोमलामक्षणे । आद्ये सेवोपयोगिदेहरूपफले सति या भवति फलद्वय-
दातृता सा सेवोपयोगिदेहरूपायफलमात्रे नास्तीत्यायफलस्याधिकाररूपतेत्यर्थः । तथा
च यस्यायफलमेव फलं तं प्रत्यायस्य फलत्वमेव । यस्य च पुनरप्येपि सायुज्यादिफलं
तं प्रति आयफलस्याधिकारत्वमेवेति भावः । एतेन फलत्रये तातम्यमपि सूचितमिति
शोध्यम् । टीकायां तदा सेवेति । आयफलमात्रेत्यर्थः । गृहे तृतीय इति । लौकिक-
भोगरूपप्रतिबन्धके सति पायकं गृहं सेवाप्रतिबन्धकं लौकिकभोगसङ्गकं भार्यादि त्याज्य-
मिति शेषः । अवश्येयमिति । इयं प्रतिबन्धकप्रयी फलत्रयी च सदा निरन्तरं भाव्या
विभाषनीया । भावनया प्रतिबन्धककृतप्रतिबन्धनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः । सर्वमिति ।
ज्ञानादीनां साधनत्वं तत्साध्यमोक्षस्यैव फलत्वमिति मनोभ्रमभात्रम् ॥ ६ ॥

ननु 'तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या धीपुरुषोत्तमे' इत्यनेनात्मनिवेदिनां प्रति-
बन्धकमयाभावात् किं निवर्तनेनेत्यत आहुः तदीयैरपीति ।

तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

शुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

भगवदीयैरपि पूर्वोक्तधर्मद्वयविभाषनेन प्रतिबन्धनिवर्तनं कार्यमेव । तत्र हेतुमाहुः
पुष्टाविति । तथा सति पुष्टौ मर्यादांशत्यागे भगवान् विलम्बं न कुर्यादित्यर्थः । अन्यथा
तु यद्यपि निवेदनमदार्यो न नश्यति तथाप्यलौकिकदेहप्राप्तौ विलम्बो भवत्येवेति । ननु शुण-
क्षिभक्षोभे भावनाया असम्मवात् कथं तन्निरवृत्तिरित्यत आहुः शुणक्षोभेपीति । सोप्येतेनैव
निवर्तिष्यत इति भावः । ननु शुणक्षोभनिवृत्त्यर्थं हंसावतारेण एकादशस्कन्धे प्रकारान्तर-
मुक्तमित्यत आहुः इति मे मतिरिति । मन्मत्तिसिद्धेयं प्रकारः । तथाच मर्यादापुष्टि-
भेदेन ध्यवस्येति भावो द्रष्टव्यः ॥ ७ ॥

ननु स प्रकारो भगवदुक्तः, अयं च पौरुष इति कथं तुल्यफलत्वमित्यत आहुः कुसृष्टिरिति ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

याशब्दोनादरे । ममापि वाक्पतित्वाद्भ्रमदाक्ये पूर्वोक्ता अन्या वा काचित्
कुसृष्टिः किसुलयेत ? नीलयेतेत्यर्थः । यदि चेदुलयेत तदा तस्य तादृशं ज्ञानं भ्रम एव ।
तद्बोधनार्थं नास्मत्प्रवृत्तिः, किन्तु 'सात्त्विका गणपद्भक्ता' इत्युक्तानां तादृशमेव बोधना-
र्थमेवास्मत्प्रवृत्तिरिति भावः ॥ ७॥ ॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतसेवाफलविधुतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतसेवाफलविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यचरणौ तत्कृपावलात् ।

सेवाफलोक्तिविवृतेर्विवृतिं वितनोत्सयम् ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः श्रुतिब्रह्मसूत्रगीताश्रीभागवततात्पर्यगोचरस्वसिद्धान्तस्य तदुचित्तजसेवात्मकस्य साधनस्य भगवत्प्रेमात्मकसेवामिद्विपर्यन्ततां संक्षेपेण सिद्धान्तमुक्तावल्यां शोधसौकर्याय निरूप्य सेवाफलग्रन्थे तथैव तत्फलं निरूपयितुं प्रतिजानते पाददशीत्यादि ।

पाददशी सेवना प्रोक्ता तस्सिद्धौ फलमुच्यते ।

पाददशो यत्प्रकारिका सेवना सेवा, ज्यासगन्धो युजिति युजन्तत्वाद्धारणा विनिगमनेत्यादिपत्नीत्वम्, प्रोक्ता सिद्धान्तमुक्तावल्यां व्युत्पादिता, तस्सिद्धौ तस्या-
स्तत्रोक्तमाननीसेवासाधकतायां सत्यां फलं यत् प्राप्यत्वेन विवक्षितं तदुच्यते इत्यर्थः ।
अस्य ग्रन्थस्य सक्षिप्तत्वेन दुरूहत्वात् सायमेव शृङ्खन्तो ज्यातुर्धन्ति सेवायां फल-
त्रयमित्यादि । अत्र सेवायामिति सत्यर्थया सप्तम्या साधनसाध्यरूपयोर्द्वयोरपि संपयो-
सत्त्वा विवक्षितेति बोध्यते । तेन साधनरूपाया भावतन्वे तद्विर्वाहः, साध्यरूपायाश्च
निर-तरस्यैव विवक्षितं भवतीति सूच्यते । फलत्रयमित्यनेन मूले पाददशीति सेवाविशे-
षणेन यत्तदोर्नित्यमन्वदन्मागणात् फलेषु तादृशमिति प्रकारबोधकं विशेषणं स्मार्यते ।
तथा च तत्रोत्तममध्यमजघन्यभेदेन बाह्यमानसोर्लक्ष्यविध्यस्य सिद्धत्वादावपि फलत्रय-
मुच्यते इत्यर्थः । तर्हि किं तत्फलत्रयमित्यपेक्षायां टीकायां तत्स्वरूपं विभजन्ते अलौकिक-
सामर्थ्यमित्यादि । तत्रालौकिकमार्थं नाम परप्राप्तिविवर्गणश्रुत्युक्तभगवत्स्वरूपाभवे
'प्रदीपनदापेश' इतिश्लोक्तरीतिकमगवदवेशना योग्यता यथा रसात्मकस्य भगवतः पूर्ण-
स्वरूपानन्दाभुवनः । श्रीदेवकीनन्दना अप्येवमाहुः । श्रीहरिरायास्तु भगवद्विरहातुभव-
सामर्थ्यमित्याहुः । श्रीकल्याणरायास्तु भगवता सह गानादिसामर्थ्यं मुख्यानामिवेत्याहुः ।
पञ्चानोपीशास्त्रलौकिकभजनानन्दाभुवे स्वरूपयोग्यतेत्याहुः । एतस्मिन् भगवतो नाना-
विधप्रवेशहेतुकत्वाद्भगवद्विच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यतादुपपन्नम् ।

सायुज्यं ' भक्त्या मामभिजानाती'त्युक्तो भगवत्स्वरूपे लयः । यथा अप्येवम्, श्रीदेवकीनन्दनाथ । श्रीहरिरायास्तु सह शुनक्तीति सयुक्तं सयुजो भावः सायुज्यं संयोगानुभवसामर्थ्यमित्याहुः । श्रीकल्याणरायास्तु गोपानामिवेति विशेषगाहुः ।

सेवोपयोगिदेहोक्षरात्मको देहेन्द्रियासुहीनः पुरुषस्त्रीपशुपक्षिवृक्षाद्याकृतिः संस्थानविशेषः । तदेतत् फलत्रयं त्रिविधसेवायां यथायथं घोष्यमित्यर्थः ।

ननु 'यथाकतु'रिति श्रुतौ तत्कतुन्यायस्योक्तत्वात् संन्यासनिर्णये 'भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवे'दित्याचार्यैरपि तदंगीकारान्यायत एवात्रापि तादृशफलप्राप्तिसिद्धेर्विशेषतस्तत्कतयनस्य किं प्रयोजनमित्याकांक्षायां तत्र हेतुं वदन्ति मूले अलौकिकस्य दाने हीत्यादिपादत्रयेण ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

फलं वा सधिकारो वा,

अत्र हिहेतौ । चोपधारणे । यतो हेतोरलौकिकस्य सम्पदाविर्भावाधिकार-पोक्तीरतिक्रमाक्षरालम्बविग्रहस्य दान एव आद्य आदी भव उत्तमफलविषये विद्यमानो मनोरथः निश्चयशब्दोक्तकामचारात्मकः सिध्येत् । अदाने तु फलं वा हि निश्चयेन अधिकारो वा सिध्येदित्यनुपपद्यते । तथा च ' लोकवतु लीला कैवल्य'मिति न्यायेन भगवता अलौकिकस्य सम्पदाविर्भावसूत्रोक्तदेहस्य दाने एव तत्सम्बन्धिफललाभात् तत्कतु-न्यायमात्रेण पूर्वस्य सिद्धिरित्यतस्तत्रिरूपणमित्यर्थः । बाह्यमनादरे । तेन तत्कतुन्यायेन कदाचित् तद्वयं भवतीति बोधितम् ।

नन्वधिकारस्य कार्यान्तरयोग्यतारूपत्वात् तस्य च साधनदशायामपि सत्त्वात् कथं फलत्वमित्यत आहुः ।

न कालोन्नियामकः ॥ १ ॥ इति ।

अत्रेत्यधिकारे । तथा च कालनियम्यत्वाभावेनानावृत्त्या नित्यत्वादस्यापि फलत्वं निःप्रत्यहमित्यर्थः । एतत्रये एकं दानहेतुकमन्वद्भवमपि भगवदनुग्रहैकहेतुकम् । मर्यादा-मार्गे निर्गुणाक्षरविद्यया तादृशतत्प्राप्तेः सगुणया सन्मनोगयदहरादिविद्यया च 'जक्षन् कीदन् रममाण'इत्यादिनोक्तैर्भयर्पयन्तप्राप्तेरेव श्रावणात् ततोधिकस्य सेवोपयोगिदेहादे-स्तत्र केवलया भक्तिरहितमर्यादया वक्तुमशक्यत्वात् । तथा तदुपगमे 'यमेवैष' इत्यादि-श्रुतेर्भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इत्यादिस्मृतेश्च विरोधस्य दुष्परिहरत्वाच्च । अतस्तत्रयमन्यो-प्यत इति भावः । अत्रायस्य दानेन सिद्धौ 'रुद्रादीनां वचः श्रुत्वे'त्यादिकृष्णोपनिषन्मन्त्रा वृहद्भामनीयकथा 'संकल्पो विदितः साध्यः' इति कुमारिकाः प्रति भगवद्वाक्यं प्रमाण-त्वेन घोष्यम् । द्वितीये च 'नैकात्मतां म' इत्यारभ्य 'गतिमण्वी प्रयुक्त' इत्यन्तं कपिल-

वान्यम् । तृतीये च 'को वामिहिल्य भगवत्परिचर्ययोश्चैरिति जयत्रिजयी प्रति मनकादि-
वान्य ज्ञेयम् । तयो पातस्तु भगवदिच्छात एवेति तत्रैव नियन्धे प्रतिपादितमिति न
कश्चित्स्नन्देहः ॥ १॥ ॥

ननु भवत्वेवमनुग्रहैर्विध्यात् फलत्रैविध्यम्, तथापि 'निल हरी विदधत' इति
वाक्ये कामक्रोधादीनामपि भगवति निल विधानं तन्मयत्वस्योक्तत्वात् तन्मयत्वं च
सायुज्यस्यैव युक्तत्वात् सिद्धान्तमुक्त्वात्त्याम'प्युभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'
त्यनेन मानसा एव फलत्वेनोक्तत्वात् तथापि तन्मयताया सिद्धौ तस्यैव युक्तत्वात्कर्म
तदभावो येन तृतीय फलमित्यत आहुः ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा म्यादिति ।

सेवाया क्रियमाणायामिति शेष । किं तावतेसाक्षात्साया तेषा स्वरूप टीकाया
विवृण्वन्ति सेवायां प्रतिबन्ध इत्यादि । प्रतिबन्धो नाम रिसामग्री तन्नक
प्रतिबन्धक । तद्वदोद्वेगादित्यम् । तत्रोद्वेगो नाम उच्चैर्भय चलन वा । ओविजी भय
चलनयो । तदत्र सेवाया क्रियमाणायामुपादि-यो मनसो अत्र सा पात्रारिना उद्वेगात्
वा । अत्र द्वितीयमप्युक्तम् । एतदुपयमप्यान्तरमता द्विविधोप्युद्वेगो बाह्यसेवाफलरूपाया
मानसीतस्माननाधिकरणरुद्धसामग्रीरूपस्वप्रतिबन्धक । प्रतिबन्धो नाम तद्विहीनत्व
वा तत्प्रतिबन्धो वा निगम्यते । प्रतिबन्धे प्रतिकल्पे वा । यत्र उद्वेगे । सोऽत्र सेवाया रुचौ
सत्यामपि शरीरादिमानस्य च प्रतिबन्धे । एतदुपयमप्यान्तरमता द्विविधोप्युद्वेगो बाह्यसेवाफलरूपो
बाह्यसेवासामानाधिकरण्यात् तद्विरुद्धसामग्रीरूपस्वप्रतिबन्धक कादाचित्क ।
भोगो नाम सुखदुःखमाक्षारकारोभयवद्वाररूप प्रसिद्धो देहेन्द्रियोभयनिष्ठत्वाद्दुःख-
विषमैरानिमाभग्रीरूपो बलिष्ठ म्भावत प्राप्त । तथा च तेषा भेदानिन्द्रियाधिकाराधिक-
मानसिकसामग्रीरूपादकत्वेन मानसा जपन्य सापन्नान् तथा तन्मयताया अभिद्धौ सुप्तेन
तृतीयस्य फलस्य सिद्धिरित्यर्थः ।

ननु भवत्वेव तथापि यदत्र मुख्य फल तत्तु दानैकसाध्यमित्युक्तम् । दानं तु
पूर्वं ज्ञातुमशक्यम् । तथा सति न्यत्र पुरुषार्थत्वेन सेवाकरणे एव किं फलं भविष्यतीति
सन्देहः कथं निवर्ततेत्यत आहुः ।

तु बाधकमकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि यथा वा इति ।

तुः शकानिरासे । बाधकं पूर्वोक्त उपयमकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेत् तदा
हि निश्चयेन गतिर्न, प्राणाना देहादुत्तरमण न । मनसो वा भगवच्छतिरिक्ते गतिर्न,
किन्तु 'वाच्यमिति दर्शनाच्छ-दाय'त्वधि-प्रबन्धोक्त्यायेन भगवत्वेव लय । 'ता नादिद'त्रि-

त्युक्तरीत्या भगवदेकतानत्वं हि निश्चयेन । एतेन मुख्यफलमयनविषयकसन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः । यथाचेति भिन्नं वाक्यम् । अप्रापि वाधकं भगवतः अकर्तव्यं चेदित्यन्वेति । तथा च यथा येन प्रकारेण सेवा, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तथा तेन प्रकारेण वाधकं भगवतोर्कर्तव्यं चेत्तदा, वा फले विकल्पः, सेवा मध्यमा चेन्मध्यमम्, जपन्या चैव्रजप्यं फलमित्येवं सन्देहनिवृत्तिरित्यर्थः । अथवा । ननु सेवा हि भक्तिमार्गीयं साधनम् । भक्तिमार्गीश्वानुग्रहैकलभ्यः पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थापितः, निबन्धे च 'सर्वथा चेद्धरिभूपा न भविष्यति यस्य हि । तस्य सर्वमशक्यं हि मार्गोस्मिन् सुतरामपी'त्यनेन । एवं सत्यस्मिन् मार्गे प्रतिबन्ध एव कथं येन फलत्रैन्विष्यमित्यत आहुः तु बाधकमित्यारभ्य यथावेत्यन्तम् । अत्र व्रीणि वाक्यानि, तेषु त्रिष्वपि वाधकपदं चैत्यदं चान्वेति । तथा च वाधकं पूर्वोक्तं भगवतः अकर्तव्यं चेत्तदा प्रतिबन्धसामावाहतिर्मध्यमं फलं भवति । वाधकं सर्वथा चेत्तदा न हि निश्चयेन सेवाफलमेव न । वाधकं यथा तथा चेत्तदा वा विकल्पः । तथा चैवं भगवदिच्छातस्यैविष्यमित्यर्थः ।

तर्हि विकल्पे किं कार्यमित्यत आहुः ।

अतस्त्वनिर्धारोऽपियेकः साधनं मतम् ॥ ६ ॥

वाधकानां परित्याग, इति ।

अत्रोक्तवाक्यद्वयस्य त्रयस्य वाऽऽसन्दिग्धत्वाद्दत्तस्त्वनिर्धार इत्यादिकं व्याकुर्वन्ति । त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति । त्रयाणां पूर्वोक्तानां वाधकानां यत्साधनमतस्त्वनिर्धारविवेकस्वरूपं तस्य परित्यागः सर्वथा त्यागः कर्तव्यः । तत्प्रतियोगिभूततत्त्वनिर्धारविवेकयोरभ्यासेन तयोः प्राग्गवानिवृत्तिः सम्पादनीया, ध्वंसो वा । तथा च नवीनतदुत्पादकसाधनत्यागे यथा भोजनपरित्यागे पूर्वाजीर्णस्य निवृत्तिः भाविनश्चातुत्पत्तिस्तथा तत्त्वनिर्धारं जाते शुद्धिदोषरूपसोद्देशस्य निवृत्त्या विवेके च जाते प्रतिबन्धभोगयोर्निवृत्त्या तयोर्निःशेषनाशः सम्पादनीय इत्यर्थः ।

ननु वाधकत्यागे कर्तव्ये भोगत्याग आगतः, तत्राकृते शरीरस्थितेर्बलादेश्चासम्भवात् सेवाया एवासिद्धिः, प्रतिबन्धस्य चादृष्टजन्यत्वात् तत्यागस्याशक्यत्वमिति सेवासिद्धिरेव दुर्धटेत्याशंकायां तदर्थं विभागमाहुः भोगोपीत्यादि ।

भोगेऽप्येकं तथा परम् ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

अपि समुद्ये । भोगे, अपि शब्दात् प्रतिबन्धे, एकं परित्याज्यमिति शेषः । तथेति पैषम्ये दृष्टान्तः । यथा भोगप्रतिबन्धयोरेकं परित्याज्यं तथा परं द्वितीयं निःप्रत्यूहं विभज्यन्त्यम् । भोगस्य निःप्रत्यूहत्वे हेतुर्भूतान् भोगः प्रथमे विशते इति ।

प्रतिबन्धस्य तथात्वे हेतुः सदेति । तदेतत् सर्वं मन्दादेर्दुष्करं दुर्भेद्यं चेति तदर्थं गृह्यन्ते व्याकुर्वन्तः प्रतिभोगप्रकाशमादाय प्रथमतो भोगं विभजन्ते भोग इत्यादि । भोग उक्तरूपो द्विप्रकारकः । तयोर्मध्ये लोकासक्तिजन्मा सार्वदिकत्वेन बलवद्वाधकत्वादवश्यं त्यक्तव्य एवेत्यर्थः । ततो न्यूनं प्रतिबन्धं विभजन्ते प्रतिबन्धोपीत्यादि । तस्य कादाचित्कत्वेन सत्यत्वात् पूर्वं तत्यागप्रकारमाहुः तत्रेत्यादि । तयोः प्रतिबन्धयोर्मध्ये आद्यः साधारणः बुद्ध्या उपायचातुर्येण त्याज्यः । यद्यपि तत्त्वनिर्धारणविवेकौ पूर्वं प्रतिबन्धनिपातकत्वेन सूचितौ तथापि न तावन्मात्रेण निवृत्तिः, किन्तु बुद्धिरपि तत्सहकारित्वेनापेक्षिता । अतस्तया त्याज्य इत्यर्थः । ननु भवत्वेव तथाप्यलौकिकभोगालागे किं वीजमित्याकांक्षायां तत्र वीजमाहुः अलौकिक इत्यादि । तुः शकानिरासे । अलौकिको भगवद्वत्प्रसादत्वेन क्रियमाणो भोगः फलानां मध्ये प्रथमे आद्यमनोरथात्मके प्रवेशं प्राप्नोत्यतो निःप्रत्यूहत्वात् त्याज्य इत्यर्थः । अयमेव हेतुर्मूले महानिति पदेनोक्तो बोध्यः । द्वितीयप्रतिबन्धस्य निःप्रत्यूहत्वे यो हेतुः सदा पदेनोक्तस्तुत्यादयन्ति भगवत्कृत इत्यादि । सेवायां स्वस्य रुचेः सामग्रीसम्पत्तेश्च सत्त्वेपि यदा पुनः पुनस्तद्विषयत्वेन तद्विषयिणाभावात् सेवायामरुचादिर्वा स भगवत्कृतप्रतिबन्धः । तत्रैव हि स्वस्वान्वेषां च 'देवमत्र विघातक'मिति बुद्धिरुदेति । तादृशं स चेद्भवेत् तदा भगवान् फलं पूर्वं विविधमपि सेवाफलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तेन सेवाप्रतिबन्धवता युक्तिविधिचारणीयम् । तदान्वेषां गुणादीनां सेवा चेत्तदर्थं कुर्यात्तदा सापि व्यर्था । एतत्फलरूपार्थविरहितेति मन्तव्यमिति पूर्वं सम्बन्धः । तदायं जीव 'एव पञ्चविधं लिंग'मिति चतुर्थस्कन्धवाच्योक्तश्चेतनायुक्तमवात् आयुर इति निर्धारः कार्य इति प्रायपाठादायाति । तदा ज्ञानमार्गेण स्थानानि प्रपद्ये चाक्षरब्रह्मत्वभावनपरेणास्थूलादि-सदाबुधासनपरेण वा स्यात्तस्य शोकाभावात् । आत्मज्ञानस्य शोकनाशकत्वभावात्तया स्थितौ तस्मिन् सयाते निवृत्ते एतस्मात्क्षरसायुज्यं वा तत्र स्थितिर्वा भवतीति चिन्तकः सेनाफलात् पृथक्करणमित्यर्थः ।

अत्रैतद्बन्धदर्शनेन भवेद प्रतिमाति । आयुरजीव हि पुष्टिप्रवाहमर्पादायां 'जीवास्ते धामसुराः सर्वे प्रवृत्तिं चेति वणिता' इत्युक्तलक्षणका अज्ञदुर्भेदेन द्विविधा निरूपिता । ते तु नोपदेशार्हाः । 'सात्विका गगनद्रक्ता ये मुक्तावधिकाणि । भवान्तसम्भवा देवात्तेषामर्थे निरूप्यते' इति प्रतिज्ञावाक्येन तथा नियमात् । अत पर 'प्रवाहेपि समानस्य पुष्टिस्यस्तेन बुज्यते । सोपि तैस्त्र्यल्ले जातं कर्मणा जायते यत' इत्युक्तोवशिष्यते । यथा अलीखानादिः । अतस्मात्तत्र तदेव प्रति वायुमुपदेश इति ॥ ४ ॥

एवमलौकिकभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धयोस्तागानरहत्वे वीजं त्याख्याय साधारण-प्रतिबन्धलौकिकभोगयोस्तागान्वये वीजं वक्तुमवतारयन्ति ।

सचिन्तोल्पो घातकः स्याद् यत्तादेतौ मदा मतो ।
द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

साधारण इत्यादि । कथमिति हेतुरूपप्रकारोपक्रमम् । तथा चैतयोस्त्यक्त-
व्यताप्रयोजकः प्रकारः क इत्यर्थः । अन्यथा प्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति पूर्व-
ग्रन्थनिरोध आपयेतेति । व्याकुर्वन्ति सचिन्तत्वादित्यादि । कालादिकृतविगसाहित्यात्
स्वरूपतः साधनतः फलतश्चात्पत्वात् तथेत्यर्थः । एतं भोगे त्याज्यत्ववीजद्रये ध्याप्याते
शिष्टो घातकत्वरूपो हेतुः साधारणप्रतिबन्धनिष्ठ इत्यर्थदेव योधितम् ।

ननु प्रतिबन्धकन्यागप्रसारस्य पूर्वमुक्तत्वात्पुनस्तत्कथनस्य किं प्रयोजनमत आहुः
यत्तादेतापिति । व्याकुर्वन्ति पन्तानित्यादि । यत पन्तौ लौकिकभोगसाधारण-
प्रतिबन्धौ सदा क्षणे क्षणे प्रतिबन्धकावत्ते मुद्ध्या उपायचातुर्येण यत्ताद् ददात्
त्याज्यौ । यथाधिकं मुक्तं चैन्ममेदानीन्तना सेवा गता, मया गानायासक्त्या जागरः
कृतक्षेदिदानीं निद्रायाति, तस्मादेवं न विधेयमित्येवं मुद्धोपायचातुर्येण सर्वथा त्यक्त-
व्यावित्येतदयं पुनः कथनमित्यर्थः । द्वितीये सर्वथेति व्याकुर्वन्ति । द्वितीय
इत्यादि । पूर्व भोगप्रतिबन्धयोरुभयोरुक्तत्वात् कोन द्वितीय इति शकानिरासायैतदुक्तम् ।
ननु भगवत्कृते प्रतिबन्धे यादृशी स्थितिरपेक्षिता सा तु पूर्व विवृतेयेति पुनस्तदुक्तः किं
प्रयोजनमत आहुः ज्ञानेत्यादि । तथा च पूर्वोक्तादपि यो हीनः सिद्धान्तमुक्तावल्यां
'भक्त्यभावे त्व'ति कारिकयोक्तस्तस्य संसारेत्यन्ताभिनिवेशनिवृत्त्यर्थमिदमित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु पूर्वमुद्देगादित्रय संसाधन त्याज्यत्वेनोपत्याग्रे तत् त्याज्यत्वात्त्याज्यत्वविभागं च
कृत्वा पश्चाद्दयोरैवावश्यं त्याज्यत्वं यन्निरूपितं न तुद्देगस्यापि, तत् कृत इत्याकांक्षायामाहुः ।

न त्याग्ये दातृता नास्तीति,

अत्र प्राग्घः पाठं द्विषांगीकुर्वन्ति केचिन्नन्विति । केचिच्च न स्वेति । तत्रापि तु इति
मिदं पदं निश्चयार्थकमिति मम प्रतिमाति । आग्ये उद्देगे । तुः शकानिरासे । तु निश्च-
येन वा न, चिन्ता फलसाधननिषेधिणी न त्याज्या । तत्र हेतुः । दातृता नास्तीति ।
अदातृता नास्तीति वा । तदेतद्व्याकुर्वन्ति । आग्यफलेत्यादि । आग्यं यत् फल-
मलौकिकसामर्थ्यरूपं, तस्याभावे अप्राप्तौ, भगवतो दातृत्वं नास्ति, तदा तस्मिन् दानसमये
सेवा अनाधिदैविकी ।

उद्देगे हि मानसो, मानस्या एव विरुद्धसामग्रीजनकः, सा दानसमये 'चेतस्त-
त्यवण' 'ता नाविदन्' इतिवद्भवति लीनं न करोति, तेन सा सेवा अनाधिदैवि-
कीत्युक्तं भवति । अत उद्देगे तत्रिवृत्त्यर्था चिन्ता भगवद्भावनरूपा न त्याज्या, किन्तु

सदा कर्तव्यैव । द्वितीयपक्षे उद्वेगेन कृत्वा फलमावे मुख्यफलाप्राप्तौ भगवतोऽदातृत्वं नास्ति किन्तु तदोद्वेगदशायां सेवानाधिदैविकीत्युक्तं भवति । अतस्तस्या आधिदैविकीत्व-सम्पादनायोद्वेगनिवृत्त्यर्था चिन्ता न त्याज्या किन्तु कार्यैव । तथा चोद्वेगस्य मुख्य-फलातिरिक्तफलाप्रतिबन्धकत्वाद् मुख्यफलस्य केवलं दानमात्रसाध्यत्वाद् दिस्तायाश्च 'अनिच्छतो गतिमर्षी प्रयुक्त' इतिवाक्येन 'कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति वाक्येन च ज्ञातुमशक्यत्वान्नोक्तमित्यर्थः । अत्रानाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति कथनेन सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकस्वरूपमुद्वेगत्याज्यतापीजमप्युक्तं ज्ञेयम् ।

ननु तत्त्वनिर्धारविवेकान्मां प्रतिबन्धलागे यतमानस्यापि त्रयाणां त्याज्यपीजं जान-तोपि यदा न प्रतिबन्धनिवृत्तिः तदानेन किं कार्यमित्यत आहुः ।

तृतीये बाधकं गृहमिति ।

तदेतद्विवृण्यन्ति भोगाभाय इत्यादि । उद्दिष्टः साधारणप्रतिबद्धोपि निरुपधि यथाकथञ्चन भक्तिमान् सेवेत तदापि तृतीयं फलं भक्तिमत्त्वाद्भवति तस्मिन्नपि भोगो लौकिकः प्रतिबन्धं करोति । अतस्तृतीये भोगरूपे प्रतिबन्धेऽशक्यत्वागे सति भगवता गृहत्याग एवानेन प्रकारेण बोध्यत इत्यनुसन्धाय बाधकभूतं गृहं त्याज्यम् । यतो 'भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः । तथा च तदानीमयमेवोपायो नैतर इत्यर्थः । अयं त्यागो न भक्तिमार्गविसंन्यासरूपः, अधिकाराभावात्, किन्तु 'तादृश-सापि सततं गेहस्थानं विनाशन'मित्यादि भक्तिवर्धिन्युक्तभक्तिसाधनसम्पादनार्थे इति ज्ञातव्यम् । एवमत्र यावान् कठिनांशः सोत्र स्वयं व्याख्यातः ।

अतःपरं य एवं गृहत्यागमपि न कर्तुं शक्यात् तदर्थं मूले उपायमुपदिशन्ति ।
अवश्येयं सदा भाव्येत्यादि ।

इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी च अवश्यं, यथायथं भगवदनुग्रहेकलम्यत्वा-द्भगवद्विचारमात्रसाध्यत्वाच्च अवश्यं, न स्वकृतसाधनाधायता । अतः सदा भाव्या प्रतिबन्धोपस्थितावश्यत्वेनैव स्वदेन्याय तदा तदा विचारणीया । अत्र सदापदेनेदमेव बोध्यते, न तु कालनैरन्तर्यम् । 'निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वदे'त्यादीनां विरोधापत्तेः ।

सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

फलस्य स्वकृतसाधनायतलभावनं प्रतिबन्धस्य स्वकृतसाधनान्तरनाशयत्वभावनं च मनोभ्रमश्चित्प्रादिशुल्यसम्पादकं चापत्यमात्रम्, भगवद्विर्द्धं विना कथमपि केनापि किञ्चिदपि कर्तुमशक्यत्वात् । 'एष उ एव साधु कर्म कारयती'त्यादिश्रुत्या तथा बोधनात् । 'अनन्याश्रितयन्तो मा'मिति शान्ते ताप्यां योगक्षेमवहनस्य स्वकर्तव्यताया उक्तत्वादन 'प्रतिबन्धनिवृत्त्यादियोगक्षेमस्थापि भगवतीव कर्तव्यत्वादेकादशस्य विश्लेष्याये 'जातश्रद्धो मत्कामसु निर्विण्णः सर्वकर्मसु । वेद दुःखालम्बान् कामान् पतित्यागेष्वनीश्वरः ॥ ततो

भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्ददनिशयः । लुपमाणश्च तान् कामान् दुःखोदकाश्च गर्हय'त्रि-
त्यन्तेन तथा करणस्त्राज्ञापनाच्च ॥ ६ ॥

ननु यद्येवं तदा भावनस्यापि किं प्रयोजनम् । नहि जीवकृतया भावनया सत्य-
संकल्पो भगवान् स्वविचारितादन्यथा किमपि करोति । तथा सति किं भावनोपदेशेनेत्यत
आहुः तदीयैरपीत्यादि ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

एते हि तदीयाः, सर्वसमर्पणात् सर्वप्रकारेण भगवत एव भावनाय भगवदीयाः,
तैरपि तदुक्तं भावनं कार्यम् । तत्र हेतुः । पुष्टौ अनुग्रहविषये, भगवान् नैव विलम्बयेत् ।
एतच्छ्रुत्वा विलम्बं न कारयेत्, न कुर्याद्वा । रामो राज्यमचीकरदितिवत् स्वार्थं णिष् ।
तथा च पुष्टिमर्यादायां स्वयमेव साधनानामुपदेशादस्मात् साधनद्वारा बोधिधीर्षिति, तानि
विना वा न वेति न ज्ञातुं शक्यते, अतो विलम्बामाधायायमुपदेश इत्यर्थः ।

ननु 'सर्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे । चित्तजा धैरुः गतानां सज्जमानो
निबध्यत' इत्येकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् चित्तजा गुणाः कालकर्मस्वभावश्चात् क्षुब्ध-
माणाः प्रतिबन्धन्त्येव तदा किं कार्यमित्यत आहुः गुणक्षोभेपीत्यादि ।

गुणक्षोभेति द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणक्षोभोपि परंपरया भगवदिच्छाधीन इति तत्रापि एतदेव भगवत्कृतं विलम्बन-
मेव कारणत्वेन द्रष्टव्यम् । इति मे मतिः । इदमस्मानिरेवोच्यते । अप्र नान्यस्य
सम्मतिरित्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र हेतुः कुसृष्टिरित्यादि ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

शास्त्रे तदर्थं साधनान्तरोपदेशदर्शनादिरुद्धयुक्तिश्चिह्नित्वा वा विकल्पेनोत्पद्येत, परं
स विकल्पोधिकारभेदानवधानाद् वै निश्चयेन भ्रमः । भगवता 'द्विती क्षेपा गुणमयी मम
माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति त' इति गुणमूलनिवृत्तये स्वप्रपत्ति-
भावस्यैव साधनस्योक्तत्वात् । साधनान्तरकरणे च निःशेषतस्त्रिवृत्त्यभावात् । भगवत्कृत-
विलम्बभावेन तु भगवानेव शरणमिति बुद्धयुत्पत्तेः । अतोस्मानिरेदिं भगवदभिप्रेतमेवोच्यते
इति तथेत्यर्थः ॥ ७ ॥

इति तथैरणप्राप्तबुद्धिस्तु पुरुषोत्तमः ।

सेवाफलोक्तिविश्रुतेर्विश्रुतिं चैवमुच्यते ॥ १ ॥

इति श्रीमहर्षिभाचार्यचरणैकतानश्रीपीताम्बररामजस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य
कृतौ सेवाफलविश्रुतिप्रकाशः सम्पूर्णः ॥

धीरुष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

विवृतिविवरणसमेतम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् विद्वेशान् निजान् गुरून् ।

सेवाफलस्य विवृतिव्याख्यानं वितनोम्यहम् ॥ १ ॥

अथ देवोद्धारप्रयत्नात्मानः श्रीमदाचार्यां निजानां सुखेन सिद्धान्तयुक्तावस्तुक्त-
सेवायाः सिद्धये तत्फलप्रतिबन्धसाधनानि निरूपयन्तः प्रतिज्ञां कुर्वन्ति यादृशी सेव-
नेति । एतद्व्यन्यस्यातिसंक्षिप्तत्वेन दुर्बोध्यत्वान् सायमेव विवृतिं रचयन्तः सेवाया निबन्धेषु
फलत्वांगीकारेण तत्फलेष्वन्येषूप्यमानेषु सेवायाः साधनतामाशंक्य साधनताभ्रम् वारयन्तः
फलनामान्याहुः सेवामामिति ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

अलौकिकस्य दाने हि चाप्यः सिद्ध्येन्नमनोरथः ॥ १ ॥

सेवायां फलत्रयम्, अलौकिकसामर्थ्यम्, सायुज्यम्, सेवोपयो-
गिदेहो वैकुण्ठादिषु । सर्वत्र साधनान्ते फलम् । फले लभ्ये साधनत्यागाः । अथ
सेवासाधकत्रेयायां क्रियमाणायामित्युक्त्या न तरुणसाधकाशः । यादृशी सिद्धान्तयुक्ता-
वस्थां कथिता मानसी सेवा, तन्सिद्धौ मानसीत्ये सिद्धे, तस्यां यत्फलत्रयमलौकिकादि,
तदुच्यते । आद्यफलस्यालौकिकसामर्थ्यस्य प्रथुणा दाने कृते, अकारात्तदेहेन्द्रियादिषु
स्वरूपे स्थापिते, आदौ उत्तमफले जातो मनोरथः सिद्ध्येत्, तस्यादाने फले सायुज्यं वा
सिद्ध्येत्, अधिकारः सेवोपयोगिदेहो वा सिद्ध्येदित्यभिप्रेतान्वयः । हि युक्तोपमर्थः ।
अथ द्वौ वाशब्दौ पूर्वफलतुल्यत्वयोधको ॥ १ ॥

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम्, उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा ।
फलमिति । आद्यफलमनियतम्, परमानुग्रहैकलभ्यत्वान् । एवं चाप्यस्य दानैर्कोहेतुत्वम् ।
फलद्वयस्य साधारणानुग्रहेहेतुत्वम् । नन्वधिकारस्य सेवापूर्वकाले स्थितत्वात्कथं फलत्वमित्यत
आहुः न काल इति । अस्मिन्नधिकारे सत्ययुगादिरूपः कालो नियामको न । अतः
कालानियम्यत्वात्फलताधिकारस्य । एवं सेवपतिकं फलत्रयमुक्त्वा प्रतिबन्धकत्रयमाहुः
मूले उद्वेग इति, विवृती सेवामामिति । उदधिको वेगः मयम्, अपराधादिना मन-
शास्त्रत्यं वा पापादिना । स च सेवाऽरुचिभ्रम्पादनेन बाधकः । प्रतिबन्धश्च सेवायां रुची

सत्यामपि तत्समये लौकिकवैदिककायिकादिकार्यासक्तिरूपः । स च तत्समयरोधनेन बाधकः । भोगश्च शरीरवृत्त्यनुसारेणाम्ब्वहारशयनादिरूपः । सोऽपि पूर्ववद्बाधकः ॥ २ ॥

ननु फलानामनुग्रहलभ्यतयानुग्रहस्य च भगवदिच्छाधीनत्वात्सेवायां क्रियमाणायामम फलं भविष्यति न वेति सन्देहः कथमपेयादतस्तन्निवारणाय तु बाधकमित्यारम्य यथा वेत्यन्तमाहुः ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्भक्तिर्न हि ।

यथा चाऽतत्त्वनिर्धारोऽविवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

बाधकानां परित्यागः,

घयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भगवतो बाधकप्रय न करणीयं चेत् तर्हि मनस अन्यत्र गमनं न, फल तु यथा चा । येन प्रकारेण सेवा तथा तेन प्रकारेण फलमिति सन्देहाभावः । यद्वा भक्तिमार्गो भगवदनुग्रहलभ्यः । तस्मिन् कथं प्रतिबन्धकनयमित्यतस्तु बाधकमित्यादि यथा वेत्यन्तमाहुः । वाच्यनयमत्र । बाधकं पूर्णं भगवतोर्कर्तव्यं चेत्तदा गतिर्नाम सेवायां सायुज्यम् ॥ १ ॥ बाधकं चेत् सर्वथा तदा न हि फलाभाव इत्यर्थः ॥ २ ॥ यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्यथा बाधकं तथा चेत्तदा वा नाम फले विकल्पः ॥ ३ ॥ तथा चैवं भगवदिच्छयानुग्रहस्य द्वैविध्यात् फले द्वैविध्यम् । तथा च यस्य जीवस्य यादृशोधिकारः स तादृशीं सेवां करिष्यति, तस्य स्वाधिकारयोग्यं फलं च भविष्यतीति सन्देहाभावः । एष फलविकल्पे प्राप्ते किं कार्यमत आहुः अतस्त्वनिर्धार इत्यारम्य बाधकानां परित्याग इत्यन्तम् । निवृत्तौ घयाणामिति । घयाणामुद्वेगादीनां साधनस्यातत्त्वनिर्धारस्वार्थविकल्पस्य च तत्त्वनिर्धारस्य विवेकयोरन्यासेन सर्वतस्त्यागः कर्तव्यः । ननु तत्त्वनिर्धारविकल्पो किंरूपो? तथा हि, तस्य लोकनेदप्रसिद्धस्य पुरुषोत्तमस्य भावस्वात्मम्, तस्य निर्भरण निर्धारः । 'सर्वं यत्त्विदं ब्रह्म,' 'स हैवावानास,' 'अराण्ड कृष्ण'दित्यादिभिः सर्वत्र भगवद्भजनम् । विवेकस्तु 'हरिः सर्वं निजैच्छातः करिष्यतीति सर्वत्र भगवत्कृतिः । ननु बाधकानां मध्ये भोगस्वार्थित्यागे जाते तं विना शरीरमितेरसम्भवात् सेवाया अविदिमाशङ्क्य लगे व्यवस्थामाहुः भोगेपीति ।

भोगेष्वेकं तथा परम् ।

निःप्रत्यूहं मत्तान् भोगः प्रथमे विज्ञाते सदा ॥ ४ ॥

भोगो हि द्विविधः, लौकिकोऽलौकिकश्च । तत्र लौकिकस्त्याज्यं नय । प्रतिबन्धोऽपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्चेति । तत्राद्यो बुद्ध्या त्याज्यः । अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति । भगवत्कृतश्रेष्ठप्रतिबन्धस्तदा भगवान्फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदान्यमेवापि स्वर्था । तदासुरोपं जीव इति निर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तत्त्वं

शोकाभावायेति विवेकः । भोगप्रतिबन्धयोरैकैकं परित्याज्यम् । अपिशब्देन प्रतिबन्धस्य ग्रहणम् । तथा परं द्वितीयं निष्प्रत्युहं विभ्ररहितम्, तत्र हेतुः, महान्भोगः । एवं प्रतिबन्धरूपं यस्त्वपि निष्प्रत्युहम् । तत्र हेतुः, सदेति । एतत्सर्वं मनसि कृत्वा विद्युतौ तात्पर्यमाहुः सृष्टिकटाहन्यायेन । पूर्वं भोगद्विपिष्यमाहुः भोग इति । लौकिका-लौकिकभेदेन भोगो द्विधा । तत्र अलौकिको भोगो लौकिकासत्तिरूपत्वात् सेवासमय-रोधकत्वात्वाज्यः । एवं लौकिकभोगं निरूप्य हेतुसहितमलौकिकभोगं निरूपयन्ति तथेति । विद्युतौ अलौकिकेति । अलौकिको यो भोगः स तु फलत्रये यदापमलौकिकसामर्थ्यं तस्मिन् सति भगवत्प्रसादेन गच्छतीति तत्प्रवेश उक्तः । एवं च तस्यात्याज्यत्वे जीव-उक्तम् । एवं द्विप्रकारकं भोगं निरूप्य द्वितीयप्रतिबन्धस्य निर्दिशत्ये यो हेतुगूले सदा-पदेनोक्तस्तं विद्युतौ भगवत्कृत इत्यादिना विशदयन्ति । सेवायां प्रद्युत्स्य यदा दुःसद्भा-दिना भगवदीयद्रोहे कृते प्रभुः स्वयं प्रतिबन्धं करोति, तदा सेवायामरुचिर्भवति, तदा सर्वथा फलाभावः, तदा तदुपायार्थमन्यसेवनं न कर्तव्यम्, व्यर्थत्वात्, तदायं जीव आसुर-एव । दैवजीवे सर्वथा फलाभावाभावात् । तदा एतादृशे प्रतिबन्धे चिन्तानिवृत्त्यै आदि-सृष्टौ भगवान् जीवं यथा विचारितवांस्तयैव निज्जेच्छया करिष्यतीत्यादिरूपेण ज्ञानमार्गेण ज्ञातयन् । एवमलौकिकभोगभगवत्कृतप्रतिबन्धयोरत्याज्यतामुपत्वा साधारणप्रतिबन्ध-लौकिकभोगयोस्त्वक्तव्यत्वे विद्युतौ बीजमन्तारयन्ति साधारणेति । साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकाहायामाह सचिन्नोल्पो चातकः स्यादिति । ननु लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धी केन हेतुना केन प्रकारेण च त्यक्तव्यानिति व्याकुर्वन्ति सचिन्नइति । लौकिको भोगः सतिप्रत्याज्यत्वात् हेतुग्या गच्छत्याज्यः । पातकत्वेन हेतुना साधारणः प्रतिबन्धस्त्याज्यः । नन्वेतत्यागप्रकारस्तत्विधार्थनिर्भररूपः पूर्वमुक्त इति पुनः किमर्थमुच्यते ? सत्यम् । पूर्वं यदुक्तं स तु नवीनतदुत्पादकमाधनत्वात्साधारणः । अयं त्वत्प्रयोस्त्वागप्रकारोत उच्यते ।

सचिन्नोल्पो चातकः स्यादह्लादेनां सदा मर्ता ।

सचिन्नमत्वादरूपत्वाद्भोगस्त्याज्यः । एतौ सदा प्रतिबन्धकौ । अह्लादिति । एत एतौ सदा क्षणेक्षणे सेवासमयरोधकत्वेन मर्ता ज्ञातौ । अतो वलादह्लादुद्घोषायचातुयेण त्याज्यौ । तत्स्वरूपं श्रीपुरुषोत्तमा आहुः । तथाहि, 'यथाधिकं भुक्तं चेन्ममेदानीं तना सेवा गता, मया गानायासत्तया जागरः कृतथेदिदानीं निद्रायति, तस्मादेव च विवेकमिति । प्रकृतमनुसरामः । अतः परं ज्ञानसिद्धयोग्यानां भगवत्कृतप्रतिबन्धे स्थितिप्रकारमाहुः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्याजसंभारनिश्चयान् ॥ ७ ॥

द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः । ज्ञानसिद्धभावे चिन्ताभारार्थमाह द्वितीय इति । द्वितीय इति भगवत्कृतप्रतिबन्धे ज्ञानसिद्धावपि पुष्टिमागीयफलविपयिणी चिन्ता सर्वभाड-

त्याज्या । कुतः ? असंसारनिश्चयात् । अत्रायमर्थः । 'अस्मिन्पातमयं नास्ति मोचकः सर्वथा यत्' इति वाक्येन अलीखानादिरिव जन्मान्तरे उद्धरिष्यति ।

एवं भोगप्रतिबन्धौ त्याज्यत्वेन विचार्य उद्वेगत्यागे चीजं वदन्ति नन्विति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति तदा सेवानाधिदैविकी-
त्युक्तं भवति । अत्र पाठद्वयम् । नन्विति, न त्विति । नु निश्चयेन, आद्ये उद्वेगे
सति फलविषयिणी चिन्ता न त्याज्या । तत्र हेतुमाहुः भगवतो दातृता नास्ति ।
एतदेव विवृतावाघेत्यादिनोक्तम् । एवं च सेवाया अनाधिदैविकीत्वसम्पादकत्वाद्द्वेगोपि
त्याज्यः, यद्विच्छादकतो यस्तूद्वेगः, स एवैनं निवारयिष्यतीतिविचारेण त्याज्यः । एवं
जानतोपि यथाकथञ्चित्सेवायां प्रवृत्तस्य यदा लौकिकभोगः प्रतिबन्धं करोति तदा कर्त-
व्यमाहुः तृतीय इति । विवृती तदपि भोगेत्यादिना व्याचक्षते । भोगाभावस्तदैव
सिध्यति यदा गृहपरित्यागः । तृतीये भोगरूपे प्रतिबन्धे गृहमेव त्यजेत्, कृष्णा-
र्थमेव गृहं प्रयुञ्जीत । तथा कृते भोगसालौकिकत्वं सिध्येदिति लौकिकभोगस्त्यक्त एव ।

अवश्येयं सदा भाष्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

तदीपैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षेत्रेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

कुसुष्टिरत्र वा काचिवृत्पथेत् स वै भ्रमः ।

एवं कठिनांशं स्वयं व्याकृत्य गृहत्यागेऽसमर्थानां यत्कर्तव्यं तदाहुः अवश्येति ।
इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी चावस्था, अतो पापकानामुपस्थितौ स्वदैव्यसिद्धये
सदा विचारणीया । अन्यत्सर्वमिदं साध्यसाधु वा मरुतमित्यादिरूपं मनोभ्रमः चित्त-
वाहिर्युक्त्यमेवेति ज्ञेयम् । ननु भगवान् सत्यप्रतिज्ञः, यथा पूर्वं विचारितवांछाद्यैव करिष्य-
तीति किमेतेनेत्याद्यंस्याहुः तदीपैरिति । एते हि सम्पर्धेन तदीयाः । स्वकीयानां सर्वं
चिन्तनं भगवत् एव करणीयम् । अतो भगवदीपैरपि तदुक्तमापनं कार्यम् । एतेनानन्य-
शरणान् ज्ञात्वा पुष्टावनुग्रहे भगवान् बाधकेषु सत्त्वपि नैव विलम्बयेत्, फलं दद्यादेव ।
ननु चित्तज्ञानां गुणानां क्षीमे निचारे कियमाणेषु प्रतिबन्धो मयेदेव तदा यत्कार्यं
तदाहुः गुणेति । सत्त्वादियुगेषु ध्रुममाणेष्वपि भगवत्कृतः प्रतिबन्ध एव कारणमिति
द्रष्टव्यम् । तदापि भगवद्विच्छादिविचारणमेपोपायो नान्यः । मम भूतेरप्येव पर्यवसानम् ।
सर्वमन्यन्मनोभ्रम इति पूर्वमुक्तत्वात् । अत्रास्मिन्विषये काचित्कुसुष्टिः कुसुष्टियुक्तिः
भगवत्कृतप्रतिबन्धस्य निवारणे अन्योप्युपायोस्त्येतद्रथा मनसि जायेत तदा सापि भ्रमरूपै-
वेतिज्ञेयम् । एतेनानन्यमापनपूर्वकं भगवदीयैः श्रेयम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

इति श्रीसेवाफलविधित्त्याख्यापानं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

लालूभट्टोपनामश्रीवालकृष्णदीक्षितविरचितटिप्पणीसमेतम् ।

श्रीराधावदनेन्दुश्रीपानमत्तचकोरकम् ।

गोवर्धनभरं वन्दे ब्रजराजकिशोरकम् ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्यवर्यश्रीविठ्ठलेशकृपाबलात् ।

सेवाफलस्य विवृतेर्विवृतिं पितनोम्यहम् ॥ २ ॥

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

सेवायां फलत्रयमिति । सेवायां सिद्धायां सत्यामित्यर्थः । मूले यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यत इत्यत्र सिद्धावितिकयनात् सिद्धस्य सर्वत्र फलसाधकत्वात् । तथा च यादृशी सेवना तृतीयस्कन्धे देववृत्तिं प्रति कपिलदेवेन 'देवानां गुणालिंगानामानुश्रनिककर्मणाम् । सत्त्वं एवैकमनसो वृत्ति-स्वभाविकी तु या ॥ अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गौरीयसी'त्यनेन भक्तिशब्देनोक्ता, तस्याः सिद्धौ मुख्यमध्यमहीना-धिकारभेदेन फलत्रयं ज्ञेयम् । तदेव फलत्रयमाहुः अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवौपयिकदेहो वैकुण्ठादिस्थितिः । अलौकिकसामर्थ्यं तु साक्षात् श्रीकृष्ण-वनादी श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनस्पर्शनादिकृतिक्षमत्वम् । 'पश्यन्ति ते मे रुपिरायतसप्रसन्न-वकास्वलोचनानि । रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि सारु वाच स्पृहणीयां वदन्ती'तिवाक्या-दिह 'पश्यन्ति त' इति तच्छब्देन 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहा ।' इति पूर्वश्लोके उक्ता मोक्षाभिलाषिणो रुदन्ते । तेषां मोक्षान्तपुमर्थानभिलाषात् स्वतन्त्रसेवैकाकांक्षया अलौकिकसामर्थ्यं भवति । तेषां पूर्वोक्तभक्त्या प्राकृतलिङ्गशरीर नश्यति । 'जरयत्याशु वा कोश'मितिव्याख्यात् । ततो लिङ्गशरीरनाशे सति भगवदर्शनाय-भावे प्रसक्ते सायुज्ययोग्यतायां यदि भगवान् कृपयति तदा दिव्यान्यलीकृतेन्द्रियाणि सम्पादयति, ततस्त्रीर्भगवद्दत्तैः प्राकृतेन्द्रियैः 'पश्यन्ति ते मे' इति श्लोकोक्त दर्शनादि सिध्यति । तदेतदुक्तं मूले ।

अलौकिकस्य दाने हि चायः सिध्येन्नमनोरथः ॥ १ ॥

अर्धेस्तु अलौकिकस्येन्द्रियवर्गस्य दाने भगवता कृते सति चायः 'पश्यन्ती'-त्यादिश्लोकनयोक्तेषु त्रिषु फलेषु प्रथमो मनोरथो भगवदर्शनादिप्रियकः सिध्येत्, फलपर्यवसायी भवतीति भगवदर्शनादेः परमफलत्वम् । 'अक्षयतां फलमिद'मितिश्रुति-

रूपगोपिकावाक्यात् । अक्षण्वतामिन्द्रियवतामित्यर्थः । तस्मादलौकिकेन्द्रियदानं भगवत्कर्तृकमपेक्षितम्, अन्यथा पूर्वोक्तभक्त्या 'जरयत्याशु या कोश' मितिवाक्याह्लिंगशरीरभंगे दर्शनादिकं न सिष्येदिति भावः । न च मास्तु दर्शनादि, सायुज्यमेवास्त्वितिवाच्यम् । 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि'दितिवाक्येन तेषां तदनभिलाषात् । इह एकात्मतां न स्पृहयन्ति, अपि तु दर्शनादिकमेव स्पृहयन्तीत्यर्थादायाति । 'भत्वादसेवाभिरता' इति वाक्यात् । अत एव मूले स्पृहापदपर्यायः भगोरघशब्दः उक्तः । अत एव बृत्रामुरेणोक्तं 'न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहस्य कांक्षे' इति । अर्थस्तु अपुनर्भवं मोक्षमपि त्वां विरहस्य न कांक्षे अपि तु त्वामेव फलत्वेन कांक्षे इति । एतदेव श्रीब्रजगुन्दरी-भिरुक्तं 'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम' इति । परो मोक्षः सायुज्यादिरिति सुचोधिन्त्यां व्याख्यातं च । अत इन्द्रियवतामिदमेव रसात्मकं पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम् । 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य चे'ति सुचोधिन्त्यां सर्वेन्द्रियभोग्यत्वेन कथनात् । अत एवाक्षण्वतामित्यस्य सुचोधिन्त्यां 'मात्मलाभात् परं विषते'तिश्रुतेर्मोक्षस्यैव पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलम्, तद्रहितानां तु मोक्ष एव फलमिति व्यवस्थापितम् । पुष्टिमक्तास्तु भगवदसैन्द्रियाणि लब्ध्वा सकलेन्द्रियैः रसात्मकं स्वरूपमनुभवन्ति । न क्षेतादृक्त्वं सायुज्यादायिति । 'ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा संचातस्य विलीनत्वा'दितिनिबन्धात् । अत एव 'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्तोषनं जना' इत्यनेन सालोक्यादीनामग्रहणमुक्तम् । न च मोक्षसुखाज्ञानान्न गृह्णन्तीतिवाच्यम् । 'मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिपतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविश्रुत'मितिवाक्ये सेवया पूर्णा इत्युक्त्या तेषां भगवता समाजनात्, अन्यथा अज्ञत्वान्न गृह्णन्तीति भगवान् तेषां निन्दामेव कुर्यात् स्तुतिम् । अतो ज्ञायते भगवत्सेवायां मोक्षादप्यधिकरसोस्तीति । 'मधुद्विदसेवानुरक्तमनसाम-भनोपि फल्यु'रिति वाक्यात् । अतः फलदशायामाधिदैविकवृन्दावनादी या फलरूपा भगवत्सेवा सा मोक्षादप्युत्कृष्टा । अतः सा भगवता परमाणुप्रदभाजनाय तादृशाधिकारिणे पुष्टिमक्ताय दीयते, न तु सर्वेभ्यः भक्तेभ्य इति ज्ञेयम् । 'अस्त्वेवमंग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिभित्सम न भक्तियोग'मिति शुकवाक्यात् । इह भक्तियोगमित्यस्य फलरूपपुष्टिभक्तियोगमित्यर्थां ज्ञेयः । एतस्मिन् श्लोके मुक्तिं इदाति भक्तिं न ददातीत्युक्त्या भगवत्कर्तृकदानं विना तादृशी भक्तिर्न प्राप्यत इत्युक्तं भवति । अत एवात्रापि मूले अलौकिकस्य दाने हि पाच्यः सिध्येन्मनोरथ इत्यनेन दानमेवोक्तम् ।

तथा च सिद्धमेतत् । अलौकिकसामर्थ्यरूपं फलं पुष्टिभार्गीयसेवायामेव, फलद्वयं तु मर्यादरमक्तायाम् । ननु तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्ये 'देवानां गुणलिङ्गाना'मित्यत्र भक्तेर्लक्षणमुक्त्वा 'पश्यन्ति ते मे' इत्यादिना भक्तिफलत्वेन फलजनयमुक्तम् । तत् कथं-

मुच्यते सेवायां फलत्रयमिति चेत् । न । भक्तिशब्देन सेवाया एवाभिधानात् । भज
सेवायामिति धात्वर्थान् । 'लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य सुदाहृतम्,' 'अहैतुक्यव्यवहित
या भक्तिः पुरुषोत्तमे,' 'सालोक्यसाष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमुच्यते । दीयमानं न गृह्णन्ति
विना मत्सेवनं जनाः' 'स एव भक्तियोगस्य आत्यन्तिक उदाहृत' इत्यादी भक्तिपद-
मुत्त्वा, मध्ये सेवनपदं पठित्वा अत्रे स एव भक्तियोगस्य इति भक्तिपदमुक्तम् । अतोपि
ज्ञायते भक्तिशब्देन सेवैव । 'देवानां गुणलिङ्गाना'मितिलक्षणमुक्त्वा 'नैकात्मतां मे
स्पृहयन्ति केचिन्मत्वादसेवाभिरता मदीहा' इत्यत्र 'सेवाभिरता' इत्यनेन सेवेवाभिहिता,
अतोपि भक्तिशब्देन सेवैव । तदुक्तं निधन्धे सर्वनिर्णये, 'भक्तिशब्दस्य धात्वर्थः सेवा
प्रत्ययाद्यः प्रेमे'ति । तथा च प्रेमसेवा भक्तिशब्दार्थः । इयमेव प्रेमसेवा मानसी सेवेत्युच्यते
'चेतस्तत्त्वचरणं सेवे'ति सिद्धान्तमुक्त्वावस्थां मनोवृत्तेः सेवात्वकथनादत्रापि 'मनसो वृत्तिः
स्वामाधिकी तु ये'त्यनेन मनोवृत्तेर्भक्तित्वकथनात् । अतो 'यादृशी सेवना प्रोक्ते-
त्यत्र सेवनाशब्देन मानसी सेवोच्यते । तस्याः मिद्धी अलौकिकसामर्थ्यरूपं
फलं भवति, तस्यास्त्रात्तन्धे गौणं फलद्वयमुक्तम् । अतो भक्तिशब्देन मुख्यतया मानसी
सेवाभिधीयते ।

इदं स्ववधेयम् । 'देवानां गुणलिङ्गाना'मिति भक्तेः स्वरूपलक्षणमुक्त्वा, 'नैका-
त्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्वादसेवाभिरतामदीहा' इत्यनेन भक्तेः कार्यलक्षणमुक्तम् ।
तथा च मोक्षान्तपुमर्गस्पृहाराहित्यसम्पादकत्वं तादृग्भक्तित्वमिति भक्तेः कार्यलक्षणम् ।
एवं सति सर्वपुमर्गान् भक्ता न स्पृहयन्तीत्युक्ते भगवत्स्वरूपमात्रं स्पृहयन्तीति सिध्यति ।
एवं सकलपुरुषार्थमिहापश्ये पुरुषोत्तमस्वरूपमात्रफलमिलापिणि भक्ते परमात्तुमह-
परवशो भगवान् स्वरूपात्मकफलप्राप्तये तत्फलप्राप्तयनुत्कलमलौकिकसंपातं सम्पाद्य स्वयं
फलरूपेण सर्वेन्द्रियविषयो भवति । तदेतदुक्तम् । अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः
सिद्ध्येन्मनोरथः इति मूले, अलौकिकसामर्थ्यमित्यनेन टीकायां विवृतं च । ननु
तृतीयस्कन्धे अलौकिकविग्रहप्रतिनोक्तिं कथमथाचार्यैरलौकिकसामर्थ्यं फलत्वेनोक्तम् ।
तत्किममाणकमिति चेत्, श्रूयताम् । 'पश्यन्ति ते मे रुचिरवर्तस प्रसन्नव कारुण्यलोचनानी'
त्यनेन भगवदर्शनादीनां फलत्वेनोक्तिरयं मानम् । अन्यथा तादृग्मलौकिकसंपातं विना
'पश्यन्ति ते म' इत्यत्रोक्ता दर्शनाद्युक्तिर्विरुध्यते । लौकिकेन्द्रियवर्गस्य निवृत्तत्वात् ।
'जरयत्याशु या कोशं निर्गीर्णमल्लो यथे'तिवाच्यम् । अतो दर्शनाद्यन्यधानुपपत्त्या अलौकिक-
देहेन्द्रियप्राप्तिराधिष्यते । सर्वतो पलवती खान्यथानुपपत्तिः । तथा च मिद्धमलौकिक-
सामर्थ्यरूपमुत्तम फलमुत्तमानाम् ॥ १ ॥

एवमुत्तमाधिकारिणामुत्तमफलमुत्त्वा मध्यमाधिकारिणां फलमाहुः सायुज्यमिति ।
'मद्भक्तिं लभते परा' 'भक्त्या मामभिजानाती'त्युक्त्वा 'विशते तदनन्तर'मित्यत्रोक्ते सायु-

व्यमित्यर्थः । इदं मध्यम फलम्, अलौकिकसामर्थ्यापेक्षया हीनम्, सेवोपयिकदेहापेक्षयो-
त्तमम् । अतो मध्यमम् । अलौकिकेन्द्रियवर्गस्य दानसापेक्षत्वान्मध्यमानां तदलाभे सायुज्य
भवति । तदुक्तं मूले, फलं चेति ।

फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

फलशब्देन सायुज्यम् । साधारणमर्यादया सर्वेषां भक्तिमतां तत्प्राप्तेः । 'हृतात्मनो
हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमर्षी प्रयुक्त' इति तृतीयस्कन्धवाक्यात् । न चान
वाक्ये 'अनिच्छत' इतिपदेन मोक्षेच्छाशून्यानां पुष्टिमक्तानां ग्रहणात्तेषामेव सायुज्य-
लाभोस्तीतिवाच्यम् । मोक्षस्वरूपेण तैर्भगवद्भक्तेः कृतत्वात् । अनिच्छाकथनं तु भक्तिमहिम्ना
कदाचित्तादृशभावोदयात् । न ह्ययं भावस्तेषां सार्वदिकः । अतो भगवति प्रेमाप्येतेषां
सोपाधिः । मोक्षदातृत्वेन भगवति जातत्वात् । अत एतेषां सायुज्यप्राप्तिर्भवति । एतच्च
तृतीयाध्यायमध्ये स्फुटम् । पूर्वोक्तालौकिकसामर्थ्यरूपफलाधिकारिणां तु भगवति निरुपा-
धिक प्रेम । सायुज्याद्विषुमर्थस्य स्वरूपाहित्येनैवोत्पन्नत्वात् । अतो भगवत्स्वरूपस्य सकले-
न्द्रियास्वाप्तत्वेन तेषामपेक्षितत्वादलौकिकसत्प्राप्तं दत्त्वा सर्वेन्द्रियास्वाप्तो भवति, येषां
मोक्षदातृत्वेन सोपाधिक हरीं प्रेम तेषां सायुज्यमिति विवेकः ।

एष मध्यमानां फलगुणरत्ना हीनानां फलमाहुः सेवोपयिकदेहो चेति । व्यापि-
वैकुण्ठादी पार्षदादिदेहप्राप्तिरित्यर्थः । 'अथो विभूतिं मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टांगमनु-
प्रवृत्तम् । त्रिय मागवती वा स्पृहयन्ति भद्रं परस्व मे तेषुपते तु लोके' इतिफलित्वाक्यात् ।
एतदामाभे 'सालोक्यादिरूप फलमाहे'ति सुषोभिन्त्यायुक्तत्वात् ।

अत्र केचिद्वैकुण्ठशब्देन व्यापिवैकुण्ठेश्वरवैकुण्ठानां ग्रहणमिति वदन्ति । तत्र ।
'व्यापिवैकुण्ठे सर्वमैश्वर्यादिकमधुव्रत इत्यर्थ' इति सुषोभिन्त्यायुक्तत्वात् । न चालौकिक-
सामर्थ्ये मुख्यफले तादृशनिग्रहप्राप्तिरुक्ता, एत तृतीयेपि सेवोपयिकदेहव्याप्राकृतस्य प्राप्ति-
रन्त्येन, अतः प्रथमतृतीययोः साम्यमापत्तितमिति वाच्यम् । प्रथमफले भगवतः सर्वेन्द्रिय-
मोक्षत्वेन तन्नोपानुगुणदहलाभः, तृतीये तु तेषामानयोग्यदेहलाभ इति विशेषरूपेण लक्षणात् ।

इदमत्र ज्ञेयम् । अलौकिकसामर्थ्यरूप फल व्यापिवैकुण्ठान्तर्गतं त्रिणि आपिदेनिके
वृन्दाननवृद्धदानादी प्राप्यते । 'पश्यन्ति ने मे कश्चित्तरतसे'त्यस्य व्याख्याने वृन्दाननादी
भगवन्माक्षात्प्रागे भवतीनि सुषोभिन्त्यायुक्तत्वात् नमूले अधिकारशब्देन सेवोपयिकदेहो
वृद्धते, तादृशदेहस्य मेवाविवाररूपत्वात् ।

एत फलत्रयमुक्तम् । तत्रालौकिकसामर्थ्यरूप फल पुष्टिमक्तानाम् । सायुज्यं सेवो-
पयिकदेहो मर्यादाभक्तानाम् । अत एत नरमनिषण्णे 'देहभावे रदे तु व्याकृतानां
क्रुष्णदामना । सायुज्यं यान्यथा तस्मिन् गंगातीरे न संशय' इत्यनेन गंगाभेदात्तः सायुज्य-
सेवोपयिकदेहप्राप्तिरुक्ता । विद्वान्मुक्ताख्याया 'मर्यादास्यसु गंगया श्रीभागवतान्तर'

इत्यनेन मर्यादास्यस्य तु गंगासेवनमुक्तम् । अत एव 'मर्यादाभक्तिमार्गस्य काष्ठा गंगा परा मते'ति निबन्धे उक्तम् । अत एव मर्यादाभक्तेः सायुज्यादिफलम् । पुष्टिभक्तेस्तु नित्यलीलाप्रवेशरूपं फलमिति स्पष्टमेव तृतीयचतुर्थाध्यायभाष्ये निरूपितमिति दिक् ।

न कालोत्र नियामकः । अत्र फलत्रयेपि कालो न नियामकः । फलत्रयं कालपरिच्छेदं न भवतीत्यर्थः । 'न कर्हिचित्पत्न्याः शान्तरूपे नक्ष्यन्ति नो निमिषो वेदि हेति'रिति कपिलवान्स्यात्, 'मत्तरा न नक्ष्यन्ती'त्युक्त्या मत्तरशब्देन फलत्रयप्राप्तानां श्रद्धात् ॥ १॥ ॥

कार्यमात्रप्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणतास्वीकारात् सेवासिद्धयर्थं सेवाप्रतिबन्धा दूरी-
कर्तव्या इति तदर्थं प्रतिबन्धकाधिरूपयन्ति ।

उद्देगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥
बाधकानां परित्यागो भोगेष्वेकं तथा परम् ।

सेवायां प्रतिबन्धकध्रुवम्, उद्देगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा । उद्देगो भगवत्सेवासमये चित्तद्वेषप्रदश्चावस्थविशेषः । स च भगवत्सेवां प्रतिवधाति । भोगः सुखसाधकतया विषयासक्तिमम्पादकत्वेन भगवदासक्तिविरोधात् सेवाविरोधी । एतत्प्रति-
बन्धकद्वयं दुःखमुत्पन्नसाधकं प्रतिबन्धरूपम् । 'प्रतिबन्धकं तूदासीनं दुःखसुखे प्रयच्छ-
ती'त्यस्य न नामान्तरेण निर्देशः, किन्तु प्रतिबन्धशब्दवाच्यतेषु । 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वातुसुखभावा'दित्यत्र वाच्यनसोर्विशिष्टकार्यमादाय इन्द्रिये-
भ्यः पृथक्तया गणनात् । एतमुद्देगभोगयोरपि दुःखसुखप्रदत्वेन विशिष्टरात् पृथक्-
निर्देशः । अन्यथा प्रतिबन्धकशब्देनैव उद्देगभोगयोर्ग्रहणसम्भवात् पृथक्त्वनिर्देशो
प्यर्थः स्यात् । त्रयाणामिति । उद्देगप्रतिबन्धभोगानां यानि साधनानि हेतवस्तौषा
परित्यागः कर्तव्यः । साधनपरित्यागे प्रतिबन्धानामनुत्पत्तेः । मूले बाधकानां
परित्याग इत्यस्य तेषां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति व्याख्यान टीकायाम् ।
प्रतिबन्धकेषु भोगशब्देन लौकिको भोगो ग्राह्यो न त्वलौकिक इत्याहुः 'भोगो
द्विविध इत्यारम्य लौकिकरूप्याज्य एवेति व्याख्यान टीकायाम् । मूलार्थस्तु
'भोगे लौकिकालौकिकभोगे एकं लौकिकभोगात्मकं परं प्रतिबन्धक-
मिति । तत्राद्य इति । साधारणप्रतिबन्धमगवत्कृतप्रतिबन्धयोर्मध्ये भावः साधारणप्रति-
बन्ध इत्यर्थः । तस्य स्वरूपं तु सुखदुःखाजनकत्वेन सेवाप्रतिबन्धकत्वम् । यथा सेवा-
समये उदासीनेन वागादिव्यनहारं क्रियते स सेवां प्रतिवधाति, उद्देगभोगो तु दुःखमुत्प-
न्नको, सेवाप्रतिबन्धकाविति निवेकः । बुद्ध्या त्याज्य इति । चातुर्येणत्यर्थः । तथा च
व्यनहारचातुर्येण सेवानवसरे लौकिकं कार्यं तथा कर्तव्यं यथा सेनावसरे ताप्य वागादि-
व्यनहारकार्यमेव न पतेदित्यर्थः । अथवा साधारणप्रतिबन्धो वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च । स

तु बुद्ध्या त्याज्य, बुद्धिपूर्वक तस्य त्याग कर्तव्य इत्यर्थः । अलौकिकभोगस्त्विति । भगवत्सेवार्थं मुखदुर्वासनादिदोषनिवृत्तये ताम्बूलभक्षणादिरूप, भगवद्भामित्वादलौकिक । 'मन्निष्ट निर्गुणं स्मृतं मितिभाक्यात् । 'कार्येन वाचा गनतेन्द्रियैर्वा' इति श्लोके भगवदर्थं कृतस्य दन्तधावनादेरपि भगवद्दर्भत्वस्य नवयोगिससमे कविनोक्तत्वात् । 'धर्मान् भागवतान् धृते'ति प्रथोपक्रमत् । श्रीमत्प्रभुचरणे स्वतन्त्रे तथा व्याख्यानाच्च । फलानामध्ये प्रथमे प्रविशतीति । साधनत्वेन प्रविशतीत्यर्थः । अलौकिकसामर्थ्यरूपफलसाधको भवतीति यावत् । अतोयमलौकिकभोगो न त्याज्यः । तदुक्तं मूले ।

निष्प्रत्यूर्हं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ।

अर्थस्तु महान् भोगः पूज्यो भोगो भगवत्सेवार्थमगरागलेपादिरूप निष्प्रत्यूर्हं निर्दिष्टं यथा सात्तथा प्रथमेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे फले प्रविशति, तत्फलसाधको भवतीति यावत् । साधारणप्रतिबन्धस्य बुद्ध्या त्याज्य इत्यनेन निवृत्त्युपाय उक्तः ॥२॥३॥

एव भगवत्कृतप्रतिबन्धकस्यापि निवृत्त्युपायो वक्तव्य इत्याशङ्क्य नास्य कश्चिन्निवृत्त्युपाय इत्याहुः भगवत्कृतश्लेदित्यारभ्य विवेक इत्यन्तेन । तदा भगवान् फलं न दास्यतीति । सेवाफलं मुक्तिरूपं न दास्यतीत्यर्थः । तदान्यसेवापीति । मुक्तिप्राप्त्यर्थं मन्यस्य तीर्थादेरित्यर्थः । तत्र हेतुः । तदाऽऽसुरोयमिति । आसुरस्य तु 'निन्धावाप्तुर्तीमते'ति भगवद्वाक्यात् तस्य मुक्तिर्न भवतीति तीर्थादिसेवापि न्यर्थेति भावः । तदुक्तं मूले ।

अकार्त्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हीति ।

ननु यस्य भगवत्कृत प्रतिबन्धं स आसुरः, तस्य सर्वथा मुक्तिर्नास्तीति निरूपितम्, तर्हि फलाशाराहित्यजनितऋणं स्यात्, तच्छेषनिवृत्ति कथं स्यादित्याशङ्क्य क्लेशनिवृत्त्युपायमाहुः तदा ज्ञानमार्गणेति । येनाहुत्पादित तेन परमेश्वरेण यद्विचारितं तथैव भविष्यतीति मया ह्येन त्याज्यमित्यादिज्ञानरूपेण साधनेन गेभिन्त्वेन श्रेयमित्यर्थः । तदुक्तं मूले ।

यथा या तत्त्वनिर्धारो विवेक भाधन मतम् ।

साधनमिति शोकाभाससाधनमित्यर्थः । एव साधारणप्रतिबन्धो बुद्ध्या त्याज्य इत्युक्त्वा भगवत्कृतप्रतिबन्धनाशङ्क्यत्वामत्वात् तन्न्यशोकनिवृत्तये ज्ञानमार्गेण श्रेयमित्युक्तम् ॥ ४ ॥

अतः परं भोगरूपप्रतिबन्धनिवृत्त्युपायमाहुः साधारणो भोगः कथमित्यारभ्य त्याज्य इत्यन्तेन । भोगस्य मुखादेतुत्वेन त्याज्यत्वं न मनस्यापातीत्याशङ्क्याहुः ।

सविज्ञोत्प्लोघातकः स्वादिति ।

सविज्ञत्वादेवत्वाद्भोगस्य त्याज्यत्वम् । भोगस्य सविज्ञत्वमल्पत्वं च मुहुर्मुहुर्विचार्य त्यागं कार्यं इति मानः । साधारणप्रतिबन्धस्य तु घातकत्वात्त्याज्यत्वम् । साधारण-

प्रतिबन्धश्च वेदनिन्दारूपः पापरूपश्च । स च महादोषरूपत्वात् सेवासिद्धेर्पातकौ भवति । अत एव वेदनिन्दायाः पापानां च जन्मान्तरसम्पादकत्वं निबन्धे सेवाप्रकरणे उक्तम् । 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथा । नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते' इति । एतस्य सर्वेषु सेवाधिकारिषु सम्भवात् साधारणत्वम्, सकलसत्कार्यमात्र-प्रतिबन्धकत्वाच्च साधारणत्वम् । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु असुरमात्रविषयकत्वादसाधारण इति विशेषो ज्ञेयः । एतौ सदा प्रतिबन्धकारिणः । लौकिकभोगसाधारणप्रतिबन्धौ सदा सेवाप्रतिबन्धकौ । लौकिकभोगस्य वेदनिन्दारूपपापरूपसाधारणप्रतिबन्धस्य च सर्वदा सम्भवात् सर्वदा प्रतिबन्धकत्वमित्यर्थः । तदुक्तं मूले ।

यत्सादेतौ सदा मता ।

सदा प्रतिबन्धकौ मतावित्यर्थः । भगवत्कृतप्रतिबन्धस्याशक्यत्वात्साधारणत्वादनिवार्य-त्वेन आसुरजीवस्य सेवाफलाभाव इति निरूप्य तत्कृतशोकनिवृत्तये ज्ञानमार्गेण स्थितिः कार्येति पूर्वं निरूपितम् ।

अतःपरं येन ज्ञानमार्गोपि नाश्रयितुं शक्यम्वस्मानुरस्य चित्तस्वास्थ्यप्रकारमाहुः ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाहेति । यस्मानुरस्य ज्ञानस्थित्यभावस्तस्य चिन्ताऽभावसम्पादनार्थमित्यर्थः । द्वितीय इतीति । भगवत्कृतप्रतिबन्ध इत्यर्थः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

अर्थस्तु प्रतिबन्धयोर्मध्ये द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे चिन्ता न कर्तव्या । तत्र हेतुः । संसारनिश्चयादिति । मम संसार एव फलं परमेश्वरेण विचारितं न मुक्तिः । अत आश्रय न रक्षणीया । 'निपन्थायामुती मता' इति वाक्यात् । एवं च चिन्तापि न कार्येति । एवं प्रकारेण स्वास्थ्यं मनसि सम्पादनीयमितिभावः ।

एवमासुरस्य भेदद्वयम् । तत्र 'ज्ञानमार्गेण स्वातन्त्र्यमित्येकः प्रकारः एवं टीकाया-मुक्तः । मूले अकर्तव्यं भगवत्त इत्यारभ्य चिन्तेकः साधनं मतमित्यन्तेनोक्तः । द्वितीयप्रकारस्तु 'ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽभावार्थमाहे'त्यनेन टीकायामुक्तः । मूले द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयादित्यनेनोक्तः । एवं द्विनिधम्याप्यासुरस्य सेवाफलाभावो निरूपितः, शोकाभावप्रकारश्चोक्तः ॥ ५ ॥

अतः परमुद्देगरूपप्रतिबन्धे किं कार्यमित्याकांक्षायांमाहुः न त्वाद्ये दातृता नास्तीति ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् ।

आद्ये त्रिषु बाधकेषु आद्ये उद्देगरूपे प्रतिबन्धे तु चिन्ता न त्याज्येति पूर्वस्वाम्यां

चिन्तापदत्याज्यपदाम्यामन्ययः । तथा चोद्वेगरूपप्रतिबन्धस्य निवारयितुं शक्यत्वेन तत्रि-
 वृत्तुपायचिन्तां कृत्वा उद्वेगो निवर्तनीय इत्यर्थः । असाध्ये हि चिन्तात्यागो विधेयः ।
 'तस्मादपरिहार्येभ्ये न त शोचितुमर्हसी'ति वाक्यात् । साध्ये तु चिन्ता रक्षणीयैव ।
 यद्युद्वेगरूपप्रतिबन्धनिवृत्तिर्न स्यात्तदा किं स्यादित्याकांक्षायामाहुः । आद्यफलाभाव
 इति आयेन फलाभाव इति तृतीयतत्पुरुषः । आद्यशब्देन प्रतिबन्धेषु आद्य उद्वेग-
 रूपस्तेन कृते फलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति, भगवान् सेवाफलं न दास्यतीत्यर्थः ।
 तत्र हेतुः । तदा सेवा नाधिदैविकीत्युक्तं भवति । 'मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु
 या । अनिमित्ता भागवती भक्तिर्मुक्तेर्मरीचसी'ति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात् सेवाया
 भगवत्परमनोवृत्तिरूपत्वेन तत्र चित्तस्थैर्यस्यापेक्षणादुद्वेगे च चित्तस्थैर्यनाशात् सेवाया
 आधिदैविकीत्व न स्यात्, अत उद्वेगनिवृत्तिं कर्तव्येति तात्पर्यम् । पूर्वं त्रयाणां
 साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तं टीकायात्, बाधकानां परित्याग इत्युक्तं
 मूले । ततश्चोद्वेगत्यागः प्रतिबन्धत्यागो भोगत्यागश्चेति त्यागत्रयमनुगतं भवति । तेषु
 तृतीयस्य भोगत्यागसोपायमाहुः भोगाभावस्तदैवेत्यादिना । मूले तृतीये बाधकं
 गृहमित्युक्तम् । अर्थस्तु तृतीये भोगत्यागे गृहं बाधकम् । गृहस्य सर्व-
 त्मना भोगत्यागासम्भवादिति ।

अचक्ष्येपं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ।

अर्थस्तु इयमुद्वेगादिप्रतिबन्धकरयौ अवर्ज्या स्ववश्या न भवति । अतः सदा
 भाव्या विचारणीया, एतत्प्रतिबन्धकरय्या साधनपरित्यागो विचार्यः । एतत्प्रति-
 बन्धकरयात् सावधानतया श्लेषमिति तात्पर्यम् । ननु तर्हि प्रतिबन्धकरयसम्भवात्
 सोपायं सेवामार्गं त्यक्त्वा ज्ञानादिमार्गं एवानुष्ठेय इत्याशकामपनुदन्तो ज्ञानादिमार्गेण
 सेवासाध्यं फलं न भवतीत्याहुः सर्वमन्यन्मनोभ्रम इति । सेवातिरिक्तज्ञानादिरूप
 साधनं तु न सेवासाध्यफलसाधकम् । अतोऽत्र पूर्णरूपितफलत्रयाकाक्षिमिरन्यत्साधनं
 कार्यभित्तिज्ञानं प्रमत्तमित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु पुष्टिमार्गाधिभ्यः भगवदनुग्रहात्स भगवत्पुष्टिस्वभावात् सेवाफलं सर्वथा भवि-
 व्यत्वेन प्रतिबन्धकरयौ त्वप्रयोजिकेति किमर्थं तद्विचारं कर्तव्यं इत्याशक्यं तादृशस्यापि
 एतत्प्रतिबन्धकरयौ विचारणीयेनेत्याहुः तदीयैरपि तत्कार्यमिति ।

तदीयैरपि नत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

तदीयैः पुष्टिमार्गाधैरपि तत्कार्यम् । प्रतिबन्धकरयौमात्रं कार्यम् । किमर्थं कार्य-
 मित्याकांक्षायामाहुः पुष्टौ नैव विलम्बयेत् । यद्यपि पुष्टौ फलाभावे नास्ति, तथापि
 फलविलम्बस्तु प्रतिबन्धकरयौ भवेदतः पुष्टौ पुष्टिमार्गे न विलम्बयेदित्यर्थः न कार-

येत्, प्रतिबन्धकत्रयादसावधानभेत् सात्तदा विलम्बो भवेत्, जतः प्रतिबन्धकत्रयीभावत्वं
सुहृर्षुः कृत्वा त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । सोपि शीघ्रमेव, न विलम्बेन । एत-
दिलम्बे फलविलम्बो भवेदिति भावः ।

ननु प्रतिबन्धकत्रयासाधनपरित्यागेपि सर्वत्र गीताभागवतादौ प्रकृतिगुणानां
सत्त्वरजस्तमसां प्रावल्पस्योक्तत्वात्क्षोभकृतः सेवाप्रतिबन्धो भवेत्तदर्थं किं कर्तव्य-
मित्याकांक्षायामाहुः गुणक्षोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणानां क्षोभेपि एतदेव मनुक्तमेव द्रष्टव्यं विचारणीयमिति । एतद्विचारे
साधनपरित्याग एवोपायत्वेन स्फुरेत् । गुणक्षोभसाधनं तु सगुणवस्तुसंगः । सगुणं वस्तु
भगवतैकादशे निरूपितं पश्चिंशाध्याये । एवं सति सगुणवस्तुस्वरूपं ज्ञात्वा तत्संगस्य
त्यागः कर्तव्यः । व्यवहारनिर्वाहस्तु 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतं' मित्यादिवाक्याद्भगवत्सम्बन्धि-
पदार्थस्य निर्गुणत्वाद्भगवदुपभुक्तशिष्टपदार्थः कर्तव्यः । तथा सति गुणक्षोभदोषोपि न
भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु भगवदीयाः पदार्था निर्गुणाः, तैः सम्बन्धदोषपरिहार उक्तः, स च न
सम्भवति, सर्वस्यापि पदार्थस्य गुणत्रयात्मकत्वमितिसांख्यसिद्धान्तादित्याशङ्क्याहुः ।

कुसृष्टिर्न वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

भगवच्छास्त्रविरुद्धत्वात् सांख्यसिद्धान्तोक्तप्रमेयकथनं कुसृष्टिः । अतस्त्वाद्यज्ञानं
भ्रम एव । यद्यपि सर्वपदार्थस्य सगुणत्वं, तथापि भगवत्सम्बन्धिपदार्थस्य निर्गुणत्वमेव ।
'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्' 'मन्निष्ठे तु निर्गुणम्' 'निर्गुणं मदप्राप्तय' मित्यादिवाक्येभ्य
इति भावः ।

सेवां गुह्यिगप्रोक्तं कारयित्वा निजं फलम् ।

ददातु प्रथमं देवो बालकृष्णो मदीयः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्भोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविठ्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन
लाङ्गमट्टोपनामपालकृष्णदीक्षितेन विरचिता सेवाफलविवृति-
टिप्पणी समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतविवरणसमेतम् ।



बार्हस्पत्यसन्मौलि वेषुवाद्विशारदम् ।
दुःखं दत्त्वात्तदुपैक्षिर्भगलठितं महः ॥ १ ॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यांस्तुतान् विद्वलेश्वरान् ।
विश्रुत्या सहितं सेवाफलं व्याख्यायते मया ॥ २ ॥
गीताभागवतादावप्युक्तं पण्डितबुद्धिगम् ।
दुष्टिसेवाफलं ज्ञात्वा विचारे त्वक्षमान् निजान् ॥ ३ ॥
विशेषविषयवशकुर्मग्नं सेवाफलाभिधम् ।
सम्यग्विवरणोपेतं श्रीमदाचार्यपण्डिताः ॥ ४ ॥
पत्रुणाः सहस्री धर्मी सर्वधर्म्यधिको व्रजे ।
यथा विराजते नित्यं तत्सेवायाः फलं तथा ॥ ५ ॥
सर्वसेवाफलेभ्योऽपि ज्ञापयतामधिकं पुनः ।
इति ज्ञापयितुं सार्धसप्तपद्यैर्निरूपितम् ॥ ६ ॥

अथ श्रीमगवद्गीताश्रीभागवताद्युभाष्यभागवततत्त्वप्रदीपसुषोधिन्वादिसमाकलना-
समयैः कैश्चिदतिक्रान्तामनीः स्वीयभगवद्दीपैः शृष्टाः श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वमार्गापसेवाफलं
निरूपयन्ति यादृशी सेवना प्रोक्त्वादि सार्धपद्येन ।

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।
अलौकिकस्य दाने हि पाप्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥
फलं या त्वधिकारो या न कालोत्र नियामकः ।

एतस्य विवरणं तु भेष्यायां फलप्रथमलौकिकमात्मर्ष्यं सायुज्यं सेयो-
पपिपदेहो या वैकुण्ठादिष्विति । अथ सेवापामिति तु यादृशी सेवना
प्रोक्ता तत्सिद्धावित्येतस्य विवरणम् । फलप्रथमिति तु फलमुच्यते इत्यस्य विव-
रणम् । अलौकिकसामर्थ्यमितादि अलौकिकस्य दाने हि पाप्यः सिध्ये-
न्मनोरथ इत्यात्म्य अधिकारो येषेतदन्वयं च विवरणं बोध्यम् ।

अथ व्याख्या । यादृशी 'कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्त्रयवर्णं सेवा तत्सिद्धौ तनुवित्तजे' त्यादिना स्वतनुजस्ववित्तजसेवया प्रेम्णि जाते आसक्तिस्वरूपतत्रवर्णचेतस्स्वरूपा फलरूपा मानसी सेवेति सिद्धान्तमुक्तावस्तुक्तप्रकारा सेवना सेवा मया प्रोक्ता तस्याः सिद्धौ पूर्णतयाविभांवे सति यत्फलं भवति तदुच्यते कथ्यते इत्यर्थः । ननु सिद्धान्तमुक्तावत्यां तु स्वतनुजस्ववित्तजसेवोत्तरं प्रेमोत्पत्तिः कण्ठरवेण नोक्तेति कथं भवतोच्यते इति चेत्? अत्रोच्यते । 'यथा भक्तिः प्रगृह्णा स्यात् तथोपायो निरूप्यते, वीजभावे द्दे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तना'दित्युपक्रम्य 'वीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहं स्थित्वा सधर्मतः, ज्व्यावृच्चो भजे-कृष्णं पूजया श्रवणादिभि'रित्यादिना स्वतनुजस्ववित्तजसाधनरूपसेवायुक्त्वा 'ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेदि'त्यनेन साधनरूपसेवोत्तरं प्रेमोत्पत्तिरुक्ता, तदनन्तरमासक्तिरुक्ता, तदनन्तरं व्यसनं चोक्तं श्रीमदापार्यवर्षभक्तिवर्धियामिति' । एकत्र निर्णयितः शास्त्रायोपरप्रापि प्रवर्तते इति न्यायं मनसिकृत्यास्मत्प्रभुभिः सिद्धान्तमुक्तावलीविपृतायुक्तमितेन निरूपयित्वा सर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तथैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवती'ति मयापुक्तमित्यवेदि । तर्हि फलमित्याकांक्षायांमिदमिदं फलमिति फलत्रयं विवक्ष्य आद्य फलमाहुर्मूले अलौकिकस्य दाने हीति । एतद्विवरणं त्वलौकिकसामर्थ्यमिति । अत्र द्वितीयातस्यरूपस्त्वसम्भवेन, तृतीयापत्रमीपठी-तस्यरूपानां सम्भवित्वेपि द्विष्टार्यता सम्भवतीत्यलौकिकाय सामर्थ्यमिति चतुर्थीतस्यरुपा-श्रयणादलौकिके सामर्थ्यमलौकिकसामर्थ्यमिति सप्तमीतस्यरुपाश्रयणाद्वा अलौकिकविषयक-सामर्थ्यं यावदलौकिकसम्बन्धननितमुखदुःखानुभवविषयकशक्ततेति यावदित्यर्थो ज्ञेयः । एवं च सति 'निःप्रत्यहो महान्भोगः प्रथमे विशते सदे'ति मूले, तथा च 'अलौकिक-भोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीति तद्विवरणे चोक्तो अलौकिकभोगस्य प्रथमफले प्रवेश उपपन्नो भवेत्, तस्याप्यलौकिकपदेन संग्रहात् । कर्मधारयाश्रयणे तु सामर्थ्यमात्र-सैवालौकिकत्वात्तदतिरिक्तालौकिकभोगादेरलौकिकसामर्थ्यरूपत्वाभावादलौकिकपदेनासंग्र-हादलौकिकसामर्थ्यरूपप्रथमफले प्रवेशोक्तिरसंगता स्यात् । तस्माच्चतुर्थीतस्यरुपः सप्तमी-तस्यरुप एव वात्र साधुतरो न कर्मधारय इति चोध्यम् । यद्वा । न लौकिकमलौकि-कम्, अलौकिकं च तत्सामर्थ्यं चेति कर्मधारय एवास्तु । न च पूर्वोक्तदूषणापत्तिरिति वाच्यम् । अलौकिकभोगस्त्वलौकिकसुखदुःखसाक्षात्कारस्तु फलानां मध्ये प्रथमे फलेऽ-लौकिकसामर्थ्येऽधिकरणरूपे प्रविशति प्रविष्टे भवति, तदर्थमेवालौकिकसामर्थ्यस्य भग-वता दानात् । एवं च न पूर्वोक्तदूषणापत्तिरिति दिक् । एवं च विवरणे मूलस्यालौकिक-पदस्यालौकिकविषयकसामर्थ्यपरत्वेनालौकिकसामर्थ्यपरत्वेन वा व्याख्यानात् कसचि-देतत्संघाते कसचिच्चेतदेदपातोत्तरं वृन्दावनादिष्वलौकिकसंघात एव वा अलौकिक-

विषयकसामर्थ्यरूपसालौकिकसामर्थ्यरूपस्य वा फलस्य दाने वितरणे स आद्यः प्राथमिकः सत्संगादिनेदं प्रथमतयोत्पन्नः प्रियतमभगवत्संगमविषयको भक्तस्य मनोरथः स हि निश्चयेन सिध्येन्मनोरथविषयीभूतपदार्थप्राप्त्या पूर्णो भवेत्, तददाने तु न पूर्णो भवेदित्यर्थः । तथा च मनोरथविषयीभूतप्रियसंगमसाधकं प्राथमिकं फलमलौकिकविषयकसामर्थ्यप्राप्तिरिति बोध्यम् । अल्पः सिध्येन्मनोरथ इति पाठे त्वल्लौकिकस्यालौकिकविषयकसामर्थ्यसालौकिकसामर्थ्यस्य वा उदाने हि निश्चयेन विप्रयोगोद्रेके सति कदाचित् कदाचिन्मनसि जायमानत्वादल्पः स्वलो मनोरथः प्रियसंगमविषयकः सिध्येदित्यर्थो ज्ञेयः । एकदरेणैतद्दान एवान्योपि मनोरथः सिध्येदिति व्याख्येयम् । अथैवं ज्ञेयम् । प्रथमतो मूलेच्छया 'यमेवे'ति श्रुतेर्निरूपधिरसंरूपसपरिकरभगवत्कृपया शुद्धपुष्टिमार्गीयं चरणम्, तदनु सत्संगादिना प्राथमिको भगवत्संगममनोरथः, तदनु शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयः, तदनु भगवत्प्राप्तिजनकतिरोहिततापक्षेज्ञानन्दाविर्भावाय शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यकृतं निवेदनम्, तत्सदुपदिष्टोस्मिन्मार्गे गोपिकानामेव गुरुत्वमिति फलप्रकर्षणीयसिद्धान्ता 'दय च गोपीभावेन ये भक्ता' इत्यादादिपुराणवाक्याच्च मूलरूपशुद्धपुष्टिमार्गीयार्थानां प्रजभक्तानां यो भावस्तस्यजातीयभावभावनपूर्वकं स्वतनुजस्वचित्तत्रमाधनरूपसेवाकरणेन द्दतरकथाश्रवणादिना वा कस्यचिद्विभेद प्रेमोत्पत्तिं देहपते 'स्वयं सगुत्तीर्ये'ति श्लोके 'सदनुमदो भवा'नित्युक्तत्वात् प्रेमपदाचार्यस्यभगवदनुग्रहपलेन प्रासादौकिकदेहे रसमार्गीयत्वात् पूर्वानुरागभारभ्य सकलप्रेमावस्थाविर्भावः । कस्यचिद्भगवद्विच्छया प्रेमासक्तयनन्तरमेव पूर्वानुरागजविरहेणैव व्यवसर्गं विभेद देहपते प्रासादौकिकदेहे व्यसनायवस्थाविर्भावः । कस्यचित्स्वैव प्राकृतदेहे प्रेम्णि जाते तदप्राप्त्या पूर्वानुरागजविरहाविर्भावः, ततः स्वरोष्यस्वरूपे वा स्वभावे पातिमाग्येन साक्षादपि वा प्रमुदशने 'चक्षुःप्रीतिः स्थाता तत्रातीवाद्दरनिरीक्षण'मिति लक्षणानुसाराद्भगवद्विषयकः परमादरपूर्वकनिरीक्षणरूपश्चक्षुराग्यरूपप्रथमप्रेमावस्थाविर्भावः । ततश्चित्तसंगः प्रियतमे नित्यं चित्तस्य विश्रम' इति लक्षणानुसारात् 'ततः प्रेग तथासक्ति'रित्युक्तत्वात् प्रेमोत्तरोत्पन्नासक्तित्वरूपतत्त्वपण्येत्स्वरूपचित्तासंगरूपद्वितीयप्रेमावस्थाविर्भावः । इयमेवावस्था सेवापदवाच्या । 'अभावस्था निरूप्यन्ते रसानस्थानसुचिकाः । भीजांतुतः पल्लवश्च वृद्धिर्विनार एव च । अवस्था दिनयेन सावक्षुराग्यारिपु क्रमात् । चक्षुरागो मनःमंगः मंकृत्यो जागरस्तथा । तनुता निषपदेशो लज्जाल्यास्ततःपरम् । उन्मादमूर्छामरणान्येता दश दशाः स्मृता' इत्युक्तत्वाच्चक्षुराग्यचित्तासंगान्यां पीत्ररूपप्रथमप्रेमावस्थाविर्भावः । 'संकल्पस्तु मनोरथ' इति लक्षणानुसारात्कदा प्रियमंगमे एवमेवं भविष्यतीत्यादिमनोरथरूपमंकल्पन्यरूपतृतीयप्रेमावस्थाविर्भावः । एतावता किमिदुत्पत्तितः पूर्वानुरागनन्यो विरहः । अथायमलौकिकविषयत्वादलौकिको विरहः प्रलयानन्यादप्यतिदुःमदो भारीति लौकिकः-

सामर्थ्यवता शरीरेण मनसा च सोढुमशक्त्यो देवकृतसम्भोगो मानुषजात्या स्त्रियेवेति भगवता तापक्षेत्रविशिष्टलौकिकविरहरसभोगसामर्थ्यं प्रथमतो दीयते । तदनृच्छासनिश्चासस्यत्याप-
 तुभावाविशिष्टो 'निद्राछेदस्तु निद्राया अभावः परिकीर्तित' इति लक्षणासुसारात्निद्राछेद-
 रूपशतुर्थप्रेमावस्थाविर्भावः । आम्नां संकल्पनिद्राछेदाभ्यामंकुरावस्योक्ता । ततः'सनुता
 निखिलांगानां दौर्घत्यं परिकीर्तित'मिति लक्षणासुसारात् पाण्डुत्वानुभावविशिष्टतनुता-
 खरूपप्रथमप्रेमावस्थाविर्भावः । ततो 'विषयेभ्यो निवृत्तत्वमरतिर्विषयान्तरे' इति लक्ष-
 णासुसारात्तुर्निमीलनासहनशीलतापनुभावविशिष्टविषयनिवृत्तिरूपप्रथमप्रेमावस्थाविर्भावः ।
 आम्नां तनुताविषयनिवृत्तिभ्यां पहवावस्योक्ता । एतावत्पर्यन्तमासक्तिकार्यमेव । अत एव
 'श्लेहाद्रागविनाशः स्वादासत्तया स्वाद्दृष्टारुचि'रित्यनेन यदाहस्युपलक्षिता विषयनिवृत्ति-
 रक्ता श्रीमदाचार्यैर्मक्तिवर्षिन्याम् । ततो 'दैहिकान्तकलात् भावान् निजां व्रीडां च
 दैहिकीन् । परित्यज्य हरिप्राप्त्यै यदेव स्वात्तदेव हि । लौकिकं वैदिकं चापि तत्कर्ता
 व्यसनी मत' इति दशमस्कन्धीयभागवततत्त्वदीपसिद्धान्तसिद्धलौकिकवैदिकप्रियप्राप्ति-
 साधनकरणरूपव्यसनविर्भावः । ततः पुनः प्रियप्राप्तिदुर्घटत्वज्ञानेन 'उपसितान्तिके
 तस्य व्यसने स्मवोचते'ति दशमस्कन्धपद्यप्याख्यानसुषोभिन्मुक्ताप्रतीकार्यदुःखस्वरूप-
 व्यसनान्तराविर्भावः । येन किना प्रियतमांगसंगं क्षणमात्रमपि स्थातुं न शक्नोति, तेन प्रिय-
 तमांगसंगं च प्राप्नोत्येव । अत एव 'यदा स्वात्त्वसनं कृष्णे कृतार्थः स्वात्तदैव ही'त्यनेन
 तत्रैवानुपदमेयोक्तं व्यसनोत्तमेव कृतार्थत्वमप्रतीकार्यदुःखस्वरूपव्यसनपदवाच्यान्व्यसन-
 प्राप्त्या । अत एव प्रत्यक्षरूपव्यसने जाते प्रियप्राप्तिरेव जाता श्रीमतीनां कुमारीणाम्, तद-
 नन्तर चाप्रतीकार्यदुःखरूपे व्यसने जाते एव च प्रियतमांगसंगो जात इति श्रीभागवते
 स्पष्टमेव । अत्र कृष्ण इति विषयसम्भवी निमित्तसम्भवी वा, 'यमेति द्वीपिन'मित्यत्रेव । तथा
 च कृष्णविषयकं कृष्णनिमित्तं च यदा प्रथमव्यसनोत्तरमप्रतीकार्यं तापसहितं दुःखरूपं
 श्लेषापरपर्यायं द्वितीयं व्यसनं स्यात्तदा 'लज्जत्वागोविकैवश्यत् प्रपानाशोमिषीयत' इति
 लक्षणासुसारादाकस्मिन्नलनरोदनाद्यनुभावविशिष्टप्रपानाशस्वरूपप्रथमप्रेमावस्थाविर्भावः ।
 तदन्वयेतनेषु प्रधादिरुन्मादः परिकीर्तित' इति लक्षणासुसारादाकाशात्मिगनापनुभाव-
 विशिष्टेन्मादरूपाद्यप्रथमप्रेमावस्थाविर्भावः । आम्नां व्रतानाशेन्मादभ्यां वृद्धावस्योक्ता ।
 ततः 'प्रलयो रागदुःखादेरिन्द्रियास्तमयो मत' इति लक्षणासुसारात्त्रिषेष्टत्वाद्यनुभाव-
 विशिष्टमूर्त्तीपरपर्यायप्रत्यक्षरूपप्रथमप्रेमावस्थाविर्भावः । ततः 'प्रापत्यागोतिदुःखेन सृतिस्तु
 परिकीर्तित'मित्यलक्षणासुसारात्सृतिरूपदशमप्रेमावस्थाविर्भावः । आम्नां मूर्त्तिसृतिभ्यां विस्तार-
 यस्योक्ता । तथा 'वैताव्यानुभावविशिष्टव्यसनोत्तरं प्राकृतदेहपते सचिदानन्दस्वरूपालौ-
 किकदेहत्वमे च सति भगवत्स्वरूपानन्दप्राप्त्या कृतार्थः स्यादित्यर्थः । अत एवेदमप्रती-
 कार्यदुःखमेव प्रार्थितं निरोपलक्षणाख्ये ग्रन्थे श्रीमदाचार्यचरणैर्वैद्य दुःखं यशोदाया नन्दा-

दीनां च गोकुले । गोपिकानां च यदुःखं तदुच्यते स्यान्मम कचिदि'त्यादिना । अत्रेदमपि ज्ञेयम् । येषां त्वलौकिक शरीरं तेषां तु व्यसनानन्तरं प्रभुसगम एव, न दशमदशाप्राकट्यम् यथा रासमण्डलमण्डनानाम् । येषां तु लौकिक शरीरम्, तेषां तु व्यसनानन्तरं दशमदशो दयो भवत्येव, यथान्तर्गृहगतानाम् । इदमेव ज्ञापयितुमन्तर्गृहगतानां लीला । अन्यथा प्रजस्थानां सर्वेषामप्यलौकिकशरीरमिति तासामप्यलौकिकशरीरवत्त्वात्तथाकृतित्वैर्व्यर्थी नीरसा च सादितिदिक् । 'नन्वन्ते या मतिः सा गति'रिति प्रेमवदाचार्यानुग्रहवलेनात्यसद्येन पूर्वाणु-
 रागजभगवद्विरहेण वा तत्क्षणमेव देहपाते प्रियसगमो भविष्यत्येव । अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादा भज्येतेति किमर्थमलौकिकसामर्थ्यदानं किमर्थं वा न तत्तदज्ञानु-
 भावनमिति चेत् । अत्र वदाम् । 'रसो वै स' इति श्रुतेः प्रमो रसरूपत्वाद्रसमर्यादयैव स्वस्वरूपदागमित्यलौकिकसामर्थ्यदानं तत्तदज्ञानुभावनं चेति जानीहि । अपि च, तत्क्षण-
 मेव देहपाते चक्षुरागादिक्रमेणावस्थानुभावाभावनदर्शने रसमार्गीयभगवदीयानां सन्देह-
 सात्को वेद रसस्वरूपभगवत्प्राप्तिरेतस्याभवान्यस्वरूपभगवत्प्राप्तिरिति । तदर्थमेव कस-
 चिदलौकिकसर्वावस्थानुभवेवैव कार्यते प्रभुणा । तथा सति तत्तदवस्थानुभवस्य प्रत्यक्षतो
 दृश्यमानत्वेन सर्वेषां रसस्वरूपप्राप्तेर्निश्चयादेतन्मार्गीया प्रवृत्तिरपि निःप्रवृद्धा भवेत्,
 तदर्थमनैवालौकिकसामर्थ्यदानं तत्तदज्ञानुभावनं चेत्यल पल्लवितेन । एवमेवालौकिक-
 सामर्थ्यं साक्षाद्गुणादिवपि दीयते इत्यग्रे व्यक्तीभविव्यति । यदा, योस्मिन्मार्गे
 समायाति तस्य तु 'शुद्धे स्थित्वा स्वधर्मतः । अप्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया भवणादिभिः ।
 व्यावृत्तोपि हरीं पित्तं श्रवणादी न्यसेत् सदा । ततः प्रेम तथासक्तिव्यसनं च यदा
 भवेदि'ति भक्तिवर्षिन्यां तनुजनिचक्रसेवाकरणे प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्तीत्युक्तत्वात्तद-
 नन्तरं तत्र 'यदा साहज्येन कृष्णे कृतार्थः सात्तदेव ही'त्युक्तत्वात् व्यसनप्राप्तेः कृतार्थ-
 करणम्भावात् प्राथमिको मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयको भवति । तत्र व्यसनानिर्भावे
 महातापोदयात्सहं लौकिकसामर्थ्येन कर्तुमशक्यमिति दुःसहत्वादिति भगवता व्यसना-
 निर्भानादप्यवहितपूर्वं तत्समकालमेव वारालौकिकसामर्थ्यं दीयते व्यसनसहनार्थम् । एवं
 चालौकिकरूपं दाने हि । हि निश्चयेनालौकिकस्यालौकिकसामर्थ्यस्य दाने आद्यः
 प्राथमिको मनोरथो व्यसनप्राप्तिविषयकः सि-
 येषेन्नियन्तो भवेत्, व्यसनप्राप्तिः सादिति
 यावत्, तददाने स न निष्पद्यत इत्यर्थः । तथा च शुद्धपुष्टिमार्गीयस्य प्रेमासक्तिरूपायां
 सेनायां सिद्धायां प्रथमफलमलौकिकसामर्थ्यप्राप्तिरिति श्रीभगवत्प्रेतस्य प्रथमफलस्य-
 मुक्तमिति भावः ।

अथैतादृशविप्रयोगजनितदेहपातोत्तरं तु पापाम्यन्तरमेदेनेदानीं तु देहस्य लौकिक-
 त्वात्सायिमात्स्यकमगरत्सम्बन्धेना-त-करणमैवालौकिकत्वात्तन्तरेव च भावि परम-
 काष्ठापन्नं फलत्रयेपि मुख्यफलरूपं द्वितीयं फलमाहुः प्लवं चेति । अत्र निरणे फलत्रयस्य

सायुज्यत्वेन व्याख्यानाद्वितीयं फलं सायुज्यरूपं वा भवेत् । अत्र वाशब्दो विक-
 लार्थः । यद्यतिक्रपाविशिष्टमूलाचार्यरूपश्रीमद्भजमत्तंगितविशिष्टा प्रभोस्तारद्वयलेच्छा
 सात् । अत्र सायुज्यं शुद्धपुष्टिमार्गीयमेव विवक्षितम्, न त्वन्यत् । शुद्धपुष्टिमार्गीय-
 सेवाफलस्यैव निरूपणात् । ननु सायुज्यमेकविधमेव शास्त्रान्तरेषु श्रूयते, न त्वन्यप्रकारक-
 मतो न त्वन्यदिनि निषेधो नोपपद्यत इति चेत् । अत्र वदामः । द्विविधं तावत्सायुज्यं
 स्थूलतया । तत्रैकमेदसम्बन्धपटितम्, द्वितीयं तु भेदसम्बन्धपटितम् । तत्रायं 'मूष-
 वेद मूषैव भवती'त्यादिश्रुतिप्रमाणसिद्धम्, साधारणानुग्रहात् केवलभर्यादारूपमेकविधमेव ।
 द्वितीयं तु त्रिविधम् । तत्रैकं 'ब्रह्ममूतः प्रसन्नात्मे'त्यादिगीतावाक्यसिद्धम् । ब्रह्मभावो-
 चरसामयिकोत्तमाकस्मिककृपाजनितपरमभक्तिलाभजन्यभगवदानोत्तरसामयिकभगवत्प्रवेश-
 रूपपट्टादिप्रवेशवत् । प्रवेशस्य भेद एव सम्भवाद्भेदपटितत्वं ज्ञेयम् । द्वितीयं तु
 'मूषविदामोती'त्यादिश्रुतिसिद्धम् । ब्रह्मभावोत्तरसामयिकाकस्मिकोत्तमतरकृपाजनितभक्ति-
 लाभजन्यभगवत्प्रवेशरूपसायुज्योत्तरं तत्सहभानविशिष्टसर्वकामभोगरूपम् । भोगोत्तरं
 स्वस्मिन्प्रवेशश्च मर्यादासंवलितत्वात् । तृतीयं तु 'केषलेन हि भवेने'ति वाक्येन 'न
 जानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति वाक्येन चार्थुत्तममकूपया ब्रह्मभाव-
 ज्ञानवैराग्यादिनिरपेक्षप्रेमासक्तिव्यसनरूपकेवलभावजनितभगवत्सहभावविशिष्टसर्वकालिक-
 सर्वकामभोगरूपं च । तत्र गीतोक्तप्रवेशरूपसायुज्ये पुरुषोत्तमप्रवेशमात्रमेव फलम्, विशेष-
 कृपाऽभावात् । न चाक्षरज्ञानमार्गसायुज्यात् को विशेष इति वाच्यम् । अक्षरज्ञानमार्गे
 त्वभेदेन गणितानन्दाक्षरसायुज्यम् । पुरुषोत्तमज्ञानमार्गे तु भेदेनागणितानन्दपुरुषोत्तम-
 सायुज्यम्, भेदेनानुभूयमानमिति विशेषस्य जागरूकत्वात् । अत एवाचार्याश्वत्थुर्यस्कृत्य-
 निनन्दे 'सायुज्ये तु रसाधिभ्यं भेदेनानुभवात्त' इत्युक्तवन्तः । किञ्चाक्षरस्य धर्मरूप-
 त्वाद्वर्त्मसायुज्यम् । पुरुषोत्तमस्य तु धर्मत्वादेतत्सायुज्यस्य धर्मिसायुज्यरूपत्वात्वासा-
 विनयस्यैव विशेषरूपत्वाच्च । ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगरूपसायुज्ये तु मर्यादा-
 र्त्सर्गते मर्यादापुष्टिरूपमहिषीसजातीधर्गवर्त्तमानभोग एव । न तु शुद्धपुष्टिमार्गीयो ब्र-
 मत्तसजातीयसर्वकामभोगः । न च 'ब्रह्मविदामोती'त्वेन ब्रह्मभावोत्तरं सर्वकाम-
 भोग एव श्रूयते, न तु परमभक्तिलाभ इति ब्रह्मभावोत्तरसामयिकभक्तिलाभोत्तरं
 सर्वकामभोगः कथं भवतीत्यत इति वाच्यम् । 'सह ब्रह्मणे'त्यत्राप्रधानतृतीया-
 निर्देशात् । तत्राप्रधानत्वं तु 'अहं मत्कपराधीनो ह्यस्तत्र इव द्विले'त्यादिप्रमाणैर्भक्त-
 विषय एव भगवतो, नान्यविषय इति मध्ये परमभक्तिर्भवतीति तथोक्तत्वात् ।
 ननु श्रुतिवलेन ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगेति निर्येय मक्ति परमब्रह्मणोप्रधानत्व-
 मयीक्रियतामिति चेत् ? न । 'इतिहासपुराणान्यां वेदं समुपवृंहये'दिति वाक्या-

दितिहासपुराणादिषु कुत्रापि भक्तिमार्गातिरिक्तमार्गे ब्रह्मणोप्रधानत्वस्याश्रयमाणत्वात् । अपरञ्च, यदि ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगो नितैव भक्तिं स्यात्तदा त्वदुक्तं घटेतापि, न तु तथा । यतस्तादृशसर्वकामभोगस्य पुरुषोत्तमज्ञानजन्यभगवत्प्रवेशरूपसायुज्यसाध्यत्वात् । तत्र पुरुषोत्तमज्ञानं च भक्तिसाध्यम् । 'ब्रह्मभूतः प्रसञ्जाले'त्यारभ्य 'विशते तदनन्तर'मित्यन्तेन प्रथमद्वयेन भगवता पुष्टिमर्यादासर्वकामभोगेणैव सिद्धान्तितत्वात् । अन्यथा सर्वेषामेव ब्रह्मभावापन्नानां सर्वकामभोगः प्रसजेत, नियामकाभावात् । अतो ब्रह्मभावोत्तरसामयिकसर्वकामभोगस्य भक्तिं विना जायमानत्वाभावादप्रधानत्व परब्रह्मणो भक्तिकृतमेव, न तु भक्तिं विना कुत्रापि नदुक्तमेव साधीय इति दिक् । अत एवास्तातथ्यमिया 'भुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोग'मिति भगवतो भक्तियोगदानाभावः श्रूयते यस्य कस्यचिदिति दिक् । तृतीये सायुज्ये तु भेदमर्यादासंबलनाभावात् प्रमाणातीतस्वरूपेण प्रमाणातीतभक्तानां प्रमाणातीतसर्वकामभोगः । एवञ्च चतुर्विधसायुज्यस्यापि प्रमाणसिद्धत्वेन प्रकृते सायुज्यपदेन भेदघटितसायुज्येषु तृतीयमेव सायुज्यं विवक्षितम् । इदमेव च शुद्धपुष्टिमार्गाय सायुज्यमिति । अत्र 'प्राणेन सायुज्यं सलोकतामामोती'त्यादिश्रुतिप्रयोगायुजिरं योग इति घातो'बहुल छन्दसी'ति बाहुलकान्दोवे किंवा सुकृशब्दसिद्धिः, ततः सहशब्देन समासः, ततो योपसर्जनस्येति सहशब्दस्य सादेशः, ततो भावेऽप्यन्वयव्ययश्च । यद्वा । सहयुनक्तीति सयुक् किंप्रचेतिसूत्रेण कर्तरि क्त्वा, सयुजो भावः सायुज्यं सहभाव इति ज्ञेयम् । अत्रैतत्त्वम् । कदापिदतिकृपायां पुरुषोत्तमप्रवेशमात्रलक्षणसायुज्यपतो ब्रह्मभावजनितप्रवेशोत्तर सर्वकामभोगरूपसायुज्ययोग्यतावतश्चापि शुद्धपुष्टिफलप्राप्तिः केपाश्चिद्भवति, मुक्तोपन्ययव्यपदेशादिति न्यायात्, न तु सर्वेषाम् । अन्यथा मार्गभेदकरजयैयर्ष्यापात इत्यवपातव्यम् । नन्वेतादृशशुद्धपुष्टिफलप्राप्तिभेत्केपाश्चिद्भवति तर्हि तत्सायुज्यं किमर्बं दत्तमिति चेत् ? स्वस्य स्वतवेच्छत्वादि ज्ञापयितुमिति गृह्यापेति सर्वं चतुरस्रम् ।

अथ यस्मिन् जीने यादृशी कृपा तस्मिन्तादृशफलदानोपयिकभावप्राकट्यपूर्वकसेवया तादृग्भगवद्रूपं फलमिति सिद्धान्तः, तथा च यस्मिन् ब्रह्मभक्तलैंगितविशिष्टा भगवत्कृपा देहपानोत्तरक्षण एव साक्षाद्भगवत्प्रतिपत्तिर्वा तस्य तु पूर्वोक्तप्रणाल्यैतरेहे तत्क्षण एव मनसि स्वभादी वैतदेहपातोत्तरं तु श्रुत्वावनादी चाविलम्बेन साक्षाद्भगवत्प्रतिपत्तिः । यस्मिन्स्तु देहपातोत्तरक्षण एव न साक्षाद्भगवत्प्रतिपत्तिर्वा कृपा, किन्तु विलम्बेन, तस्यापि प्रेमोत्पत्त्यभाव एव वा प्रेमासक्त्यनन्तरमेव भगवदिच्छया वा देहपाते प्राप्तालीङ्गिकदेहे प्रेमापवस्थाविर्भावेन प्यसनापवस्थाविर्भावेन वा विलम्बेन च साक्षाद्भगवत्प्रतिपत्तिः । यस्मिन्स्तु दाम्यसमित्वापधिकारविशिष्टा कृपा तस्य तु तादृग्भावपूर्वकसेवया पूर्वोक्तप्रणाल्यैतरेहपातोत्तरं श्रुत्वावनादी दास्यसमित्वापधिकारविशिष्टा लीङ्गिकदेहप्राप्तिरूप

तृतीय फल भवतीत्याहु अधिकारो वेति । सायुज्यरूपफलदानेनाधिकारविशिष्टदेह-
शक्तिर्ना भवतीत्यर्थ । अत्र सेवोपयिकदेहो वा वैकुण्ठादिष्विति विवरणोक्त-
वैकुण्ठपदेन 'गोकुल वनवैकुण्ठ'मिति कृष्णोपनिषुक्ते प्रपञ्चार्तातभगवन्निवासस्थान
व्यापिवैकुण्ठान्तर्गतं वृहद्ब्रह्म नन्दीश्वर चोच्यते । आदिपदेन श्रीवृन्दावनश्रीमद्भोवर्धनादि
च । तत्र सायुज्यरूपफलादानेऽधिकार सेवोपयिकदेहरूपो चाधवा भवतीत्यर्थ । वैकुण्ठा-
न्तरसा शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपभगवद्लोकत्वाभावाद् गोकुलस्यैव तादृग्भगवद्लोकत्वाद् वैकुण्ठ-
पदेन श्रीगोकुलम्, आदिपदेन वृन्दावनादिक चाभिप्रेतमिति बोध्यम् । अत्रालौकिक
सामर्थ्यं यथावान्तरफलरूपम्, मुख्यफलं तु मुख्यसायुज्यमेव, एवमेवाधिकारिदेह-
शक्तिरूप तृतीय फलमप्यवान्तरफलरूपमेव, मुख्य फलं त्वधिकारिदेहद्वारैवानापि मुख्य
सायुज्यमेव । न्वदत्ततादृगधिकारिदेहकृत 'त्वत्पृष्टप्रियवार्ताकथनं च ब्रह्मज्ञोस्त्वि'त्यादिरूप-
प्रियतमसेवानन्तुश्रीमद्भजभक्तब्रह्मनुग्रहेणैवेति बुध्यस्व । अत एवालौकिकस्य दाने
हीत्यत्राधिकारो नैत्यत्र च फलपदाप्रयोग सायुज्य एव च फलपदप्रयोगश्च ।
अनातिरहस्यत्वाच्चीमदाचार्यरक्षेदलौकिकसामर्थ्यसायुज्यवैकुण्ठादिपदानि परोक्ष
वादत्वेनैव प्रयुक्तानीति ज्ञेयम् । ननु यत्र परश्रुतमशचीपतिविरिषिपदलौकिकसामर्थ्य
भोगाधिकारा दृष्टास्तत्र न सर्वदा दृष्टा इति सामर्थ्यभोगत्वाधिकारत्वसामान्यादेतेषामपि
नाश स्वादिति न परमफलत्वमेतेषामित्याश्रम्याहु न कालोत्र नियामक इति ।
अनालौकिकसामर्थ्यभोगाधिकारेषु सर्वोत्तमप्रभुप्रीत्याधायकत्वात् काल आधिभौतिक
आध्यात्मिक आधिदेविको वा नियामको न भवति, भगवन्निषम्यत्वादित्यर्थ । इत्येते
लोकेषु प्रमुदत्तसामर्थ्यं भोगेधिकारे वाधिकारिणो नियामकत्वाभाव । अत एवोक्त
सगुणम्येव काराधीनदत्तम्, न गुणातीतस्येति 'मन्निष्ट निर्गुणं सृष्ट'मित्यादिना प्रभुणै
कादशे । तस्मात्तेषां काराधीनत्वमिति त्रयाणां फलत्व नि प्रत्यहमित्याह्ला तावत् ।

यद्वा, अलौकिकस्वालोकिरुनिषयसामर्थ्यम्व दाने हि निश्चयेन जातो य आद्यः
शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसश्रयात्पूर्वमेवैतन्मागावसत्सन्नादिनेद प्रथमतयोत्पन्नो मनोरथः
सिध्येत् सिद्धो भवेदित्यर्थ । म आद्यो मनाथ क इत्याकाशायामाहु फलं वा
एधिकारो वेति । फलरूपो वाधिकाररूपो वा । नात्र सदेह इति भाव । अत्र फल
विषयकोधिकारविषयको मनोरथोपि फलवदधिकारवदेव सुखजनक इति ज्ञापयितुं रूप
केण निरूपणमिति दिक् । तथा च ब्रजभक्तभावसनातीयभावे शुद्धपुष्टिमार्गे भजन
कर्तव्यमिति सिद्धान्त सम्पन्न । तत्र त्रयमकेषु 'नन्दगोपसुत देधि पतिं मे कुरु ते नम'
इति चान्यादनन्यपूर्वा कुमाया भगवति पतिभावशुक्ता । अन्तर्हृत्गतारूपा अन्यपूर्वास्तु
'वारधर्मेण मुखेह सुखं सर्वतोषिकम् । मयि सम्प्राप्य सर्वेषु फलकृत्वा भविष्येति
शुद्धामनपुगपादथ च 'तमेन परमात्मानं जायतुद्धसापि सगता, मत्कामा रमण जा

मस्वरूपविदोवलाः । ब्रह्म मां परमं प्राणुः संगान्छतसहस्रश' इति दशमस्कन्धीयेकादश-
स्कन्धीयभगवद्वाक्येभ्यो भगवत्युपाधिरूपजारभावयुक्ताः । अप्रतिबन्धेन प्रमुसमीपं गता
अन्यपूर्वास्तु सर्वभावप्रपत्तिपूर्वकनिरुपधिप्रियत्वभावयुक्ताश्च भगवति । तत्र परकीयायामेव
रसस परमा काष्ठेति रसशालसिद्धान्तादनन्यपूर्वाणां नन्दाधीनानां भगवति पतिभाव-
युक्तानां कुमारीणामय च निरुपधिप्रियत्वभावयुक्तानां नित्यमिद्धानां जारभावयुक्तानां च
श्रुतिरूपाणां चान्यपूर्वाणां परकीयात्वात् परकीयात्वधर्मविशिष्टत्वेनैव परमकाष्ठापन्नरसरूप-
भगवत्प्राप्तिः । न तु कुमारीणां स्त्रीयात्वेनान्यपूर्वाणां तु परकीयात्वेनेति भेदः । तथा
सति विवाहितानामेव स्त्रीयात्वात् श्रीभागवते कुमारीभिर्भगवतो विवाह उक्तो भवेत् ।
अन्यपुराणादिषु मूलभाष्यमाहात्म्ये रुक्मिणीविवाहात्पूर्वं कुमारीणां भगवता सम विवाहः
श्रुतो यद्यपि तथापि स कल्यान्तरीयांशवताररूपश्रीकृष्णविषयकः । तत्कल्पीयश्रीकृष्ण-
स्वरूपसांशत्वात् तस्यापि स्वरूपस्य पूर्णत्वेनैव व्यासचित्तप्रसादो जातः स्यात् । तस्मा-
त्सारस्वतादिकल्यान्यकल्पीयावतारा अंशवतारा एवेति जानीहि । निरूपित चैतत्सर्विहार
गच्छतमहिमुखमुखमर्दनाख्ये ग्रन्थ इति तत्रैवावलोकनीयम् । ननु यदि भगवति
पतिभाव एव कुमारीणां तदा महिषीप्राप्यप्रमाणानुरोधिभगवत्स्वरूपप्राप्तिः स्यात् न तु
लोकवेदातीतप्रमाणानुरोधिस्वरूपप्राप्तिः स्याद्य च तदनुरोधेनाश्रुतोपि विवाहः
कल्पनीयः स्यादिति चेत् । अत्र प्रमः । 'काल्यायनि महाभागे महायोगि-यधीश्वरि ।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।' 'गूयानन्दसुतः पति'रिति मन्त्रयोर्नन्दसुत एव
पतित्वप्रार्थना भाषणा च । स श्रीमान्दन्दसुतस्तु मन्त्रे 'एकादशसमाह्वत्र गूढार्चिः सबलो-
यस'दिति तृतीयस्कन्धीयश्रीमदुद्धवजाफयादेकादशवर्षपर्यन्तमेव स्थितः । तदुत्तर तु
मयुरायामेव गतः । यज्ञोपवीत च वैश्यानां द्वादशे वर्षे, यज्ञोपवीत विना च न विवाहः ।
स विवाहोपि तत्रातीयानामानुरोपेशफगान्धर्वभेदेन विधिः । तत्रापि वैश्यस्यागुरो मुख्यः ।
तत्र द्रव्यादानादासुरः, छलेन कन्याहरणात्तेशच. गान्धर्वस्त्रन्वोन्यानुरागेण 'त्व मे
भायो त्व मे पति'रितिसमयरूपः । एवं चान यज्ञोपवीतकालाभावेन प्रभोयज्ञोपवीताभावा-
देकादशवर्षान्यन्तर एव च कुमारीणां भगवत्सम्पन्धाव श्लेषि विवाहो नात्र यत्तु शक्यः ।
तथा च विवाहजनितपतित्वामावात्र महिषीप्राप्यस्वरूपप्राप्तिर्न वा निराहकल्पनेति दुष्यस्व ।
न च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादामम इति वाच्यम् । भगवत्सकाशात् प्रमाणा-
तीतफलप्राप्त्या तासां पतित्वप्रार्थनेय जाना, न तु विवाहजनितपतित्वप्रार्थनेत्युद्धयनात् ।
अन्यथा 'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः' इत्यत्र निराहोद्देशोपि कुतः म्यात् ।
तस्मादन्याधीनतानिवारणार्थं नि.शरुतया मर्षदा मिलनार्थं च 'म र्षं पतिः म्यादकुनोभयः
शर्यं समन्ततः पतिं भयतुरं जन'मित्युक्तलक्षणपतित्वमेव प्रार्थितं ताभिर्न तु विवाह-
जनितपतित्वमिति । अत एव प्रमाणातीतायां समतीत्यायेव तामामाकरणम् । यतश्च

न विवाहितपतिभायना प्रभावत एव च न तासामन्यपूर्वाभिः सह लीलयाभीर्ष्यादिकं
जातम् । विवाहितपतित्वे सति त्वीर्ष्यादिकं कासाग्निदपि सर्वदावश्यमुद्भवेदेव, सत्य-
मामादिवत् । न च 'तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युषेः पदानि यत्, वैकापहृत्त्व गोपीनां
रहो भुंक्तेऽच्युताधर'मित्यत्रेर्ष्या तासामपि श्रूयत एवेति वाच्यम् । नैयमीर्ष्या सहभोगेपि
त्वेकैव भुंक्ते इत्यस्मिन्नंशे ईर्ष्या । तथा च समानशीलव्यसनरूपा सखी भूत्वा प्रियविप्र-
योगजनितात्सद्भास्मद्विप्रयोगजनितं दुःखं ज्ञात्वापि यदस्मान् विहाय भुंक्ते तत् क्षोभं
जनयतीति सखीत्वप्रयुक्ततल्लेहजनितेर्ष्या, न तु सपत्नीभावजनितेति निर्णयात् । अत
एव 'ददृशुः प्रियविश्लेषमनोहितां दुःखितां सखी'मित्यत्रे तस्याज्ञासां च सखीभाव उक्तः ।
अत एवाग्रे तत्सहभावेन रासलीला, अन्यथा तथा सदान्याभिः सह वा रासलीलायाम-
मर्यादरसो न स्यात् । तस्मादस्मदुक्ताभिप्राय एवात्र । विवाहितपतिना सपत्नीसहभावकृत-
लीलायां तु षड्वितीर्ष्यादिभावादर्शनेऽप्यन्तरीर्ष्यासंबलनं तिष्ठत्येव लोके राजमहिषीणाम् । अत
एव वासरदाननियमोपि तत्र, अत्र तु सर्वदा सर्वसंबलितत्वेनैव लीलाकरणादिति महदेव
वैलक्षण्यमित्यास्तां तावत्प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तया । एवं चैतादृशपतिभावेनानन्यपूर्वाणां
कुमारीणां जारभावेनान्तर्दृष्टगतानां निरूपधिस्रियत्वभावेन च रासमण्डलमण्डनानां च
परमकाष्ठापन्नरसरूपभगवत्प्राप्तिः, तथा च 'गोपीभावेन ये भक्ता' इत्यादिपुराणवाक्यात्
परिच्छिन्न इत्यपरिच्छिन्नस्वरूपसर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यः । तत्र जारभावो न सर्वभावप्रपत्तिरूपः
कामैकमात्रप्राप्त्यैव तस्योद्भवात्, परिच्छिन्नस्वरूपत्वात् । अत एव तेन भावेनास्य
रसस्य न प्राप्तिरिति तासां प्रतिबन्धोपि जातः । तस्य देहस्य च सगुणभावाश्रयत्वेन
सगुणत्वादेव तत्यागानन्तरमेव सर्वभावप्रपत्त्या निर्गुणतादृशस्वरूपप्रिवप्राप्तिस्तासामजनि,
अन्यथा तद्भावस्य सर्वभावप्रपत्तिरूपत्वेन निर्गुणत्वे तच्छरीरस्य च निर्गुणत्वे तेनैव
शरीरेण प्रियप्राप्तिः स्याद्रासमण्डलमण्डनानामिव । अत्रापिकपूर्वपक्षसमाधानानि तु फल-
प्रकरणीयसुषोधिन्व्यामवलोकेनीयानि । तथाचातिप्रतिकूलद्वेषादिभावेनापि चेत् प्रभुर्योगीन्द्र-
प्राप्त्या मुक्तिं ददाति तदातिश्रेयसंबलितजारभावेन कथं न गुणातीतरसरूपस्वरूपं
दद्यात् । परन्त्वेतदेष्टातानन्तरमेव सर्वभावप्रपत्तिगुत्यायैव दास्यति । एतादृशस्वरूपस्य
सर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यत्वात् । एवं च सति यद्येतदवन्तरमापि सर्वभावप्रपत्तिरेव भाविनी,
तर्हि भगवति सर्वभावप्रपत्तिरेव कार्यं, न तु जारभावः । 'प्रक्षालनाद्वि पंकसे'ति न्यायात् ।
यदि कुत्रापि सर्वोपमर्देन जारभाव एवेदेति तदा भगवदिच्छैव तथा, परन्तु सर्वभाव-
प्रपत्तिमुत्पाद्यैव तत्रापि फलं दास्यतीति ज्ञेयम् । न च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति
प्रतिज्ञाविरोध इति वाच्यम् । सर्वभावप्रपत्तिलभ्यप्रयुक्तप्राप्तौ जारभावजन्यकामपूर्तिरूप-
फलस्याप्यन्तर्भूतत्वात् प्रतिज्ञाविरोधाभावात्, तस्माजारभावेन भगवद्भजनं न कर्तव्यमेव ।

अत एव सर्वभावप्रपत्तिरहितानां रासमण्डलमण्डनानामपि कामपूर्तिरूपफलमपि दत्तं प्रमुणा, अन्यथा तन्न दत्तं स्यात्, ततो ज्ञापते सर्वभावप्रपत्तिलभ्ये फले तदप्यन्तर्भूतमिति । न च पतिभावेपि न सर्वभावप्रपत्तिः, पतित्वमावस्यापि परिच्छिन्नत्वादिमिति शंकनीयम् । पतिमतानां पत्न्यौ भगवत्तान्मानपूर्वकभजनस्य विहितत्वात् सर्वत्र सर्वदा सर्वसमयेषु च मम पतिरेव गतिरिति सर्वभावप्रपत्तेः सत्त्वात् । एषं च सति यत्र विवाहिते लौकिकेभ्यः रीति-स्त्रवालीकिके साक्षाद्भगवति पतिभावे सर्वभावप्रपत्तिरिति किं यक्तव्यमिति । न च तर्हि महिषीणां कुतो न सर्वभावप्रपत्तिजनितं फलं जातमिति वाच्यम् । विवाहरूपसंस्कारस्य तत्र प्रतिषन्धकत्वादिति दिक् । तथा चानन्यपूर्वकुमार्यभिप्रेतकुमारीसजातीयपतिभावे-नान्यपूर्वश्रजसीमन्तिनीनिष्ठनिरुपधियवत्वभावेन वा भजनं कर्तव्यमिति निष्कर्षः । तत्रेदं भजनं श्रीमद्भक्तभक्तभजनोपेक्षया स्वातन्त्र्येण न कर्तव्यम्, यत एतादृग्भावेन भजने 'मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् । जानन्ति गोपिकाः पार्थं नान्ये जानन्ति भर्मणी'त्यादि पुराणेऽर्जुनं प्रति भगवता स्वसपर्यां गोपिका एव जानन्तीत्युक्तत्वाद्भक्तभक्ता एव गुरवः । तथा च तत्समकक्षतया स्वातन्त्र्येण भजने शुद्धहेलनरूपापराधः प्रसज्येत । तथा च भगवान् फले न दद्यात् 'दाचार्यं मां विजानीया'दिति याच्यात् । किञ्च, 'न पारयेऽहं निरवपसंयुजां स्वसाधुकुलं विदुषासुपापि वः । या मामजन् दुर्जगेहृष्टं सुखं संदृश्य तद्वः प्रतियातु साधुने'त्यादिफलप्रकरणीयप्रभुचान्म्यादयं प्रभुरेतदधीन एव सर्वदा क्रीत-जनवन्न स्वन्याधीनः, अतोपि न तदुपेक्षया भजने फलप्राप्तिः । न च 'अहं भक्तपराधीनो ह्यखतत्र इव द्विज । साधुभिर्गन्तव्यदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः । नाहमात्मानमाशासे मद्रक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा । ये दारागारपुत्रास्तान् प्राणान् वित्तमित्रं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे । मयि निर्वृद्धद्वयाः साधवः समदर्शिनः । वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्त्वियः सत्यंति यथे'त्यादिनाम्बरीपादिभक्ताधीनत्व-मपि श्रूयते, न त्वन्वरीपादेरेतत्स्वरूपप्राप्तिरिति वाच्यम् । 'भक्तिभेदो बहुविधो मार्गैर्भूमिनि भाष्यते । स्वभावगुणभेदेन पुंसां भावो विभियत' इतिवाक्याद्भक्तिमार्गोनेकविधः, तेषु च भक्तिभेदेत्वेतासां भक्तिरत्युच्यते, परमकाष्टापन्नस्वरूपत्वाभात् । अत एवैताः परं तनुभृतो ननु गोपवन्धो गोविन्द एव निखिलत्वनि रूढभावाः । चान्छन्ति यद्भवगियो मुनयो पथं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकभारसश' । अतैता गोपवन्धः परमतिशयेन तनुभृत इत्य-नेनान्ये भक्ता अतिशयेन तनुभृतो न भवन्तीत्युच्यते । नन्वत्र किं कारणमित्याकांक्षाया-माहुः गोविन्द एवेति । गोविन्द एव निरूढभावाः, न त्वन्यस्मिन् । निरूढः यत्तु-मशक्यो भावो यासां ताः । यथा निरूढशब्दे व्युत्पत्तिर्न कर्तव्या तादृग्भीमावत्तथैतासां भावेपीति भावः । गोगोकुलेन्द्रवाचकेन गोविन्दपदेन च धर्मिमात्रपरता तासां निरूपिता । नन्वन्यभावभक्ता अपि महिष्यादयो धर्मिपरा एवेत्याशङ्कयामाह निखिलात्मनीति ।

निखिलानामन्येषां धर्मिणा धर्माणामप्यात्मा मूलरूपधर्मोत्तर्य । तादृशत्व श्रीयशोदा-
 नन्दने श्रीकृष्ण एव, 'कृष्णमेगमवेहि त्रमात्मानमग्नितात्मना'मिति वाक्यात् । तथा चान्ये
 धर्मिपरा अपि न निखिलात्मस्वरूपश्रीकृष्णरूपधर्मिपरा इति भाव । नन्वेव किमित्यय
 भाव स्तूपते, भिन्नरुचिर्हि लोक इति न्यायायस्य यद्वोचते स तमेव भाव तमेव स्वरूपं
 च सर्वोत्कृष्ट जानातीति चेत्तदाह चान्छन्ति यद्व्यभिचो मुनय इति । पूर्वं ससार-
 गयेन मुनय. मननशीला भूत्वा प्राप्तज्ञाना निवृत्ताविद्या शुक्रादयोपि यद्यस्मात्कारणात्
 चान्छन्ति य भावम् । तथा च येन नि शेषानिद्याभावनन्तत्वं एवान्यप्रकारक भावमन्यप्रकारक
 भगवत्स्वरूप च सर्वोत्कृष्टत्वेन परमकाष्ठापन्न जानन्तीति भाव । किञ्च, वयमपि यैस्या
 पेश्योत्कृष्टा क्षत्रिया लौकिका आं चान्छाम । यतोऽनुभावदर्शनं विना नोत्कृष्ट मन्यते
 कोपि कमपि । तस्मात्पर लौकिकालौकिकाना चान्छास्वभावस्वरूपमेव तदासक्त्याश्च
 सर्वोपरि विराजमाना इति किं वाच्यमेतत्त्वावस्यैतत्स्वरूपस्य तन्निष्ठानामासा सर्वाधिकत्व
 इति निगर्व । अत कारणादनन्ता कया यस्यासावनन्तकथं श्रीकृष्णस्वस्मिन् यो
 रसोद्बोधाभावात् तस्य प्रज्ञानमभि सहसमुखचतुर्मुखादिजन्मभि किम् ? न किमपी
 त्यर्थ । यद्वा, जन्मभि पुन पुनर्जन्मभिरनन्तकारणसस्य तस्य किं प्रस अक्षरस्वरूपम् ?
 न किमपि । नेषा मनसि प्रसस्वरूपमप्रयोजक मासत इत्यर्थ । तथा चानन्तकारणस-
 निष्ठत्वे जन्मैव वरम्, न तु मुक्तिरिति । तथा चैतन्मार्ग एतासामेव गुरुत्वेनान्यस्वरूपसा
 न्यायीनल्येप्येतासा भावस्य सर्वोत्तमत्वात् परमकाष्ठापन्नस्वरूपभगवत्स्वरूपमेतदधीन
 भवेत्यपि विचार्यासामेवात्तिर्द्वयेन दास्यकरणे तत्स्वरूपप्राप्तिस्तदनुग्रहेण, न तु स्वात्मे
 पेति ज्ञेयम् । अपर च 'आसामहो चरणरेणुशुभाग्रहं सा हृन्दावने किमपि शुन्मलती-
 पनीनाम् । या हुर्यज राजनमार्थपय च हित्वा भेदुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विसृभ्याम्',
 'वन्दे नन्दमलसीणा पादरेणुमभीक्षणम् । यासा हरिकयोद्गीत पुनाति सुवननय'मित्या
 दिना व्रजमक्ता स्वगनस्वार्यपथस्य च परमकाष्ठापन्नस्य स्वागेन मुकुन्दस्य मोक्षदातुरपि
 पदवीं येन मार्गेण भगवान् भञ्छति त मार्गमेव तच्चरणरेणुसबलितं भेदुर्न तु मुक्तिम् । तथा
 च मुक्त्यपेक्षयापि भगवच्चरणरेणुरेव सर्वोत्कृष्ट इति सिद्धम् । एव चेतादृक्चरणरेणोरेता
 द्द्यानुभावज्ञापने व्रजसीमन्तिन्य एव सुख इत्येतासामनुष्टुप्चैव भगवच्चरणरेणुप्राप्तिरिति
 श्रीनृजभक्तचरणरेणुसम्बन्धि गुत्वलतौपपिजन्मापि प्रार्थितमतिदीनतया श्रीमदुद्धवैर्वन्दन
 च तच्चरणरेणोरेव च कृतमन्यया सुर्वेवज्ञाकृतप्रताजनितापरापेन न भगवच्चरणरेणुप्राप्ति-
 रिति दिक् । तस्मादेतासा गुरुत्वादेतदधीनत्वाच्च तच्चरणरेणुदास्यैनेवेतादृशभगवत्प्राप्तिर्ना-
 न्यथेति नि प्रत्यहम् ।

सादेतत् । अय सर्वापि यतो रसरूपप्रमुखरूपफलप्राप्त्यर्थमेव । 'रसो वे स,
 रस क्षेत्राय लक्ष्यानन्दीभनती'ति श्रुत्या रसरूपभगवत्प्राप्तेरेव परमफलत्वात् । सा -

प्राप्ति'स्तेनैव सर्वभावेन परमानन्दमश्रुते' इति नादनिन्दूपनिषच्छ्रुत्या 'सोश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा निषधिते'ति तैत्तिरीयोपनिषच्छ्रुतेषु सर्वभावप्रपत्तिलभ्यसर्वकामभोग-रूपा । स च पूर्णसर्वकामभोगोपि तेषां ब्रजसीमन्तिनीसदृशभावेनैव, नान्यभक्तभावसत्ता-तीयभावेन । एतदतिरिक्तस्वले प्रशुश्रेणैव, न तु पूर्णस्वरूपेणेति । तथा च तत्कामनया भजने क्रियमाणे ब्रजसीमन्तिनीदास्यकरणेषु भगवति तत्समताभावनासत्त्वात् कापठ-सिद्धौ तामा गुरुरूपरेन सकपटमजने फलसिद्धेरभावस्तत्समकक्षता च स्यादिति चेत्, अत्र भूम । परमकाष्ठापन्नरसरूपो भगवान् हि लोकेतिरहस्यतमा पुष्टिलीला यत् प्रकटित-वान् तत्किमर्थमिति दृच्छाम । न च 'आत्मानिनि निरिषी तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते । कल्प सारसत प्राप्य ब्रजे गोप्यो भविष्यथ । पृथिव्या भारते क्षेत्रे मासुरे मम मण्डले । वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् यो रातरमण्डले । जारधर्मण सुप्रेह सुहृद सर्वतोधिकम् । मयि सम्प्राप्य सर्वेषु कृतकृत्या भविष्यथे'ति बृहद्ब्रामनपुराणोक्ते श्रुतीनामनुग्रहार्थमिति वाच्यम् । अनुग्रहस्य श्रुतिनिमित्तप्रदर्शितप्रकृत्यतीतलोकेषु कर्तुं शक्यत्वात् । न च 'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः । दृष्ट्वा राम हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम् । ते सर्वे स्त्रीत्व-मापन्ना समुद्रताम गोकुले । हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवादि'ति । 'अग्निपुरा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे । भर्तार च जगयोनिं पातुदेवमज विभुम् । कृष्णस्य रमणायं हि सहस्राणि च षोडश । गोप्यो रूपाणि चतुश्च तनाकीडन्त केणव'मित्यादि पद्मपुराणोत्तरखण्डमहाकौर्मादियाराहपुराणादिवचनसिद्धदण्डकारण्यवास्तव्यमहर्षीणामनु-ग्रहार्थमित्यपि वाच्यम् । दण्डकारण्यस्यमहर्षीणामपि तत्रैव स्त्रीदेह सम्पाद्य रामरूपेणैव न रमण कृतम्, किन्तु तदेहपातानन्तर स्त्रीदेह सम्पाद्य ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिवृन्दावन एव श्रीकृष्णरूपेणैव रमण कृतम् । एव च तदेहपातानन्तरमलौकिकदेह सम्पाद्य श्रुतिप्रदर्शित-वृन्दावन एव कुतो नानुग्रह कृतयानिति प्रश्ने तयोत्तराभावात्, न च स्वतचेच्छे भगवा-निति वाच्यम् । 'अनुग्रहाय भक्तानां मानुष देहमाश्रित । भजते तादृशी ऋडाया श्रुत्वा तत्सरो भवेदि'ति फलप्रकरणीयवाक्याद्भक्तानुग्रहार्थमेवैतादृशलीलाविशिष्टप्रभुप्राकट्यात् । प्रपञ्चे नि प्रयोजनकप्राकट्यस्याश्रुतत्वान्च । न चानुग्रहं विना नैतादृशफलप्राप्तिरित्यनुग्रहेण प्रापञ्चिकजीवानामप्येतदेहपातोत्तर तादृशफलदानं तत्रैव स्थित्वा कुतो न करोतीति वाच्यम् । भगवान् हि रसरूपस्वरूप प्रापञ्चिकजीवानामपि केषाञ्चिदाहु विचारितान् स्वमुख्यभक्तेच्छापूर्वकस्वेच्छया । तत्र रसरूपभगवत्प्राप्तिस्तु रसरूपभावेनैव योग्या, नान्यादृशभावेन, 'ये यथा मा प्रपद्यन्त' इति चावयात् । तत्र रसरूपभावस्वरूप साधन वेदादिषु कुनापि नोक्तमत प्रपञ्चे वृन्दावन रसरूपस्वरूप रसरूप परिकर च तत्राप्यनु-गुण रसरूप साधन च प्रकृतं कृत्वा तादृशसाधनेन तादृशस्वरूपप्राप्तिं महर्ष्यादीनां कृत-वान् प्रभुः, तदनन्तर तादृशसाधनस्याभिर्भावादतिभाष्यवता जीवानां तदनुष्ठाने तत्स्वरूप-

प्राप्तेर्नि-प्रत्युहत्वमिति तथाकरणाभावात् । न च रसरूपभावमत्रादत्वानुग्रहेणैव कुतो न तादृक्फलदानमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रेच्छेन भगवतैव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजा-
 म्यह'मित्युक्तत्वात् तादृक्प्रतिपत्तिं विना तादृशानुग्रहाभावात् तादृक्फलदानाभावात् प्रपत्ते-
 रपि तत्रैव दानेन प्राकृत्यवैयर्थ्यमिति पूर्वमेवोक्तम् । न च 'नायमात्मा प्रवचनेन
 लभ्यो न मेधया न चतुना श्रुतेन, यमेवैव गृणते तेन लभ्य' इति गुण्टकोपनिषद्वाक्याद्
 विनापि साधन भगवत्प्राप्तिरिति वाच्यम् । एतद्वाक्यानुपदोक्त 'नायमात्मा यलहीनेन
 लभ्यो, न च प्रमादात्तपसो वाप्यङ्गिणात्, एतैस्पायैर्व्यतते यस्तु निर्वास्तम्यैव आत्मा
 विशते ब्रह्मधामे'तिवाक्य 'एतैस्पायैर्व्यतत' इत्युक्ते पूर्ववाक्येन मयादीयसाधनमात्र-
 निषेध एव, न तु एतैर्मन्मनसि स्थितैस्पायैर्व्यततभक्तसजातीयभावादिभिः यः कश्चन यतते
 तस्य भगवद्दर्शिकारकसर्वात्ममायरूपबलभादेव आत्मा ब्रह्मरूप हृदये प्रकटं धाम
 विशते प्रविष्टो भवतीत्यर्थात् मयादीयसाधननिषेध इति द्यदुक्तेरनवकाशात् । अन्यथा
 फलत्वव्याहृतिः । यत्किञ्चित्साधनसाध्यस्यैव फलत्वात् । तस्मादतिभाग्यतराणां
 जीवानामेतादृशसाधनेनैवैतादृशफलप्राप्त्यर्थमेतादृशोदत्तर इति । एव च ब्रजभक्तसमानभावे-
 नामजने तत्फलप्राप्तेः कस्याप्यभावादेतादृशमार्गप्राकृत्यवैयर्थ्यापातः स्यात् । अत एव
 'स्त्रियो वा पुरुषो वापि भर्तृभावेन केशवम् । हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र सशय'
 इति बृहद्भामनपुराणे । 'येषामह प्रिय आत्मा सुतश्च सत्ता गुह्यदो देवमिष्ट'मित्यादिना
 श्रीभागवते चोक्तम् । अन्यथैतादृशान्य व्यर्थं स्यात् । तस्माद्ब्रजभक्तसजातीयभावैर्नैव
 भजन कर्तव्यम् । परन्तु ब्रजभक्तदासपूर्वकमेव, न तु स्वातन्त्र्येण, ब्रजभक्तानामेतन्मार्ग-
 गुरुत्वात्प्रभोस्तदधीनत्वाच्चेति निष्कर्ष इति सर्वं समग्रसम् । न च प्रभोर्ब्रजभक्ताधीनत्वेन
 तदासकरणेपि यदि ता प्रतिबन्धं कर्तुं प्रभोः स्वस्वरूपदाने स्त्रीस्वभावसिद्धप्रदुरैर्प्यया
 तदा कथमेतादृशफलप्राप्तिरिति वाच्यम् । रसरूपप्रभोरेव फलत्वात् रमस्य च विभावानु-
 भावव्यभिचारिसमूहरूपत्वात् तत्र विभावत्वेन त्रनभक्तानां रसरूपप्रभुत्वात् तेषामप्यनु-
 भव्यैवैतादृशमार्गप्राकृत्यस्य ज्ञानत्वेन तत्कृतैर्प्यया प्रतिबन्धाभावात् । किञ्च, यत्रैव
 लौकिको नायकोनेकनायकत्वनामेककालानन्त्रेदेन रमदानं कर्तुं न शक्नोति तत्रैवैर्प्यपि
 सम्भवति । अत्र तु प्रभोरलौकिकत्वात् 'कृत्वा तवन्तमात्मानं यात्रतीर्गोपयोषित । रेमे
 स भगवांस्तानिरात्मासामोपि लीळ्ये'त्यनेनानन्तरं फलेन सर्वथा रमदानकरणसमर्थत्वात्
 केर्प्यावकाशः, यत्र सर्वत्रैव सर्वानुष्ठानेष एव गन्तुं सर्वदा निरातो । ननु प्रभु रस-
 रूपसदन्तर्गतश्च त्रनभक्ता विभावत्वेनास्मदादिप्रपत्तिश्च त्रनभक्तदासनिमित्तभगवद्विषयक
 सर्वात्मभावेन । एव च भगवत्प्रसन्नानुभवं मिष्टे च्छमये उपाया दास्य भ्यासनि । न
 तदुत्तमेतासा दास्य मास्त्विति शकनीयम् । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति भवोदाभावात्ते
 रिति चेन्न, अलौकिकरसनोगानुभूत्सामर्थ्यस्य पात्या रमस्यभगवत्प्रेमया त्रनभक्तदास

भोगस्य चैककालावच्छेदेनैव सम्भवेन 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादाया अमंगात् । न 'चाचार्यं मां विजानीयादि'त्यनेनाचार्यस्य भगवत्त्वेन तदास्यपूर्वकमेव जीवैर्मगवदास्यं क्रियते साधनदशायाम्, फलदशायां तु भगवदास्यमेव तिष्ठति, न त्वाचार्यदास्यम्, तत्र क्षेत्रं मर्यादा, तथात्रापि भविष्यतीति वाच्यम् । सर्वेषां भगवद्रूपाणां नित्यत्वेनाचार्यरूपस्य भगवद्रसानुगुणभगवद्गीलान्तर्गतत्वात् स्वरूपस्य चातीक्रिकसामर्थ्येन तदास्यकरणसापि सम्भवात् । एवमेव सर्वभावप्रपत्त्या भजनमिति प्रमुदतालीक्रिकविषयकसामर्थ्येन सर्वविध-लीलास्येतस्य भजनकर्तुः साक्षिष्यं सिद्धम् । किं पशुनांशावतारादिलीलायामन्यथेनैव च भक्तोपि तत्तलीलानुभवं करोतीति न कस्यामपि लीलायामेतादृशभक्तासहभावो भगवतः । न चैवं श्रीनारायणादिभक्तसापि श्रीनारायणे सर्वभावप्रपत्तेः सत्त्वात् सर्वत्र तत्सहभाव-प्राप्ती पुरुषोत्तमसहभावोपि सादिति वाच्यम् । 'ये यथा मां'मित्येषे मानिति पदेन पुरुषोत्तमत्वेनांगुल्या स्वस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकमुक्तत्वादेतसाः प्रतिज्ञायाः पूर्णपुरुषोत्तम-गात्रसम्बन्धित्वात्, अन्यथा दण्डकारण्यस्वर्षीणामपि तेनैव स्वरूपेण रसदानं कृतं स्यात् कोसलेन्द्रकुमारेण । किञ्चितसाः प्रतिज्ञायाः सर्वभगवत्स्वरूपसम्बन्धित्वे पूर्णत्वात्सात्वादिविभागोपि न स्यात् । न चेष्टापत्तिः, तदान्यस्वरूपाणामंशरूपध्रीकृष्ण-स्वरूपाणामपि श्रीमता व्यासेनोक्तत्वेन चित्ताप्रसादो न सादिति सर्वमनवयम् । एवञ्चैक-भक्तसम्बन्धिन्या अपि लीलाया न परिच्छेदस्वर्हिं सर्वभक्तसम्बन्धिन्या लीलायाः परिच्छेदः केन कर्तुं शक्येतेति किं वाङ्मनसागोचरमाहारम्येषु प्रभुतत्परिकरतद्भक्तेषु विचारचातु-र्येण । किञ्च 'प्रेलोक्ये भगवद्भक्ताः के त्वां जानन्ति मर्मणि । केषु वा त्वं सदायत्तः केषु प्रेम तवातुलमि'ति श्रीमदर्जुनेन पृष्टे भगवानुवाच 'न तथा मे प्रियतमो मया रुद्रश्च पार्थिव । न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम । भक्ता ममानुरक्ताश्च कति सन्ति न भूदले । किन्तु गोपीजनः प्राणाधिकप्रियतमो मम । न मां जानन्ति मुनयो योगिनश्च परन्तप । न च रुद्रादयो देवा यथा गोप्यो विदन्ति माम् । न तपोभिर्न वेदैश्च नाचार्यैर्न च विद्यया । यतोऽस्मि केवलं प्रेम्णा प्रमाणं तव गोपिकाः । मन्माहात्म्यं मन्मयां मन्मूढां मन्मनोगतम् । जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति मर्मणि । निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते । तांश्च परं न मे पार्थ निवृत्तप्रेमभाजनम् । मम भक्तास्तु ये पार्थ न मे भक्तास्तु ते मताः । मम भक्तस्य ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मता' इत्यादि-पुराणप्रपञ्चकान्मद्भक्तपूजाभधिकेति श्रीभागवताद्भजनक्तानां भक्तशिरोमूषणत्वात् प्रभोरतिश्रियत्वाच्चापि एतासां दास्यं कर्तव्यम् । एवञ्च सति एतदास्यकरणे प्रभोरत्या-नन्दाविर्भावेन तासामत्यानन्दाविर्भावान्नसि सन्तोषेण तदनुग्रहात् तत्पूर्वोक्तं फलं भगवान् ददातीत्यपि तदास्यकरणम् । तथा चैतासां गुरुत्वात् प्रभोरैतदधीनत्वाद्भक्त-शिरोमूषणत्वादतिश्रियत्वाच्च सर्वथैतदास्यकरणपूर्वकमेव प्रभुदास्यकरणमिति सिद्धम् ।

अथ श्रीमत्स्वामिन्यादीनां सर्वासां समतयैव दास्यं कर्तव्यमयवा न्यूनाधिकभावेनेति
 शृण्वसि चेत् । अत्रोच्यते । 'यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं ग्रियं तथा । सर्व-
 गोपीषु सैवैका विष्णोरलन्तवद्भवे'ति पञ्चपुराणवचनात् । अथ च 'त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या
 तत्र वृन्दावनं पुनः । तत्रापि गोपिकाः पार्थं तत्र राधाभिधा मने'त्यादिपुराणवचनात् ।
 'सर्वश्रेष्ठा गान्धर्व्युवाचे'ति गोपालतापिन्युपनिषद्भुतेश्च गान्धर्व्यपरनामिकायां श्रीस्वामि-
 न्यासु ब्रजसीमन्तिनीषु 'मोहितां दुःखितां सखीमि'त्यादिना सखीत्वोक्तेः सत्याश्च
 समानशीलव्यसनवत्त्वात् तासां स्वामिनीसमानशीलव्यसनवत्त्वात् तासां श्रीमत्स्वामिन्या
 भक्तिप्रियतमानां दास्यमपि स्वामिन्यनुग्रहाकांक्षया स्वामिनीदासांगत्वेन स्वामिनीवदेव
 कर्तव्यम् । तासां समानशीलसलीलात्तदास्यकरणे श्रीस्वामिन्यलन्तमनुग्रहाति । स्वामि-
 न्यनुग्रहे च ता अनुग्रहन्ति । तदनुग्रहे च ब्रजराजकिशोरानुग्रह इति न कदापि कुत्रापि
 केनाप्यंशेन फलविच्छेदः । अत एव कैश्चिद्भगवदीयैः सिद्धान्तितं श्रीमत्स्वामिन्यादियु
 स्वामिनीप्रतिपक्षात्वमपि न सम्भवति, सखित्वोक्तिविरोधात् । अत एव 'यदैव श्रीराधे
 मिलति रहसि त्वां मधुपविस्जदेषाकार्याहं निजचरणदास्येतिगदिता । मुदा चन्द्रावत्ये'ति
 पद्ये अस्मत्प्रभुभिः सखीत्वमेव स्फुटीकृतम्, न तु प्रतिपक्षात्वम् । अत एवास्मत्सर्व-
 स्थायिताः प्रभुचरणाः श्रीमत्स्वामिन्यष्टकतद्वादशकपदपद्यादी तदास्यमेव सविस्तरं प्रार्थयन्तो
 'पावन्ति पदपद्मानी'त्यादिनाऽन्यासामपि दास्यं प्रार्थितवन्तः । अन्यथा श्रीस्वामिन्या
 'इवान्यासामपि इत्यकृतया दास्यं प्रार्थयेयुर्न तु तदास्यप्रार्थनाप्रसंगे । सर्वासामपि सम-
 प्राधान्यात् । तस्मादन्यासां दास्यमंगत्वेनेवेत्यस्मदुक्तं एव पन्थाः । ननु एवं चेत् सर्वा-
 स्वपि सखीत्वं तदा रसान्तर्गतामानसखिन्ताकलहान्तरितादिलीला गोपपद्येतेति चेत्,
 अत्र यदामः । हृदयादिस्थिताभरणमणिमण्यप्रतिबिम्बितदृष्टमिजरूपे प्रतिनायिकाभ्रमात्
 संकेतस्थलानाभमनाद्वा मानोदयात् । एवमेव मन्पविशेषाकास्मिकललाटसंक्रान्तस्वचरणतल-
 लाक्षारसे सुरतसमयसमुद्भूतनिजदन्तनखक्षतादिषु च कदापिदतिविस्मरणेन रासस्वनिखिल-
 म्रजमक्कातिरिक्तनरकीयाकृतत्वन्नन्ता मानसखिन्ताकलहान्तरितादिलीलानां सम्भवात् । न
 च लाक्षारसदन्तनखक्षतादिषु स्वय्यकृतत्वन्नान्तरेव कुतो न जायत इति वाच्यम् । तथा
 ज्ञान्ततायामपि तासु परस्परं दृढतरसखीत्वजनिततिप्रेम्णा ईर्ष्यानुदयेन तथालीलासम्भवात् ।
 किञ्च 'योगमायामुपाश्रित' इत्यनेन रसलीलायां योगमायामाश्रितो भगवान् । एवञ्च
 योगमाया यथा यथा येषां येषां पदार्थानामुपयोगो रसलीलायाम्, तथा तथा करोतीति
 परकीयासम्भोगादिदर्शनजमानादिरसानुभवार्थं परकीयासम्भोगादि प्रदर्श्य मानादिरसानु-
 भवं कारयतीत्यनेनापि प्रकारेण मानादिलीलानां सम्भवाच्च । यदि चात्यन्तमाग्रहो भवतां
 यच्चन्द्रावत्यादिसम्भोगदर्शनेन मानादिरितास्त्रे च प्रतिपक्षालं तदा तत्सर्वं कल्पान्तरीयांश-

रूपकृष्णारतारीपरमलीलायाभेन, न सारस्वतस्त्रीयपूर्णानतारसम्पन्धिरमलीलायामिति सुद्वयताम् । यदि सारस्वतकल्पे भवदुक्तप्रकारः स्यात्तदा धीभागवते स्फुटमुपलभ्येत । उपलभ्यते तु सखीत्वमेव परस्परं फलप्रकरण इति सर्वं चतुरसमिति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्त-चिन्तया । अत्रेदं ज्ञेयम् । अत्र फलत्रये फलद्रव्यभेदेरेषि भवति परन्तु मनसैव रमरूप-भगवत्सम्बन्धेन मनसोलीङ्गिकत्वाभावात् । सेवीयधिकदेहरूपतृतीयं फल त्वेतदेहपातो-त्तर एव भवति सर्वथा । सर्वत्र लीङ्गिकदेहपातोत्तर एवालीङ्गिकदेहसम्बन्धसम्भवा-दिति दिक् ॥ १॥ ॥

अथ प्रकृतमनुमरामः । ननु वापके गति कार्यानुदयाद्वापकाभावात् सर्वत्र कारणतेनत्र यद्वापकं तनुजनिचञ्चरूपसाधनमेवायाम्, तद्वत्कल्पम्, यद्भावं सम्पाद्य मानससेवारूपं तत्कार्यं सम्पादयामित्याकांक्षायां तनुजनिचञ्चरूपसाधनमेवावापकमाहुः उद्वेगः प्रतिबन्धो चेति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तुवाधकम् ॥ २ ॥

एतस्य निवरणं तु सेवायां प्रतिबन्धकप्रथमम् । उद्वेगो वा प्रतिबन्धो वा भोगो वा । अथाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्यन्तम् । तत्र तनुजविचञ्चरूपसाधनसेवायां येन क्रियमाणेन उद्वेगप्रतिबन्धभोगो भवन्ति तस्य परित्यागः कर्तव्यः । तत्परित्यागे तात्साभ्योद्वेगायनुदयात्तनुजनिचञ्चरूपसाधनसेवासम्पत्तां सत्यां मानससेवासिद्धिर्भवतीति भावः । तत्रोद्वेगः शोकदुःखादिजनितो भवति, तेषु शोकादिषु जातेषु 'विचोद्वेगं विधायापि हरिष्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां हृतं स्वजे'दिति नवरत्नोक्तैर्मगवल्लीया यथा सर्वा तथेयमप्येका भगवल्लीला भगवतः सुखा-धायिकेति ज्ञात्वा शोकादित्यागः कर्तव्यो, न तु शोकादिद्वीकरणार्थं यज्ञः कर्तव्य इति । अन्यथा यद्यपि भविष्यति तदेव यत्प्रभुणा विचारितमस्त्यतः तस्य स्वरूपेण विषयन तु न कर्तुं शक्यम्, तथापि प्रभुसुखापायकलीलास्वार्थविषयनेच्छायामपि स्वामिद्रोहो भवेदत-प्रभिवर्ष्णं ज्ञात्वा तात्कशोरुदुःखादिषु संक्षेपे सत्सद्वेगकारणभावादुद्वेगाभावात् ज्ञान-मानत्वादुद्वेगसाधनपरित्यागः कर्तव्यः । यद्वा, चलिष्ठम्बेच्छवलिष्ठवेदवाद्भजनितोपद्रवेण साधनरूपसेवावानुद्वेगो भवति तदभावात् तत्सात्त्रिष्यरूपसाधनपरित्यागः कर्तव्य इत्ये-तदर्थं साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्युक्तम् ॥ २ ॥

तत्रोद्वेगकारणानामनन्तत्वाच्चञ्चन्योद्वेगानामप्यनन्तत्वात् परिगणना कर्तुमशक्येति सर्वविषयमप्युद्वेगमुद्वेगत्वेनैकविधमेव निरूप्य द्वितीयं प्रतिबन्धरूपं तनुजविचञ्चरसेवायां वाधकमाहुः अकर्तव्यमिति ।

अकर्तव्यं भगवत सर्वथा चेद्भक्तिर्न हि ।

यथा वा तत्परिचरितो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

एतस विवरण तु प्रतिबन्धोपि द्विविधः, साधारणो भगवत्कृतश्च, तत्राथो बुद्ध्या त्याज्य । भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदान्यसेवापि व्यर्था । तदासुरोपं जीय इति निर्धारः । तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तन्नं शोकाभावायेति विवेक इत्यन्तम् । अत्र भगवतः सर्वथा चेदकर्तव्यं भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति यावत्, तदा गतिः तदभावसम्पादकसाधन किमपि नास्तीति मूलार्थः । अत्र उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकमित्यनेन पूर्वं सेवाया बाधकत्रय यदुक्तं तच्च तत्रयाभावसम्पादनार्थमेव । अत एव त्रयाणां साधने त्यक्ते तदभाव सम्पद्यत इति त्रयाणां साधनपरित्यागं कर्तव्यं इति निवृत्तौ स्फुटीकृतम् । न च बाधकत्रयलाग एव कुतो शोक्तं, तत्साधनपरित्यागं किमर्थमुक्तं इति वाच्यम् । जाते उद्वेगे जाते च प्रतिबन्धे जाते च भोगे सेवाभावस्तत्समयात्च्छेदेन सिद्ध एव जाते तस्यागं कर्तुमशक्योप्युत्तरसमये तत्राथोपि स्वयमेव भविष्यतीति व्यर्थस्तत्परित्यागं कर्तव्यं इति पुरुषप्रयत्नोपदेश इति मनसि कृत्य सेवाविषये बाधकत्रयं न यथोत्पद्यत एव तथा कर्तव्यं पुरुषेणैवेतदर्थं त्रयाणां साधनपरित्यागं कर्तव्यं इत्युक्तत्वात् । एव च सति अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्वृत्तिर्नहीत्यनेन भगवत्कृतप्रतिबन्धाभासम्पादनार्थं गतिर्नास्तीत्युक्तत्वादन्यकृतप्रतिबन्धाभावसम्पादने गतिरस्तीत्यर्थं सिद्धत्वाद्विविधं प्रतिबन्धकमागतमेवेति कण्ठरेणेन मूलेनुक्त्वा निवरणे प्रतिबन्धकरूपसेवाबाधकद्विविध्यमाहुः प्रतिबन्धोपि द्विविधः । साधारणो भगवत्कृतश्चेति । तत्र भगवत्कृतप्रतिबन्धाभावः सम्पादयितुमशक्यं, साधारणस्तु शक्यं इति विवरणे आहुः तत्राथो बुद्ध्या त्याज्य इति । तत्र प्रतिबन्धकरूपसेवाबाधकमेदद्वये आन्धः साधारण प्रतिबन्धो भगवद्विमुखभार्यादिकृत प्रतिबन्धस्तत्र साधनपरित्यागसोक्तत्वात् तत्याधनरूपो यो भार्यादि स त्याज्यस्त्वहं शक्यः । तत्यागेन प्रतिबन्धाभासरूपबाधकाभावः सम्पादयितुं शक्यः इत्यर्थो ज्ञेयः । अत एवोक्तं 'भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद्भगवत्किंवापः । उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिबन्धे ह्येव दिनि मागपततत्त्वदीपे ।

अथ भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तु न केनापि लज्जुं शक्यं इत्याहुः भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यमिति विवरणे अर्थ स्पष्टः । ननु भगवत्कृत प्रतिबन्धं कस्य फलाभावसम्पादकः ? किं फलवाच्यनोभिर्भजनं कुर्वत पुरुषस्याहोस्त्रिभुवनेच्छापतो वा ? तत्र नायं । 'इति निश्चितं मनसा कृष्णं परिचरेत्सदे'ति भागवततत्त्वदीपकारिकाव्याख्याने 'एकापि सकृत्कृता परिचर्या परमं पुरुषार्थदेति । परं विद्यमानदेहस्य निःकृत्यर्थं सदा परिचरे'दित्याचार्यं सिद्धान्तितत्वात् किमिच्छादिकमजनोत्तरं यावन्नैव कथाचिद्भगवद्विद्वया भगवत्कृतसेवाप्रतिबन्धेपि परमं

पुरुषार्थलामस्य सिद्धत्वादन भगवान् फल न दासतीति निषेधस्य विरुद्धत्वात् । अत एव 'न ह्यगोपकमे धनसो मद्भर्मसोद्भवान्प्रीति एकादशस्कन्धीयप्रभुवचनं 'यानाहाये'ति वचनं 'सकृदिद्वादिपुरुष पुरुषो याति साम्यतां सवत्सर किमिदं दत्त्वा यद्दरिचित' इति पद्यस्कन्धीयाष्टाध्यायीयशुक्लवचनं च । न द्वितीयः, विना भगवत्कृपां भजनेच्छादु-
 दयात्, तदुदये च भजनस्य भविष्यत्प्रतिषेधेनापि निषेधस्य वैयर्थ्यापातात् । तथाचापि निषेधो भगवत्कृतप्रतिबन्धे कालविलम्बेन फलदानेच्छामेव घ्ननक्ति, न तु तददाने-
 च्छामिति भावः । अन्यथा भजनेच्छानुकूलप्राप्त्यैव प्रसज्येतेति । न च विनैवानुग्रहं भजनेच्छोदय इति वाच्यम् । अवतारदशायां स्वरूपदर्शनेनैवेच्छोदयसम्भवेऽप्यनवतार-
 दशायां सत्तत्प्राप्तौ भाग्यमतादिश्रवणं विना शुद्धपुष्टिभजनेच्छोदयस्याच्छ्रित्यादश्रुतत्वात् । यदि पुनर्विनादर्शनश्रवणादिकमपि शुद्धपुष्टिमार्गीभजनेच्छोदयः स्यात् तदा पुरुषोत्तमावता-
 रोपि न स्यात् । अत एवानुग्रहाय भक्तानां मानुष देहमाश्रित'इत्युपक्रम्य 'निक्रीडितं प्रजवधूमिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितो नुग्रहादयं वर्णयेद्य' इत्यत्र य इतिपदेन यस्य-
 कस्यापि श्रवणवर्णनाम्या भक्तिं परामित्यनेन भक्तिलाम उक्तं, स रिच्छोत्पादनपूर्वक एव । तस्माद् व्यर्थं भगवत्कृतभेत् प्रतिबन्ध इत्यादिनिरूपणमिति चेत्, अत्र वदानम् । पुनादि-
 जन्माद्युत्तर केनापि प्रतिबन्धेनाकृतपुनादिनिवेदनस्य कस्यचिन्मद्गतस्य पुरुषस्य तदनन्तरं मतिक्रमपया पुनादित्सेहेन वा कदाचित् तदनिवेदनस्मरणे मनसि स्थान्मम पुनादिः शुद्धपुष्टि-
 भजनेन भगवन्तं प्राप्नोत्विति मयास्मै नागनिवेदने इत्या भगवत्सेवा कारणीया तदा त्वं
 सेवां कुरु मत्तो नामनिवेदने गृहीत्विति कथने यदि तस्य ह्युत्सवोऽप्युत्साहो न दृश्यते कदापि प्रत्युत द्वेष तदोन्नयमिदम्, यदस्य भगवत्कृत प्रतिबन्धोक्तिं भगवान् फल न दासती-
 त्स्यै नोपदेष्टव्यं किमपीति ज्ञानार्थत्वेन भगवत्कृतभेत् प्रतिबन्ध इत्यादिनिरूपणस्य सार्थकत्वात् । ननु तदा शुद्धपुष्टिमार्गीपूर्णस्वरूपसेवाफलं मा भवत्वसाशक्तस्वरूपसेवा-
 फलं तु भविष्यतीत्यसोपदेश एव कर्तव्यस्तेनेति चेदित्याशक्याह तदान्यसेवापि व्यर्थेति । अशाशिनोरभेदादशस्यास्यवीनत्वावाशिकृतप्रतिबन्धेऽस्य फलदानासमर्थ-
 त्वान्महाराजकृते प्रतिबन्धे सचिवादिरेवेत्यर्थः । नन्वशिनो न स्वस्वरूपपरमफलदानेच्छा-
 किन्तु सत्यफलदानेच्छाशङ्करा तदाशेन फलदानं कर्तव्यमेव, महाराजस्य महाफलदानेच्छा-
 भावेपि सचिवादिद्वारा सत्यफलदानेच्छया सचिवादिनेवेति चेत्, सत्यम्, यत्राश-
 य-
 निरोधेनाशभजनं तत्रैवाशेन फलदानं महाराजाश्रितोभेन सचिवादिभजने सचिवादिनेव,
 न तु तद्विरोधेन भजने । तथा चेत्स्य भगवत्सेवाकर्तव्यत्वकथनेपि कदाप्युत्साहाभावात्
 प्रत्युत द्वेषोद्भवप्राप्तेनापि फलदानमित्यन्यसेवावैयर्थ्यात् सापि नोपदेष्ट्येति सुवृत्तं
 तदान्यसेवापि व्यर्थेति । किञ्च, तद्वैतादस्य यत्स्वरूपं तस्य निषारोपि भवतीत्याह
 तदा आसुरोऽयं जीव इति निर्धार इति । आसुर आसुरावेशी आसुरभाववान्

या सहजासुरो वेति निर्धारो निश्चय इत्यर्थः । अत्र कदाचिद्भक्तसन्निधौ यस्य मनसि भगवति सद्भाव उत्पद्यते द्वितीयक्षणे तदमन्निधौ तु नश्यति स आसुरावेशी आसुरभावान् वा ज्ञेयः । यस्य तु सत्संगेऽपि भगवति न सद्भावः कदापि स तु सहजासुर इति ज्ञेयः । ननु तर्हि महत्तमकृपावैयर्थ्यप्रसंग इत्याशङ्क्याहुः यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मनमिति । वा अथवा यथा आसुरस्य तत्त्वनिर्धार उक्तस्तथा विवेको विचारो ज्ञानमिति यावत् । तत्साधनमासुरस्य शोकाभावरूपकलाय मत्तं सम्मतमित्यर्थः । अत्रैवं ज्ञेयम् । 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेःसुराणां माया सेव्या, सेवेश्वरः, तत्कृतत्वाग्रगन्माधिकम्, तेषां मुक्तिश्चा'न्वन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिगुणसत' इति श्रुतेर्देवैष्यनाधिष्ठानां सहजासुराणां कामनाभावपूर्वकं सम्भूत्युपायकानां तदुपासनारूपसाधनवलेनासुरज्ञानमार्गप्रवेशे सति शोकाभावरूपावान्तरफले जाते सुराहुःप्रावन्ताभावस्वरूपपुनरावृत्तिरहितप्रकृतिलयरूपान्धन्तमःप्रवेशरूपा मुक्तिः । आसुराधिष्ठानं देवजीवानां तु निरुपधिकृपया भगवता इतानां मध्ये देवस्य देवज्ञानाभावात् स्वरूपवलेनाक्षरब्रह्मणि लयरूपा मुक्तिः, तदानिष्ठासुरस्य त्वासुरज्ञानाभावात् स्वरूपवलेनैवापुनरावृत्तिरहितान्धन्तमःप्रवेशपरपर्यायप्रकृति-लयरूपा मुक्तिः । अन्येषां सकामानां सहजासुराणामासुराधिष्ठैवजीवानां च 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा धृताः । तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्सविद्वांसोपुधा जनाः', 'तानहं द्विपतः शूरान् संसारेषु नराधमान् क्षिपाम्यजस्रमसुरानासुरीत्येव योनिष्विति श्रुतिभगवद्वाक्याम्यामन्धन्तमोवृत्तकैवलहुःस्वात्मकलोकरूपनरकप्राप्तिस्तद्भोगानन्तरं पुनरासुरयोनिप्राप्तिरेवैति कृतं पल्लवितेन ।

एवं च सर्वं मायिकमेकोऽसदाद्यात्मा स एव परमार्थो मायैवेश्वरो नान्य ईश्वरः कोऽप्येवं तत्त्वनिर्धाररूपो विवेकः शोका साधनं मत्तं सम्मतं यावज्जीवं शोकाभावात्, तदनन्तरं तादृशमुक्तये वेतिज्ञेयः । तथा च तादृशपुत्रमार्यादेः संसाराविष्टत्वा-न्महत्तमकृपया तेषां संसाराभावेन शोकायमावपूर्वकतादृशमुक्तिनिमित्तमासुरज्ञानमार्ग-मुपदिशेदिति भावः । अत एव श्रीमद्भुवदेवैरासुरज्ञानमार्ग एव कंसस्य श्रीमदेवकीवधो-घतस्योपदिष्टो न तु देव इति ज्ञेयम् । इदमेवाहुर्विवरणे तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तद्व्यं शोकाभावायेति विवेक इति । तदा तेष्वसुरावेश्यासुरभावयत्सहजासुरजीवत्व-निर्धारे सत्येतैरासुरज्ञानमार्गेण स्यात्तद्व्यमित्यर्थं विवेको विचारः सिद्धान्तमृत इत्यर्थः । तथा च तान् प्रत्यासुरज्ञानमार्ग उपदेष्टव्य इति भावः । यदा पूर्वमासुरोऽयं जीव इति निर्धार इत्युक्तं तर्हि तेन किं साधनमनुष्ठेयमित्याकांक्षायां तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तद्व्यमि-

१ आधिसत्रीकाले सर्वे देवानां बहुषु स्थिता, कावेतेन विना ये च मृतदेवा इति इत्यत्र, तेषां तमद्य ताम्रोके नान्ये देवाश्चिन्तयन्, तेषां स्थानं च सर्वोदि तत्र चरन्वामासुरीतिपुनरागोत्तरसंश्रयवापयेभ्य आसुराभिहितानां मुक्तेरासुराणामन्धन्तमोदपनरकप्राप्तिरुक्तवत् ।

त्यासुरस्यैव साधनमुपदिशन्ति तदा ज्ञानेत्यादिना । एवं च ज्ञानमार्गपदेनासुरज्ञानमार्ग
 एवायातीति तथा व्याख्यातमिति ज्ञेयम् । न ह्यासुरस्य सर्वं ब्रह्मेलक्षरज्ञानमार्गं पुण्योत्तम-
 ज्ञानमार्गं याधिकारः, तस्य तामसत्वात् । अत एवेश्वरत्वेनाभिमततामसमायाशक्त्युपास-
 कास्तेषु सत्त्वामावात् सत्त्वजनितज्ञानामावे'नोर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था' इत्युक्ता नोर्ध्वगतिः,
 किन्तु तामसशक्त्युपासनाजनितज्ञानस्य तमोगुणजनितत्वेन तामसत्वा'दयो गच्छन्ति
 तामसा' इत्यधोगतिरूपनिरयान्धन्तमोरूपप्रकृतिलयान्यतरप्रवेश एव, 'ये यथा मां प्रपद्यन्त'
 इति वाच्यत्वात् । अत्र अध.पदेनाधममेव विवक्षितम्, न तु नीचस्थानम्, निरयाणां
 नीचस्थानत्वेपि अन्धन्तमःप्रवेशरूपामुत्सुकैः सुपटुःस्वामावरूपत्वेन नीचस्थानत्वाभावात्,
 सर्वं ब्रह्मेलक्षरब्रह्मज्ञानमार्गं तु 'देवी सम्प्रदिमोक्षाये'ति वाक्यादेवसम्प्रत्युक्तजीवा-
 नामेवाधिकारः । अत एव 'जायमानं हि पुरुष य पश्येन्मधुसूदनः । सात्विकः स तु
 रिज्येयो भवेन्मोक्षापाधिष्ठित' इतिमोक्षधर्मायनारायणीयपापयान्मोक्षाधिकारिणां सात्विक-
 त्वेन 'सत्त्वासजायते ज्ञान'मित्युक्तसत्त्वगुणजनितज्ञाने'नोर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था' इति
 वाच्योक्तोर्ध्वगमनरूपा स्वर्गमुत्त्यन्तरप्राप्तिर्भवतीति । अत्रोर्ध्वपदस्योत्तममित्यर्थो न तृष्-
 स्थानम्, स्वर्गलोकस्योर्ध्वलोकत्वेपि 'यन्न दुःखेन सम्भिन्न'मित्यादिवाक्योक्तस्वर्गसुख-
 स्य मुक्तेशोर्ध्वलोकत्वाभावात् । तस्मादूर्ध्वपदेनोत्तमस्यमेव विवक्षितमिति ज्ञेयमिति
 दिक् ॥ ३ ॥

तथा च यस्माद्वाधकेषु सत्सु न सेवाविद्विरतस्तत्र यत्साधनपरित्यागः कर्तव्य
 इत्याहुः बाधकानां परित्याग इति । एवं द्विनिषधयि प्रतिबन्धरूपं सेवाबाधकमुक्त्वा
 लौकिकभोगरूपं सेवाबाधकं वदन्तो द्विनिषं भोगमाहुः भोगोप्येकं तथा परम् ।
 निःप्रत्यूहम् । एतद्विवरणं तु भोगो द्विविधो, लौकिकोऽलौकिकश्च ।
 तत्र लौकिक इत्याज्य एव । अलौकिकभोगस्तु फलानां मध्ये प्रथमे
 प्रविशतीत्यन्तम् । अत्र यथा प्रतिबन्धे साधारणस्त्वाज्यो, भगवत्कृतस्तु फलविश्र-
 मेर जनयेत्, तथा भोगेपि सुपटुःपसाधात्काररूपभोगरूपवस्तुन्यपि एकं साधारणं
 लौकिकमिति यावत्, तत् तथा त्याज्यम्, तत्साधनपरित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः ।
 परं द्वितीयं साधारणाद्विन्नमलौकिकमिति यावत्, तादृशभोगरूपं यस्तु निष्प्रत्यूहं
 निर्गतः फलप्राप्ती निर्गो यस्मात्तत्फलप्रतिबन्धकमिति यावदेतादृशमित्यर्थः । तथा च
 तत्फलानुपूलमेवेत्यर्थ इति भावः । एवं द्विनिषोपि भोगो मूढे कण्ठरवेणोक्तो यन्ममेव
 भोगं विवरणे भोगोपि द्विविधो लौकिकोऽलौकिकश्चेत्यादिना स्फुटीकृत्य तत्र
 लौकिकरत्याज्य एवेत्यनेन लौकिकभोगमिति तस्मात्साधनपरित्यागेन त्याज्यरत्नमुक्तम् ।
 ननु कथमलौकिकस्य दिनायस्त भोगस्य फलप्रतिबन्धकत्वनिव्यायंज्ञापनामाहुः महान्
 भोगः प्रथमे विधाने मदेति । महानलौकिको भोगस्तु प्रथमे अलौकिकरभोग-

भोगसामर्थ्यरूपे पूर्वोक्तफले विषयत्वेन प्रविशतीत्यर्थः । नन्वलौकिकभोगस्तु नेह भवति
 किन्त्वेतदेहपातोत्तरं माक्षाद्भगवत्सम्बन्धे सति भवति । तथा चानालौकिकभोगप्रसक्ते-
 रेवाभावात् तद्भोगप्रसक्तौ सत्यामेव लौकिकभोगवदन्मापि त्यागाशंकायां प्राप्तायामेतस्य
 प्रथमफले प्रवेशवचनं सार्थकं स्यात्तस्मान्महान्भोगः प्रथमे निशते सदेति वचनं व्यर्थमिति
 चेत्, अत्र वदामः । अलौकिकभोगस्तान्नापि मनोगान्तस्य स्वाधिभावात्मकभगवत्सम्बन्धे-
 नालौकिकत्वान्मनोमात्रे त्वात्मनि द्वारा भवति, तत्सहकार्यमेवालीकिकसामर्थ्यं भगवता
 दीयते, अत एवालौकिकभोगस्य प्रथमफलान्तरभावोक्तिः संगता भवति । अन्यथा प्रथम-
 फलान्तरभावोक्तिरसंगता स्यात् । तस्माददा तनुजवित्तजसेवया प्रेमोत्पत्तिस्तदनन्तर-
 मलीकिकभोगरूपे अपूर्वानुरागरूपविरहजडुःखसाक्षात्कारे विषयत्वेन प्रविष्टस्य दुःखस्य
 वापविशिष्टस्य सहनार्थमलौकिकसामर्थ्यं भगवता दत्ते स्वसेव्यश्रीनिग्रहे स्वप्नादिषु वा स्वर्गादि-
 जनितविलक्षणसुखभोगप्राप्तिरनापि भवति तदापार्थभोगः प्रविष्यन्कत्वेनोक्तोऽथ भोगो-
 पि गम प्रतिषन्धकः स्यादिति कदाचित् कस्यचिन्मनसि भवेत्, प्रेमभरेण च स भोग-
 स्वकुमभग्नस्यस्तदा व्याकुलतया महान्प्रेद उलपेत, तेन च विरहानुभवप्रतिषन्धः स्यादिति
 तत्प्रेदनिवारणार्थं महान्भोगः प्रथमे विद्वान्ने सदेति मूले, अलौकिकभोगस्तु
 फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशतीत्येतद्विरणे चालौकिकभोगस्य प्रथमफले प्रवेश
 उक्त इति तथोक्तेः सार्थकत्वस्य सिद्धत्वात् त्वदुक्त्ययकाशः कथमपीति बुध्यस्व । ननु
 लौकिको भोगो न तनुजवित्तजसेवायाः प्रतिषन्धकः किन्तु 'ता नानिद'सित्वाद्युक्तप्रकारक-
 भेत्सखवणलतद्रायां नानससेवायां प्रतिषन्धकः । यदि तनुजवित्तजसेनाप्रतिषन्धक-
 स्यात्तदा लौकिकसुखसाक्षात्काररूपभोगभावे देहस्थितेरभावात् तनुजवित्तजसेवाश्रयण-
 कीर्तनादीनां चानापि सिद्धे कारणाभावेन प्रभोत्पत्तेरभावान्मानससेवासिद्धेश्चाभावात् परम-
 फलप्राप्तिर्न भवेदेव कस्यापीति न कोप्यस्मिन्मार्गे श्रयतेतेति मार्ग एवायमुच्येत, तस्मान्न
 तत्प्रतिषन्धको लौकिको भोगः । सति च लौकिके भोगे 'विषयविशेषिताना नावेशः
 सर्वदा हरे'रिति वचनात्कारणविषयवैशेष्येन भगवद्विषयकतनुजवित्तजसेवाभावे कथ
 पूर्वोक्तं फलं स्यादिति चेत्, अत्र वदामः । लौकिकविषयभोगो द्विविधः, एकः केवले-
 न्द्रियषोपको, द्वितीयो भगवत्तनुजवित्तजसेवोपयोगी । नत्र केवलेन्द्रियमात्रपोषकविषय-
 भोगो न कर्तव्यः, किन्तु प्रनुसेवोपयोगित्वबुद्ध्या अथ च स्वस्य दासत्वेन दासधर्मत्व-
 कारणात् शूरम् । तान्मोक्षोद्दिष्टिनिमग्नो यावत्कृष्ण न वे जनाः । त्वयोपभुक्तसमन्ध-
 वामौलकारचरिताः । उच्छिष्टभोजिनो दामास्तव नाया जयेमहीत्यादिवचनानि च
 धर्मवत्सेवोपयोगित्वेन दासधर्मत्वेन चन्वकमायाजयसाधकत्वेनानर्गनिवारकत्वेन च भगव-
 श्रियेदितलौकिकविषयभोगस्य निहितत्वात् । तस्मात्केवलेन्द्रियमात्रपोषकलौकिकभगवद-

निवेदितविषयजभोग एव त्याज्यत्वेनोक्तोत्र, स तु तनुजवित्तजसेवावाचक एवेति स एव त्याज्यो न तु भगवत्सेवोपयिकत्वेन दासधर्मत्वेन च प्राप्तो विषयजभोग इति वाचकत्वाभावेन पूर्वोक्तफलस्य निःप्रत्युहत्वात् । अत एव 'चीजदार्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, अव्यावृष्टो मजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि'रित्यादिना भक्तिनिर्धन्यां तनुजवित्तजसेवाकारणे गृहस्थितिरुक्ता । प्रेमासत्तयनन्तरमेव च 'वाध्यस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् । त्यागं कृत्वा यतेषस्तु तदर्थाधिकमानसः । उमते सुखां भक्तिं सर्वतोम्यधिकां परा'मित्यनेन भगवद्भजनान्यविषयकव्यासंगजनकत्वेन सर्वविधस्यापि गृहस्य त्याग उक्तः सर्वविध-भोगाभावसाधकत्वेनेति कृतं पल्लयितेन ॥ ४ ॥

ननु भगवता साक्षात्सम्बन्धेपि यदि सुखदुःखसाक्षात्काररूपो भोग एव भवति तदा लौकिकभोगः किमर्थं त्याज्यत्वेनोच्यत इत्यनतिपण्डिताशंकां परिहरन्त आहुः ।

सविमोल्पो घातकः स्याद्दलादेतौ सदा मतौ ।

एतद्विरणं तु साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाह सविमोल्पो घातकः स्यादिति । सविमत्त्वादल्पत्वाच्च भोगस्त्याज्यः । एतौ सदा प्रतिबन्धकावित्यन्तम् । लौकिकसुखभोगसुखभोगसाधनानां नाशस्त-विमो, अथ च लौकिकभोगः किञ्चित्कालिकत्वात् परिच्छिन्न इत्यप्यथ । अथ च परमफल-वाचक इति घातकः । एवमेव लौकिकदुःखभोगस्तु यद्विषयक उत्पद्यते तद्विषयस्य कस्याचिदेव प्राप्तिर्न सर्वेति सविमो, अथ च लौकिकविषयस्य तुच्छत्वात् तुच्छविषयक इति अल्पस्तुच्छथ । अथ च परम्परया मानससेवाप्रतिबन्धकत्वात् फलप्रातिपातकत्वेति मूले हेतुगर्भविशेषणानि । अत एवात्र भाष्यप्रधानो निर्देश इति ज्ञेयमिति मनसिकूलाचार्याः सविमत्त्वादल्पत्वाद्घातकत्वाचेति हेतुत्वेनैव विवरणे श्याख्यातवन्तो भोगविशेषणानि । अत एव एतौ भगवत्कृतप्रतिबन्धसाधारणभोगौ यलाद्धेतोः सदा वाचकाविति भावः । नन्वर्थको भोगः एवोक्तः पूर्वमव्यवहितः, तथा सति सदायं प्रतिबन्धक इत्येकवचनमेव पक्तव्यम्, न त्वेताविति द्विवचनमित्याशङ्कयामाहुः द्वितीयो भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति । द्विवचनाकान्तैतच्छब्दे द्वितीयो द्वित्वसंख्यापूर्वको भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति तात्पर्यात् द्विवचनस्य सार्धव्यमिति भावः ।

ननु भगवत्प्रतिबन्धे ज्ञाते संसारभावावातिरूपया तस्यामुरज्ञानमार्गं उपदेष्टव्य इति पूर्वमुक्तम्, तत्रापि तस्य चेन्न स्थिरता तदा महत्तमैः किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः द्वितीय इति ॥ ५ ॥

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

एतद्विरणं तु ज्ञानस्थिरभावे चिन्ताभावाधर्मात् द्वितीय इत्यन्तम् । द्वितीये भगवत्कृतप्रतिबन्धे आगुरज्ञानोपदेशपर्यन्तं चिन्ता कर्तव्या महत्तमैरतिरूपया ।

यदासुरज्ञानेपि भार्यादेः स्थितिर्न दृश्यते किन्तु 'कामोपभोगपरमा' इति वचनसिद्धकामोप-
भोगमात्रपरत्वं दृष्टम्, तदास्यासुरमुक्तिरपि न देया भगवता किन्तु मरणानन्तरं 'भसुर्या
नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्त्यविद्वानसोऽनुधा जना' इति
शुल्युक्तान्धन्तमोवृतकेवलदुःखात्मकलोकप्राप्तिपूर्वकं 'तानहं द्विपतः शूरानि'त्यादिवाक्योक्तः
संसार एव देवोत्प्रेति संसारनिश्चयं प्राप्य सर्वथैव चिन्ता त्याज्या । तादृशपुत्रादिरूपेण
इति भावः ॥ ५ ॥

एवं प्रसंगादासुरस्य पुत्रादेरुद्धारोपायस्य कर्तव्याकर्तव्यत्वं निरूप्य प्रकृतं विचार-
यन्ति । ननु यथासुरस्यासुरमुक्तिसंसारयोर्निश्चयः कृतः कामोपभोगपरत्वापरत्वादिभिन्नैस्तथा
शुद्धपुष्टिमार्गाव्येतेतस्य शीघ्रं फलमेतस्य विलम्बेनेति केन लिङ्गेन ज्ञेयमित्याकांक्षायामाहुः ।

न त्वाप्ये दातृता नास्ति ।

तुशब्द आसुरप्रसङ्गनिवारणार्थः । आप्ये अलौकिकमामर्ष्यरूपे फले जाते सति
भगवतः दातृत्वं नास्तीति न, किन्तु दातृत्वं वर्तत इति ज्ञेयम् । नन्वाप्य इति पाठे तु
निश्चयेन दातृता नास्तीति न, किन्तु वर्तत एवेत्यर्थो ज्ञेयः । एतदेहे मनसि एतदेह-
पातोत्तरं चालौकिकसंपात एव फलं भविष्यतीति भावः । अयं मूलार्थः सप्त एवेति
मत्वाप्ये दातृता नास्तीत्येतस्यार्थमनुज्ज्ञा आद्यफलाभावे एतदेहे मनसि एतदेहपातोत्तरं च
भगवतो दातृता नास्तीति शिरश्चालनेनोक्त्या किन्तु विलम्बेन दातृता वर्तत इत्यर्थतः
सिद्धमर्थमाहुर्निवरणे आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति तदा सेवा-
नाभिदैविकीत्युक्तं भवतीत्यन्तेन । यतश्चाप्यमार्थिकोऽर्थो उक्तो एव इत्युक्तं भवतीत्युक्तं
न विलम्बे इति । यद्वा आद्यफलाभावे तनुजनित्रसेवाजनितप्रेमासक्त्यनन्तरमलौकिक-
सामर्थ्यदानामात्रे भगवतो दातृताभावे नास्ति किन्तु विलम्बेन दातृत्व वर्तत इत्यकार-
प्रक्षेपेण व्याख्येयम् । नन्वाद्यफलाभावे दातृत्वं कुतो नास्तीत्याकाङ्क्षायामाहुर्निवरणे तदा
सेवानाभिदैविकीत्युक्तं भवतीति । ध्यमनपर्यन्तं स्वतन्त्रेच्छत्वेन प्रेमानुष्ठानामा-
निर्मायत्वाभावात् पूर्णप्रेमानिर्गोत्राभावाद्गुरुपतापानात्सेवाया आधिदैविकत्वाभावादिति
हेतोर्दातृत्व नास्ति, यत आधिदैविकसेवायाभिदैविकमन्त्रप्राप्तिर्यि यथा सा प्रपद्यन्ते तांस्त-
थैव भजाम्यहंमिति वाज्यादित्यनेहि । स्वरूपस्वीनाधिदैविकत्वे 'सो वै स' इतिधृतिस्थ-
परमकाष्ठापन्नसंसाररूपनिश्चयवाचकत्रैल्यव्यवशब्द- प्रमाण परमकाष्ठापन्नस्यैव पर्यन्ततः
सर्वाधिदैविकत्वात् । एष चाद्यफले जाते फलं शीघ्रं भविष्यति तदभावे भगवदिच्छाभावेन
कस्यचिद्विलम्बेन मनि यती याद्यफलोत्पत्त्वगुणतिरूपलिङ्गान्या शुद्धपुष्टिमार्गाव्येसापि भक्तस्य
शीघ्रफलोत्पत्त्वगुणती ज्ञेये इति दिक् ।

अथ उद्वेगाभावनप्रतिबन्धाभावनभोगाभावानां बाधकाभावात्वेन पूर्वं कारणत्वमुक्तम् ।
तत्र सर्वस्यापि भगवतीलात्वेन ज्ञानाहुर्देगाभावन- सिद्धज्ञानं न शृह्लागः । सेवाप्रतिबन्धका-

सुरपुत्रादेस्त्यागात्प्रतिबन्धाभावसिद्धेश्च तत्र पाक्षिको गृहत्यागः । दैवपुत्रादिषु ससु
गृहत्यागाभावात् । भोगाभावस्तु लौकिकभोगत्वावच्छेदकावच्छिन्नाभावः । स तु लौकिक-
गृहत्वावच्छेदकावच्छिन्नस्यागेनैवेत्याहुः ।

तृतीये बाधकं गृहम् ।

तृतीये बाधकाभावत्वेन कारणे लौकिकभोगाभावे लौकिकं गृहं बाधकम् ।
तादृशगृहे सति तादृशभोगाभावाभावात्, सर्वेन्द्रियाणां लोकवेदसंकोचेनापि स्वस्वविषये
प्रवृत्तिसम्भवादिति भावः । एतद्विपरणे इदमेवाहुः भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा
गृहपरित्याग इति । अत्र पर्युपसर्गो वेदमस्तीतत्रस्वपुत्रादिवाचको ज्ञेयः । अन्योर्थः स्पष्टः ।

ननु एतादृशसेवनातिदुर्लभेत्याशङ्क्यामाहुरवश्येयं सदा भाव्येति ।

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोध्रमः ॥ ६ ॥

अत्र विवरणमापादस्माभिरेव व्याख्यायते । इयमव्यवहितक्षण एवोक्ता पुद्धिस्त
मानसी सेवना 'न रोधयती'त्यादिवाक्येभ्यः कस्यापि कर्मज्ञानादेरवर्यार्थाना यद्यपि न
भवति, ब्रजमकरूपसाधुकूपामात्राधीनत्वात्, तथापि श्रीप्रभुव्रजमकरदासपूर्वक भाव्या
चिन्तनीया । एतादृशी सेवनां कदास्मत्प्रभुरस्मत्स्वामिन्योस्मन्व्यं दास्यन्ति, कदा भगवति
चक्षुरागः, कदा वा चित्तासंगः, कदा वा 'भगवता सह संलापो दर्शन मिलितस च ।
आशेषः सेवनं चापि स्पर्श्यापि तथाविधः । अपरागृहपान च भोगो रोमोद्गमसया ।
तत्कृमितानां श्रवणमात्राण चापि सर्वतः । तदन्तिक्रमतिर्नित्य'मित्यादिः संकल्पः, कदा
निद्राछेदः, कदा तनुतनुता, कदा विषयनिवृत्तिः, कदा श्रपानाशः, कदोन्मादगूर्च्छाभृतप
इत्याशुक्तप्रकारेण सदा देहपातपर्यन्तं भाव्या, भावयथा मनसि स्थापनीया ।
अतिदीनतया ज्ञानविषयत्वमापादगीवेति यावत् । यदा इयं मानसी सेवा सदा
भाव्या, प्रेमायभावेपि प्रेमायनस्थापनकरणकरणेन च चिन्तनीया । तथा च मनसे-
तादृशमायनापूर्वकं तनुजन्तजसेवाकरणे 'तं यथा ययोपासते तथैव भवती'नि श्रुतेर्ये
यथा मां प्रपद्यन्ते तांन्तथैव भजाम्यह'मिति गीतासमभवद्वाक्यादय च 'यादृशी भावना
यस्य भिद्धिर्भवति तादृशी'त्यादिवचनाचेतदेहपातोत्तरमलौकिकदेहप्राप्ती वा कसचित्कस
चित्तु जन्मान्तरे वा दहुरतरमगयत्कृपापामास्मिन् जन्मन्यपि वा 'ता मानिद'त्रिलो-
सुक्तप्रकारा फलरूपा सेवना निष्ठा मनिष्यतीति भावः । अथवा इयं स्मरूपा
प्रेमामकिष्यमनाभिरा सेना सदा सर्वदा अः भगवान् चश्यो यस्यां मा भाव्या
ज्ञेया । एतादृशज्ञानेनापि फलनिद्धित्यर्थः । तथा चान्यप्रकारकमेवासां न सर्वदा
भगवान् चश्यो भवति, न वा तज्ज्ञानमात्रेण च फलनिद्धिति भावः । ननु ज्ञानादि-
मार्गप्रयोगेनापि भेदा प्रभुं स्मरते कश्चिदिति प्रभुसेवनाभिप्रेत्यादिन्यायस्याहुः सर्वमन्य-
न्मनोध्रम इति । अन्यन् सर्वं मनोध्रमन्मभेत् । तथा च भगवन्मायामादिनामैवाय

सिद्धान्तो यदन्यत्रापि मार्गं प्रभुर्वश्यो भवतीति । अत एवास्मिन्मार्गे मार्गान्तराच्छ्रेयम् ।
अत एव च 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स न भक्तियोग'मिति वचन चेति दिष्ट् ॥६॥

एवं मानससेवाभावनाया माहात्म्यमुक्त्वा पूर्वोक्तसेवापापकलागस्त्रावश्यकतामाहुः
तदीयैरपि तत्कार्यमिति ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

पालयोधग्रन्थे 'समर्पणादात्मनो हि तदीयत्व भवेद्भुव'मित्युक्त्वा 'देव धर्म-
मंसुप्याणा'मित्यादिभगवद्वाक्याच्च पुष्टौ पुष्टिमां तदीयैरपि आत्मसमर्पण कृतवद्विरपि
तत् पूर्वोक्त पापकनितयत्यागरूप यत् तत् कार्यं कर्तव्यम्, न तु मयात्मसमर्पणं
कृत तदीय च सर्वं जातमत. पर प्रभुर्यथा ज्ञास्यति तथा करिष्यति नम का चि-तेति
निश्चिन्ततया श्येयम् । तथा सति भगवति भरदाने पुष्टिमार्गस्य प्रेममार्ग-
निरोध आपद्येत । सर्वथा स्त्राशक्येर्धे हि भगवति भरदानम्, न तु स्वशक्येपि,
स्वशक्येर्धेपि तत्र भरदाने स्वामिन्यादीनां स्वप्राणप्रियस्वायासादर्शनेन महान् खेद उत्पद्येत,
तेन तदधीनत्वात्फलस्य तत्फलदाने भगवतो विलम्बस्त्रत्वेदानजनित स्वामिनीप्यापद्येतेति ।
अत एवाग्ने आहुः पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति । पुष्टानिति देहलीदीपन्यायेनात्रापि
सम्बध्यते । अन्यमार्गस्थसु कृतात्मसमर्पणो निःक्रीतपश्चादियत् स्वदेहभरणपोषणादिचिन्ता-
रहितो विलम्बं कुर्यादपि, पुष्टौ तुष्टपुष्टिमां तु तन्मार्गस्यो नैव विलम्बयेत् विलम्ब
कुर्याद्वापकनयापनोद इत्यर्थः । यद्वा स्वयमेवात्मसमर्पणा पापकनयापनोदे कृते स्वप्राण-
प्रियस्वायासादर्शनात् स्वामिन्यादीनां खेदाभावात् तदधीनफलदाने प्रभुर्न विलम्बयेत्
विलम्बं कुर्यादिति वार्थः । अत एव 'मदर्थं परित्यागो भोगस्य च मुरस्य च'त्येकादश
स्कन्धीय प्रभुपथनमात्मसमर्पणो भोगादित्यागगुणदिशति, न तु स्वस्मिन् भरदानेन
निश्चिन्ततयापस्त्रानम् । अन्यथा तासा खेदे सति तनुजचित्तजसेवाया प्रतिपद्ये जाते
सति फलरूपसेवाप्राप्त्याशा दूरापास्ता । तथा च यत्र तनुजचित्तजसेवायामपि नापक
त्यक्तन्य जात तत्र फलरूपसेनासिद्धौ सत्त्वा प्रत्यायासस्पुरणाद्विलम्बं न पुर्वदेवेत्यर्थः ।
अतैतानुज्ञेयम् । साधनरूपसेवाया 'प्रतिष्ठले गृह लजे'दित्युपदेशे भजनप्रतिबन्धक
गृहस्यैव त्यागो, न भजनानुफलगृहस्य । फलरूपसेवाया तु भजनानुफलम्यापि गृहस्य
त्याग इति । एतद्यथा तथा मल्लतभक्तिसिद्धिनीटीकार्या 'तादृशस्यापि सतत मेहस्थान
निनाशरु'मितिसंक्षेपे द्रष्टव्यम् ।

अथ तनुजचित्तजसेवाया प्राप्तमानसमेवस्य व्यसने जाते दशानुत्थायु महादुःखानु
भवादतितापेन कदाचिदतिनिष्ठुर प्रियो यदेनाउत्सर्गन्तमपि न मिलति, मया खेतानुदु गत्र
मनुभूयते तदर्थमित्यादिको दोषारोपो भगवति भगवदीयस्य स्यात् सोपि पापक
एवेत्याहुः गुणशोभेपीति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

गुणैः रसावस्वारूपैर्निद्रालेदादिभिर्मनःक्षोभेपि प्रियदोषारोपेपि एतदेव भगवदप्राप्ती प्रतिषन्धकत्वमेव द्रष्टव्यं दोषारोपस्य । तथा च तादृशावस्त्रायामपि प्रिये दोषारोपो न कर्तव्यः । यतः प्रियस्य निर्दोषपूर्णगुणवत्त्वाच्च दोषारोपे स्वामिन्त्यादीनां रोपे फलप्राप्ति-विलम्बः स्यात् । किन्तु धन्योह यत्प्रियार्थमेतादृशावस्त्रामनुभवाभीतिगुणारोप एव कर्तव्य इति भावः । इदं ग्रहणादावस्त्रार्थन्तमेव कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । उन्मादाद्यस्त्रा-प्रादुर्भावे तु देहानुसन्धानाभावाच्च तत्र दोषो दोषारोपेपीति ज्ञेयम् । अत एवोद्धवद्वारा प्रजसीमन्तिनीना ज्ञानोपदेशो दोषाभावार्यमेव कृतः प्रमुणा ॥ ७ ॥

नन्विदं सर्वं प्राकृततुल्यमेवेति किमेतादृशावस्त्राप्राप्त्याप्युत्कर्ष इत्याशङ्क्याहुः ।

कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

अत्र वा काचित् कुसृष्टिरुत्पद्येत सा भ्रमो ज्ञेयः । यतो 'रसो वै स' इति श्रुते रसरूपो भगवान् सिद्धस्यादा सर्वा अपि रसावस्था भगवद्रूपा एव, रसस्य विभावा-नुभावव्यभिचारिभावसमूहात्मन्वरूपत्वादिति सिद्धः सर्वोत्कर्षोऽस्य मार्गस्यास्य फलस्य चेति सर्वं चतुरस्रम् ॥ ७ ॥

अत्र केचिदस्त्रश्रीमदाचार्यमार्गीया भगवदीया यादृशी सेवनेति मूले सेवायां फलत्रयमिति तद्विवरणे च पुष्टिमार्गदाप्रवाहभेदभिन्नमार्गसम्बन्धित्रिविध-सेवानां क्रमेण फलत्रयमुक्तमिति व्याचक्षते । तच्चिन्त्यम् । एव सति मूले यादृशी सेवनेत्यत्र तद्विवरणे च सेवायामित्यत्र भेदरचन श्रीमदाचार्यैर्न दत्तं स्यात् । मूले कदाचिच्छन्दोऽनुसारेणैकवचनदानेपि विवरणे सेवासु फलत्रयमिति बहुवचनमेवोक्तं स्यात्, विवरणम् मूलाभिप्रायप्रकटनार्थमेव क्रियमाणत्वात् । अतो मूलविवरणयोरेकवचनदाना-न्यथानुपपत्त्या तत्रलोकचरनाभ्यां शुद्धपुष्टिमार्गसेवाफलमाननिरूपणमेवान् श्रीमदाचार्य-चरणानामभिप्रेतं स्वीयमानेभ्यो ज्ञापनार्थमिति ज्ञायत इति सारम् । अन्ये त्वेतन्मार्गीया भगवदीया मूलनिरणोक्तैकवचनानुसारेण शुद्धपुष्टिसेवाफलत्रयमेवान् श्रीमदाचार्याणाम-भिप्रेतमधिकारभेदेनोक्तमत्यन्तमध्यमत्वसाधारणत्वभेदभिन्नम् । तत्रोत्तम फलमलौकिक-सामर्थ्यम्, तत्र सेवाया क्रियमाणायामेव प्रमुखसम्पादितालौकिकशरीरनिष्ठस्वरूपानुभव-सामर्थ्यं प्रमाणानुसारेण प्रियमेवसाध्यम्, यथा रासमण्डलमण्डनायमानानाम्, मध्यम फलं तु सायुज्यम् । तत्र सह सुनक्तीनि सहस्रक, सेवाया क्रियमाणायामेव भगवता सह सतत-मिति सार्वाधिकमयोगरत्नानुभव इति यावत् । तथा च भक्तिमार्गीयेण प्रकारेण युगपद-

१ इत परं 'इति धीवत्तमनु १ वरविन्दनायाद्विरेतु स्वयं ३ । अहोपाल इतवान्' इति प्रथम निमित्त, इतिगले १ पत्राभिसिद्धम् । एत परं विप्लवगतीराणां वा सत्य, गन्धता स्वयमेव विहित, सदासाध्यागतित र्ति प्रतिभाति । एत ३ मे ३३ ३ वरत्तनरूपत्वां नमनत्दीरुत्पत्तम् ।

खिलपुण्यपापक्षयद्वारा पात्रनैतिकं देहं निवर्त्यालौकिकं दत्त्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो निष्कास्य प्रमुकारितखलीलानुभवरूपं प्रमाणानुरोधप्रमेयसाध्यम्, यथा लक्ष्म्या बन्धुर्दृहगतगोपिकानां वा । अत्र मध्यमत्वं चास्य फलस्य विप्रयोगरतानुभवाभावाज्ज्ञेयम् । साधारणफलं तु सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु । तनु सेवायां क्रियमाणायामे-
 धानुग्रहविशेषाभावात् साक्षात्सेवानुपयोगेनैस्साध्यसाक्षाद्रसानुभवकर्तृभिः क्रियमाणायाः सेवाया उप समीपे योगः सम्यन्धसद्बन्धरीस्राप्तिस्वरूपम्, यथा वृन्दावनसपक्ष्या-
 र्दीनाम् । तस्य चान्तरमणानुकूलत्वात्फलत्वम्, यद्भिःसाक्षात्सम्बन्धाभावादधिकाररूपत्वं च ज्ञेयमिति वदन्ति । तवान्तरुद्दृहगतानां मध्यमं फलमिति त्वस्मदाचार्यचरणसिद्धान्त-
 विरुद्धम् । तथा हि । यद्यस्मदाचार्याणामेवमेवामिप्रायः स्यात्तदा कुत्रापि दशमस्कन्धपद्युचो-
 धियां श्रीमदाचार्यस्तद्विषय्यां च तत्रतनुजवरैः स्फुटीकृतः स्यात् । न 'चान्तरुद्दृहगताः
 काधि'दित्यस्मात्सात्से 'यासां कालः प्रतिबन्धकः, पूर्वमेव भक्तियुक्तास्ता भजनानन्दमननु-
 र्पैव प्रतिबद्धा एव भगवत्सायुज्यं प्राप्तवन्त इत्यादि'स्यत्रत्यसायुज्यपदेन, पुनरेतस्यैव
 पदस्य व्याख्यानान्ते 'ततो मुक्ता जाता' इत्यारम्य 'तमेव परमात्मानं जारदुष्कापि
 सङ्गता' इति पद्यव्याख्यानान्तप्रयुक्तैर्मुक्तापदैश्च मुख्यफलापेक्षया मुक्तिरूपफलस्यैव प्राप्ति-
 कथनेनापनेवामिप्रायः स्फुटीकृतः श्रीमदाचार्यचरणैरिति वाच्यम् । अत्रत्यसायुज्यपद-
 मुक्तापदानां परोक्षवादरूपत्वमिति सायुज्यपदस्य भगवत्सहभावपरत्वेन मुक्तापदानां
 'जदुर्गुणमयं देह'मित्यत्रोक्तगुणमयदेहद्वत्यागोरप्राप्तगुणातीतसङ्घातनिष्ठभगवद्रसानन्दानुभव-
 विशिष्टत्वपरत्वेन च प्रयुक्तत्वात् । न च पूर्वोक्तानां पदानां परोक्षवादत्वे प्रमाणाभावः ।
 'लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपूरणम् । आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनात्'
 इति प्रथमस्कन्धीयसुबोधिनीप्रारंभप्रपट्टकपयस्य 'परोक्षकथनात्' इति श्रीमदाचार्यप्रति-
 शोधा एव प्रमाणत्वात् । अस्त्यर्थः । अहं श्रीभागवते कुत्रापि लक्षणां नैव वक्ष्यामि,
 न कथयिष्यामि । लक्षणा हि मुख्यार्थेषु भवति, तत्राप्य प्रतिपायस्य भगवतः सर्व-
 शक्तिमत्त्वेन सर्वभवनसमर्थत्वेन मुख्यार्थेषु भावात् । 'पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेद-
 धिकिस्त्रितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि मुक्तिमि'रिति गौतमस्मृतिवचनेन
 पुराणेषु लक्षणावृत्त्याश्रयणस्य निषिद्धत्वात् । अथ च न्यूनात्पुराणान्तरकथया न्यूनात्पूर्वं
 प्राप्य भावप्रधानो निर्देशो, त्यव्यलोपे पद्यमी । यद्वा, न्यूनात्पुराणान्तरकथया न्यूनात्पूर्वं
 प्रमेयं प्राप्यान्यपूरणमन्येन पुराणान्तरेण पुराणान्तरकथयेति यावत्तेन पूर्णं श्रीभागवतस्य
 भगवदीयान्तरकृतश्रीभागवतव्याख्यानं इव न वक्ष्यामि । यदि सा कथेतत्कन्धीया स्यात्
 तदा व्यासचरणैरेव निबद्धा सादते न वक्ष्यामीति भावः । केचित्तु न्यूनाच्छब्दादर्धी-
 चान्वस्य तस्य पूर्णं नेत्यर्थः, अथाहारं शब्दस्य बार्थस्य वा न करिष्यामीत्याहुः । तत्र
 'जन्माद्यसे'ति प्रथमस्कन्धीयाव्यस्योक्त एव 'श्रीमहि' इति त्रिदशायकारकवाचिनो-

सान्छन्दस्य चाध्याहारदर्शनात् सोक्तिश्चिन्त्या, किन्त्वार्थिकं वाच्यार्थसिद्धमेवार्थं प्रवक्ष्यामि प्रकृत्येन वक्ष्यामि । अगोप्यत्वादिति भावः । परन्तु परोक्षकथनादते परोक्षकथनमप्रत्यक्ष-
 कथनं वाचकशब्देतरशब्देन कथन गोप्यकथनमिति यावत् तद्विहायेत्यर्थः । तथा च
 परोक्षकथनेनानधिकारिभ्यो गोपनार्थं लक्षणां लक्षणावृत्तिविशिष्टशब्दानय च न्यून प्रमेयं
 प्राप्यान्वेन पुराणान्तरेण पूरणं न वक्ष्यामि परन्तु तात्पर्यग्राहकलिङ्गादिसिद्धमेव, न तु
 तदसिद्धमपीत्येतावदधिकं बोध्यम् । तथैव सुबोधिण्यां दृश्यमानत्वात् । तादृक्कथायाः
 कल्पान्तरीयत्वात् । एतत्कल्पीयत्वे तु 'गोप्यः संस्पृष्टसलिला अगेषु करयोः पृथक् ।
 न्यस्तात्मन्यथ घाटस्य धीजन्यासमकुर्वत' 'इति मद्य जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिका'
 इत्यादिमन्त्रद्रष्टृत्वादिरूपलिङ्गं कुमारिकानामधिकुमारत्वे, अथ च 'तमेव परमात्मानं
 जारसुड्यापि सङ्गता' इत्यथलजारसुदिरूपं लिङ्गमन्तर्गृहगतानां 'जारधर्मेण सुखेर्दं
 सुदद सर्वतोधिक । मयि सम्प्राप्य सर्वेषु कृतकृत्या भविष्यथे'ति दृष्टद्वामनोक्तभगवद्भर-
 दानविशिष्टश्रुतित्ये च यथोक्तं तथोक्तमेव स्यादतो ज्ञायते तन्नैतत्कल्पीयमिति तादृश-
 पुराणान्तरकथया पूरणं न करिष्यामीति ज्ञेयम् । अथ च परोक्षकथने वाच्यार्थसिद्धमेवार्थं
 न प्रकृत्येन वक्ष्यामि किन्तु गोप्यत्वात् प्रकृतया न कथितमीदृश तात्पर्यवृत्त्या सिद्ध-
 मप्यर्थं वक्ष्यामीति भावो ज्ञेयः । एवञ्च फलप्रकरणीयलीलायामतिगोप्यत्वाद्गुणमे
 फलप्रकरणीयसुबोधिनीससासुज्यमुक्तापदा'न्युक्तं पुरन्ता'दित्यारभ्य 'यत् एतद्विमुच्यत'
 इत्यन्तं मध्ये प्रयुक्तानि मुक्तिमुच्यतइत्यादिपदानि, अथ च रासलीलोपसंहारे च 'मध्वरान
 उपावृत्' इतिपद्यत्याख्यानं 'यतो भगवान् मोक्षदाता साक्षेदासन्ध्यमन्तःस्मरण करि-
 ष्यन्ति तदा मोक्षाधिकारिण्यो भविष्यन्तीति वासुदेवानुमोदिता' इत्यत्रत्यमोक्षपदं च न
 लोकप्रसिद्धलयरूपसासुज्यपरत्वेन लयरूपमुक्तिविशिष्टत्वपरत्वेन लयरूपमोक्षपरत्वेन च
 न प्रयुक्तानि, किन्तु परोक्षवादेन भगवत्सहस्रिनिपरत्वेन गुणमयदेहत्यागोत्तरप्राप्तालौकिक-
 देहनिष्ठभगवद्रसासुज्यविशिष्टत्वपरत्वेन त्रिप्रयोगोत्तरप्राप्तभगवद्दर्शनानन्दपरत्वेन च प्रयुक्ता-
 नीति ज्ञेयम् । पश्चात्प्राथीन्याख्यानससासुज्यमुक्तामुक्तिमोक्षपदानि परोक्षवादरूपाणीति
 ज्ञापयितुमेव पश्चात्प्राथीन्याससाक्षिण्योक्त्याख्यानीयधीमदाचार्यतनुजरसकृतफलप्रकरणीयसु-
 बोधिनीदिप्यण्यां व्याख्यात 'दिया त्रिप्रयोगजातीं मत्स्यं दिनान्ते त्रियसद्वमे य आनन्दो, न
 स सर्वदा दर्शन इति मोक्षपदेनोच्यत' इति मोक्षपदस्य तादृगानन्दपरत्वमेव । एवञ्च
 सासुज्यमुक्तामुक्तिमोक्षपदानां परोक्षवादत्वं सिद्धम् । अन्यथा 'न वैय रिस्मय' इति
 पद्यप्याख्याने 'एतत्परिदश्यमान जगत् सर्वमेव यतो त्रिमुक्तिं यास्यति, मानया गोकुले
 स्थित आद, ज्ञानदृष्ट्या वे'त्यत्र त्रिमुक्तिपदस्योपसर्दारक्षोक्त्याख्याने धीमदाचार्यचरपी-
 मोक्षपदस्य चोक्त्यत्राममण्डलमण्डनायमानानां च लोकप्रसिद्धमोक्षप्रातिविशाख्याये यज्ञप-
 दीप्रसङ्गीयं 'तथैका निवृत्ता भर्षे'तिपद्यप्याख्यानेसुबोधिण्या'मतस्तस्या मुक्तिः सिद्धे'त्युक्तत्वा-

द्विप्रभार्याया अपि मोक्षप्राप्तिरंगीक्रियताम् । तस्मात् परोक्षवादरूपाण्येवात्र सायुज्यादि-
पदानीति न लोकप्रसिद्धमोक्षरूपमध्यमफलप्राप्तिरन्तरेहगतानामिति बोध्यम् ।

ननु मुक्तिवाचकपदैरेवात्रपरोक्षवादकरणे किं बीजमिति चेत्? श्रीभागवतमेव
बीजमिति गृह्याण । तथाहि । 'न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्सज' इतिपद्येन 'यत्
एतद्विमुच्यते' इतिपदमुच्यते, तेन च सर्वसापि गोकुलस्य मुक्तिः प्रतिपाद्यते, न हि
भवतापि सर्वस्य गोकुलस्य मुक्तिरंगीक्रियते लोकप्रसिद्धा । एवं च विमुच्यतेइतिपदं
परोक्षवादरूपमेव । तथा सति श्रीव्यासचरणैरथ प्रकरणे मुक्तिवाचकपदेनैव परोक्षवादः
कृत इति श्रीमदाचार्यैरपि मुक्तिवाचकपदैरेव परोक्षवादः कृत इति सुसूक्तं श्रीभागवत-
मेव बीजमिति । ननु न वयमेवंरूपं मध्यमं फलं तासां वदामः, किन्तु प्रकृतान्तरेण
मध्यमफलं वदामः । तद्यु मुक्तिमार्ग्येण प्रकारेण युगपदखिलपापपुण्यक्षयद्वारा पाप-
भौतिकं देहं निवर्त्य तदनन्तरं चालौकिकदेहं दत्त्वा स्वस्मिन्नेव स्थितिं विधाय ततो
निष्कास्य प्रयुः संयोगरसलीलानुभवमेव कारयति, न तु विप्रयोगरसलीलानुभवम्, एवं च
रसरूपभगवत एकदलानुभवरूपं फलं मध्यममेव, द्वितीयदलानुभवानावात् । मुख्यानां तु
दलद्वयानुभवसापि जायमानत्वान्मुल्यं फलमिति चेत्, अत्र पृच्छामः । बलौकिकदेह-
प्राप्त्यनन्तरं भगवदकृता स्वस्मिन् स्थितिसासां केन रूपेण, सार्वदिकलयरूपेण वा, रस-
व्यभिचारिभावलयरूपेण वा, 'सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनानुभवात् तत्र' इति श्रीमदा-
चार्यसिद्धान्तितभेदविशिष्टसायुज्यरूपेण वा, सर्वदा कण्ठप्रत्येन वा, 'चैत्यस्य तत्त्वममलं
गणिमस्य कण्ठे, कौस्तुभम्व्यपदेशेन स्यात्भज्योतिर्विभर्त्सज' इत्यश्रोक्तानां स्वाङ्गीकृतात्मनां
तत्पररूपकण्ठस्थितकौस्तुमे लयरूपेण वा, लक्ष्मीवद्वक्षःस्वल्पिधिरूपेण वा, शिवोना-
वर्धनारीश्वररूपेण वा, पूतनासुपानसमाननीतभगवदुदरस्थितपूतनामक्षितासिकुमाररूप-
कुमारीपुंस्त्वधर्मरूपबालकवद्रा । तत्र नावः । पुरुषोत्तमे सार्वदिकलयरूपेण स्थितिस्तु
केवलजीवात्मनामेव, सा त्वेतासामसम्भावितैवालौकिकदेहप्राप्तिप्रविष्टत्वात्, न हि शरीर-
विशिष्टानां लयः कुत्रापि वेदादी श्रुतोक्तिः । पुरुषोत्तमे लयस्य पुरुषोत्तमविषयक-
मर्यादाभक्तिफलत्वाच्च । भवद्विस्त्वेतासां शुद्धपुष्टिमार्गीयमध्यमफलविशिष्टत्वं सिद्धान्ति-
तमसि । न द्वितीयः । एतादृशल्यसास्मानिरप्यत्राङ्गीक्रियमाणत्वान् । न च तर्हि मध्यम-
फलप्रसक्तिः । एतादृशल्यस्य रासमण्डलमण्डनायमानास्यप्यसाचहमित्यादी दृष्टत्वेन
तत्समकक्षत्वान्मध्यमफलत्वानामावात् । न तृतीयः । तादृशसायुज्यस्य मर्यादापुष्टिफल-
त्वात् । न चतुर्थः । सर्वदा कण्ठप्रत्येन स्थिते रसामासरूपत्वात् । न पञ्चमः । देह-
विशिष्टत्वेन तत्रापि लयासम्भवात् । न षष्ठसर्वमी । तत्र प्रमाणाभावात् । शिवोमयोरध-
नारीश्वररूपेण स्थितौ च निष्ठितपुराणेतिहासादीनां प्रमाणत्वाच्च तथान प्रमाणमसि ।
न चार्धनारीश्वरदेतासां स्थितौ 'त्वर्थ शोणमयार्धममुदरनिभं पदं ललाटे सत्रा यर्हा-

कल्पतया विलाससदनं स्त्रीपुंगव्यं वाञ्छयम् । हस्तैर्वेणुवराभयानि दधतं लावण्यवारा-
निधिम् । ध्यायामि स्मितशोभितासकमलं गोपालचूडामणि'मितिसुन्दरीगोपालमग्नसम्बन्धि-
ध्यानप्रतिपादकागम एव प्रमाणमिति वाच्यम् । 'अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी'ति
श्रुतौ यज्ञसम्बन्धसुक्तायाः स्वविवाहिताया एवार्धत्वमुक्तमिति लक्ष्म्या एवार्धनारीत्वेन
स्थितिरागमेन प्रतिपाद्यते न च्चेतासाम्, स्वविवाहितत्वामात्रेण पत्नीत्वाभावादित्यस्या अपि
भवदुक्तेरनवकाशात् । नाप्यष्टमः । तेषामपि केवलजीवरूपाणामेव स्रोदरे पतनया समान-
यनम्, न तु बालकदेहसहितानाम्, तदनन्तरं भगवतापि तदसुपानद्वारा तादृशानामेव
स्रोदरे समानयनम्, पश्चादयस्वैरागतसत्रेत्यत्र धृतचर्याप्रसङ्गे त्वलौकिकदेहं दत्त्वा तद्दीला-
प्रदर्शनं कारितवानिति निश्चयस्य दृढतरत्वेनासापि दृष्टान्तत्वाभावात् । शरीरविशिष्टानामेव
तेषां स्रोदरानयनमित्यस्य कण्ठरवेणाश्रूयमाणत्वात्, प्रत्युत पद्मदशमस्कन्धीयाध्यायसुबो-
धिण्यां 'तया स्वस्मिन्नानीता ये बालकानां जीवास्ते स्वजीवमर्मस्थाने स्थापिताः सन्तीति
तान् स्वस्मिन्नानेतुं भगवांस्तन्निष्पीडनमेव कृतयानित्यभिप्रेतोर्ध' इत्यनेन केवलजीवाना-
मेवानयनस्य श्रीमदाचार्यैरुक्तत्वाच्च । न च लालनमृदुञ्जलीलाप्रदर्शितस्वमुखस्यसर्वत्रजे
भगवति देहसहितानामपि स्थितिरस्त्येव, एवं चालौकिकदेहसहितानामप्येतासां स्थितिर्ना-
सम्भावितेति वाच्यम् । स्वमुखारविन्दप्रदर्शितसर्वत्रजे रासमण्डलमण्डनायमानानामपि
स्थितत्वात् तासामपि मध्यमफलप्राप्तयेक्तुं शक्यत्वादिति न किञ्चिदेतत् । अथ यद्यपि
भगवतोऽचिन्त्यशक्तित्वात् केनापि प्रकारेणैतासां भगवति स्थितिः सम्भवेदपि, तथापि
यद्येतासां मध्यमफलं स्यात् तदाऽचिन्त्यशक्तिमत्त्वपर्यन्ते धावना समञ्जसा स्यात्, तदेव
तु सगुण्यायमाणम्, यत् एतासां सगुणदेहत्यागोत्तरं निर्गुणदेहप्राप्तयनन्तरं तु सर्वभाव-
प्रपत्तिरूपसाधनस्य सर्वभावप्रपत्तिरभ्यस्यैव च फलस्य प्राप्तिः श्रीमदाचार्यैः सिद्धान्ति-
तास्ति । तथाहि 'कृष्णं विदुः परं कान्त'मितिवचश्छोकीसुबोधिण्यां प्रथमव्याख्याना-
भिप्रायविशदीकारकद्वितीयव्याख्याने 'उक्तं पुरस्ता'दितिपद्यव्याख्यायां 'यथा भगवति
गुणातीत एव परिनिष्ठसुदित्वेति द्वेषस्य तत्र प्रयोजकत्वात् सगुणत्वमेवेति लक्ष्यते,
अयं च रसः सर्वभावप्रपत्तिरभ्यः । नहि जारत्प्रबुद्धौ सर्वभावप्रपत्तिः । कामपु-
कत्वेनेव तत्सम्भवात्, अत्र च सगुणत्वस्य प्रतिबन्धकरत्वाद्यथा वैद्यादीनां स्वाधि-
कारानुसारेण तादृशशरीरनाशे तत्पदप्राप्तिः स्वाधिकारानुसारेण, तथैतासामपि स्वाधि-
कारानुसारेण तयात्वं सगुणत्वोपरमेण सर्वभावप्रपत्त्यैव, ततो निजपतिभजनमिति सर्वभव-
दातम्, अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांमथैव मया'मिदं भज्यन्ते'त्युक्त्या,
अथ च ननु तथापि तादृशप्रपत्तेरेव मूलत्वात् कथं सर्वभावप्रपत्तिमायं फलं भविष्यतीत्या-
भासं दत्त्वा 'द्विपञ्चपी'त्यादिप्रतीकरूप्याख्याने 'मोक्षसुखानमीप्सुन्तद्विदुद्वेपकर्ता च वैद-
त्वास्मै यथा ज्ञानिनामपि दुर्लभां मुक्तिं दत्तवानेवं तादृक्प्रपत्तिमूलानामप्येतासां तादृशं

फलं दत्त्वा'नित्युत्तया, तदनु क्रियाग्रे 'यदि सर्वभावप्रपत्तिलभ्यफलमेव दित्सितं भगवत्-
 क्षदा पूर्वमेव स एव भावः किमिति नोत्पादित इति चे'दिति पूर्वपक्षीकृत 'अत्र चदामो,
 यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्थासां सर्वासामेव रासमण्डलमण्डनायमानानां शरीरमपि
 गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपयगोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा पूर्वोक्तानां
 भावोपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणभावमुत्पाद्यैतन्निवर्तकोपि स्वयमेव नान्य
 इति ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधायान्ने भाविस्त्वनिरहजद्गुःखखसहजमसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि
 ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय मत्प्राम्येव सर्वं कृतवा'नित्युक्त्या च सर्वभाव-
 प्रपत्तिरूपं साधनं सर्वभावप्रपत्तिलभ्यमेव च फलमेतासामिति स्वीकृतं श्रीमदाचार्यचरणै-
 रिति तद्विरुद्धा भवद्वास्थानपद्धतिर्नादरपदवीमारोहति । तस्मान्नान्तर्यहगतानां सर्वदा
 संयोगरसानुभवमात्ररूपं मध्यमं फलम्, किन्तु पूर्णसंयोगविप्रयोगरसात्मकमुत्तमफलमेव ।
 उचितं चैवमेव यत्सर्वभावप्रपत्तिर्नाम सर्वाग्निं प्रपत्तिः, तस्यां सत्यां सर्वाग्निं च प्रभुणा
 फलदानं कर्तव्यम्, न तु केनाप्यग्नेन न्यूनफलदानं सम्भवति, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते
 तांस्तथैव भजाम्यह'मिति मर्यादा यतोऽस्तीति दिक् ।

अपरम् । 'या मया स्वीडता रात्र्यां चनेस्मिन् व्रज आस्थिताः । अलम्बरासाः
 कल्याण्यो मापुर्नदीर्यचिन्तये'ति प्रमरगीतस्वपयव्याख्याने 'भवत्यः समागता अन्तर्यह-
 गतास्तु गृह एव स्थितास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवलोनेनैव निदर्शनेन
 भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्य' इति श्रीमदाचार्यरुक्तम् । तत्र सर्वप्रकारेण भगवत्प्राप्तिरन्तर्यह-
 गतानां न तु केनाप्यग्नेन न्यूनप्रकारेणेत्युक्तत्वात् सार्वदिकसंयोगरसमात्रानुभव एवैतासा-
 मिति भवदुक्तिः कथं सङ्गच्छताम् । भगवतो रसरूपत्वाद्भ्रसस्य द्विदलत्वाद्भवन्मते
 विप्रयोगप्रकारेण प्राप्त्यभावादिति कृतं पञ्चवितेन । अत्र तदैवेतिपदमेव न तु भवत्य
 इत्यत्रापि सम्भवत्येव । तथा च तदैव तत्क्षण एव तासां मत्प्राप्तिः सर्वप्रकारेण जाता ।
 भवतीनां तु तत्क्षण एव न जाता क्रमेणैव मद्द्विषयकदोषारोपरूपदोषनिवृत्तौ सत्यां
 भविष्यति, तासां तु मपि दोषारोपो नासीदिति निर्दोषत्वात्तदैव जाता । अन्यथा तदैवेति
 पदस्यात्रानुपज्ञाभावे तासां सर्वप्रकारेण मत्प्राप्तिर्भवतीनां सर्वप्रकारेण न जातेत्येवमर्थे
 सम्पन्नेन्तर्यहगतानामेव रासमण्डलमण्डनायमानान्भ्योधिकत्वमापद्येत । तदैवेतिपदस्य
 त्वत्रानुपज्ञने तासां तदैव जाता, भवतीनां तु दोषनिवृत्तौ क्रमेण भविष्यतीति न न्यूनता
 फले प्राप्नोतीति ज्ञेयम् । ननु साधारणानामपि भक्तानां दोषान् भगवान्न गणयति, रास-
 मण्डलमण्डनायमाना'स्त्येताः परं तनुभूतो ननु गोपवधः', 'आसाभतो चरणरेणुलुपामहं
 स्माम्,' 'वन्दे नन्दमजलीणां पादरेणुमभीक्ष्णश' इत्यादिप्रकारेण श्रीमद्ब्रह्मैः स्तुतानां
 प्रणतपादरेणुनामथ च तदोपस्य विप्रयोगरसारस्वारूपत्वेन निर्दोषाणां च तास्यो भावं
 दोषत्वेन किमर्थं भगवानगणयदिति चेत् । अत्र चदामः । केपाश्वितिकृपाविषयाणां

(अत्र एकं पत्रं द्रुष्टिमिति प्रतिभाति)——श्रान्तागन्तर्गृहगतानां रासानुभवोत्तरं भवन्मते कुत्र स्थितिर्भवतोच्यते, अस्मन्मते तूक्तस्थानान्यतमस्थाने लयाद्भगवता सह ब्रज एव समागमनम्, पुनरासलीलासमये भगवता सह तत्र गमनम्, तदा त्वलौकिकदेहप्राप्त्या रमणम्, पुनरपि तत्रैव लय इति चेत्, अत्र ब्रूमः । यावद्ब्रजीयैरलक्षितत्वेन केवलप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनाभावविशिष्टत्वेन चास्मिन्नेव ब्रजेन्तर्गृहगतानां स्थितिः । न च विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव ब्रजे तासां स्थिती किं मानमिति वाच्यम् । 'या मया क्रीडता रा'चा'निनि भ्रमरगीतपद्यसुवोचिनीस्वश्रीमदाचार्यकृतव्याख्यानस्यैव प्रमाणत्वात् । तथा हि, यदि ब्रजीयैरन्तर्गृहगतानां सगुणदेहत्यागोत्तरप्राप्तनिर्गुणदेहसम्बन्धिनी लीला दृश्येत तदा रासमण्डलमण्डनायमानाः प्रति त्वन्तर्गृहगताविषयकस्वकृतक्रीडाब्रजस्थितिकथनपूर्वकं किमिति स्वप्राप्तिसाधनं बोधयेत्, स्वप्राप्तिसाधनमात्रमेव तु बोधयेत्, साकृतक्रीडाब्रजस्थित्योस्तु ताभिर्दृश्यमानत्वाद्गतो नैतासां तल्लीलादर्शनमिति भगवतासां स्वक्रीडाब्रजस्थिती अपि बोधयेते इति यावद्ब्रजीयैरलक्षितत्वं सिद्धम् । अथ च भयलसमागताः अन्तर्गृहगता गृह एव स्थितास्तास्तदेव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवत्याः अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यस्तस्मान्मदर्थं जीवनस्थापनमिति पक्षो निरर्थकः । अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः क्लेशो न भवेदनुभवसिद्धश्च क्लेशः । ननु ताः प्रतिबन्धेन तथामृताः कथं स्तुत्या इत्याशङ्क्याह कल्याण्य इति । तासां महद्भाग्यमस्तीत्यवश्यप्रतिबन्धरूपं द्रुष्टिं दष्ट प्रपञ्चक्षीणमिति कण्टकेन कण्टकोद्धारणद् देहनिराकरण एवोपक्षीणम्, भवतीनां तु तदुरितमिमामवस्थां प्रापितवत्, अतो मद्भक्तप्रकारेण दोषं परित्यज्य तामनस्था प्राप्य मां प्राप्स्यथेति भाव इति श्रीमदाचार्यव्याख्यानपर्यालोचनेन्तर्गृहगतानां नाकूरागमनरूपमधुरोदेश्यकभगवन्नयनरूपप्रपञ्चभावाविर्भावितलीलादर्शनमस्ति । यदि तदर्थं म्यात् तदा भवतीनां तु तदुरितमिमामवस्थां प्रापितवत्, तास्तु महाभाग्यवत्यन्तासामवश्यप्रतिबन्धरूपं द्रुष्टिं सगुणदेहनितृत्तव्येवोपक्षीणमतस्ता इमामवस्थां न प्रापितवदिति भगवाञ्च कथयेदेव । अकूरागमनभगवन्नयनदर्शनजोक्शस्यैतासामवश्यमिद्धरमात् । तस्मादन्तर्गृहगतानां न प्रपञ्चमात्रानिर्गृतलीलादर्शनमित्यपि सिद्धम् । उचितैवमेव यत् श्रुतिरूपाभिरन्तर्गृहगताभिर्वैवा रसज्ञेकरामिन्यः कामतरनेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मया चिकीर्षां जनिता तथेत्यनेन प्रकृत्यतीनाक्षरमलम्बव्यापिनेकुण्डान्तर्गतप्रजान्तस्तप्रमानन्तर्गतवृन्दाने तत्रस्वनानागसरयोन्मत्तगोपीरुदन्कभानभजतीत्यभावेन भगवता सह रमणं प्राथितम्, तद्यदि तासां प्रापञ्चिकपदार्थदर्शनं म्यात्, तदा प्रपञ्चान्तर्गतवृन्दाने ताद्यभावेन भगवता सह रमणं न प्राप्तमेव भ्यात्, एव च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव मजाम्यह'मिति मर्यादाभंगः स्यादिति न तासां प्रपञ्चमात्रानिर्गृतलीलादर्शनमिति साधीयसी पूर्वोक्तोक्तिः । एवमेवास्मिन्नेव ब्रजे ता आस्थिता इति

भवतीनामपि निर्धन्येनैवात्र स्थापनमित्यनेनास्मिन् ब्रज आस्थिता इत्यस्य व्याख्यान-
नास्मिन्नेव ब्रजे स्थितत्वमपि सिद्धम् । इदमेवाभिप्रेत्य पूर्वमेवोक्तं यज्ञपत्नीप्रसंगे विशा-
ध्याये, 'तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथायुतम् । हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धन'-
मितिपद्यव्याख्यानसुबोधिन्यां भगवत्सङ्कतायाः स्थानान्तरं न सृज्यम्, तच्छक्तीनामिव ।
अत्र यत्र भगवांस्तत्र तच्छक्तयः इत्यादयो गोप्यादयो वेलगो ज्ञेयः । एवं चात्र भगवान्
ब्रजे तिष्ठतीति ता अपि ब्रजे एव चेति ब्रजे स्थितत्वमायास्वेति दिक् । एवं च सिद्धा
विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव ब्रजे स्थितिरन्तर्गृहगतानाम् । तथा च गोपसाहित्येन
गोचारणलीलायै भगवतो गमने रासलीलानन्तरं भगवतो गृहगमने च दिवा विप्रयोग-
रसानुभवः, सायंसमये परावृत्य भगवदागमने रात्रौ च घृन्दावन एव महानन्दसन्दो-
हानुभवश्चेतासामपीति संयोगरसमात्रानुभव एवेतासामिति कर्म वक्तुं शक्यत इति कृतं
विस्तरेणेति सर्वं चतुरस्रम् ।

सादेतत् । वयमन्तर्गृहगतानां यन्मध्यमं फलं वदामो न तूत्तमफलम्, तत्र यतो-
न्तर्हिते भगवतीति फलप्रकरणोपद्वितीयाध्यायस्थप्रारम्भः, व्याख्यानसुबोधिन्यां सन्ति च
सिंहास्त्याय काल इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । व्याख्यातं चैतत् तत्तनुजरत्नैः स्वकृततट्टि-
पण्यामवतारसम्पूर्तिकाल इत्यर्थे इति, तत्रापूर्णाविप्रयोगसंयोगात्मकः पूर्वावतारः समाप्त
इदानीं पूर्णविप्रयोगात्मकपूर्णसंयोगात्मकपुरुषोत्तमावतारो जात इत्युच्यते, तत्रान्तर्हिते
भगवतीत्यनेन पूर्णविप्रयोगात्मकसादनन्तरं 'तासामाविरम्'दित्यनेनैकोनविंशत्याध्याये पूर्ण-
संयोगात्मकपुरुषोत्तमावतार उक्तः । एवं च पूर्वस्वरूपाद्भिन्नमेवेदं भगवत्स्वरूपं परम-
काष्ठापन्नम्, एतत्तु अन्तर्गृहगताः प्रति न प्रकटमेव, अतस्तासां नैतादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिः,
किन्तु न्यूनसंयोगविप्रयोगात्मकत्वेनासम्पूर्णत्वात् तादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिरेवेति न सम्पूर्ण-
फलप्राप्तिरिति तासां मध्यमफलप्राप्तिरित्युच्यते । न चेद स्वरूपं पूर्वं न प्रकटमिदानी-
मेवाविर्भूतमित्यत्र किं प्रमाणमिति वाच्यम्, 'गायन्त्य उचै'रितिपद्यव्याख्यानसुबोधिनीस्थ-
शब्दो हि धूमश्लोक इति श्रीमदाचार्यैस्तनुजरत्नकृतश्रीमदाचार्यकारिकाटिप्पण्यां 'अत्रेदमा-
हृतम्, एतावत्कालपर्यन्तं भगवता स्वरूपानन्दो न प्रकटितः । तस्य स्वरूपात्मकत्वेन
तत्प्राकट्यं त्रिना तदनुभवासम्भवात्, 'तथा परमहंसाना'मिति वाक्यात्पादश्लेन भक्तियोगेन
तत्प्राप्तिस्वाद्यत् तत्प्रकटनायाधुनेव पुरुषोत्तमावतारादित्यादित्तनुजरत्नप्रतिपादनान्तर्ग-
तेतावत्कालाधुनापद्यान्तर्धानकालतदधिकरणकपुरुषोत्तमावतारोक्तेरेव प्रमाणत्वादिति
चेत्, अत्र वदामः । आगामिविरिञ्चिषष्टयुपतविरिञ्चिदिनरूपसारस्वतकल्पे भवन्तो
ब्रजे गोप्यो भविष्यथ तत्र पृथिवीस्थभारतक्षेत्रान्तर्गतमापुरमण्डलान्तर्गतघृन्दावनैहं
भवतां प्रेयान्वासमण्डले भविष्यामीति प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मान्तःस्थानन्दमयव्यापिवैकुण्ठलो-
कस्थशुद्धपुष्टिस्थानरूपश्रीमद्गोवर्धनयमुनासहितानागरसोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टकेवल-

जीवानां शुद्धपुष्टिमार्गफलं दिव्सुर्भगवान् प्रपञ्चे लीलासहित आविर्भवति । अन्यथा सर्व-
 भावप्रपत्तिरूपसाधनस्य सर्वभावप्रपत्तिलभ्यफलस्य चाज्ञायमानत्वात् कथमेतन्मार्गप्रवृत्ति-
 हेतुभूतफलज्ञानं स्यात्, कथं वा एतन्मार्गीयं साधनं च ज्ञातं स्यात् । तत्रैतन्मार्गीयं फलं
 तु ब्रजभक्तसजातीयभावेन भजने भवतीति तदावानुसारेण भजने क्रियमाणे भगवत्साज्ञानेपि
 तासां दोषारोपो न बाधको जातः, एवं गमापि न भविष्यतीति कदाचिच्छीघ्रं भगवता
 फलादाने तनुजवित्तजसेवाकरणसमय एव भगवति दोषारोपं कुर्याद्यन्मया त्वेतावदुःख-
 मनुभूयते सेवाकरणे, भगवांस्त्वितिनिष्ठुर एतावत्पर्यन्तमपि प्रेमासक्त्यादिकं नाविर्भावयति
 येन फलं स्यात्तदा भगवतो निर्दोषपूर्णगुणत्वेन तत्र दोषारोपे तस्य फलप्राप्ते विलम्बः
 स्यादतो भगवति कस्यामप्यवस्थायां दोषारोपो न कर्तव्य इति ज्ञापयितुं यथान्तर्दृष्टगतानां
 जारभावोत्पादनेन रासमण्डलमण्डनायमानानामपि शरीरादि निर्गुणमिति ज्ञापयितुं तासां
 जारभावाद्युत्पादितवानेवमेव रासमण्डलमण्डनायमानानामपि तादृशसावसारूपमपि दोषा-
 रोपरूपं भावं दोषत्वेनाख्यापयन्स्त्रीमदुद्धवमुखेनेति सर्वं सुखम् । तस्मादन्तर्दृष्टगता-
 नामपि मुख्यमेव फलमिति सिद्धम् । अन्यत्र 'जारधर्मेण सुखेहं सुखं सर्वतोधिकं मयि
 सम्प्राप्य सर्वेपि कृतकृत्वा भविष्यथे'ति श्रुतीः प्रति भगवदुक्तेस्तद्भावज्ञापकजारदुःखापि
 सङ्गता इति फलप्रकरणीयवचनस्यजारदुःखिसङ्गतत्वोक्त्या च श्रुतिरूपा एता अन्तर्दृष्टगता
 इति ज्ञायते । एवं च श्रुतिकृतस्तुतिसन्तुष्टप्रकृत्यतीताक्षरमध्यस्थेन श्रीवृन्दावनगोवर्धन-
 यमुनानानारासरमोन्मत्तगोपीकदम्बकविशिष्टेन किशोराकृतिना भगवता किं करवाणी-
 स्युक्ते 'कन्दर्पकोटिठावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः । कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्प-
 संशयम् । यथा त्वलोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षा
 जनिता तथे'त्यादिना श्रुतिभिः स्वस्य कामिनीभावपूर्वकः स्मरक्षोभ उक्तस्तत्र मा कदा-
 पिद्भगवानेवं जानातु यदेतासां लौकिककामाभिलाष इति शङ्कां वारयितुं यथा त्वलोक-
 वास्तव्या गोपिकाः कामतत्त्वेन कामस्य तत्त्वं परमकाष्ठापन्नं रूपमापिदैविकमिति यावत्
 तादृशकामाधिदैविकेन रूपेण रमणं रमणकर्तारं मत्वा त्वां भजन्ति तथा भजनेस्मार्कं
 चिकीर्षा जनितोत्पादिता त्वद्रूपदर्शनेनेति श्रुतिभिः प्रार्थितम् । तत्र भगवत्लोकस्वनिर्ल-
 सिद्धगोपिकानायसजातीयभावेन भजनचिकीर्षिताराणाम् । तत्र भगवत्लोकस्वनिर्लसिद्धगोपि-
 कानां न भगवति जारभावः किन्तु सर्वभावप्रपत्तिरूपो भावः । एव च यद्येतासां मध्यमं
 फलं भगवान् दद्यात् तदा 'ये यथा मा'मिति मर्यादा भज्येत । तस्मादपि न तामां मध्यमं
 फलं किन्तुपाममेव । अथेति 'दुर्लभो दुर्पटक्षीय सुपगाकं गुमनोरयः । मयानुमोदितः
 सम्यक् सलो भनितुमर्दती'त्यत्र मनोरथस्य दुर्लभत्वं दुर्पटत्वं चोक्तम्, सुमनोरय इत्यनेन
 मनोरथस्य सुशुल चोक्तम् । यदि जारभावेन भजन एव मनोरथः स्यात् तदा दुर्लभत्वं
 दुर्पटत्वं च नोक्तं स्यात् । कदाचित् तदानीं श्रुतीनां विवादितपत्तेरभावात् सस्मिन्

जारभावो दुर्घटोत एव दुर्लभश्चेति दुर्लभत्वदुर्घटत्वोक्तिः सद्गच्छेतापि, परन्तु सुमनोरथ इत्यत्र मनोरथे सुदुत्व तु न सद्गच्छेत्, जारभावेन भजनमनोरथस्य दुष्टत्वेन सुदुत्वा-
 नात् । तस्मात् सुमनोरथपदेन सर्वभावप्रपत्तिपूर्वकभगवत्होक्वासाव्यगोपिकाभाजसजा-
 तांरभावमनोरथ एवोक्तोनेति निश्चितम् । अत एवाग्रे मयानुमोदित इत्यनेन पूर्वं महोक्-
 वामिगोपीभिर्मादितो अनु पश्चान्मया मोदितो अत एव सम्यक् समीचीनः सत्यो भवितु
 योग्यो भवति । ममेतदधीनत्वादेतासा मोदन निना न सद्यो भवितु योग्य म्यादिति
 भाव । अन्यथा तासा मोदन नापेक्ष्येत, निरुद्धमनोरथस्य सत्त्वात् । एतदग्रे तु 'आगा
 मिनि निरिमो तु जाते सृष्ट्यर्थमुच्यते । कल्प सारम्यत श्रुण्य ब्रजे गोष्पो भविष्यथ ।
 श्रुत्वया भारते क्षेत्रे मायुरे मम मण्डले । चन्द्रावने भविष्यामि प्रेयाव्यो रासमण्डले,
 पारथमेण सुत्रेह सुदृढ सर्वतोधिकम् । मयि सम्प्राप्य संपेति कृतकृत्वा भविष्यथे'त्यनेन
 प्रवक्ष्येनेताभिरप्राथितं त्रिविकार्याधिं जारभावो भगवतेव दत्त इति प्रतीयते स्फुटमेव ।
 तत्राय भगवदभिप्राय । मया त्यागाभिर्विद्विदिनरूपसारस्वतकल्पे पृथिवीस्यभारतक्षेत्रस्य
 मायुरमण्डलान्तर्गतचन्द्रावने सर्वभावप्रपत्तिस्तत्फलं च प्रकटनीयं जीवविशेषोद्धारार्थम् ।
 तत्र सर्वभावप्रपत्तिर्निर्गुणा, तद्भाववत्ता देहादिकं च निर्गुणम्, तादृशीनां भगवत्सङ्गम
 निरहजन्यं सुखं दुःखं च निर्गुणमिति ज्ञापनीयम्, अन्यथा रासमण्डलमण्डनायमानानां
 भावादिषु सगुणत्वबुद्ध्या सर्वेषां प्रवृत्तिर्न स्यात्, तथा च मदयतारोपि व्यर्थं स्यादत
 एता एव श्रुतीस्त्रास्मिन्कल्पे अवतारवित्तैतासां भावादिकं च सगुणं विधाय सगुणभाव
 सगुणदेहं सुखदुःखादिकं च कर्मजन्यमिति ज्ञापनीयम् । एवं सत्येतासां तद्भावतदेहादि-
 नाथे लौकिकमिन्द्रशरीरप्राप्तीं सर्वभावप्रपत्तिरूपं साधनं तदहन्यं फलं भविष्यति, मुख्यानां
 भावादेर्निर्गुणत्वं च ज्ञापितं भविष्यतीत्युभयमपि कार्यं सेत्स्यति । अन्यथा तज्ज्ञापनार्थं
 प्रयत्नान्तरकरणमापद्येतेति जारभावो भगवतैव दत्तो, न तु तासां जारभावप्रपत्तिं साद-
 र्शनीयं बोध्यम् । एव च बृहद्भग्नपुराणीयकथाभिन्वारेणापि नेतासा मध्यमफलमायाति
 किन्तु तमफलप्राप्तिरेवेति कृतमधिकतराभिनिवेशेन । अत एव युनोधिन्व्यामुक्तं पुरस्ता
 दित्यस्य द्वितीयव्याख्याने श्रीमदाचार्यैरुक्तं 'यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां मर्त्यासां
 मेन रासमण्डलमण्डनायमानानां शरीरमपि गुणतीक्ष्णैवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपय
 गोपी सगुणदेहां स्थापयित्वा पूर्वोक्तानां भावोपि निर्गुण इति ज्ञापयितुं तासां सगुण
 भावगुणव्यतिरिक्तकोपि स्वयमेव नान्य इति ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधायाग्रे भावि
 स्वविरहजडु खससङ्गमसुरायो कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण न्वप्राप्तिं विधाय
 मस्त्वाभ्येव सर्वं कृतवानिति निर्गर्भं । अत्र पुष्टिमागीन्द्रिकारान्मर्त्यादामार्गाया अनुप
 पत्तयोनिवसरपराहता इति सर्वमनवय'मिति । न च तासां यदा सगुणदेहनाशस्तदैव
 भगवति सर्वजीवतत्त्वरूपमगवलीखुभे वा 'मणिपरं वचिदागवयन्ना' इत्यनोक्तगोपि-

(अथ एकं पत्रं द्रुष्टितमिति प्रतिभाति)——शानामन्तर्गृहगतानां रासानुभवोत्तरं भवन्ते कुत्र स्थितिर्भवतोच्यते, अस्मन्मते तूक्तस्थानान्यतमस्थाने लयाद्भवता सह व्रज एव समागमनम्, पुनः रासलीलासमये भगवता सह तत्र गमनम्, तदा स्वलौकिकदेहप्राप्त्या रमणम्, पुनरपि तत्रैव लय इति चेत्, अत्र ब्रूमः । यावद्ब्रजीयैरलक्षितत्वेन केवलप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनाभावविशिष्टत्वेन चास्मिन्नेव व्रजेन्तर्गृहगतानां स्थितिः । न च विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव व्रजे तासां स्थितौ किं मानमिति वाच्यम् । 'या मया क्रीडना राज्या'मिति भ्रमरगीतपद्यसुवोधिनीस्थश्रीमदाचार्यकृतव्याख्यानस्यैव प्रमाणत्वात् । तथा हि, यदि ब्रजीयैरन्तर्गृहगतानां सगुणदेहलागोत्तरप्राप्तनिर्गुणदेहसम्बन्धिनी लीला दृश्येत तदा रासमण्डलमण्डनायमानाः प्रनि स्वन्तर्गृहगताविषयकस्वकृतक्रीडाप्रजस्यति-कथनपूर्वकं किमिति स्वप्राप्तिसाधनं बोधयेत्, स्वप्राप्तिसाधनमात्रमेव तु बोधयेत्, स्फुरन्तीटाप्रजस्थित्योस्तु ताभिर्दृश्यमानत्वादतो नैतासां तद्वीलादर्शनमिति भगवतासां साक्रीडाप्रजस्यती अपि बोधयेते इति यावद्ब्रजीयैरलक्षितत्वं सिद्धम् । अथ च भवसः समागताः अन्तर्गृहगता एह एव स्थितास्तास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यो न तु भवसः अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यस्तस्मान्मदर्थं जीवनस्थापनमिति पक्षो निरर्थकः । अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः क्लेशो न भवेदनुभवसिद्धश्च क्लेशः । ननु ताः प्रतिपन्धेन तपांगताः कथं स्तुत्या इत्याशङ्कयाह कत्याण्य इति । तासां महद्भाग्यमस्तीत्यपश्यप्रतिपन्धरूपं दुर्गितं एह एवोपक्षीणमिति कण्टकेन कण्टकोद्धारवद् देहनिराकरण एवोपक्षीणम्, भवतीनां तु तदुरितमिगामवस्थां प्रापितवत्, अतो मनुक्तप्रकारेण दोषं परित्यज्य तामवस्थां प्राप्य मां प्राप्यथेति भाव इति श्रीमदाचार्यस्याख्यानपर्यालोचनेन्तर्गृहगतानां नाशूरागमनरूपमधुगेदेश्यरुभगवत्प्रपञ्चरूपप्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनमस्ति । यदि तदर्थेन स्यात् तदा भवतीनां तु तदुरितमिगामवस्था प्रापितवत्, तास्तु महाभाग्यवत्सन्नामापवश्यप्रतिपन्धरूपं दुर्गितं सगुणदेहनिवृत्तायेवोपक्षीणमतस्ता इमामवस्थां न प्रापितवदिति भगवान्न कथयेदेष । अकूरागमनभगवत्प्रपञ्चदर्शनवज्जेशरीतामामप्यवश्यमिद्वस्तात् । तस्मादन्तर्गृहगतानां न प्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनमित्यपि सिद्धम् । उपरि चैवमेव यतः श्रुतिरूपाभिरन्तर्गृहगताभिर्विद्या स्वलोकवाग्मिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः । भजन्ति रमणं मत्ता चिकीर्षा जनिता तथे'लनेन प्रकृत्यतीनाश्रमप्रपञ्चप्राप्तिरिगुण्डान्तर्गतव्रजान्तस्त्रप्रपञ्चान्तर्गतशृन्दान्ते तत्रस्थानानागमरत्नोत्तमोपीरुदम्भकारगजानीयभासेन भगवता सह रमणं प्राथितम्, तपदि तासां प्राप्यिरूपदर्पदर्शनं स्यात्, तदा प्रपञ्चान्तर्गतशृन्दान्तं तादृशभासेन भगवता सह रमणं न प्राप्तमेव स्यात्, एवं च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति मर्षादाभंगः स्यादिति न तासां प्रपञ्चमात्राविर्भावितलीलादर्शनमिति मापीयमी पूर्वोक्तोक्तिः । एवमेवाग्निहोत्रे मन्त्रे ता आम्विना इति

भवतीनामपि निर्वन्धेनैवात्र स्थापनमित्यनेनास्मिन् ब्रज आश्रिता इत्यस्य व्याख्याने-
नास्मिन्नेव ब्रजे स्थितत्वमपि सिद्धम् । इदमेवाभिप्रेत्य पूर्वमेवोक्तं यज्ञपत्नीप्रसंगे विशा-
ध्याये, 'तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम् । हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धन'-
मित्यप्यव्याख्यानसुबोधिन्यां भगवत्सङ्गतायाः स्थानान्तरं न शृण्वम्, तच्छक्तीनामिव ।
अत्र यत्र भगवांस्तत्र तच्छक्तयः श्यादयो गोप्यादयो वेत्यर्थो ज्ञेयः । एवं चात्र भगवान्
ब्रजे तिष्ठतीति ता अपि ब्रजे एव चेति ब्रजे स्थितत्वमायात्येवेति दिक् । एवं च सिद्धा
विशेषणद्वयविशिष्टत्वेनास्मिन्नेव ब्रजे स्थितिरन्तर्गृहगतानाम् । तथा च गोपसाहित्येन
गोचारणलीलायै भगवतो गमने रासलीलानन्तरं भगवतो गृहगमने च दिवा विप्रयोग-
रसानुभवः, सार्यसमये परावृत्य भगवदागमने रात्रौ च वृन्दावन एव महानन्दसन्दो-
हानुभवश्चैतासामपीति संयोगरसमाधानुभव एवैतासामिति कथं वक्तुं शक्यत इति कृतं
विस्तरेणेति सर्वं चतुरस्रम् ।

सादेतत् । वपमन्तर्गृहगतानां यन्मध्यमं फलं वदामो न तूत्तमफलम्, तत्र यतो-
न्तर्हिते भगवतीति फलप्रकरणीयद्वितीयाध्यायस्यप्रारम्भः, न्याख्यानसुबोधिन्यां सन्ति च
सिद्धास्तथात्र काल इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । न्याख्यातं चैतत् तत्तनुशरत्नैः स्वकृततद्वि-
ष्णुप्यामवतारसम्पूर्णकाल इत्यर्थे इति, तत्रापूर्णाविप्रयोगसंयोगात्मकः पूर्वावतारः समाप्त
इदानीं पूर्णाविप्रयोगात्मकपूर्णासंयोगात्मकपुरुरोत्तमावतारो जात इत्युच्यते, तत्रान्तर्हिते
भगवतीत्यनेन पूर्णाविप्रयोगात्मकस्तदनन्तरं 'तासामाविरम्'दित्यनेनैकोनविंशत्याध्याये पूर्ण-
संयोगात्मकपुरुरोत्तमावतार उक्तः । एवं च पूर्वस्वरूपाद्विस्तमेवेदं भगवत्स्वरूप परम-
काष्ठापन्नम्, एतत्तु अन्तर्गृहगताः प्रति न प्रकटमेव, अतस्तासां नैतादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिः,
किन्तु न्यूनसंयोगविप्रयोगरमात्मकत्वेनासम्पूर्णत्वात् तादृशभगवत्स्वरूपप्राप्तिरेवेति न सम्पूर्ण-
फलप्राप्तिरिति तासां मध्यमफलप्राप्तिरित्युच्यते । न चेद् स्वरूपं पूर्वं न प्रकटमिदानी-
मेवाविर्भूतमित्यत्र किं प्रमाणमिति याच्यम्, 'गावन्त्व उधै'रितिपद्यव्याख्यानसुबोधिनीस्व-
शब्दो हि धूमवह्नोः इति श्रीमदाचार्यतनुजसङ्कृतश्रीमदाचार्यकारिकाटिप्पण्यां 'अवेदमा-
कृतम्, एतावत्कालपर्यन्तं भगवता स्वरूपानन्दो न प्रकटितः । तस्य स्वरूपात्मकत्वेन
तस्याकृत्य विना तदनुभवासम्भवात्, 'तथा परमहंसाना'मिति वाक्याद्यारब्धेन नक्तियोगेन
तत्राप्तिस्तादृक् तत्रकटनायाशुनैव पुरुषोत्तमावतारादित्यादित्तनुजस्रप्रतिपादनान्तर्ग-
तेतावत्कालाधुनापदचान्यान्तर्धानकालतदधिकरणकपुरुरोत्तमावतारोक्तेरेव प्रमाणत्वादिति
चेत्, अत्र वदामः । आगामिविरिषिष्यश्रुतविरिषिदिनरूपसारस्वतकल्पे भवन्तो
ब्रजे गोप्यो भविष्यन् तत्र पृथिवीस्वभारतक्षेत्रान्तर्गतमायुरमण्डलान्तर्गतवृन्दावनेहं
भवतां प्रेयान्वासमण्डले भविष्यामीति प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मान्तःस्थानन्दमव्यापिर्वैकुण्ठलो-
कस्युद्धरुद्रिस्थानरूपश्रीमद्गोवर्धनयजुनासहितनानारासरसोन्मद्यगोपीकदम्बकविशिष्टकेवल-

शृंगाररसानन्दमयेन सारस्वतकल्याणुसारिश्रीभागवतीयकृष्णस्तु भगवान् स्वयमितिवचन-
सिद्धपरमकाष्ठापन्नत्वेन भगवता वेदान् प्रति वरो दत्तः । एवं च प्रद्वकल्यादारम्य सार-
स्वतकल्पपर्यन्तं न पूर्णपुरुषोत्तमावतारो जातः, सारस्वतकल्प एव च जात इति सिद्धम् ।
एवं चेदं प्रघट्टकमेव मनसिकृत्यैतावत्कालाधुनापदे उक्ते । तथा चैतावत्कालपर्यन्तपदस्य
प्रद्वकल्यादारम्य सारस्वतकल्पपर्यन्तमित्यर्थोऽधुनापदस्य च सारस्वतकल्पे इत्यर्थः सम्पन्नः ।
तथा च धान्यमारम्य कृता लीला सर्वापि रसालतामापद्यते । भवदुक्तप्रकारे त्वेतदवतार-
पूर्वसामयिकी सर्वापि लीला स्वरूपान्तरसहभावेन कृतत्वाद्रसाभासतामाविष्करोति । किञ्च ।
रासमण्डलमण्डनाभिः कृतं 'कस्याधित् पूतनामन्या' इत्यादिलीलानुकरणमपि न सङ्गच्छते ।
इदानीमाविर्भूतविप्रयोगसंयोगात्मकस्वरूपेण तच्छ्रीलाया अकृतत्वात् । स्वप्रियकृत-
लीलानुकरणस्यैव लीलाहारूपत्वमिति रसशास्त्रसिद्धान्तात् । अपरञ्च । विचयनसामयिक-
नन्दसुनुगतौ हत्वा रामानुजो गानिनीनां, गोविन्दचरणप्रिये इत्यादिषु नन्दसुतबल-
मदानुजगोकुलेन्द्रादिनामकयनस्याय च 'विपजलाप्ययाह्यालराक्षसा'दित्यायुक्तकालीयादि-
भयरक्षितत्वगोचारणमनकर्तृत्वादिकयनस्य तत्समयप्रकटस्वरूपे सम्भवाभावेन भ्रम-
रूपत्वापातात् । न चास्तु भ्रमरूपत्वमिति धाम्यम् । तथा सति रासमण्डलमण्डनाप-
मानानां भावानुसारेणेदानीन्तनभजनकर्तृमिताररशभवत्सिद्धान्तस्य ज्ञायमानत्वेन नन्द-
सन्वादिनामाग्रहणस्य बाललीलामारम्य रासलीलाप्रारम्भपर्यन्तकृतलीलानामभावनाप्रसक्तेः ।
अन्यञ्च । श्रीमन्नवनीतप्रियश्रीमद्गोवर्धनोद्धारणस्वरूपभजनाप्रसक्तेः महाननर्थः प्रसज्येत ।
न च तदन्तर्गतमिदमपि स्वरूपं यतत एवेति धाम्यम् । तथा सति तच्छ्रीलाविशिष्ट-
स्वरूपाणां तच्छ्रीलाश्रवणादीनां तत्तत्स्वरूपभजनस्य च गौणलीलात्वगौणश्रवणादित्य-
गौणस्वरूपभजनत्वापत्तेः । अपरञ्च । 'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गालितम् ।
तदन्यदिति ये श्राहुरामुरांस्त्वानहो युधा' इतिपद्येन श्रीमदाचार्यैर्यशोदोत्सङ्गालितस्य
सिद्धान्तितायाः परमतत्त्वताया भङ्गप्रसङ्गः । न हीदानीमाविर्भूते स्वरूपे यशोदोत्सङ्ग-
ालितत्वमस्तीति तद्विरुद्धा भवद्भ्रान्तपद्धतिः कथं मन्यतामुपेयात् । अथ च 'सखि
कापि सापि सम्प्रति वरिवर्ति किमु धजाधिपप्राणा । या नन्दसुनुमुरलीतरलं चेतः
समादध्या'दिति तत्तनुजराजोक्त्य सस्य तरलचेतस्त्वे नन्दसुनुमुरत्या हेतुत्वोक्तिरपि कथं
सगद्यसा स्यात् । श्रीमदाचार्यैरज्ञानां तत्तनुजराजानां च भजनगतमावात्मकभगवत्स्वरूप
एव निष्ठावत्त्वात् । ननु तर्धवतारसम्पूर्तिकाल इत्यस्यास्त्वप्रभुक्ततयात्र काल इत्यत्रल-
कालपदव्याख्यानस्य का गतिरिति चेत् । अशोच्यते । मृ पाठनपूरुणयोरितिपाल्थानु-
सारात् सम्पूर्तिश्चन्दस्य सम्पूर्णता धर्मः, सा च केनचित् प्रकारेण न्यूनस्य भवति ।
तत्रास्मदाचार्योक्तमार्गो हि फलमार्गः । तत्र फलरूपो भगवानेव साधनम्, फलरूपो
भगवानेव च फलम् । तत्र परमकाष्ठापन्नस्य फलरूपभगवतो 'रसो वै स' इति श्रुते

रसरूपत्वात् स्वभादिसंयोगविशिष्टप्रेमासक्तिव्यसनपर्यन्तावस्थासंवलितपूर्वानुरागजविप्रयोग-
रूपेण साधनता । तदनन्तराविर्भूतपरस्परपोष्यपोषकभावविशिष्टविप्रयोगातिपुष्टपूर्णपूर्णतर-
पूर्णतमसंयोगतादृशसंयोगातिपुष्टपूर्णपूर्णतरपूर्णतमविप्रयोगपरम्परारूपेण च फलता । तत्रापि
परम्परायां परमफलता तु संयोगरूपस्यैव । इदं यथा तयानुपदमेव प्रतिपादयिष्यते ।
एवं च चाल्यमारभ्य पौगण्डान्तं पूर्वाक्तप्रकारकपूर्वानुरागजविप्रयोगरूपसाधनविशिष्टत्वमेव
मजमक्तानाम् । तत्र फलात् साधनं न्यूनमेवेत्यनुभवसिद्धम् । अन्यथा साधने प्राप्ते फला-
काङ्क्षा न स्यात् । तथा चैतासां पूर्वानुरागविशिष्टस्वभादिसंयोगसुखे प्राप्तेपि चाद्यसंयोग-
सुखस्वामिलपितस्वाजातत्वादेतावत्पर्यन्तं साधनरूपत्वमात्रेणैव भगवत् आविर्भावात् पुरुषो-
त्तमावतारो न्यून एव स्थितः । अतः परं तु 'बाहुप्रसारपरिरम्भे'त्याद्युक्तेन तदमिलपितपूर्ण-
चाद्यसंयोगसुखरूपेण, तदनन्तरमेतत्संयोगसुखपोष्यमुक्तसंयोगु 'ध्वान्तहिते' भगवती'त्याद्यु-
क्तेन पूर्णविप्रयोगस्वरूपेण, तदनन्तरं 'तासामाविरम्भे'दित्याद्युक्तेन रासावसानपर्यन्तं पूर्णपूर्ण-
संयोगसुखस्वरूपादपि कोटिगुणेन पूर्णविप्रयोगगुणेन पूर्णतरसंयोगसुखरूपेण, तदनन्तरं
च गोप्यः कृष्णे बन् यात इत्याद्युक्तेन पूर्वाक्तपूर्णतरसंयोगसुखगुणेन परार्थगुणभावि संयोग-
सुखपोष्यं पूर्णतरविप्रयोगस्वरूपेण, ततः पुनः पूर्वाक्तपूर्णतरविप्रयोगगुणेन गोचारणपरावृत्ति-
जनितपदपुनरार्थगुणपूर्णतमसंयोगसुखरूपेणाविर्भूतः, ततः पुनरप्यक्रूरकृतमधुरानयनजनितेन
पूर्णतमसंयोगसुखगुणेन पूर्णतमविप्रयोगरूपेण पुनरपि नावमरेणानन्तगुणान्तरप्राप्तसंयोग-
सुखस्वरूपेण चेत्येवं संयोगपरम्परारूपेणाविर्भविष्यति भगवान् । एवं चेदानीमेव रस-
रूपावतारस्य पूर्वं बाहुप्रसारेत्यादिना एकदलरूपसंयोगावतार उक्तः, इदानीं'मन्तहिते
भगवती'त्यादिना द्वितीयदलरूपविप्रयोगावतार उच्यते इति सम्पूर्णा जायत इत्यवतार-
सम्पूर्तिकाल इत्यल्लयसम्पूर्तिशब्देन सम्पूर्णताका, न तु पूर्वावतारसमाप्तिर्वानित्युच्यते ।
समाप्तिरूपार्यस्यैव विवक्षितत्वैवतारसमाप्तिकाल इत्येवोक्तं स्यात् । तस्मादवतारसम्पूर्ति-
काल इत्यवतारसम्पूर्णाताकाळ इत्यर्थः सम्पन्न इति नञ्कित्वादिभयत्रश्रोत्रस्य सिद्धे-
रिति सर्वं भव्यम् । यत्पुनर्विप्रयोगस्यैव फलत्वम्, न संयोगस्य, संयोगस्तु तद्विहतावत्
किञ्चित् कालं मध्ये मध्ये जायमानो यक्तानां देहखिल्यसुपयुक्तो भवति । भगवद्विपयक-
विप्रयोगस्तातिदुःसहत्वात् । अत एव भगवतो मधुरातः परावृत्त्यानागमनम्, संयोगस्यैव
फलत्वे मधुरातः परावृत्त्यागमनमेव स्यात् । नन्वथ किं प्रमाणमिति चेत् । 'भवतीनां
वियोग' इति पञ्चव्याख्यानसुबोधिन्व्यामयदेहभावेनात्मा गौण इति देहेन सह वियोग
आविर्भूतस्योच्येत । तदपि न पठ्यते । समवायिकारणत्वेन तेषु वर्तते इति । अन्यथा देहा
निःस्वभावाः स्युः । आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारी । अन्यथा स्वरूपनाश एव स्यात् ।
यथाशिकाष्ठयोः । पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्षदग्धाः, पुनः सम्बन्धेन सर्वदाह एव स्यात् ।
मुक्षानुभवस्तु स्वान्तःस्थिताभ्यमिच्छिक्त्वत् स्वान्तःस्थितभगवदभ्यिच्छया । सर्वयामि-

व्यक्तौ काष्ठांशो ज्वलिष्यतीति न सम्प्रप्यते, यतो भगवान् प्रलयकर्तृत्वादिप्रपञ्चकपर्या-
लोचने काष्ठान्तःस्थिताग्नेरभिव्यक्तिर्यथा चाद्योपाधिसम्बन्धाभावे किञ्चित्कालिकी, एवं स्वान्तः-
स्थितभगवदभिव्यक्तिरपि तद्विलतावद्भगवत्संयोगादिप्रयोगस्यैव सार्वकालिकत्वादिप्रयोगस्यैव
फलत्वं न संयोगस्येति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेरेव प्रमाणत्वात्, आग्निर्भूतेन वियोगस्त्वित्या-
देरयमर्थः । यथाविभूतस्वरूपेण संयोगः स्यात् तदा मथुरात् आगमनज्ञानेऽस्मान् विहाय
गत इति निश्चयजनितमहादुःखेन देहपातः स्यात्, तदेवोक्तमन्यथेत्यादिना सद्यष्टान्त-
मतेयं वियोगो हितकारीति भावः । पूर्वसम्बन्धेनेत्यादेरयमर्थः । राससामयिकवियोगोत्तर-
सञ्जातसम्बन्धेनैवैताः स्वत्यागजनितमहादुःखेन स्मरणपथगतेनार्थदग्धाः, अतःपरमिदानी-
न्तनसम्बन्धे मथुराविषयकगमनज्ञानेन कोटिगुणे दुःखे जाते सर्वदाहः सादिति ज्ञेयापे-
क्ष्यर्थे इति वदन्ति । तत्रापि वदामः । भगवद्भ्रुरसो ह्यग्निरूपः । तत्र यथाग्निस्त्वापजनकः
शीतलताजनकश्चेति द्विविधः । तत्रास्त्रादिपरिपाकजनकोऽग्निस्तु तापजनकः । हिमादि-
रूपोऽग्निस्तु शीतलताजनकः । तत्र यावत्पर्यन्तं देहादिषु तापस्तावत्पर्यन्तं हिमरूपोऽग्निः
स्वसम्बन्धेन देहादिसितिकारकः । सर्वथा स्वसम्बन्धेन देहादिनिष्ठतापनिवृत्तौ शीतलता-
गुणेन देहादिनाशकरश्च । एव रसरूपो भगवद्भ्रुःशिरपि विप्रयोगसंयोगरूपेण द्विधः ।
तत्र विप्रयोगात्मको रसरूपो बन्धिसत्पापकारकः, संयोगरूपो बहिस्तु शीतलताकारकः । तत्र
यावत्पर्यन्तं देहे विप्रयोगजनितस्त्रापसम्बन्धस्तावत्पर्यन्तं तापनिवर्तकस्वशीतलतागुणेन देह-
जीवात्मनोः सितिकारकः । स्वसम्बन्धेन सर्वथा तापनिवृत्तौ संयोगरूपो बहिस्तु जीव-
लयसम्पादकस्वभावत्वात् स्वसम्बन्धेन सर्वथा जीवस्य लये सम्पद्ये स्थितोपि भक्तिमार्गीप-
जीवात्मा रसानुभवामावाञ्छ एव भवतीति तत्राशकारकः । अस्मिन् पक्षे श्रीमदाचार्योक्त-
सर्वदाह एव सादित्यत्रलदाहपदेन रसरूपनाश एव सादित्यत्राप्याचार्योक्तनाश-
पदेनापि लय एव ज्ञेयः । जीवस्यानिवृत्तत्वाज्जित्यत्वात् काष्ठादिदाहवराहस्य देहादिनाश-
यत्नाशस्य वाऽसम्भवात् । एव च सति यदि भगवत्प्रेताग्निः सह संयुज्येत तदा पूरानुभूता-
नन्दात् कोटिगुणानन्दप्रादुर्भावे सर्वथा तापनिवृत्तौ मत्तात्मनां लय एव भवेद्, एवं च रस
मार्गीयकलाभासः सम्पद्येतेत्याग्निर्भूतेन वियोगस्तु हितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः । न
च लयसम्भावनायामेव पुनरपि विप्रयोगानिर्भावे पूर्वोक्तफलममव इति वाच्यम् । यदि
पुनरपि बहिराग्निर्भूतस्वरूपविप्रयोगानिर्भाववत्पक्षत्वम्, तदैतेनैव विप्रयोगेण चारिताम्यात्
विष्टपेपणन्यापप्रसक्तैः । न च मुत्तानुभवार्थं बहिराग्निर्भूतस्वरूपेण संयोगो देय एवेति
वाच्यम् । अन्तःस्थिताम्यभिव्यक्तिरदन्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या मुत्तानुभवसिद्धिरिति
श्रीमदाचार्यैरेवोक्तत्वाद्बहिराग्निर्भूतस्वरूपसंयोगस्य निःप्रयोजनकत्वादिति दिक् । यद्वा ।
बहिराग्निर्भूतस्वरूपेण वियोगस्तु हितकारीत्यस्यायमर्थः । प्रथमप्रादुर्भूतमथुरागतभगव-
त्सम्बन्धे महामुत्तानुभवे जने पुनरपि रसरूपमववत्स्वभावादिप्रयोगे जाते यथा यथा

संयोगानन्दाधिक्यम्, तथा तथा विप्रयोगे तापाधिक्यम्, यथा यथा विप्रयोगे तु दुःखाधिक्यम्, तथा तथा संयोगे आनन्दाधिक्यम्, इत्यनुभवान्मधुरागतस्वरूपेण विप्रयोगे पूर्वतापादपि कोटिगुणे तापे जाते देहनाश एव स्यात्, एतत्तापस्य प्रलयामितापादपि प्रबलत्वात् । यथा बाह्याग्रिकाष्टसम्बन्धे काष्ठनाशः । अस्मिन् पक्षे पूर्वसम्बन्धेनैवेता अर्धदग्धाः, पुनः सम्बन्धे सर्वदाह एव स्यादित्यत्रलापूर्वसम्बन्धेनेत्यस्य पूर्वविप्रयोगसम्बन्धेनेति पुनः सम्बन्धे इत्यस्य च पुनर्विप्रयोगसम्बन्धे इति चार्थो बोध्यः । तस्माद्दहिराविर्भूतस्वरूपेण भगवान्न सम्बन्ध्यते । सुखानुभवस्त्वन्तरानुसन्धानेन्तःस्थिताभ्यमित्यक्तिवदन्तःस्थितभगवत्स्वरूपाविर्भावेनान्तर्बहिरनुसन्धाने भगवत्सङ्गमाकाङ्क्षायामप्यन्तःस्थितस्य बाह्यप्राकृत्यादेव बहिरभि भवित्येवेति बहिराविर्भूतस्वरूपेण वियोगो हितकारीत्युक्तं श्रीमदाचार्यैः । न चान्तःसत्स्वरूपप्राकृत्येव तत्सम्बन्धजनितसुखातिशयोत्तरसञ्जातविप्रयोगादपि देहनाशप्रसक्तिर्भवित्येवेति वाच्यम् । बाह्यतृणतूलरूपोपाधिसम्बन्धाभावे मयनाविर्भूतकाष्ठान्तःसप्तहिर्न काष्ठदहनसमर्थः, तथात्र बाह्योपाधिरूपसर्वमुक्तिदानसम्बन्धाभावे बहिराविर्भूतस्वरूपमप्यग्नित्वात् देहनाशकरम्, किन्तु प्रपञ्चातीततापक्षेयनाशरूपरसधर्मपुरस्कारेणैव प्रकटमिति तदेव करोतीति भगदुत्तयप्रसक्तैः । यद्वा । आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारीत्यादेरयमभिप्रायः । प्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपं हि सर्वमुक्तिदानाय प्रकटम्, तत्र सर्वमध्ये गोपिकानामपि सत्त्वादेतासामपि लयरूपमुक्तिमेव प्रतिक्षणं ददाति भगवान्, परं तस्मात् पृथक्कृत्य भजनानन्दमनुभावयति । 'ये यथा मा'मिति प्रतिज्ञातः । अत्रोपष्टम्भकरूपा 'यत् एतद्विगुच्यत' इतिफलप्रकरणीयपञ्चाप्यायीपपञ्चाल्यान्सुघोषिनी द्रष्टव्या । एवञ्च तस्मात् पृथक्करणक्षेयः प्रतिक्षणं प्रभोर्भवतीति प्रक्षालनादि पङ्क्त्येति न्यायाद्बहिःप्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपेण भगवान् न सम्बन्ध्यते, तेन गोपिकानां लयनिवृत्तेर्हितं भवतीति प्रपञ्चाविर्भूतस्वरूपेण वियोगो हितकारीत्याचार्यैरुक्तम् । बाह्यानुसन्धानेनुसन्धाने वा भावमेरेणान्तर्बहिःप्रकटरस्वरूपसंयोगं तु करोत्येव प्रभुः । तासामभिलषितत्वाद्द्रस्यमागीयपरमफलरूपत्वाच्च । तस्मान्न विप्रयोगस्य परमफलत्वम्, किन्तु संयोगस्यैव । संयोगसाधनत्वात् पूर्वानुरागजनितविप्रयोगस्य संयोगपोषकत्वात् संयोगानन्तराविर्भूतस्य विप्रयोगस्य च परमफलत्वमुच्यते । अन्यथा भगवत्संयोगोस्माकं भवत्वितिच्छेदोदयवद्भ्रजमत्तानां भगवद्विप्रयोगोस्माकं भवत्वितिच्छेदोदयोपि धीभागवते श्रुतः स्यात् । इदानीन्तनानां भगवद्विप्रयोगेच्छेदोदयस्तु भगवत्संयोगसाधकत्वपोषकत्वज्ञानादेव भवतीति न काप्यनुपपत्तिः । यद्यपि भगवतो रस्वरूपत्वात् संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद्द्रसरूपभगवत्प्राप्तौ विप्रयोगोप्याज्ञादिफले त्वन्वीजादिचदन्तमतीभवति तथापि त्वन्वीजादिप्राप्त्या यथाप्रफलरसाकाङ्क्षा भवत्येव, तद्द्रसप्राप्त्या तु त्वन्वीजाचाकाङ्क्षा न भवति, तथा विप्रयोगप्राप्त्या संयोगाकाङ्क्षा भवत्येव, संयोगप्राप्त्या तु विप्रयोगाकाङ्क्षा तु न भवतीति संयोगस्यैव परम-

फलत्वं वक्तुं शक्यते । ज्ञाते सति स्वपृष्ठितयेष्यमाणस्यैव फलत्वात् । न त्विदं विप्रयोग इति न विप्रयोगस्य फलत्वम् । अत एव फलप्रकरणीयप्रथमाध्यायसुबोधिनीप्रारम्भस्याया-
 'मतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम् । चाह्याम्यन्तरभेदेन ह्यान्तरं तु महाफल'-
 मितिकारिकायां रमणपदवाच्यचास्याम्यन्तरसंयोगस्यैव फलत्वं महाफलत्वं च क्रमेणैवोक्तम् ।
 एवमेव 'स्नानन्दस्थानपर्याय लीलया भगवता कृता । स बाह्यो जनितः पुष्टो यथान्तर्निवेश-
 ल्युनः । तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोविश'दिलेतेद्वितीयाध्यायसुबोधिनीप्रारम्भ-
 कारिकायां विप्रयोगस्य संयोगपोषकत्वमेव, फलत्वं तु संयोगस्यैव श्रीमदाचार्यवर्यैरुक्तम् । अत
 एव 'भयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठ' इति अमरगीतषडध्यायस्नानसुबोधिन्यामपि फलसाधकत्वाद्भ-
 क्तिमार्गे विरह एव पुरुषार्थ इति किमिति निराकियते तत्रादेत्याभासे विप्रयोगस्य फलसाध-
 कत्वमेवोक्तं श्रीमदाचार्यवर्यैर्न तु फलत्वमिति भवत्सिद्धान्तिता विप्रयोगस्यैव परमफल-
 रूपता कथं सङ्गच्छेततराम् । अतःपरं विप्रयोगान्तर्गतभगवत्स्वरूपप्रकट्यं तद्विज्ञतावत्
 किञ्चित्कालिकमेव भवति, अन्यथा देहनाशः स्यादिति यदुक्तम्, तदपि न विचारक्षमम् ।
 ताभिः किञ्चित्कालिकसंयोगसानाकाङ्क्षितत्वात्, बहुकालिकसंयोगस्यैव तदाकाङ्क्षाविषय-
 त्वात् । इदं तु दशमस्कन्धीपपदत्रिंशत्तथाध्याये 'अहो निधातस्तव न क्वचिदया संयोज्य
 मेन्या प्रणयेन देहिनः । तांश्चाकृतार्थान् विद्युनह्वचपार्थकं विचेष्टितं तेर्भकचेष्टितं यथे'-
 सारम्य सौकरचतुष्टये 'निचारयामः समुपेत्य माधवं किञ्चो करिष्यन्कुलवृद्धचान्धवाः ।
 मुकुन्दसङ्गात्रिमिपार्थदुस्त्वजादेवेन विध्वंसितदीनचेतसाम्, यस्यानुरागललितस्मितवल्गु-
 मध्रलीलाबलोकपरिरमणरासगोष्ठ्याम् । नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः
 कथं न्वतितरेम तमो दुरन्त'मितिस्लोकद्वये च प्रकटमेव । एवमपि सति यदि किञ्चित्का-
 लिकमेव संयोगं दद्यात् तदा 'वि यथा मा'मिति भगवत्प्रतिज्ञाहानिः स्यात् । तद्विज्ञताव-
 देतासां संयोगो भवतीत्यादिप्रकारस्य श्रीमदाचार्यस्वत्तनुज्वरलैश्च कण्ठरथेण कुत्राप्यनुक्त-
 त्वाच्च । तस्मादन्तर्पदिर्दिवा रात्री चातृप्तिसंयोगरूपेण प्रकटः, पुनस्तत्संयोगपोषार्थं विप्र-
 योगरूपेण च प्रकटः, पुनः पूर्वप्रकारसंयोगरूपेण पुनर्विप्रयोगरूपेणेति परम्परया गोपि-
 कामिः सद्द श्रीऽति भगवानिति कृतं विसृजेण । ननु तथापि नान्तर्दृष्टगतानामेवंविध-
 तन्पूर्वतररूपभगवत्प्राप्तिरेतासां मुक्तयनन्तरमेवैतादृशरसलीलाप्राकट्यादिति तत्रासफलस्य
 न्यप्यमफलत्वमस्माभिरुच्यते इति चेत्, अत्रोच्यते । सगुणशरीरत्वागोचरतरक्षणप्राप्त-
 गुणातीतदेहेन भगवत्प्रकटगतानामन्तर्दृष्टगतानामपि 'ताभिः समेताभिरुदारचेष्टिण'
 इत्यादिलीलासौभगजन्ममदमानलीलाप्राप्तसुचरसामविज्ञान्तर्धानलीलाभारम्य 'नामथाहु-
 क्तवामकपोले'त्यापुक्तसुगुणगीतलीलान्तसर्वलीलानामपि प्राप्तिरेतासामिति श्रीमदाचार्य-
 तत्तनुवसानां हि मिद्वान्तः । अत एव 'ता रद्वान्तिरुपायाता' इतिफलप्रकरणीय-
 षडध्यायस्नानसुबोधिन्यां 'यास्तु समाह्वनाः समागतान्ता न निवार्यन्ते, याः पुनः सगुणा

अन्यसम्बन्धिन्यस्ताः शब्दश्रवणात् समागता इति शब्देन निवारणीयाः, अन्यशेषतया भजनमयुक्तमिति । करिष्यमाणलीला तु सर्वभावप्रपत्तिसाध्या, अतो निवारणार्थं यत्नमाहे'ति श्रीमदाचार्यैर्व्याख्यातम् । विवृतं चैतत् तत्तनुजरसैः स्वकृतदिप्पण्यां 'यदन्तर्गृह्यता अनाकारिता एव नादं श्रुत्वोयुक्ता इति प्रतिबन्धोमूदिति शङ्कानिरासायाहुः याः पूर्वोक्तास्ता अप्याहूताः, तत्रोपपत्तिमाहुः समागता इति । अन्यथा तथा न स्यादिति भावः । गेहस्य देहसम्बन्धित्वात् तस्य च नष्टत्वे नैतासां गृह्यामावात् तत्र गमनं बाधितमिति न निवार्यन्ते' इति । एवं चान्तर्गृह्यता न निवार्यन्त इति स्फुटमेव प्रतीयते, तत्र तन्निवारणं च भगवन्निकटप्राप्तौ सति सम्भवति । भयदभिमतसिद्धान्ते त्वेतासामिदानीं लय इति तन्निवारणप्राप्तेरभावान्श्रीमदाचार्यांकिस्त्रतनुजरसोक्तिश्चासमञ्जसा सात् । तस्मादन्तर्गृह्यतानां गुणातीतदेहप्राप्त्या भगवन्निकटगमनं सिद्धम्, तदा तन्निवारण-प्रसजनं च सिद्धम् । एवं च तदुत्तरसामयिकी सर्वाणि लीलैतासु सिद्धेति न मध्यमफल-त्वमेतत्फलस्य, किन्तुत्तमफलत्वमेवेति व्यर्थं एवैतासां मध्यमफलप्राप्तिरिति सिद्धान्ता-भिमानः केषामिदिति सर्वमवदातम् ।

श्रीबहमतस्तुतवरविह्वलनायाङ्गिरेणुलवपलतः ।

जयगोपालः कृतवान् सविवृतिसेवाफलव्याख्याम् ॥ १ ॥

मूर्ध्न्यंशलिं ननु निधाय निधाय भूयो

भूयः कृपात्पु मद्दत्तु निवेदयामि ।

यत्किञ्चिदत्र लिखितं मयका भवद्भिः

तत् पुष्टिमार्गपथिकैः परिशोधनीयम् ॥ २ ॥

इतिश्रीवल्लभाचार्यचरणकमलैकतानमानसश्रीमन्महामशुश्रीविह्वलेश्वर-
कृपाकटाक्षोद्बुद्धिना सुबुद्धिना मठपतिजयगोपालेन
विरचिता सविवृतिसेवाफलदिप्पणी समाप्ता ॥
॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

१ इदं पद्यं जयगोपालकृतवद्विस्तृत्युक्तसम्बन्धेऽपि निघण्टे । भारम्भस्यं 'बर्हिबर्हलतमिति'पद्यं चारुत-
तेतिथिमाप्यस्यम् । इदं पद्यद्वयं तत उद्बुत्पासां दीक्षायां मन्थकृता पद्यानिवेशितमिति प्रतिभाति ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् ।

मठेशश्रीलक्ष्मणभट्टविरचितसेवाफलविवृतिविवरणसमेतम् ।

विचार्य श्रीमदाचार्यप्रोक्तं सेवाफलाभिधम् ।

ग्रन्थं तद्विवृतिं चापि विवृणोमि यथामति ॥ १ ॥

साहजयोगाद्यभेदाथौ भक्तिभेदकरी हरी ।

स्नेहसक्तित्वसनिनी तसिद्धौ स्वाहवित्तजा ॥ २ ॥

प्यसनं मानसी सेवै माहात्म्यज्ञानभक्तितः ॥ ३ ॥

अथातः श्रीबलभाचार्याः स्वसिद्धान्तगुक्तावल्यां 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'त्यादिना ब्रह्मवादसिद्धान्ततः सत्ये जगति कृष्णस्य सेवाभक्तिं निरूप्य तसिद्धौ मुख्यं फलं सपरिकरं निरूपयितुकामाः सेवाफलनिर्णयग्रन्थं सविवरणमाहुः ।

घाट्टशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

सेवना च प्रागुक्ता त्रिविधा, अत्यन्तरत्ना अन्तरत्ना बहिरत्ना चेति प्रथम्येन सूच्यते, या नित्यश्रीस्वामिन्यन्तरत्नस्य स्वस्वामिनः गुरुषोत्तमस्य 'प्रतिकृतिरूपस्य' काश्मीर-चन्दनसुगन्धतैलान्धस्नानपूर्वकगृहारादिज्ञानक्रियारूपा साक्षादङ्गेषु सृष्टु संस्पृश्य लोकवत् सशैर्दं क्रियमाणा सेवा प्रथमा । मन्दिरप्राप्तसम्भारनोपलेपनचित्रकरणपूर्वक-सिंहासनादिशय्यान्तरणक्रीडनोपकरणपीठखण्डाक्षिभृद्द्वारादियोजनाभ्रादिपयःपाकसामग्री-साधनज्ञानक्रियारूपा परिचर्या द्वितीया । पुष्पगन्धताम्बूलफलकन्दमूलशाकामानरस-संशोधनधनवसनभूषणसम्पादनज्ञानक्रियारूपा परिचर्या बहिरत्ना तृतीयेति यादृशपदसार्थः । सेव स्वतनुवित्तजेति तत्रोक्ता । तत्सिद्धौ 'तत्र प्रेमासक्तित्वसनात्मना परिणतायां मानस्यां सत्यां' सेवकस्य यादृक् फलं तदुच्यते । यद्यपि तत्र 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्म-वोधन'मिति फलमुक्तं तथापि तदवान्तरमेवेति मुख्यं फलमुच्यत इत्यर्थः ।

तदपि त्रिविधमिति सविवरणं निरूपयितुमाहुः ।

अलौकिकस्य दाने हि चायः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

फलं वा अधिकारो वा न फालोत्र नियामकः ।

विवरणमत्र मेयायां फलप्रथमलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोप-योगिदेहो वा वैकृष्णदिष्यति । अलौकिकसामर्थ्यं प्रथमायाः फलम् ।

सायुज्यं द्वितीयायाः । सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु 'अधिकृतः' तृतीयायाः । तत्रालौकिकस्य भगवत् इवालीकिकमेव ज्ञानक्रियाम्यां सामर्थ्यं जगद्भाषारवर्जं यत् तत्तथा । खेच्छया देहेन्द्रियप्राणान्तःकर्णरेव सदा सेवापरैः सहितस्वात्मनो जीवनशक्तत्वं 'श्रुति' कुमारिकाणामिव, तत्परित्यजेन च खेच्छयाशक्तत्वमित्तिद्विकमन्त-र्गृह्यतानामिव । तान्कादाचित्कीखेच्छया 'गुप्त' भगवत्तोक्तमग्नशक्तत्वमित्यामुष्मिकं भ्रुवादेरिव तत्तथा । 'मूलोः कृत्वैव मूर्ध्न्यद्विमारुतेह हरेः पद' मितिवाक्यात् सशर्मणि-न्यायेन तेषामप्राकृतत्वेन त्यागासम्भवात् भगवदानन्दानुभवसामर्थ्यं यत् तस्मालौकिकस्य दानेनाद्यो मनोरथः उत्पन्नः प्रमाणानुरोधी प्रमेयैकसाध्यो मनोरथः स्थाभिलषित-रूपो 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा यसु' रितिवान्यात् तद्भजनानन्दानुभवश्च सिध्येत् । एतेन कालकर्मप्रकृत्यनधीनत्वं घोषितम् । द्वितीयायाः फलं सायुज्यम्, तदपि द्विनिधम्, रूढार्थकं यौगिकार्थकं च । तत्राय ज्ञानमिश्रितानामेकत्वरूपम्, अमेदरूपं वेदाद्यन्ता-भावरूपमात्मनैक्यमित्यर्थः । 'शुद्ध' भक्तानामपरम्, सह युनक्तीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, तद्भक्तानां भेदतत्सदसन्नरित्यतस्सादानन्दानुभवात्, पूर्वन देहेन्द्रियप्राणान्तः-करणानि विहायेह स्वामनेव केनलेन तदानन्दानुभवः, अपरं सदैव तैः स इति सार्यक-तैषामन्यत्र नेति तारतम्यम् । तत्र स्पष्टमेव पार्षदानामसुरारोशिनां ज्ञानयोगिनां चोक्तम् । तृतीयायाः फलं सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु । अप्राकृतभूतभौतिक-तृणलतापधिपृक्षपशुपक्ष्यादिदेहः अधिकारात्मा, तत्र सेवोपयोगी बोध्यः । पूर्वनापरोक्ष-मेवान च परोक्षमिति भेदः । वैकुण्ठे मुख्येऽमुख्ये च । आदिपदेन सर्गादिषु विष्णोः स्थानेष्वपि तथेति निरूपितम् । वेति चार्थे ज्ञेयः । अत्र फलत्रयेषु न कालो नियम-मकः । फल इत्युपलक्षणम्, कर्मप्रकृत्योरपि न नियामकतेत्यर्थः । अत एव श्रीभागवते द्वितीये 'न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रणान्,' तृतीये 'न कर्हि-चित्तमलराः शान्तरूपे' इति, कपिलेनोक्तं च 'नश्यन्ति नो निमित्तो लडि हेति' रित्यादि ॥

तत्र सेवायां प्रतिबन्धकामात्रः कारणमिति प्रासङ्गिकं प्रतिबन्धमपि त्याज्यत्वेन निरूपयन्ति ।

उद्देशः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्वात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

अत्र बाधकमित्येकवचनेन मिलित्वानामेव बाधकतेत्याशङ्क्य विवृण्वन्ति, सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति । अत्रोद्देशः साधारणः स त्याज्य एव । एवमुद्देशं निरूप्य प्रतिबन्धमोगी निरूपयन्तोऽनुरोधरूपस्य प्रतिबन्धस्यानिवार्यत्वेन पाठकममनपेक्ष्यार्थ-क्रमतो भोगं विवृण्वन्ति भोगो द्विविध इति । लौकिकोऽलौकिकश्च । तत्र लौकिकस्त्वाज्य एव, अलौकिकस्तु न, तस्य फलानां मुख्यमध्यमसाधारणानां प्रथमे प्रविशतीति प्रथमे फलेऽलौकिकसामर्थ्येन प्रमुखस्वरूपानन्दानुभवभोगे प्रवेशात् ।

एवं भोगं निरूप्य प्रतिबन्धं निरूपयन्ति प्रतिबन्धोपीति । स च साधारणोऽ-
साधारणश्च । साधारणः सेवासमये लौकिकवैदिककर्मानुरोधरूपस्त्वान्य एव, स्वाधीन-
त्वात् । असाधारणो भगवत्कृतः, स सद्य एवेति भावः । ननु कथमेतेषां सिद्धानां
त्याग इत्याशङ्क्याहुः त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति । साधनमत्र तज्जनन-
हेतुभूतं यत् तत्परित्याग इत्यर्थः । नन्वावश्यकस्य लोकेदसिद्धतया अशक्यत्यागत्वात्
कथं त्याग इत्याशङ्क्य तदुपायं विवृण्वन्ति तत्रायो बुद्ध्या व्याज्य इति । सेवाया
अवसरे त्याज्यः, अनवसरे विधेय इति पातुर्येणेत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं साधारणप्रतिबन्धं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धं निरूपयन्ति ।

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गतिर्न हि ।

पथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

प्रगोरेव अकर्तव्यं स्वसेवाकारणमचिकीर्षितं चेत् तदा स्वस्य गतिर्न हीति
निश्चयः । तदा ज्ञानमार्गेण स्यातव्यं शोकामावायेति । वक्ष्यन्ति चाग्रे
तदान्यसेवापि व्यर्थेति भावः । नन्वासुरेष्वेवं न तु देवे तथेत्याशङ्क्याहुः तदा
आसुरोऽप्यमिति । एवंविधप्रतिबन्धरूपलिङ्गेन साक्षात्सुरत्वमनुभवेयमितिभावः । तत्रा-
सुरत्वमागन्तुकं वा साहजिकमिति निर्धारार्थं विवेकः, सांख्यज्ञानमिति केचित् । तेन
शोकामावमा, न तु मोक्षः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तमेव निगमयन्ति ।

पाथकानां परित्यागो भोगेष्वेकं तथा परम् ।

भोगयोरपि पूर्वसमतामाशङ्क्य पैलशण्येनाहुः ।

निःप्रत्युद्गं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

प्रथमे अलौकिककामार्थ्ये भोगो भजनानन्दातुभवरूपो महान् सदा स्वरू-
पतः साधनतः फलतः, अर्थः । पाठान्तरे अल्पो भोगः सविशः सप्रतिबन्धः ॥ ४ ॥

सविमोल्पो घातकः स्यादिति ।

सविमोल्पो घातकः स्याद्दलादेतौ सदा मतौ ।

अत एवेताविति विवृती । भगवत्कृतप्रतिबन्धे अन्यफलचिन्तया शोकः कदाचित्
तस्य स्यादिति तदमावार्थं चिन्ता न कार्येत्याशयेनाहुः ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

भगवत्कृतप्रतिबन्धे । तत्र हेतुः । स्वस्य संसारनिश्चयादिति । संसारोऽहंम-
सया जन्मकर्मप्रवाहमार्गस्वरूपः, तस्य निर्धारणादित्यर्थः ॥ ५ ॥

एवं प्रतिबन्धं विचार्य उद्वेगरूपप्रथमं प्रतिबन्धेन फलामाये भगवतो दातृत्वाभावं
हेतुत्वेन निरूपयन्ति ।

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये साधकं गृहम् ।

अत्र आद्यफलाभाय इति विवृतम् । आद्येन चा प्रतिबन्धेन फलाभाव इत्यर्थः । नन्विति विरोधोक्तौ । आद्ये उद्देगरूपप्रतिबन्धे, भगवतः सर्वसमर्थस्यापि सेवाया अमानसीत्वेन अनाधिदैविकीत्वे तत्प्रयुक्तः प्रभोः फलदातृत्वाभाव इत्यर्थः । एतदेव विवृण्वन्ति तदा सेवा नाधिदैविकीत्यादि । तृतीये लौकिकभोगे गृहमेव साधकम् । गृहमत्र पश्यादिकं विष्णुवर्हिर्मुखमेव त्याज्यम् । अत एवोक्तमाचार्यैर्निबन्धे 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मित्यादि ।

एवं फलत्रयं प्रतिबन्धकत्रयं च प्रासङ्गिकं निरूप्य एतद्विचारमावश्यकत्वेन वक्तुमुपसंहरन्ति ।

अब्रह्मेयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

(इयं दातृता हरेः यद्वा भक्तितः मनुकिर्वा) । सेवा पूर्वोक्ता तपसी वा विचिन्त्येत्यर्थः । एतदतिरिक्तं सर्वं मनोभ्रमः । भक्तिमार्गे त्रिविधसेवाया एव पूर्वोक्तं फलत्रयं नान्यत्, प्रतिबन्धकं चोद्देगादिकमेव न पापादिकं । 'स्वापादमूलं भजतः त्रिप-
स्ते'ति भागवतवाक्यादिति भावः ॥ ६ ॥

ननु भगवदीयैर्नैयं मान्येत्युच्यतां किन्त्वन्त्यैरेवेत्याशङ्क्याहुः तदीयैरपि तदित्यादि ।

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव बिलम्बयेत् ।

कलौ देशदीनामसाधकत्वात् तथा । पुष्टौ सितः प्रभुस्तु नैव बिलम्बयेत् ।
गण्यसैरेवेह तथेति भावः ।

एतदेव निमित्तमन्यत्राप्युपदिशन्ति ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

एतद्भावनेन मनसो भगवत्तत्परतायां गुणक्षोभोपि न भवितेति भावः । अत्र
संसंमतिरेव मानमाहुः इति मे मतिरिति ॥ ७ ॥

नन्वत्र काचित् सुतर्ककल्पना उत्पद्येत तदा कथं विचारणीयेत्याशङ्क्यामाहुः ।

कुसृष्टिरत्र वा काण्डिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७ ॥

स्पष्टार्थः ॥ ७ ॥

इति श्रीशाचार्यवर्यमतमार्गातुवर्तिना ।

सेवाफलं सविबुद्धिं विवृतं च यथामतिः ॥ १ ॥

इतिमठेशश्रीनाथभट्टात्मजगोपीनाथसुतलक्ष्मणभट्टविरचितं
सेवाफलविवृतिविवरणं समाप्तम् ॥

धीठ्ठ्णाव नमः ।

सेवाफलम् ।

विवरणटिप्पणीसमेतम् ।



श्रीमदाचार्यचरणान् सेवारसफलप्रदान् ।
नमामि तद्रजोलेशलवस्पर्शसमीहया ॥ १ ॥
श्रीमदाचार्यचरणैस्त्रिधा सेवा फलत्रयम् ।
निर्णीतं तत्र मे षोडशधाहि कृपयोन्पते ॥ २ ॥

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।

यादृशी सेवनेत्यस्य विवरणे सेवायां फलत्रयमिति । अयं भावः । भक्तिमार्गेण पुष्टिमर्षादाप्रवाहभेदेन जीपेषु भगवद्व्रीकारत्रिधा । तत्रापि पुष्टिमार्गफलार्थं यद्वरणं तस्युष्टौ मर्षादापामेष, न तु प्रवाहमार्गेपीति विवरणे स्फुटीकरिष्यत इति । तेषां साधनरूपां सेवापि त्रिधा प्रोक्ता । अतस्त्रयशतप्रकारकसेवासिद्धौ फलमुच्यते । तत्किमित्याकाङ्क्षायामुक्तमलौकिकस्वरमध्वर्मित्यादि । तत्र पुष्टिमार्गाद्दीकृतस्य साधनदशाया-माचार्योक्तप्रकारेण सेवाकरणे मानसीतत्सिद्धौ फलं साक्षाद्भवत्सम्बन्धरूपं भवेदिति । तस्येदमेव अलौकिकसामर्थ्यं यदाधुनिकजीवस्य तादृशपूर्णालौकिकैश्वर्यवीर्यादिगुण-धता समं सान्येन रतिः रसोद्बोधश्च भवतीति तयोक्तं विवरणे, न हि साधारणस्य तादृशेन महता सममेतत् कर्तुं शक्यम्, रसामासेहेतुत्वात् ।

ननु पूर्वं मानससेवायाः सिद्धिः कथं तथाहुः अलौकिकस्येति ।

अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥

‘मानसी सा परा मते’त्युक्त्या सा सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्यरूपेणलौकिकस्य प्रमो-
दीने परमकाष्ठान्नस्वरूपसम्बन्धाभिलाषरूपभावदाने सः आद्यः पुष्टिफलरूपः सर्वो-
त्कृष्टो मनोरथः सिध्येत् । मनोरथपदेन प्रेमासक्तिव्यसनसंकल्पादिरूपः सन् सिद्धिं
प्राप्नोति, फलसम्मुखो भवतीत्यर्थः । अत एव मनोरथपदमुक्तम् । इयमेव मानसीतत्सिद्धिः ।
तदुक्तं ‘चेतस्त्रयवर्णं सेवे’ति । यद्यपि मानससेवासिद्धौ तनुजा वित्तजा च द्वे अङ्गे,
तथापि मुख्यमङ्गं दानम्, यत्सस्त्रत्करणेषु यदा दानं भवति, तदैव तादृशी सा भवति,
अन्यथा मर्षादामार्गीयमक्तानामपि निरन्तरं चत्करणे पुष्टिरूपायां तस्यां को विशेष इति

१ यद्यप्येतद्विवरणस्य नाम न शक्यते तथापि अयमौपासकमहद्वृत्ततदुपमाकाङ्क्षा श्रवणान्तर्निवीयते ।

तद्भावोदये नैव सा भवेदित्यर्थः । तेन तत्करणेपि दग्नेनेव तादृशभावः सिष्येत्रान्यथेति ज्ञेयम्, परन्तु तत्कृतिस्तु सर्वदा कर्तव्या, अकरणे भावः क उद्भवेद्, विषयामावाद्, अत एवाहभूते ते उक्ते ॥ १ ॥

ततः किमित्यत आहुः फलमिति ।

फलं चा अधिकारो वा न कालोत्र नियामकः ।

तादृशप्रचुरभावे सति फलं स्वरूपसम्बन्धरूपम्, अधिकारः अलौकिकदेहवयो-
गुणादिक भवेत्, तत्राहुः न काल इति । अत्र कालः वयोवस्थादिसमयरूपः
नियामको न, भगवदिच्छयैव सर्वं लोलोपयोगि तदैव भवेत्, न कालोपेक्षा । तादृश
प्रति भगवतोपि विलम्बानमहिष्णुत्वात् ।

एव पुष्टिफल निरूप्य मर्यादाफल निरूपयन्ति । तथा हि, मर्यादागार्गीडीकृतस्य
माहात्म्यज्ञानपूर्वकसेवाकरणे भगवति माहात्म्यभावसहितस्नेहेन तदात्मतया सायुज्यं
साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपे भवेन्न त्वक्षरे । तत्र तदालौकिकदानेच्छाभावात् स्वरूपसम्बन्धा-
त्मक फल न भवेदित्यर्थः । यदा पुन भगवान् कदाचिद् दातुमिच्छति तदा स्वस्वरू-
पात् वृषकृत्व तादृश प्रचुरभावदानं कृत्वा फल प्रयच्छति, यतोस्मिन्नागोपि दातृत्वामि-
प्रायेणैव वरणकार्यत्वात् । एव भक्तिरसे स्फुटीकृत श्रीमत्प्रभुचरणैर्भक्तिमार्गीयभक्तकृते-
त्यारम्भ, अत्रापवर्गवर्त्मनी'त्यन्तम् ।

प्रवाहभक्तिमार्गलक्षणकथनेन व्यापिवैकुण्ठस्य लोकस्वेनाक्षरात्मकत्वादक्षरमुक्तिरेव
फले, न तु पुरुषोत्तमसायुज्यम् । अक्षरमुक्ती तु आपफलदानेच्छाभावात्तदर्थं वरणमेव
नास्तीति नापफलसम्भारनेति मर्यादातो हीनत्वमुक्तम् । पुरुषोत्तमसायुज्ये तत्सम्भावना
वर्तत इति प्रवाहभक्तिमार्गसेवाफलादुत्कृष्टत्वम् । यत एतत्फलदानेच्छया यद्भरण तन्मार्ग-
द्वये एव, न तु प्रवाहमार्गे, तदप्युक्त भक्तिरसे 'विवरणे चास्ति प्रकारद्वय'मिति ।

एव सेवास्वरूप साधनफलसहित मार्गत्रयेषु निरूपितमिदानीं तादृशसेवासिद्धौ
प्रतिबन्धकत्रय निरूपयन्ति उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वेति ।

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

श्लोकविवरणे सेवायां प्रतिबन्धरूपप्रयमित्यादि । एतच्चित्तविवारणे त्रयाणां
साधनपरित्याग इति विवरणे निवृत्तम् । तत्रोद्वेगसाधन लौकिकशोकदुःखादिकम् ।
तस्य भगवदिच्छाधीनत्व ज्ञात्वा तत्प्राप्तेन तस्यापि त्यागो भवत्येवेति । 'चित्तोद्वेग'मित्यु-
क्तत्वात् न विशेषतो निवृत्तम् । तथा अपर प्रतिबन्धः । स च द्विविधः ।
साधारणो भगवत्कृतश्च । साधारणो बुद्ध्या त्याज्यः । बुद्धिस्तु यस्मिन्कृते सेवा
प्रतिबन्धोऽभूद्येत् स न कर्तव्य इति विचाररूपजुज्या त्याज्य । भगवत्कृतमग्रे वदित्यन्ति ।
लौकिकभोगस्तु निषयरूपत्वात् बाधक इति तत्साधनत्वमुत्तमानत्यागादेव तत्प्राग इति
तदेव त्याज्यमित्यर्थः । एव तत्रय त्याज्यमित्युक्तम् ॥ २ ॥

पापकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथापरम् ।

एतन्नयाणां साधनपरित्यागेनैव पापकानां परित्यागो भवतीति शेषः । ननु सेवायां यस्तुमात्रोपयोगात्तत्त्वागे कथं तद्विवाद् इत्याशङ्क्यामाहुः भोग इति । तथापि भोगे एकं लौकिकं त्यजेदपरं नेति शेषः । यत्सोषां स्वार्थमुपयोगे लौकिकत्वम्, भगवदर्थमुपयोगे अलौकिकत्वम्, अतः स्वार्थं ते त्याज्याः, भगवदर्थमुपयोज्या इति भावः ।

तदनन्तरमपापकत्वमाहुः निःप्रत्यूहमिति ।

निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ३ ॥

निःप्रत्यूहमिति प्रतिबन्धरहितं प्रत्युत साधकम् ॥ ३ ॥

एवं पापकानां परित्यागे निर्विघ्नसेवासम्भवे तस्यैव भोगस्य प्रतिबन्धत्वागे च हेतुं निरूप्य भगवत्कृतप्रतिबन्धे हेतुं निरूपयन्ति अकर्तव्यं भगवत् इति ।

अकर्तव्यं भगवत्तः सर्वथा चेद् गतिर्न हि ।

यथा चा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ४ ॥

अस्य विवरणे भगवत्कृतश्रेयादि विवेक इत्यन्तम् । अस्यायमर्थः । यदि भगवत्तः तत्फलदानं न कर्तव्यं भवेत् तदा ताच्छसेयायां सर्वथा सर्वप्रकारेणापि गतिर्नभवति । तत्र यथा तथा प्रतिबन्धकमेव भवेत्, न तु निर्वाहः । ननु स्वमार्गीयसेवायां तस्य भगवान् प्रतिबन्धं करोतु, परन्तु अन्यमार्गीयसेवायां न करिष्यतीति चेत्, तत्रोक्तं विवरणे तदा अन्यसेवापि कृता व्यर्थेति । प्रयाहादिमार्गेषु कृतापि व्यर्थे । यतः सकलमार्गेषु फलदाता भगवानेव । तस्य त्वकर्तव्यमेवेतीति तथा । यदा यत्ने कृतेपि प्रतिबन्धकं भवेत् तदा यथा तत्त्वनिर्धारो भवेत् तथा कर्तव्यम् । तत्त्वनिर्धारः कथमित्याकाङ्क्षायां विवरणे विवृतम् । आसुरोऽयं जीव इति । एवं तस्य विवेकेन ज्ञानस्थितिरूपमेव साधनं मतम्, यतः पूर्वमासुर एव जीवः । यथासुरदेह-सुकुण्डलेच्छादिषु कस्यचिद्वैवर्तव्यात् भगवत्परता दृश्यते, तथासुरजीवस्यापि कदाचिद्वैव-वशाद्भगवद्भक्तसङ्गेन सेवायां प्रवृत्तिर्भवति, परन्तु आसुरे भगवतो दातृत्वाभावात्तत्र प्रतिबन्धकमेव जायते । यत्सोपानन्यदेव फलम् । तदेवासुरी योनिमापन्ना इत्यादिनो-क्तम् । तथापि भगवद्भक्तसङ्गात्तुभावात् ज्ञानमार्गेषु स्थितिरुक्ता ॥ ४ ॥

तथापि चेत् शितिर्न भवेत्तदा तत्पूर्वोक्तफलविषयिणी चिन्तापि सर्वथा त्याज्ये-त्याहुः द्वितीय इति ।

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

विवरणे ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ताऽऽभावाच्च द्वितीय इति । तत्र हेतुः । संसारनिश्चयादिति । स्वस्य पूर्वोक्तसंसाररूपस्य फलस्यैव निश्चयात् सा न कार्या, पुनस्तदाशोच्छेद एवेति सर्वथेत्युक्तम् ॥ ५ ॥

ननु यथा द्वितीयप्रतिपन्धे पूर्वोक्तप्रकारेण आसुरजीवस्य सर्वथा फलविपयिणी चिन्ता त्याज्या, तथा साधारणप्रतिपन्धेपि सा त्याज्या, अन्यथा सा कथं भवेदित्याशङ्कानिरासायाहुः न त्वाद्य इति ।

न त्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये दाधकं गृहम् ।

आद्ये साधारणप्रतिपन्धे दातृता भगवतो नास्तीति न किन्तु वर्तते, परन्तु फलस्य कियञ्जन्मानन्तरभावित्वात् तद् भवति । तदपि प्रतिपन्धकं साधारणं निवारयितुं शक्यम् । तेन भगवत्कृत एव तस्मिन् दातृत्वाभावो, न साधारण इति ज्ञेयम् । अतो यस्य आद्यफलदानार्थं मर्यादयाङ्गीकारः तस्य तथैव सेवाकरणे साधारणप्रतिपन्धेद् भवेत्, तदा तन्निवारणेन सेवानिर्वाहात् पूर्वं सायुज्यफलं तदनन्तरं तत्फलं भविष्यतीति सा चिन्ता न त्याज्येति भावः । यस्य पुष्टौ अङ्गीकारस्तस्य तन्निवारणेन तादृशतरिस्कीं तत्फलं भवेदिति सा तथेत्यर्थः । एवं सति प्रवाहमार्गसेवापामपि सेवायाः साधनदृश्यमानत्वात् साधारणप्रतिपन्धे दातृत्वं भविष्यतीति शङ्कानिरासाय आद्यफलाभाय इति विवृतम् । आद्यफलस्याभावो यद्येतादृशे प्रवाहमार्गे तदर्थमङ्गीकार एव नास्तीति नाद्यफलसम्भावनापीति न दातृत्वम् । सा सेवापि माधिदैविकी, तत्र पूज्यस्वरूपेपि माधिदैविकत्वम्, किन्तु विभूतिरूपत्वमिति महद्वैलक्षण्यात् युक्तः साम्यमिति ज्ञेयम् ।

एवं साधारणप्रतिपन्धस्य ध्ववस्थामुक्त्वा प्रथमपृष्ठौ सर्वथा लौकिकभोगत्यागासम्भवात्, तत्रापि भगवतो दातृत्वाभावमाशङ्क्य तन्निवारणाय तद्व्यवस्थामाहुः, तृतीय इति । तृतीये लौकिकभोगेपि दातृता नेति न, यत् एतन्मार्गे द्रव्ये तादृश एवाङ्गीकारः, किन्तु तत्र मूलभूतं साधनं यद्गृहं तद्दाधकमिति तत् त्याज्यमिति शेषः । तस्यागे सर्वथा भोगाभावात् प्रतिपन्धकाभावेन तादृशभगवत्कृतसङ्गेन सेवानिर्वाहात् तत्फलमपि भवेदिति भावः । एतदेव विवरणे विवृतं भोगाभावस्तदैवेति ।

अत्र कश्चित्पूर्वपक्षी शङ्कते । तथा हि । स्वमार्गीयपरित्यामस्तु प्रेमासक्तिव्यसनात्मक-भक्तौ सत्यां कर्तव्यो, न तु साधनभक्तौ । तदुक्तं श्रद्धासन्निधये 'सञ्चासवरणं भक्तौ' 'अतोत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावह' इति च । तत्र करणे विपरीतफलमपि भवेदित्यपि । प्रकृते तु तत्पूर्वमेव भोगाभावाद्यर्थं सेवानिर्वाहार्थं च त्याग उच्यते इति कथमेकवाक्यतायां विरोध इव प्रतिभाति ?

तत्रोच्यते । प्रथमं स्वमार्गीयभक्तिसिद्धौ मुख्यं कारणं सेवा । सा सेवा 'गृहे स्थित्वा अद्यावृत्त्या गृहव्यापारपभावे न, प्रसुप्त पुत्रफलवादीनां भगवदर्थमुपयोगेन स्वधर्मतः करणे सिध्येत्, तद्येदनुकूलं भवेत्, नो चेत् मजनप्रतिपन्धकत्वेन सर्वात्मना तस्य त्याग एवोचितः । अन्यथा तत्सङ्गेन पुत्रफलवाद्युपभोगे स्वस्य गजनासम्भवे शरणगतिर्भज्येत, तदा सेवाभावे प्रेमासक्तिव्यसनात्मिका भक्तिरपि न भवेत्, तदभावे तन्मार्गीयपरित्यागोपि न, तदभावे फलानाथ एव च स्यादिति मार्ग एवोच्यते इति । तन्नोगाभ-

सिद्धार्थं तथा तत्सेवासिद्धार्थं च कथनम्, तदनुकूलतद्द्रवणाभिप्रायेणैवेति, न तत्राश्रम-
स्वीकार, सेवाभावानुपपत्ते, साधनभक्तौ निषेवाच्च । एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपेपि 'प्रति-
कूले गृहे लजे'दित्यनुकूलतत्प्रागाभावाभिप्रायेणान्ते प्रेम्णि जाते अङ्गेपि यत्किञ्चित्
भोगस्यापि बन्धकत्वात् तेनैव तत्राशे सति ततो यथा साधारणप्रतिबन्धनिवारणेन सेवा-
करणं तदान च, तथा लौकिकभोगत्यागेनापि निर्निर्गसेवाकरणे सति तत्फलं भवेदिति
ज्ञेयम् । तत्र पुष्टिमर्यादाया भगवति लीलामाहात्म्यगुणादिभावेनैव प्रेम भवेत्, न उष्टि-
रीत्येति तादृशस्य तादृशप्रेम्णा क्रमेण सर्वनिषयत्यागे, ततो तदभावेन तदारम्भकतया
श्रीकृष्णे सायुज्यं भवेत्, ततो यदा दानेनञ्च तदा स्वरूपात् पृथक्कृत्य तद्दानदाने तत्र
त्फलानुभव कारयिष्यतीति मर्यादाङ्गीकारे आद्यफलदानप्रकार उक्तः । तदुक्तं तत्रार्थदीपे
'सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णभारिकमानसे सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव भुव फल'मिति
सायुज्यानन्तरं भुव फलं तदेवेति भावार्थः । यस्य शुद्धपुष्टावगीकारस्तस्य तदारम्भेन पूर्वोक्त-
भोगादिप्रतिकूलवृत्त्यागेनानुकूलवृत्ते स्थित्वा सेवाकरणे भावात्मिकैः प्रवृत्तिर्भवेत्, ततो
यदा प्रेमासक्तिव्यसनानि भावात्मकतया पुष्टानि भवेयुः, तदा तत्र स्थितौ यत्किञ्चिद्भोग-
सम्यग्भेनापि भावनाश इति तदभावेन तद्विगाडभावपोषादिना पूर्णनिरहानुभवार्थं सन्यास-
निर्णयोक्तप्रकारेण परित्याग सन्यास आवश्यक उक्तः । अन्यथा क्षणमान भावान्तरसम्यग्भे-
भावशयित्याद् निरहानुभवभावात् फलाभावा इति । ततस्तरपूर्णातुभवे इक्ष्मावस्यया प्रति-
बन्धकदेहनिपुतौ अलौकिकतत्प्राप्त्या तत्फलानुभवो भवतीति पुष्टिभार्गाङ्गीकारे फलदान-
प्रकार उक्तः । अत एव मर्यादाया 'मदर्थेऽर्थपरित्याग' इत्यादिना भोगाभारार्थं भगवत्प्राप्त्यर्थं
च सर्वसमर्पणरूप एव त्याग उक्तः, न तु सन्यासप्रकारः । यत् सन्यासे तस्य पुष्टभावा-
दतोपि तादृशेरेव सम्भोगे भवतीत्युक्तवाचकत्वात् । अतः कलो स मन्यास पश्चात्तापाय
इति निषेधोप्युक्तसिद्ध एव । अत्रेपि लयपोषभुत्वेपि विरोधो भवतीति । सन्यासस्तु तादृश-
भक्तवैवेत्युक्तम्, 'सन्यासवरण भक्ता'विति मार्गद्वयभेदेन परित्यागस्य भिन्नत्वाच्च कोपि
विरोध इति ज्ञापितम् ।

एव मार्गत्रयसेवाफलभेद त्यागभेद च निरूप्योपसहरन्ति अचद्वयेयमिति ।

अचद्वयेय सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

इयं पूर्वोक्ता त्यागपूर्वनिरूपिका मनुक्तिः अचद्वया भाव्या, सर्वथा सदा,
भाष्या कर्तव्या । अथवा अचद्वया यद्यपि स्वयमेव कर्तुं न शक्यापि तथापि
भाव्या, भावयितुं मनसि चिन्तयितुं योग्या । तत एव सर्वं भरिष्यतीति सर्वथा
कर्तव्यमुक्तम् । आवश्यककरणे हेतु एतदन्यत् सर्वं मनोभ्रम एव न तु फलम् ।
मनुक्तप्रकारातिरिक्तकरणे सर्वोक्तफलमाप्तौ न, प्रस्तुत मनसो भ्रम एवेत्यर्थः ।

ननु कथं भ्रमः ? सर्वैसादेव नियते तत्राहुः तदीयैरपीति ।

तदीयैरपि तत्कार्ये पुष्टौ नैव विलम्बयेत् ।

गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतद्वेति मे मतिः ॥ ७ ॥

कुसुष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ७॥ ॥

तदीयैः पुष्टिमार्गातिरिक्तजीवैः भ्रमसम्बन्धिरपि कार्यं तदेव, सर्वलागपूर्वकं मद्गुक्तरीत्यैव भजनं कार्यम् । न क्रियते चेत् तदा अज्ञानाद्भ्रम एव, न तु फलम् । यदि तदीयरपि तदेव कार्यं तदा यः पुष्टौ स्थितः कोपि मद्गुक्तप्रकारसेवाकरणजनितभ्रमासक्तिव्यसनादिभाववान् स तु विशेषतः क्षणमात्रमपि न विलम्बयेत्, मद्गुक्तकरणे विलम्बं न कुर्यात् । यदि विलम्बयेत् तदा पुष्टिभावान्तरत्यागाभावे विजातीयसङ्गेन भावशैथिल्यात् फलाभाव एव भवेदित्यर्थः । यतस्तादृशस्य स्वरूपव्यतिरिक्तवस्तुमात्रस्मरणस्यापि फलप्रतिबन्धकत्वम् । तदेवाहुः गुणक्षोभेपीति । अयं भावः । तादृशपुष्टिमार्गीयस्य व्यसनावन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागे कृते स्वरूपसङ्गाभिलाषायाः प्राचुर्याद्विगादभावेन देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानि स्वरूपात्मकान्येव भवन्ति, यतः विकलत्वास्वास्थ्यैर्दिकं निरन्तरं भवति तदा तादृशशार्पा मध्ये कदाचित्तस्य भगवद्गीतागुणादिस्फूर्तिर्न भवेत्, तदा मनःस्वास्थ्येन भावशैथिल्यात् स्वरूपान्तरायो भवेदित्येव गुणक्षोभः गुणैः कृत्वा मनःस्वास्थ्यरूपोऽविकारस्तस्मिन्नपि एतदेव द्रष्टव्यम्, फले प्रतिबन्धकमेव, द्रष्टव्यमिति-पदं प्रत्यक्षप्रमाणत्वेनोक्तम् । एतेन लीलागुणस्मरणस्य पाषकत्वं कथं वक्तुमुचितमित्याशङ्का निरस्ता । एतदेव सङ्घासनिर्णये 'ज्ञानं गुणाशे'ति पाषकत्वमुक्तम् । एवं सति यत्र स्वरूपगुणस्मरणेपि फलाभावः, तत्र गृहादीनां प्रतिबन्धकत्वेन त्यागविलम्बे फलाभाव इति किं वाच्यमिति भावः । अत एव सर्वथा भोगाभावस्त्याग एवेत्याशयेन विवृतावुक्तं भोगाभावस्तदैवेति । अत्र प्रमाणं मे मतिरिति । स्वस्यैव तादृशप्रकारकालुमवात् स्वमतिरेवोक्ता । यदि मन्मतिप्रमाणत्वेन य एव करिष्यति तर्हि तस्य सर्वं सुद्वेष मविष्यतीति भावः । अकरणे पाषकमाहुः कुसुष्टिरिति । अत्र एतत्प्रकारकसेवाफलनिरूपणरूपमद्गुक्तौ कथं किमित्यादिरूपा कुसुष्टिश्चेदुत्पद्येत वै निश्चयेन स भ्रम एवेति सा न कार्यैत्यर्थः । करणे सर्वस्वहान्तिरेवेति निश्चयः ॥ ७॥ ॥

एतद्विवृतेरर्थो यद्यपि विवृतो महत्तरणैः ।

तदपि तदेव हि गूढं दृष्ट्वा भावः स्फुटीकृतः कृपया ॥ १ ॥

सोपि तथैतरया वा नो जाने सद्विरीक्षणायस्तत् ।

कृपया च मार्जनीयस्तेन ततोहं विभूषणीयथ ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणे सरोजे मानसे भ्रम । तिष्ठतां विकल्पे निलं तत्प्रभावोत्र भानुना ॥ ३ ॥

इति श्रीमदाचार्यकृतसेवाफलनिरूपणविधृतौ टिप्पणी समाप्ता ॥

प्रथमं परिशिष्टम्

सेवाफलविवरणत्रयम्

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् विवृत्तिसमेतम् ।

नैसर्गिकी मधुमिदध्याणस्य सेवा जीवस्य तत्र सुतरां हरिमार्गलिप्सोः ।

धुष्येत नो विषटनं च फलं नदास्तां नो सेवनाप्रथनमत्र तदर्थमिष्टम् ॥ १ ॥

यद्विर्वन्तु जगतो दितकारणाय पारीक्षितस्य विवृत्तिं पदशब्दकार ।

यः सूत्रयोर्निगमसंशयवाधनाय संक्षिप्य च प्रकरणानि नुमस्तमीशम् ॥ २ ॥

सिद्धान्तमुक्तावत्यादिग्रन्थेषु निबन्धेषु सेवाया उक्तत्वेपि तत्फलानां प्रतिबन्धानां चेतस्वतो निप्रकीर्णत्वेन तत उद्धर्तुमशक्तान् खान् संक्षिप्य तदुपदेष्टुं सेवाफलनिरूपणं प्रतिजानते यादृशीत्यादि, नोच्यत इति । तत्फलं तु श्रोत्रनिमुञ्जीकरणं निरूप्या-
र्यस्य यावतः प्रतिशोचिता, नत्वेकदेशसेवि तु न शक्यम् । यतः फलमेव प्रधानं प्रति-
बन्धकं तु तद्विषयकतया त्याजनार्थं निरूपितमिति तच्छेषस्य न पृथक्प्रतिज्ञानम्, स्वप्न-

धानत्वेनानिरूपणात् । फलमिति जालैकवचनम् । यादृशी यत्प्रकारिका उक्ता सिद्धान्त-
मुक्तावत्यादौ, अकरणे प्रत्यवायः प्रार्थः । स च ह्यय इवेत्यादि निन्दया योष्यः । त-
स्त्रिद्वौ तस्या यावज्जीवनिर्वाहे व्यसनरूपत्वसिद्धौ फलमुच्यते । फलं चात्र वक्ष्यमाणत्र-
यमेव बोद्धव्यम् । यत्तु सेवाया एव फलरूपत्वेन तत्फलकयनमनुपपन्नमित्याशंकनम्,
तत्तु केवलपौष्टिकाभिप्रायेण, पुष्टिमर्यादासितस्य तु साधनरूपत्वमेव सेवायाः । न चैवं
गौणत्वम् । पुरुषोत्तमस्यैव साध्यसाधनोभयरूपत्वात् । कर्तृतावच्छेदकमेव परं गौणम्,
फलस्य मूले स्पष्टतयाऽकथनादुक्तं विवरणे सेवायां फलत्रयमिति । अलौकिकसामर्थ्यं तु
अपारतेजसः फलदित्सायां सतीतस्य हृदि प्रवेशे तदनुभवसामर्थ्यम् । अत्रानुभवश्च म-
नसा तदप्यक्षीकरणम् । न चैतदेतच्छरीरेण संभवति, अप्राप्य मनसा सदेति वचनात् ।
तदर्थं च तन्नोगयोग्यत्वमलौकिकत्वं मुम्यम् । तत्र संपाते अलौकिकसंपातस्य विज्ञाने
चानन्दमयस्य प्रवेशात् स्पर्शसंघनेऽप्यसामामीकरत्वमिव सम्पद्यते । एतच्च प्रत्येकसंपाद्य-
मित्याहुः अलौकिकस्य दाने हि चायः सिध्येद् मनोरथ इति । चत्वर्ये ।
हि सुक्तथापमर्थः । 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतेः । 'तमेव विदित्वे'ति तु मार्त्यादि-
कस्य । तथा चोक्तम् 'गतेरर्थवस्वभुमयथा अन्यथा हि विरोध' इति । सायुज्यं स्वन्तर्दृग्गत-
नामिव मध्यमं फलम् । तच्च द्विविधम् । बाह्यसाम्यन्तरं च । बाह्यमलौकिकशरीरप्राप्तिरू-
पम्, आन्तरं तु व्युत्तरणसामयिकपरिच्छिन्नानन्दादिमत्त्वेन अणुत्वेन च विशिष्टस्य ब्रह्म-
णि लयः । अत एव च निरस्तधर्मस्य ब्रह्मणि लयरूपात् कैवल्याद्भेदः । न च भक्तस्य न
लयः । ज्ञानिनोऽक्षरे भक्तस्य पुरुषोत्तमे लयादिति माय्योक्तेः । एतच्च 'सोऽश्रुते सर्वान्
कामान् सह' 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति वाक्याभ्यां गम्यते । परं ब्रह्मोपैति तद-
नन्तरं साम्यमुपैतीति वाक्ययोजनां फुलाशेषैर्वाहीः कतिपर्यैति संदिग्ध 'न तत्सम' इति
निषेधात्शेषैः साम्यासंमथात् कतिपर्यैरेव साम्यं निश्चित्य, न च कतिपर्यैरपि धर्मैर्जात्यमानं
साम्यं तदभेदगमकमित्यर्थं 'कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवदि'ति सूत्रावयवयोजनायामान्तरसायु-
ज्यस्य 'हानी तूपायन'यत्रमाप्य एव स्पष्टत्वात् । तृतीयं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठा-
दिषु । सेवाया उप समीपे योगवत् शरीरप्राप्तिरूपम्, पश्चादीनामिव । ननु प्रत्येकस-
न्नापपूर्वफलस्थान्यानधीनत्वेपि सायुज्यसेवोपयोगिदेहयोः फलतदधिकाररूपमध्यमावा-
न्तरफलयोस्तु ज्ञानादीनामिव कदाचित् कालकर्मसाध्यत्वं भवेदिति नेत्याहुर्गूले फलं वा
ह्यधिकारो वा न कालोत्र नियामक इति । फलं सायुज्यम् । अधिकारः सेवो-
पयोगिदेहः । अत्र एतदुभयोः काले न नियामक, फलदः प्रतिबन्धको वा नेत्यर्थः ।
अत्र वाद्वयं फलतदधिकारयोरुभयोरपि भगवत्समष्टत्वधोपनाय । यत्र, वाद्वयं क्रियाक्षेपकम्,
फलं वा सादधिकारो वा स्यात् । कालेनेति नेत्याहुः यतस्तयोरनियामक इति । अत्र
एतयोः । उद्वेगः प्रलिन्यो वैति वाक्यं विवृण्वन्ति सेवायां प्रतिबन्धकत्रयमिति ।

उद्वेगः सेवायां क्रियमाणयां मनोवृत्तेरस्मिन्ना । प्रतिबन्धभोगयोः प्रकारभेदानां बहु व-
क्तव्यत्वेन प्रथमतः सिद्धानां दोषाणां दुर्विनाश्यत्वात् प्रयाणां साधनेत्यादिना तत्सामग्री-
त्यागमेवोपदिश्य पाठरुममनोपेक्ष्य चरमोदिष्टमपि भोग समिहिततरत्वेन लौकिकालौकि-
कभेदेन विभज्य 'भोगो द्विविध' इत्यादिना लौकिकस्य त्याग्यत्वं 'तत्र लौकिके'त्यादिना
निर्दिश्य प्रतिबन्धद्वैविध्यं वक्तुं 'प्रतिबन्धोपि द्विविध' इत्यादिना तत्स्वरूपं निर्दिश्य द्वयं
विभजन्ते साधारणो भगवत्कृतश्चेति । तत्र साधारणो दुरच्छजन्यः, भगवत्कृतस्तु
उत्तम मार्ग इष्टा सन्नतः प्रवृत्तासुमात्रविषयकः । न च तादृशस्य नात्र प्रवृत्तिरिति रा-
गतः प्रवृत्तेरनिवार्यत्वात् भगवत्कृतस्यापि वक्तव्यत्वात् तत्स्वरूपमात्रं निर्दिश्य साधारण-
मात्रपदेनोहितस्य बुद्ध्या त्याज्य इत्याहुः । आयत्वं तु प्रतिबन्धकमे, बुद्धिस्तु सेवादा-
मायतनस्य लौकिकवैदिकादेरनावश्यकसाकारणम्, आवश्यकस्य तु अनवसरे प्राग्वा क-
रणम् । निःप्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदेतस्य व्याख्यानमलौकिक-
गोयस्तु फलानां मध्ये प्रथमे विशतीति । अस्य व्याख्यानस्य व्याख्येयानुसारित्वामावात्
तदर्थमात्रप्रकाशकत्वाच्चादोषः । अक्षरार्थस्तु भोगो महान् स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेति ।
स्वरूपं स्वरूपानन्दानुभवः । साधन प्रभनुग्रहः । निषयानन्दब्रह्मानन्दपेक्षया स्वरूपान-
न्दसोऽल्लसत्त्वात् । फलं तु 'सोऽश्रुते' इत्यादि प्रथमेऽलौकिकसाधनार्थरूपे फले विशते ।
निःप्रत्यूहं क्रियाविशेषणमेतत् । जायमान इति क्रिया-व्याहर्तव्या । विशतीति विशेषण-
दानसाधनप्रयोजकत्वात् तत्रापि विशेषणस्य संभवादर्थवत्ता, न च कश्चिद् व्यभिचारोऽस्ति ।
एतस्मिन् भोगे कालरुमीदीनामविपातकत्वात् । अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद्गति-
र्नहीत्यस्य व्याख्यानं भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दास्य-
तीति मन्तव्यमिति । अक्षरार्थस्तु भगवत्कृतश्चेत् फलदानमकर्तव्यं सर्वथा न तदा
गतिः प्रभुप्राप्तिः । अकर्तव्यतानिर्भारस्तु निरन्तरं सेवां कुर्वन्नेत्यादिचित्ततत्सापि लौकि-
कवैदिकादेर्मुहुरापतनात् । ननु भगवत्सेवासिद्धौ इतरसेवा भगवत्प्राप्त्यर्था कर्तव्येत्वाशं-
क्याद्गुर्विवरणे तदान्नेति । भगवत्कृतफलखेतरसाधनासाध्यत्वेन अनुग्रहमात्रसाध्यत्वेन
च सेवायां प्रतिबन्धकारणादनुग्रहनिषेधेन तत्साधनार्थं प्रयासस्य तदसाधकत्वात् व्यर्थ-
तेत्याशयः । अत एवोक्तमासुरोऽयं जीव इति निर्भार इति । यथा या तत्त्व-
निर्धारो विवेकः साधने मतमेतस्य निवरणे तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तद्व्यं शो-
काभावापेति । विवेक इति । ज्ञानमार्गेण जीववृत्तणोरभेदज्ञानं अगन्मिथ्यात्वज्ञानं नि-
त्यानित्यवस्तुविवेक इहामुनफलभोगविराग इत्यादिः । सांख्येन योगेन वा सिद्धिः, नीप-
निषदः, तस्मिन्साख्यानविकारित्वात् । मूले वा शब्दोनादरे । इतोपि न ज्ञानमार्गाया
मुक्तिरपि तु शोकात्मान एवेत्याहुः शोकाभावापेतिपदेन । कथमेवमिति चेत्, निषन्धाया-
सुरी मतेति पानयादिति शृदाण । भगवदर्थिनः कर्मैव निरूपणमुचितम्, न प्रतिबन्ध-

निरूपणमित्याशङ्क्य त्यागार्थमेतन्निरूपितमित्याहुर्बाधकानां परित्याग इति । परित्यागस्तु साधनपरित्यागरूपः पूर्वमेवोक्तः । नन्वेवमलौकिकभोगस्यापि त्याज्यत्वमागतं, नेत्याहुर्मो-
 गेष्येकं परं विहाय । तथेति त्याग इत्यर्थः । बाधकानामिति वाच्यं सुगमत्वादव्याख्याय
 निष्प्रत्यूहमिति वाक्यस्य च अलौकिकभोगस्त्वित्यादिना पूर्वमेतद्व्याख्यातत्वात् तत्प्रती-
 क्तमपि अगृह्य सविमोऽल्प इति वाक्यं व्याख्यातुमाभासयन्ति साधारणो भोगः
 कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहेति सविमोऽल्पो घातकः स्यादिति प्रति-
 क्तवद्गणम् । तदर्थस्तु सविमत्त्वात्स्वरूपत्याद्भोगस्त्याज्य इति । यत्नादेतौ सदा
 मताविति वाक्यव्याख्यानं एतौ सदा प्रतिबन्धकाविति । एतौ लौकिकभोगसाधारणप्र-
 तिवन्धी सविमत्त्वात्प्रत्यघातकत्वादिभिर्देहयत्नान्छेदकरूपावुक्तौ । द्वितीये सर्व इति वाक्यं
 विवृण्वन्ति । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्ध इति । द्वितीयत्वं चात्र प्रतिबन्धक्रमेण बोद्ध-
 व्यम् । एवं द्वितीयपदमात्रं व्याख्याय कृत्स्नं वाक्यं व्याख्यातुमवतारयन्ति ज्ञानस्विय-
 लभावे चिन्ताभावार्यमाहेति । द्वितीय इतीति स्पष्टत्वात् न व्याख्यातम् । भगव-
 त्कृतप्रतिबन्धे जायमाने संवृतेरवश्यभाविस्त्वेन फलान्तरसांसंभवात् तद्विषयिणी चिन्ता
 नैव कर्तव्या, ध्यर्थत्वादित्यर्थः । नन्वाद्ये दातृता नास्तीति वाक्यव्याख्यानमायक-
 लाभावे भगवतो दातृत्वं नास्तीति । मूले आपपदं प्रतिबन्धकत्रये आपपरम् । तथा चाप्ये
 उद्देशे जायमाने सतीत्यर्थो बोध्यः । विवृती तु आयफलभाव इत्यत्र फलभावपदयोः प-
 ष्ठीतत्पुरुषं विधाय समस्तस्य आयपदेन तृतीयातत्पुरुषो बोध्यः । आयफलस्य अभाव
 इति तु न प्रतिबन्धम् । फलभावात्प्रत्यक्षत्वेन दातृत्वाभावे लिंगत्वात्संभवात् । तथा च
 सेवायां क्रियमाणायाम् मनस उद्देशे जायमाने अमानसीत्वादानाधिदैविकीत्वसंपत्तौ नौ-
 तिस्यात् फलजनकत्वेन भगवतो दातृत्वाभावः स्पष्ट एव । प्रमोः का वा शक्तिर्मानसोद्दे-
 गनिवारणे यतः । तदेवोक्तं विवरणे तदा सेवाऽनाधिदैविकीत्युक्तं भवतीति । तृतीये
 बाधकं गृह्णमिति वाक्यस्य आशयं विवेचयन्ति । भोगाभावस्तदैव सिध्यति
 यदा गृहपरित्याग इति । तथा च मूले प्रतिबन्धकतृतीयापेक्षं तृतीयपदं बोध्यम् ।
 यदर्थमेतावन्निरूपितं तत्रयोजनमाहुरवश्येति । इयं फलत्रयी प्रतिबन्धकत्रयी चावस्था,
 न स्वप्ना, भक्तिमार्गीयकृतप्रतिबन्धाविबुत्वोर्भगवदधीवत्त्वात्, तत्रापि निरन्तरं भाव्या
 फलप्रतिबन्धयोः सङ्घेपासंघेपार्थम् । नन्वितोपि किञ्चित्फलान्तरं प्रतिबन्धान्तरं वा भक्तिमार्गं
 स्यादिति नेत्याहुः सर्वमन्यन्मनोऽत्रम् इति । योऽप्यापादेः फलत्वप्रतिबन्धकत्वयोरसं-
 भवादिति भावः । तथा च 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपी'ति 'विकर्षं यच्चोत्पत्ति'मिति च भक्तिमार्गीय-
 सैतदेव फलम्, उत्तममध्यमसाधारणादिभेदेन । न च निरस्तसमस्तविशेषे कथं तारत-
 म्यमिति वाच्यम् । एतद्विना लीलावृत्तपक्षेः । तथा चोक्तम्, 'अहो मायागुणा विष्णोरा-
 कारधिच्छरीरता । निर्दोषत्वं तारतम्यं मुक्तानामपि बोध्यते' । 'मुक्ता अपि लीलाविग्रहं

सेवाफलम् टिप्पणसमेतम् ।

कृत्वा भजन्त' इति च । स्पष्टं चैतदाकरे । प्रमुखमर्पितदेहादेः फलनैयत्यात् न तेनैत-
द्भाव्यमिति नेत्याहुः तद्वैरपीति । तत्रतिथ्यन्धकत्रयस्य फलत्रयस्य च भावनं कार्यम्, पु-
ष्टिमर्यादाश्च साधनद्वारैव फलनैयत्यात् । तथा चोक्तमाकरे 'स चिरकालोत्तेत्यारभ्य सुधां
ववर्ष तथैव सर्वत्र वर्षिष्यतीति न ज्ञातुं शक्यम्, अतो मर्यादया तद्भजनमेव सर्वेषां क-
र्तव्यत्वेन श्रेयमिति दिगित्यन्तेन । न चायं पुष्टिश्च एवेति वाच्यम् । तस्य फलविलंबा-
संभवादिति आहुः पुष्टौ नैव विलम्बयेदिति । फलं प्रसुरिति शेषः । एवं सत्त्वरजस्त-
मसां परस्परभिमर्शनोद्रेकनिमित्तमनःखेदेषु एतद्भावनमेव कर्तव्यम्, तत एव भगवत्परे
चित्ते जायमाने मनःशोभनिवृत्तेः । शोभयायं फलविलंबादेव, नान्यस्मात् । अतस्तत्रापि
नान्यत्साधनं, किन्त्वेतदेव कर्तव्यमित्याहुः गुणक्षोभेपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मत्ति-
रिति । ननु भगवदीयत्वस्य फलावस्थंभावनियमात् फलविलम्बे च भगवदीयत्ववैय-
र्थ्यात् प्रतिबन्धानामसंभव एव, ततश्चैतन्निरूपणं व्यर्थमेवेति चेत्, इयं नाशंका, अपि
तु सिद्धान्ताधोपजन्मजन्त्या कुसृष्टिरेयेत्याहुः कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्यते
स वै भ्रम इति । अतस्त्वं तु खतश्रेष्ठस्य प्रमोभक्तवैचिभ्यं विना लीलागुणपक्षवैचिभ्य-
सावश्यवाच्यतया मर्यादापुरेणनोद्यत्वात् तादृशभक्तस्य च प्रतिबन्धफलविलम्बानामपरि-
हार्यत्वात् तस्य तथा निरूपणमनुचितमिति कथनस्य सिद्धान्तानामधोपविजृम्भितत्वात् पुष्टौ
नैव विलम्बयेदित्यादिनोक्तोपयौवसरे स्मारितः ।

दृष्यन्वन्वायजलधिप्रविभूतचन्द्रबन्द्रावलीरमणकौशलमादधानः ।

राधानेन्दुमुपमासृतपानमत्तो नन्दात्मजो हृदि तगोहृतये समेऽस्तु ॥ १ ॥

इति श्रीसेवाफलटीका ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् टिप्पणसमेतम् ।

वहभाचार्यचरणाः प्रसीदन्तु सदा मयि । यदाश्रयकृपामानेऽप्यलिलाः पुष्टिसिद्धयः ॥ १ ॥

यमपीश्वराक्यार्थाः सतोऽज्ञेयात्ताप्यहम् । सेवाफले टिप्पणं तत्कृपया बहुमुत्सहे ॥ २ ॥

अथ श्रीमत्प्रभाचार्यनिरूपितं सेवाफलार्थं 'श्रकरणं तन्निरूपितयैव टीकया सहितं
मुगमल्लव रिजियते । ग्राह्यतीति । यादृशी सेवा मया मुख्यसेवासाधनीभूता तदुचि-
धना सिद्धान्तमुक्तापत्त्यादिषु प्ररूपेणोक्ता तस्याः सिद्धी परिणामदशया इदामुन च य-
त्फल भानि तदुच्यते । अत्र फलमिति ज्ञात्वभिप्रायेणैकवचनम्, तेन फलत्रयमुक्तं भ-
यति । तदेवोक्त टीकायां सेवायां फलत्रयमित्यनेन । नन्वेकस्या एव सेवाया विमल्यं
फलत्रयं कथं भवितुमर्हतीति चेत्, इत्यम्, भगवानस्मिन् भक्तिमार्गे शुद्धपुष्टिमर्यादा-

पुष्टिप्रवाहपुष्टिभेदेन भक्तानंगीकरोति । तत्र शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यप्रकटितत्वात् साक्षात्पर-
 म्भराभेदेन सद्यो विलम्बेन वा पुरुषोत्तमसम्बन्धावश्यंभावरूपः पुष्ट्यंशसिध्यन्त्यनुस्यूत
 एव । इतरावग्रे वक्ष्यमाणबाधकसम्बन्धान्ययापत्यवधेयो फलप्रपकयनेन च । साधन-
 फलयोखिले वस्तुतो नियमिका विचित्रा तदिच्छैव । तथा च यं मत्तं यस्मिन्मार्गे भ-
 गवानंगीकरोति तस्मै तदनुसारेण फलं प्रयच्छतीति न काप्यत्रातुपपत्तिः । अयं तत्रयं
 किरूपमित्ताकांक्षायामुच्यते । अलौकिकस्थेत्यारम्याधिकारो वेत्सन्नेन । तद्विर-
 णमलौकिकसामर्थ्यमित्यादि वैकुण्ठादिष्वित्यन्तम् । अयंस्तु भगवानलौकिकं लोकवेदातीतं
 पूर्णं सर्वात्मभावैकलभ्यं फलं साधनरहितं यदा परवत् दातुमिच्छति तदैव आद्यः फला-
 प्यमिचरितपूर्वजन्मसंबंधी सकलफलाग्रगण्यो ब्रजभक्तसदृशो यो मनोरयः स सिध्येत् ।
 तदवान्तरफलं अलौकिकसामर्थ्यं भजनानन्दात्तुभवयोग्यतारूपं सिध्यतीत्यर्थः । अत्र दि-
 रसायां वक्तव्यायां दान इति सिद्धवन्निरदेशस्तु भगवतः स्वतंत्रत्वात् तदानस्य नित्यत्वात्
 निरपेक्षत्वादनंतत्वाच्च । तथा चास्मिन्नेव जन्मनि भगवान् साक्षात् स्पर्शदिमुखं कदा
 कदाचित् तमनुभावयतीति इह लोक एव तेषां सकलपुरुषार्थाधिकफलसिद्धिर्भवति, किमु
 वाच्यमत्र इति किमुतिकन्यायेन आनुष्मिकफलसानिर्वचनीयत्वं सूचितम् । अत एव पुष्टि-
 मार्गीयानुष्मिकफलसात्र न स्फुटोक्तिः अनुक्तसिद्धत्वादवगनीयत्वाच्च । हि युक्तश्राय-
 मर्थः । यत् परमोत्कृष्टं फलं भगवदत्तमेव प्राप्यते, नान्यथापीति । चकारस्त्वप्यर्थे ।
 तथा चाप्यपि श्रेष्ठोपि जीवस्वरूपविचारे भवितुमयोग्योपि धीमदाचार्यपक्षपाताद्भगवता
 दीयते चेत्, सिध्यत्येव, केन वा रोद्धव्यः, नान्यथापीति भावः । अत्य इति पाठे पुष्टि-
 मार्गीयासाक्षाद्भगवत्संबन्धिफलभगवन्त्वात् जीवैर्भनोरयीकर्तुमपि न शक्यते । अतः फ-
 लापेक्षया स्वल्पोपि मनोरयः भगवान् स्वानुरूपमेव फलं ददातीति पूर्णं एव सिध्यति,
 न तु जीवविचारितरूपमात्र इत्यर्थः । इलोकमविहितभक्तसत्त्वं फलमुक्तम् । विहितभक्त-
 विहितं द्वितीयमाहुः फलं वेति । तद्विद्वतिः सायुज्यमिति । सायुज्ये फलोक्तिस्तु लो-
 कवेदयोस्तस्यैव फलत्वेन प्रसिद्धेः । तेन यं मर्यादापुष्टावंगीकरोति तस्मै 'मामेवैष्यसी-
 त्यादिवाक्योपदिष्टं पुरुषोत्तमसायुज्यं पूयच्छतीत्यर्थः । तृतीयं फलमाहुः अधिकारो
 वेति । तद्वीका सेवीपयिकदेहो वैकुण्ठादिष्विति । वैकुण्ठादिषु किञ्चित् परिचरणं कु-
 र्वन् तिष्ठतीत्यर्थः । यादिपदान्नाशावमि जन्मान्तरान् चेदवशिष्टान् प्राप्नोति तदापि सेवा-
 पर एव भवतीति ज्ञापितम् । अथवा देहाध्यायस्योक्तत्वात् जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः । पु-
 ष्यंशस्य सत्त्वाद्ये यथाधिकारं पुरुषोत्तमसंबन्धो भावीति ज्ञेयम् । तदुक्तं सिद्धान्तमुक्ता-
 वत्यां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यतीति । यद्वा, यादृशीति पूर्ववत् । फले
 त्रित्योक्तिरैहिकानुष्मिकाभिप्रायायान्तरपरमफलाभिप्राया वा । वस्तुतः परमफले विहिता-
 विहितमत्तयधिकारके सायुज्यभजनानन्दरूपद्विविधे एव । तथा चैकमेहिकमवान्तरफलं

वा । अग्रे आनुष्मिकमधिकारिभेदेन द्विविधं परमफलमिति त्रैविध्यं फले । अत एव नि-
 वन्धे विहितभक्तानां सायुज्यमुक्तं, परमफलत्वेन, अविहितभक्तानां गोपिकादितुल्यानां भज-
 नानन्दरूपमेव । फलद्वैविध्ये कारणं, सर्वात्मभावतदितरभावसाध्यपदार्थतारतम्यज्ञापनमेव ।
 अथ कश्चिद्बहिस्तत्फलस्य द्विविधत्वे तत्राती चान्यत्सेवैव वा भिन्नप्रकारा कारणम-
 स्त्विति वदति चेत्, तत्राहुः अलौकिकस्येति । इदं फलत्रयमप्यलौकिकं भवति, अत-
 स्तद्भवतैव दीयते चेत् प्राप्यते, नान्यथा । तत्रैकं प्रथमं फलमिह लोके एव भवति,
 इतरे स्वमुत्र । तत्राग्रिमफलद्वयस्य प्रत्येकं सूचकम् । ऐहिकफलेषु द्वैविध्यमाहुः आद्य
 इति । आद्यः सिध्येत्, मनोरथस्य सिध्येत् । अयमर्थः । यस्य सायुज्यं भावि स आद्यो
 मुख्यः भक्तिमार्गीयसकलसाधनसंपन्नो भवति । यस्य पुनः साक्षात्पुरुषोत्तमसंबन्धिमु-
 ख्यरसानुभवो भावी तस्य संन्यासनिर्णयोक्तप्रकारकातिविरहजवैकल्यादिसहिता परमार्ति-
 रूपाधिकारसंपत्तिर्भवति । अल्प इति पाठे अल्पस्तुच्छो दास इति यावत् । तथाच
 माहात्म्यपूर्वफलेवलदासभावमुक्तो भवतीत्यर्थः । अग्रे पूर्ववत् । एवमवान्तरफलद्वयं
 निरूप्य अग्रिमपरमफलद्वयमाहुः फलं सायुज्यं वा पुरुषोत्तमस्य । अधिकारः
 सेवोपधिकदेहो वैकुण्ठारिपु वा । अत्र वैकुण्ठपदं लोकदेवप्रसिद्धभिरप्येण ।
 वस्तुतस्तु गद्यात्मके स्वधामनि । तथाच 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः' इति
 श्रुतिनिरूपिते परमपदे गुल्याधिकाररूपसाक्षाद्भजनानन्दानुभवयोग्यस्वरूपावाप्तिरूपः ।
 सिध्येदिति सर्वप्राप्तुपद्मः । आदिपदात् यवैव - साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तमसंनिध्यं
 तत्रैव सेवां कुर्वन् तिष्ठतीति ज्ञापितं भवति । यद्वा । आद्य इति । आदिपदेन अ-
 ग्रिमफलाधिकरणकशिल्पपेक्षया प्राथमिकं सवोत्तुभ्यमानं जन्मोच्यते । तत्सम्बन्धी यो
 मनोरथः यथाधिकारमग्रिमफलविषयकमिलापरूपः स सिध्यतीत्यर्थः । पाठान्तरे तु पूर्वा-
 र्थवत् । इममेव सर्वमर्थमनुसन्धाय टीकायामुक्तमलौकिकसामर्थ्यमिति । सायुज्यप्राप्तं
 भक्तिमार्गीयसाधनसम्पत्तिरूपं स्वरूपप्राप्तं तद्वत्सहिष्णुतारूपं चेति । अत्र साधनफ-
 लयोः सम्पत्तो कालकर्मादयो निवामका भविष्यन्तीत्याद्यज्ञापनामाहुः न फालोऽत्रेति ।
 सर्वोपजीव्यत्वात् काल एवोक्तः । तेन भगवदिच्छान्वतिरिक्तः कोऽपि न नियामक इ-
 त्युक्तं भवति । तद्यथा स्वच्छंदचारित्वं भविष्यतीत्याद्यज्ञे तन्निरासपूर्वकं साधनतया
 सिद्धिज्ञापनाय मध्ये अन्तरापोत्तत्रिमाहुः उद्येग इति । तस्य विवरणं सेवामिद्वारम्य
 भोगो वेत्यन्तम् । एतत्रितयमपि पापकमलि । यथा तदनुत्पत्तिर्भवति तथा यतनीयमि-
 त्याशयः । ननु उद्येगप्रतिबन्धभोगाः क्रमेण मनोजन्मत्वात् दैवागतत्वात् क्षुदादिनिवर्त-
 कत्वाशाशयपरिहारास्ते कर्म स्वकल्या इत्याद्यज्ञायां त्यागप्रकारमाहुः अग्रे माधकानां
 परित्याग इति । वटीका त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्य इति । सिद्धाधेतु त्यक्तुम-
 शनया एव । अतस्तत्सापत्करत्वात् त्यागे तदनुत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः । अथ तेषु प्रत्येकं त्या-

ज्यात्याज्यभेदेन द्वैत्रिध्यमस्तीति सामान्यतो वदन्तः प्रथमं त्याज्यवस्तुन्नरूपमाहुः अ-
 फर्तक्यमिति । व्याकृतिः भगवत्कृतश्रेत् प्रतिबन्ध इत्यारम्भ विवेक इत्यन्ता । अर्थस्तु
 यत्कार्यं सर्वथा भगवान् कर्तुं नेच्छति तत्र यानद्भुक्तिनलोदयं जीवैः दृष्टाद्येषाभिः प्रवृत्ते कृतेषु
 प्रतिबन्धराहित्यपूर्वकं तत्कार्यं न सिध्यति, तदा भगवत्कृतोऽयं प्रतिबन्धोऽयमित्यवधेयः ।
 तदा भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यम् । तदा जन्या तदनन्तरं कृत्वा या सेवा सा
 व्यर्था । यतः फलशून्या । तदा किं कर्तव्यं तेनेति प्रश्ने उच्यते । तदायं परिदृश्यमानो
 मत्तक्षणी वा जीव आसुर इति मनसि निर्धार्यं ज्ञानमार्गेण वेदोक्तेन स्वैयम्, तत्र मयेयान्
 प्रयासः कृतस्तथापि किमिति न स सिद्धिं प्राप्नोति इतिरूपवेदाभावात् इतिः सर्वं निजेच्छ-
 येन करोति कतिप्यति अकार्षीदित्येवं विवेकः कर्तव्य इत्यर्थः । अत्रासुरत्वमावेशजन्यं
 श्रेयम् । अन्यथा सहजासुरस्य ज्ञानापनधिकारित्वेन श्रीमदाचार्यास्तस्य कर्तव्यत्वं
 गोपदिशेयुः । तेनासुरत्व आवेशिसहजभेदेन द्वित्रिधं ज्ञेयम् । द्वितीयमग्रे वक्ष्यंति
 द्वितीयत्वनेन । अन्यथा पूर्वं विवेकः साधनं मतं इत्युक्तम्, अग्रे सर्वथा पिन्ता
 त्याज्येति वक्ष्यते तेनान्योन्य विरुद्धवाक्यरूपेण वदद्भ्याधातः प्रसज्येत । तथा च स-
 र्वथा भगवान् यत्कर्तुं नेच्छति तस्याचार्योक्तसकेतेर्भगवदीपद्वारा वा यथा तत्त्वनिर्धारो
 भवति तथा कृत्वा सर्वथा असाध्यत्वे ज्ञाते तदुपक्रम एव न कार्यः, किन्तु विवेकपूर्वकं
 स्वैयमित्यर्थः । अथ त्याज्यात्याज्यभेदान् तत्स्वरूपाणि च त्रिनिष्य प्रकटमाहुः भोगे-
 न्येकमित्यादि तृतीये पात्रकं गृहमित्यन्तेन । तस्याद्यथानं भोगो द्विविध इत्या-
 रम्भ आग्रन्यपरिसमाप्ति । अर्थस्तु योगप्रतिबन्धो लौकिकालौकिकभेदेन साधारणभगव-
 त्कृतभेदेन च प्रत्येकं द्विविधो । तत्र लौकिको भोगः स्वच्छन्दतया यथेष्टं सर्वेन्द्रियसंतर्प-
 णादिरूपः । स सर्वथा त्याज्यः । तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः 'स्वयमिन्द्रियकार्याणि', 'विषया-
 शान्तदेहाना'मित्यादिवाक्यैः । साधारणप्रतिबन्धस्तु वैवर्गिकायासातपत्यादिरूपः, सोपि
 तथा । एतस्य भगवद्दर्शयतिनिर्वलत्वेन सेवायासकस्य वृथा कालक्षेपजनकत्वमस्ति ।
 तदुक्तं 'तावत्कर्माणि कुर्वति' 'मत्कर्म कुर्वतां पूसा'मित्यादिवाक्यैः । ननु तर्हि
 धर्मादिशास्त्रमयवैयर्थ्यं स्यादिति चेत् । न । यतो शुक्लवैद्युक्त टीकायाम् । लोकसंप्रहा-
 र्यकरणाभिप्रायेण । तदेव गीतायानुक्तं 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांस' इति । अन्यथा तत्तद्विषय-
 कारणरूपेण फलं स्यात्, नैतन्मार्गायम् । अथालौकिकभोगस्तु वस्तुमानस्य भगवदुप-
 योगे तदयोग्यत्वे च ज्ञाते तदत्तप्रसादत्वेन स्वोपयोगादिरूपः, स न त्याज्यः । यतः स
 भोगः फलानां मध्ये प्रथमफलेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति, तदङ्गतो प्राप्नोति । काय-
 याम्पानःशोषकत्वात्, स्वधर्मत्वात् । तदुक्तं 'तस्योपयुक्तसम्पन्ने'त्यादिवानर्थैः । 'यत्क-
 रोषि वदन्नासि' 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा' इत्यादिभिर्भोगस्य यथाकथमित् कर्तव्य-
 तास्युक्ता । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः, स स्वरूपतः फलतश्च पूर्वमुपपादितः । नन्व-

सामर्थ्यरूपं फलमुच्यते । यतो हि निश्चितम् । अलौकिकसामर्थ्यस्य दाने सति तनुवित्तजा-
सेवाप्रारम्भे जातो यो मनोरथः समानया सेवया मानसीसेवा सिध्यत्वेवरूपः स सिध्येत्,
अत इदं फलमद्भूतमुच्यते । अथवा सायुज्यं फलमद्भूतमुच्यते । अथवा साक्षात्सेवोपयो-
ग्यधिकाररूपदेहोद्भूतं फलमुच्यते । यत एतयोरपि दाने प्रथमं जातो मनोरथः सिध्येत्,
नान्यथा । तस्मादेतयोरपि मानसीसेवायामद्भूतत्वम् । अस्मिन् फलत्रये कालो न नियामकः
संपादको न भवति । यतः पुष्टिमार्गीयदेवजीवे मानसीसेवार्थं भगवदुत्पादितमेवैतत्फलत्रयम् ।

एवं मानसीसेवायामद्भूतं फलत्रयमुपपाद्य मानसीसेवायां प्रतिबन्धकत्रयगुण-
पादयन्ति सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् । तदेव विशदयन्ति उद्वेग इति । मानसी-
सेवायां तु उद्वेगः पापकं भवेत् । अथवा प्रतिबन्धः पापकं भवेत् । भोगो वा पापकं
भवेत् । एवं पापकत्रयं सेवायां प्रतिबन्धकत्रयम् । तुष्टन्दीन्यव्यावृत्त्यर्थम् । पापकानां
परित्याग इति । पापकत्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः । भोगो द्विविधः । लौकि-
कोऽलौकिकश्च । द्विविधेषु भोगे एकं लौकिकभोगरूपं पापकं तथा त्याज्यम् । अपरं
द्वितीयमलौकिकभोगरूपं निष्प्रत्यहं निर्विघ्नं भगवत्तैव निर्वाहात् । स अलौकिकभो-
गस्तु महान् भोगः सदा निरन्तरं सर्वेन्द्रियाणां भगवत्स्वरुपात् । फलत्रयाणां मध्ये
प्रथमे फलेऽलौकिकसामर्थ्यरूपे प्रविशति । अतो न त्याक्तुं योग्यः । प्रतिबन्धोऽपि द्विविधः ।
साधारणो भगवत्कृतश्च । तत्र प्रतिबन्धद्वये आद्यः साधारणः दुष्ट्या उपायेन त्याज्यः ।
भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्धस्तदा भगवान् फलं न दासतीति मन्तव्यम् । तदेवाहुः अक-
र्तव्यमिति । भगवतो जीवकर्तृकं भजनं कर्तुमयोग्यं चेत्तदा सर्वप्रकारेण गतिर्नहि ।
फलं नेति निश्चयः । यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धः सर्वथा निवारयितुमयोग्यस्तदा सत्यति-
बन्धनिवारणार्थं कृता या अन्यदेवतासेवा सापि स्वर्गा । अन्यफलदायिणामपि देवानां
भगवदधीनानां भगवत्कृतप्रतिबन्धानिवारकत्वात् । किञ्च, यदा भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा
आसुरोऽयं जीव इति निर्धारः । अयं जीवो देवः पुष्टिमार्गीयजीववत् सेवादिना प्रती-
यमानोऽप्यासुर इति निर्धारः । देवजीवे भगवत्कृतप्रतिबन्धासंभवात् । ननु यदा भक्ति-
मार्गीयभजने भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा शोकाभावाय तेन किं कार्यमित्थाकांक्षायामाहुः
यथा वेति । वेत्नानदरे । यथा येन प्रकारेण वेदान्तश्रवणादिना अन्येनापि येन केन-
चित्प्रकारेण तत्त्वनिर्धारः स्वरूपनिर्धारो भवति तेन प्रकारेण तस्य विवेकः साधनं संमतम् ।
विवेकरूपं तदेव विवृतं तदा ज्ञानमार्गेण स्यात्तस्यम्, शोकाभावायेति विवेकः । यदा
भक्तिमार्गीयभजने भगवत्कृतप्रतिबन्धस्तदा शोकाभावाय ज्ञानमार्गेण मया स्यात्तस्यमिति
विवेकरूपं साधनम् । साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य इत्याकांक्षायामाहुः सविमोल्पो
घातकः स्यादिति । सन्निभत्वाद्दृश्यत्वाद्भ्रान्तिपातकत्वात् साधारणो भोगस्त्याज्यः ।
पठयेती सदा मती । एतौ साधारणप्रतिबन्धसाधारणभोगरूपौ-सदाप्रतिबन्धकौ संमतारत-

स्वाज्यौ । द्वितीय इति । द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिपन्धस्वस्मिन् सति ज्ञानमार्गेणापि स्थित्य-
संभवे चिन्ता भवति । तदभावार्थमाहुः द्वितीय इति । ज्ञानमार्गेणापि स्थितौ भगवत्कृ-
तप्रतिपन्धे सर्वथा चिन्ता त्याज्या । संसारनिश्चयात् । सर्वत्र भगवत्कृतप्रतिपन्धादयं जीव
आसुर इत्यस्य संसार एव भवति, नतूद्धार इति निर्धारत् सर्वथा चिन्ता त्याज्या । भगव-
त्कृतप्रतिपन्धस्य ज्ञापकमाहुः नन्वाद्य इति । नन्विति विरोधोक्ती । देवजीवे सर्वेन्द्रियाणां
भगवत्सख्यं, तेन तत्कृता सेवा आधिदैविकी, आधिदैविको भगवान् तत्संपन्धिनी भवति ।
आसुरजीवे भगवत्कृतप्रतिपन्धादायफलभावे सर्वेन्द्रियाणां भगवत्सख्यामाये सति तत्र
भगवतः फलदातृत्वं नास्ति । तदा तत्कृता सेवा आधिदैविकी भगवत्संपन्धिनी न भवती-
त्युक्तं भवति । तस्य प्रपञ्चासक्तत्वात् । तृतीय इति । ननु तृतीये-भोगाभावे बाधकं
गृहम् । भोगाभावस्तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः । अयमर्थेयमिति । इयं फलत्रयी
प्रतिपन्धकामावत्रयी अवश्यं, न स्वशक्या । तथापि भाव्या विचारणीया । मम फलत्रयं
भवतु, प्रतिपन्धकामावत्रयं भवतु, एवं विचारणीया । फलत्रयप्रतिपन्धकामावत्रयाम्याम-
न्यत् सर्वं फलभावनं प्रतिपन्धकभावनं स्वान्तर्गन्तिरित्यर्थः । ननु पुष्टिमार्गीयाणां किमर्थं
भावनं, तं विनैव फलसिद्धेरित्याशंकायामाहुः तदीयैरिति । पुष्टिमार्गीयैरप्येतद्भावनं फा-
यैम् । एतद्भावने भगवान् पुष्टिमार्गे फलदाने विलम्बं न करोत्येव । अतः पुष्टिमार्गीया-
णामेतद्भावनं शीघ्रं फलं भवत्यतस्तरपि भावनं कार्यम् । ननु सत्त्वादिप्राकृतगुणकृतचित्त-
क्षोभे सति कथं भावनं कार्यं तत्राहुः गुणक्षोभेपीति । चित्तस्य गुणत्रयकृतक्षो-
भेऽप्येतदेव फलप्रतिपन्धकत्रयप्राप्तिनिवृत्तिभावनं तन्निवारणे साधनरूपं द्रष्टव्यम् । एत-
द्भावनयैव गुणत्रयक्षोभोपि नश्यतीति मे मतिः । एवंप्रकारिका मम बुद्धिः । कुसृष्टिरिति ।
अत्रैतद्भावनकृतगुणत्रयक्षोभनिवारणे काचित् कुसृष्टिरेतद्भावनयैव गुणत्रयकृतक्षोभो नश्य-
तीति कथं, गुणत्रयकृतक्षोभनिवारणे साधनान्तराण्यपि भविष्यन्तीत्येवंरूपानुपपत्तिरत्यघते
चेत्, निश्चयेन स वै भ्रमः । स्वान्तर्गन्तिः । अत्र न काप्यनुपपत्तिरिति दिक् ।

इति श्रीसेवाफलविवृतिप्रकाशः ।

सेवाफलम् टिप्पणसमेतम् ।

निषिद्धसुखस्यागी पशुरेवेति न्यायेन साधारणो भोगः किमर्थं त्यक्तव्यः, तत्राहुः सचि-
 ज्ञेति । अस्मि टीका सचिन्नत्वादादिप्रतिबन्धेनन्ता । अर्थः सचिन्नत्वात् बहुन्तरायवत्त्वात्
 तत्रापि स्वरूपतः कालतश्च स्वल्पत्वात् घातकोयं त्याज्य एवेत्यर्थः । तथाच साधारणभो-
 गभगवत्कृतप्रतिबन्धौ प्रसङ्ग फलाभावजनकौ । यतस्तौ मतौ संमतौ न, प्रतिबन्धक-
 त्वात् । अथवा भवौ प्रतिबन्धकत्वेन संभवावित्यर्थः । तत्र तयोरायः स्वसाध्यत्वात् त्याज्य
 एव । इतरोसाध्यत्वात् मर्यादामार्थेण स्थित्वा सोढव्य इति । पूर्वं यदुक्तं तत् 'प्रवृत्तिं च
 निवृत्तिं चेत्यादिभगवद्वाक्यैः सहजासुरेषु मर्यादामार्गोपि याथातथ्येन न सिध्यतीति
 ज्ञानस्थित्यभावेत्याभासेनानूच तेषां कर्तव्यमाहुः द्वितीयेति । द्वितीये वाचके भगव-
 द्कृतप्रतिबन्धे, अथवा द्वितीये आसुरत्वे साहजिके जाते फलविषयिणी चिन्ता साधनान्ते-
 पणं न कर्तव्यम् । यतः फलं तस्यैतन्मार्गीयं न भवत्येव । तर्हि तस्य किं भवतीति प्रश्ने
 आहुः संसारेति । तस्मान्निष्कोऽईमभात्मकः संसार एव भवति, अग्रेपि तदनुसारेणैव
 फलम्, नान्यदपीत्यर्थः । गन्बन्त्यपाधकद्वये द्विरूपत्वं विविच्योक्तं नत्वादिनैतत्कृतः इ-
 त्यत्राहुः नन्वाद्य इति । तटीका आद्य इति । आदौ यः फलत्याभावो यस्मादिति फला-
 भावः प्रतिबन्ध उद्वेग इति यावत् । स यद्यपि साहजिकदुःसङ्गकृतभेदेन द्विविधोऽस्ति त-
 द्दशात्प्र पिच्छद्वयभावेन कदाचित् स्वधर्मत्यागनिन्दादिकमपि भवति, तथापि द्वैविध्येपि
 भगवान् सर्वात्मना फलं नैव संपादयतीति न, किन्तु किञ्चिद्भूनाधिकं भवत्येव । अत-
 स्त्र भगवतोऽदातुत्वं फलविषयकं नास्ति, किन्त्वभिभवात्मन्तरेषु फलमुत्तमं मध्यमं वा
 भवत्येवेत्यर्थः । तदेवोक्तं निष्यन्दे 'अत्रापि वेदनिन्दायामपमंकरणात्तया । नरके न भवेत्वातः
 किन्तु हीनेषु जायते । पूर्वसंस्कारतस्तत्र भवन्त्येत जन्मनि'रिति । तर्हि सद्यस्तस्य
 किं भवतीत्याकांक्षायामाहुस्तदिति । तदा तनुचित्तज्ञा सेवा भाषिदैविकी न भवति ।
 यसां कदा कदाचित् साक्षात्स्वरूपाजुभवः सर्वदा तत्सङ्गमार्थं परमार्थिश्च नियता तादृशी
 साम्प्रतं न भवतीत्यर्थः । अथ लौकिकभोगत्यागप्रकारमाहुः तृतीय इति । तत्राहुः
 भोगमाव इति । एदे लोके तदधीनत्वात् सोपि त्यक्तो भवतीत्यर्थः । अथ अवश्येत्याद्य-
 वशिष्टमूढन्यास्या श्रीमदाचार्यकृता न लभ्यत इति तद्वाख्यायते । इयं सेवा सदा
 अवस्था जीवकृतसङ्गोपेति भावनीया । अथमास्योऽत्र । तस्याः कृती स्वस्य कर्तृत्वानि-
 माने जाते कृतान्यकृतप्राया भवतीति भगवत्येव सर्वं भारं निश्चिप्य तदिच्छेयैव सर्वं सम्प-
 दत इति निमित्तं तत्परतया ख्येयमिति । तदुक्तं 'अशक्ये वा मुशक्ये चेत्यादिवान्यैः ।
 एतदन्यप्रकारा भावना मनोऽत्रमरुता । यदा । इयं सेवा सदा अवस्था, जीवकृतसङ्गान्या
 माय्या च, भावसम्बन्धिनी तत्प्रधाना च ज्ञेयेति शेषः । एतस्मादन्यजीवसाध्यत्वविषयधी-
 गत्वज्ञानं मनसो भ्रमः । इति संक्षिप्य सेवास्वरूपमाधान उक्तम् । एवं स्वरूपमुक्त्वा
 तस्मा एतदकारणैव ज्ञानं कर्तव्यतां प्राज्ञापर्यन्ति तदीयेरिति । अत्राप्रस्तुतत्वेन प्रतीय-

मानोप्यपिशुन्द एतत्प्रकारकज्ञानविशिष्टत्वमाक्षिपति । तथाचैवं ज्ञानपूर्वैरपि तन्मदुक्तमेव कार्यम्, नान्यदित्यर्थः । नन्वन्त्यमार्गद्वये यथोक्तकरणं युक्तं, ठोकवेदानुसारित्वात्, न तु शुद्धपुष्टी, ठोकवेदातीतत्वात् । अतस्तत्र यथोक्तकरणं नोपदिश्यत इति चेत्, तत्राहुः पुष्टाविति । एवकारेण विचारान्तराभावपूर्वकमवश्यकर्तव्यत्वं सृज्यते । तथा च पुष्टि-मार्गे एतदुक्ताचरणे विलम्बो न कार्यः । यतस्तत्र मार्गाचार्यप्राधान्यमेवोक्त्यर्थः, तदेव च निर्वहति । तथाकरणेनैव भगवान् प्रसीदति, नान्यथा । अतस्तादृशीस्तदुक्तकरणे सर्वथा विलम्बो न कार्यः । ननु पूर्वं यदुक्तं भगवत्कृतप्रतिबन्धसंभवे तत् सोद्गा स्येयमिति, तत्र युक्तम्, यतस्तपोऽनशनदेहाभिघातादिभिराग्रहे क्रियमाणे देवव्रतादेरिवास्मापि प्रतिज्ञा-पालनं भगवान् करोत्येवेति चेत्, तत्राहुः गुणेति । गुणानां सत्त्वादीनां क्षोभेऽतिक्रान्त-मर्षादत्वे जाते अर्थात् गुणाधिक्येन क्रोधमदमात्सर्यादिविकारसंभवेपि स्वामाविकं त्यक्त्वा मदुक्तमेव कार्यमित्यर्थः । दर्शनमालोचनज्ञानं दृष्ट्वा कर्तव्यमित्यर्थः । तत्र प्रमाणं मे मतिरिति । पूर्वं यदाक्षिप्तं तत्सर्वं सगुणभाववद्भक्तकृत्यम्, मदीयास्तु निर्गुणभावा इति तैर्मदुक्तमेव विधेयम् । तत्राज्ञानमन्ययाज्ञानं च वारयन्ति कुसृष्टिरिति । अत्र मदुक्तौ या कुसृष्टिर्हेतुवादादिरूपयेत स वै निश्चयेन ब्रम एव । श्रीमदाचार्योपदिष्टप्रकारेषु यत्न-मागान्तरान्तेषु तद्भूमरूपमेवेति दिक् ।

इति सेवाफले मूले टीकायां च कृतं मया । टिप्पणं श्रीमदाचार्यपदपदानुसारीणा ॥ १ ॥
इति श्रीसेवाफलटिप्पणम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सेवाफलम् विवृतिप्रकाशसहितम् ।

अगम्य पुष्टिमार्गायं ससुप्तं बलभं प्रसुम् । सेवाफलस्य विवृतिप्रकाशः ज्ञियते मया ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्याः पुष्टिमार्गवैदवजीवानां मानसीसेवासिद्धावन्नमृतं फलत्रयं प्रतिब-न्धकत्रयं तदमार्गं च प्रतिपादयन्ति सेवायां फलत्रयमिति । मानसीसेवायामन्नमृतं तनुवित्तजासेवासाध्यं फलत्रयम् । अलौकिकसामर्थ्यं सर्वेन्द्रियाणां भगवत्परतारू-पमेकं फलम् । सायुज्यं सह सुनक्षीति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यम्, व्यसनभा-वानन्तरं देहनाशकेन विगाढभावेनान्यस्फूर्तिराहित्यपूर्वकं भगवता सह योगः द्वितीयं फलम् । सेवोपयोगिदेशो वैकुण्ठादिषु । यथा वैकुण्ठत्रयादिषु साक्षात् सेवोप-योगिदेशस्तथा देहो मानसीसेवायामधिकाररूपस्तृतीयं फलम् । एतत्फलत्रयमेव सार्ध-स्त्रोकेन प्रतिपादयन्ति पादृशीति । यावत्प्रकारिका मानसी सेवा 'ता नाविद'त्रित्यादि-वाक्यैर्भगवता प्रोक्ता तत्सिद्धावन्नमृतं येन विना यत्न संभवति तत्तदन्नमेतादृश्यमलौकिक-

परिशिष्टम् ।

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	पाठः	पाठान्तरम् ।
५	३९	सद्विषयकः	सिद्धिविषयकः
६	८	दर्शनसेवायाम्	दर्शने सेवायाम्
६	२२	अलौकिकसाधन	अलौकिकभोगसाधन
७	५	द्विविध इत्यनन्तरम्,	लौकिकोऽलौकिकश्च । तत्र लौकिकस्त्वान्य एव । प्रतिबन्धो द्विविधो ।
८	२५	द्रवादस्य	द्रवश्चा
१९	३	प्रयत्नसम्भवेन ।	प्रयत्नासम्भवेन ।
२२	१९	तद्वैयर्थ्य-	तद्वैयर्थ्य-

श्रीब्रह्मगोस्वामिनां टीकाया मुद्रणानन्तरं प्रमुक्तपयास्माभिस्तेषां टीकायाः द्वितीया प्रतिः प्राप्ता । सा टीका श्रीब्रह्मगोस्वामिभिः पुनर्लिखिता, इति प्रतिभाति । तन्मध्ये तैः प्रथमटीकापेक्षया केपु केपु स्थलेषु किञ्चिदधिकं लिखितम्, तदत्र वाचकानां जिज्ञासा-तृप्त्यर्थं ग्रन्थरक्षणार्थं चावतार्यते ।

पृष्ठ २३, पङ्क्ति १२, सर्वाभोग्यसुधानन्तरमिदमधिकं वाचनीयम्—‘फलरूपापीर्यं भगवता साधनतामापादितेति वेणुगीते निरूपितमतोऽलौकिकत्वम् ।’

पृष्ठ २३, पङ्क्ति २४, सेवोपयोगिदेहो—इत्यस्मानन्तरं ‘इति यस्य देहस्य सेवयामेवोपयोगः, अन्यदात्तया अप्रकटा एव स इत्यर्थः । यत्र स्वरूपानन्ददानम्, तत्र फलत्रयमपि, यत्र धर्मभूतानन्ददानम्, स्वयमप्रधानीभूय, तत्र फलद्वयम्, यत्र स्वप्राधान्येन धर्मभूतानन्ददानम्, तत्र सेवोपयोगिदेहगात्रदानमिति ज्ञेयम्’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २३, पङ्क्ति २७, लभन्ते—इत्यस्मानन्तरं ‘इमान्येव फलरूपात्मनिवेदनसख्य-दासानि ज्ञेयानि’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति ३, भोगः—इत्यस्मानन्तरं ‘भगवदुपयोगिवस्तुपरतायाः प्रति-षन्धकत्वाभावादत्र यद्व्यञ्जनाक्षेतिश्लोकव्याख्यातः सर्वथा भगवन्तमप्रपन्नः अन्यपदार्यो ज्ञेयः । अप्रपन्नो ननुगतो भगवदुपयोगीति यावत् । नवरत्ने चित्तोद्रेगमित्यसामासे चित्तस्य पुत्रादिपरता उद्रेगपदार्यो निरूपितः । अन्यपरतेति यावत् । तन्व्यायेन त्रयमपीदं ज्ञेयम् ।’ इत्यधिकम् ।

पृष्ठ २४, पङ्क्ति ५, मूलार्थः—इत्यस्मानन्तरं ‘तत्र इयं साक्षात्प्रापकं प्रतिबन्ध-रूपम्, एकं च तदाधारस्य साधनस्य बाधेन पापकमिति भेदो ज्ञेयः । सामर्थ्यस्य बाधकपनेन सामर्थ्योत्पत्तेः पूर्वमेतत्सम्भवे सामर्थ्यं नोत्पद्येतेति सिद्धमेवेति भावः । नवरत्ने

तयानिरूपणाद्विदेनपदार्थनाशामयेषि तद्वापस्तु स्यादिति तुग्रहः । तेन जन्मान्तर-
व्यवधानं भवतीति निबन्धे निरूपितमिति भावः । सामर्थ्यवापश्च तदेतुभूताभ्यासवाधेन
सेवानभ्यासा भवतीत्यर्थः ।' इत्यधिकम् ।

शृष्ठ २४, पङ्क्ति ७, लौकिकभोगानाम्—इत्यस्मानन्तरं 'वाधकत्वात्तत्साधनपरि-
त्यागः कर्तव्यः । मनोदेहेन्द्रियाणि च भगवदसम्बन्धिषु न प्रवर्तनीयानि । तथा सति तेषां
तत्परता भवति 'विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषजत' इति वाक्यादिति भावः । साधन-
परित्यागं विवृण्वतो' इत्यधिकम् ।

शृष्ठ २४, पङ्क्ति १२, भोगः—इत्यस्मानन्तरं 'लौकिकस्त्याज्य इति । सिद्धान्त-
रहस्योक्तप्रकारेण यथासम्भवं भगवदुपयोगं सम्पाद्य भोगः कर्तव्य इत्यर्थः । प्रतिबन्ध
इति । श्रवणकीर्तनादिना हरिश्वेददयं निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति । एवं जाते
ततः कार्यान्तरवशाज्जाता तनोरन्यपरता साधारणः प्रतिबन्धः । क्रियमाणेषु श्रवणकीर्त-
नादौ हरिश्वेद निविशेत्तदाभ्यासो न भवति । तेन जाता तनोरन्यपरता या स भगव-
त्कृतप्रतिबन्धः ।

शृष्ठ २४, पङ्क्ति १३, विभावनीवैत्यर्थः—इत्यस्मानन्तरं 'बुद्धिर्वा तत्र न स्थाप-
नीया । यत्रकरणेषु तदनुचिन्तनं न कर्तव्यमित्यर्थः । अलौकिकभोगो न त्याज्य इत्या-
शयेनाहुः अलौकिकेति ।' इत्यधिकम् ।

शृष्ठ २४, पङ्क्ति २०, प्रतिबन्धः—इत्यस्मानन्तरं 'ध्रुवस्य गता भक्तिः कुबेरेण
सिद्धेति चतुर्थस्कन्धे निरूपितं तथात्राप्याशङ्क्य नेत्याहुः तदेति' इत्यधिकम् ।

शृष्ठ २४, पङ्क्ति २२, बोध्यम्—इत्यस्मानन्तरं 'ननु दुरदृष्टनाशनार्थं कात्यायनी-
पूजेति कात्यायनीपदनिरुक्ता सुबोधिन्यां निरूपितम्, दुरदृष्टस्य भगवत्कृतप्रतिबन्धत्वं च
तत्रैव निरूपितम् । यदि भगवदिच्छयैवेति । खेच्छामप्येतदनुगुणां करिष्यतीति च ।
तथा च कथमन्यसेवावैयर्थ्यमिलत आहुरयमिति । शीलस्येषु रसविशेषानुभवार्थं भगवता
प्रतिबन्धः सम्पाद्यते न स्वासुरत्वं तेषु । आधुनिकोयं स्वासुर एव भगवता प्रतिबन्धयुक्तः
क्रियते, तदा तु फलभावनिश्चयात् साधनवैयर्थ्यमिति भावः ।' इत्यधिकम् ।

शृष्ठ २५, पङ्क्ति १७, बाधकत्वाभावात्—इत्यस्मानन्तरं 'विद्यमानमप्यदृष्टं तस्य
दुर्बलम् । अत एव प्रारब्धमोजनार्थं प्रमुषेदिलम्बत इत्युक्तम् । लोकवेदस्वार्थ्यं हरिर्न
करिष्यतीति चोक्तम् ।' इत्यधिकम् ।

शृष्ठ	३२	पङ्क्ति	११	शब्द	हठात्
"	३२	"	२८	सा	स
"	९५	"	२१	विपरणे	वरणे